3.2

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

८१



संस्कृत भाषा

लेखक

टी० बरो

अनुवादक

डॉ० भोलाशंकर व्यास

हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६५

THE SANSKRIT LANGUAGE

By

T. BURROW

FABER AND FABER
24 Russell Square
London.

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
81

THE SANSKRIT LANGUAGE

By

T. BURROW

Translated into Hindi

BY

DR. BHOLĀSHANKAR VYĀS
Reader, Hindi Deptt.
Benaras Hindu University.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1965.

Publisher : The Chowkhamba Vidyabhawan, Varanasi-1
Printer : Vidya Vilas Press, Varanasi-1
Edition : First, 1965.
Price : Rs. 30-00

वक्तव्य

शास्त्रीय ग्रन्थों का एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना बड़ा दुस्तर कार्य है। विशेषतः ऐसे भाषावैज्ञानिक ग्रन्थों का अनुवाद और भी कठिन हो जाता है, जहाँ अनेक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा हो। प्रस्तुत ग्रंथ में प्रो० बरो ने भारत-यूरोपीय भाषाशास्त्र के गहनतम ज्ञान को उपस्थित करते हुए आवश्यकतानुसार फिन्नो-उग्री, मुंडा तथा द्राविड़ भाषापरिवारों से संबद्ध गवेषणाओं का भी हवाला दिया है। मैंने यथासंभव ग्रंथकार के विचारों और गवेषणाओं को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। अपरिचित भाषाओं के शुद्ध उच्चारणों को अभिलिखित करने की समस्या अवश्य मेरे सामने आई है। ऐसी दशा में मैंने देवनागरी रूपान्तर के बाद सदा कोष्ठ में रोमन लिपि में मूल ग्रन्थकार के अनुसार उक्त शब्दरूप दे दिये हैं, जिससे पाठक को भ्रान्ति न हो। वैदिक शब्दों को देवनागरी लिपि में देते समय मैंने ग्रन्थकार की स्वर-संकेत-पद्धति (accentuation) को न अपनाकर ऋग्वेद में प्रयुक्त अपनी भारतीय पद्धति को ही अपनाया है। ऐसे स्थलों पर ग्रन्थकार ने उदात्त अक्षर को उसी तरह संकेतित किया है, जैसे ग्रीक में किया जाता है। मैंने उदात्त को अचिह्नित छोड़ दिया है तथा अनुदात्त और स्वरित अक्षरों को क्रमशः 'पड़ी लकीर' (–) और 'खड़ी लकीर' (꠱) के द्वारा चिह्नित किया है। उदाहरणों को देवनागरी में देने के लिये कई नये टाइप भी बनाये गये हैं, जैसे ॲ (ə), ? (H), ज़ (ẓ), ज़़ (ž), थ़ (θ), थ़, (p̣), द़ (δ), आदि। अनेक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण भी करना पड़ा है, जो पाठक को स्थान-स्थान पर परिलक्षित होगा। हिन्दी रूपान्तर के गुण-दोष के विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है। प्रूफ देखने में पर्याप्त सावधानी बरतने पर भी कुछ त्रुटियाँ रह जाना सम्भव है।

अन्त में मैं मूल अंगरेजी ग्रन्थ के लेखक प्रो० टी० बरो और प्रकाशक फेबर एण्ड फेबर को धन्यवाद देना आवश्यक समझता हूँ जिन्होंने इस अनुवाद की स्वीकृति दी। राष्ट्रभाषा हिन्दी के इस सेवा-यज्ञ में मेरी जो कुछ सहायता श्री लेने तथा श्री जयनारायण तिवारी एम० ए० ने की है, उसके लिये वे आशीर्वाद के पात्र हैं।

गणतंत्र-दिवस
२६ जनवरी १९६५

भोलाशंकर व्यास

मूल लेखक का प्रास्ताविक

अठारहवीं सदी के अन्त में यूरोपीय विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा की खोज वह आरम्भिक विन्दु है जो भारत-यूरोपीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषाशास्त्रीय अध्ययन और परिमाणतः समस्त आधुनिक भाषाविज्ञान के रूप में विकसित हुआ। इसके बावजूद भी अंगरेजी में ऐसी पुस्तक नहीं है जो इतर भारत-यूरोपीय भाषाओं के साथ संस्कृत के सम्बन्ध का सुसम्बद्ध विवरण देती हो। यहाँ तक कहा जा सकता है कि किसी भी भाषा में ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जो इस लक्ष्य की पूरी तरह पूर्ति करता हो। साठ साल पहले शुरू हुआ वाकेरनागेल का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभी पूरा होना बाकी है, यद्यपि इसकी अगली खेप के हाल में प्रकाशित होने से इसकी परिपूर्णता निकट जान पड़ती है। थुम्ब की पुस्तक 'हेण्डबुख डेस संस्कृत' जो कई पीढ़ियों तक छात्रों की सहायक रही है, अब बहुत पुरानी हो गई है और सदा से संस्कृत भाषा की प्रारम्भिक पुस्तिका तथा संस्कृत के तुलनात्मक व्याकरण से सम्वद्ध आधिकारिक ग्रन्थ दोनों रूपों में हाथ बँटाने का प्रयत्न करती रही है।

अपनी पुरातनता तथा सुसंरक्षित संघटना के कारण संस्कृत भाषा भारत-यूरोपीय के अध्ययन के लिये एकाकी महत्त्व की है, और इसके तुलनात्मक व्याकरण का अद्यतन विवरण केवल संस्कृत के छात्रों के लिये ही नहीं, बल्कि भारत-यूरोपीय भाषाशास्त्र की किसी भी शाखा में अभिरुचि रखने वाले छात्रों के लिये भी आवश्यक है। फलतः जब मुझे "महान् भाषाओं" से सम्वद्ध पुस्तकमाला में संस्कृत पर पुस्तक लिखने को आमन्त्रित किया गया, तो मुझे यह स्पष्ट जान पड़ा कि इस दृष्टि से संस्कृत भाषा के अध्ययन पर केन्द्रित होने से बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति हो सकेगी। यह सच भी है, क्योंकि जहाँ तक संस्कृत से आधुनिक युग तक भारत में भारतीय-आर्यभाषा के इतिहास का प्रश्न है, छात्रों को ज्यूल ब्लॉख का अत्युत्तम ग्रन्थ उपलब्ध है।

भारत-यूरोपीय के साथ संस्कृत के सम्बन्ध का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करना इस समय कोई सरल कार्य नहीं है। चालीस वर्ष पहले भारत-यूरोपीय सिद्धान्त में जो सर्वमान्य धारणा थी, उसे वर्तमान शती के आरम्भ में ब्रुगमान के ग्रन्थ 'ग्रुन्ड्रिस' में प्रस्तुत किया गया था। उस समय केवल छात्र तथा सामान्य पाठक की आवश्यकताओं के अनुरूप मान्य धारणाओं और विवक्षित

भाषाविशेष के प्रस्तुतीकरण का प्रश्न था। किन्तु इधर हित्ती भाषा की खोज ने भारत-यूरोपीय के अध्ययन में क्रान्ति ला दी है और पुराने सिद्धान्तों का अधिकांश नये साक्ष्य के सम्मुख खड़ा रहने में असमर्थ हो गया है। फलतः भारत-यूरोपीय का अध्ययन इस समय संक्रमण की स्थिति में कहा जा सकता है। नये सिद्धान्त सामने आ गये हैं, जिनका आना स्पष्टतः आवश्यक भी है, किन्तु परिवर्तन-प्रक्रिया अभी तक पूरी नहीं हुई है। पुराने सिद्धान्तों के स्थान पर सर्वस्वीकृत नये सिद्धान्त अभी तक स्थापित नहीं हो पाये हैं और कई मौलिक विन्दु अभी तक विवाद के विषय हैं। हित्ती के द्वारा समुत्थापित ध्वन्यात्मक संघटनागत प्रश्नों पर ही अधिकाधिक ध्यान केन्द्रित हुआ है, और उसकी पदसंघटना से सम्बद्ध विषयों पर कम विस्तार से अध्ययन किया गया है, जिसमें भी उसका साक्ष्य मौलिक महत्त्व का है।

इन परिस्थितियों में मैंने नवीन साक्ष्य के मूल्याङ्कन के आधार पर संस्कृत भाषा के तुलनात्मक व्याकरण का आवश्यक परिपूर्ण विवरण देने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार के ग्रन्थ में स्थान की दृष्टि से इस क्षेत्र में प्रचलित विविध विरोधी सिद्धान्तों के वाद-विवाद को प्रस्तुत करने का अवकाश नहीं और सहायक ग्रन्थों के संकेत भी नहीं दिये गये हैं। हाल में इधर इन समस्याओं पर जो कुछ भी लिखा गया है, उसे ध्यान में रखा गया है, और वे सिद्धान्त जो मान्य जान पड़ते हैं, इस विवरण में स्थान पा गये हैं। यह आशा की जाती है कि यह प्रयास एक ऐसे विषय का अद्यतन संश्लिष्ट विवरण देने में अग्रसर होगा, जो वर्तमान स्थिति में इधर-उधर विस्तृत रूप में बिखरे, विशेषज्ञों के ग्रन्थों के बाहर मुश्किल से उपलब्ध है।

संस्कृत का अध्ययन इन दिनों एक दूसरी दिशा में भी बढ़ चला है। संस्कृत तथा परवर्ती भारतीय-आर्य पर प्राक्-आर्य भाषाओं के प्रभाव से सम्बद्ध गवेषणाओं ने सिद्ध कर दिया है कि यह प्रभाव पर्याप्त है और ठोस परिणाम प्राप्त हुए हैं। जहाँ तक इस भाषा की विशेषतः प्राचीन स्थितिगत संघटना का प्रश्न है, और जो भारत-यूरोपीय के तुलनात्मक अध्ययन में एकमात्र प्रासंगिक विषय है, यह प्रभाव नगण्य है। किन्तु दूसरी ओर शब्दकोश के क्षेत्र में यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि भारत-यूरोपीय और भारत-यूरोपीयेतर तत्त्व अलग-अलग किए जाने चाहिएँ। प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तिम परिच्छेद में इस विषय से सम्बद्ध अब तक प्रतिष्ठापित मुख्य उपलब्धियों का सारांश दिया गया है। भविष्य के अध्ययन निःसन्देह और अधिक जोड़ सकेंगे।

टी० बरो

विषय-सूची

संस्कृत भाषा

परिच्छेद १

संस्कृत तथा भारत-यूरोपीय

१. भारतीय-आर्य तथा भारत-ईरानी

भारतवर्ष के अधिकांश भाग में बोली जाने वाली आधुनिक भाषायें उस एक-रूप वाली भाषा से विकसित हुई हैं जिसका प्रसार लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम से भारत में आक्रमण करने वाले लोगों ने किया था। यह आक्रमणकर्ता अपनी भाषा में 'आर्य–' कहलाते थे। यह शब्द विशेषण के रूप में भी सामान्यतः प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ 'कुलीन, सम्मान्य' है। इन लोगों के पीछे इनसे सम्बद्ध कई लोग मध्य-एशिया में रह गये थे जो बाद में ईरान की उपत्यका तथा मध्य-एशिया के विशाल प्रदेशों में बस गये। ये लोग अपने लिये अवेस्ता में ठीक उसी शब्द 'अइर्य–' (airya–) का प्रयोग करते थे तथा उसी शब्द के षष्ठी (सम्बन्ध) बहुवचन से ईरान का आधुनिक नाम विकसित हुआ है। इस समान प्रयोग के आधार पर आर्य शब्द इन 'जनों' तथा उनकी भाषा के लिये सामान्यतः व्यवहृत होता है, विकल्प से भारत-ईरानी शब्द का भी सामान्य प्रयोग मिलता है। भारतीय शाखा को ईरानी शाखा से अलग करने के लिये भारतीय-आर्य (Indo-Aryan) शब्द गढ़ लिया गया है और भाषा के अर्थ में यह प्राचीन काल से लेकर आज तक इस स्रोत से विकसित भाषाओं तथा विभाषाओं के समग्र रूप के लिये प्रयुक्त होता है। इसके व्यवहारतः तीन वर्ग किये जाते हैं:—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा, मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा, तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषा। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के परिनिष्ठित एवं संस्कृत रूप के लिये भारतीय वैयाकरणों ने 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ 'परिमार्जित, सुसंस्कृत, (व्याकरण के नियमों के अनुसार) शुद्ध' है। यह प्रयोग अशिक्षित जन-सामान्य की भाषा–प्राकृत–से भिन्नता बताने के लिये किया गया था, जो मूलतः ठीक वही भारतीय आर्य भाषा थी, किन्तु जिसमें निरन्तर परिवर्तन तथा विकास की प्रक्रिया पाई जाती थी। भारतीय आर्य भाषाओं को अनार्य भाषाओं से पृथक् करने के लिये आर्य विशेषण का प्रयोग किया जाता था, जो म्लेच्छ—'असभ्य, असंस्कृत' का विरोधी है। इसके अति-

रिक्त हम देखते हैं कि भाषा के लिये प्रयुक्त अन्य शब्द भारती (वाक्) मूलतः जातीय अर्थ का वहन करता है, जिसका अर्थ 'भरतों की भाषा' है[1]।

संस्कृत शब्द वैयाकरणों के द्वारा संकुचित अर्थ में नियमित परिनिष्ठित पाणिनीय संस्कृत के लिये प्रयुक्त होता है, किन्तु सुविधा के लिये इसका प्रयोग प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के समानार्थक रूप में किया जा सकता है। इस दृष्टि से इसमें पाणिनीय संस्कृत तथा प्राक्-पाणिनीय अथवा वैदिक भाषा दोनों का समावेश हो जाता है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा अर्थात् प्राकृत विस्तृत अर्थ में भाषागत विकास की तीन स्थितियों का समावेश करती है :—

१—प्राचीनतम स्थिति पालि-साहित्य में मिलती है, जो बौद्ध-धर्म के थेर-वाद-निकाय के धर्म-ग्रन्थों की भाषा है। यह वस्तुतः ईसा से कुछ पूर्व की शताब्दियों की भाषा है। इसी विकास-स्थिति में अशोक के अभिलेखों (२५० ई० पू०) की विभाषायें तथा अन्य प्राचीन अभिलेखों की भाषा पाई जाती हैं।

२—संकुचित अर्थ में प्राकृत अथवा परिनिष्ठित साहित्यिक प्राकृत ईसा के बाद की कुछ शताब्दियों में प्रचलित भाषागत विकास-स्थिति का संकेत करती है। यह मुख्यतः नाटकों तथा जैन धार्मिक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। इसी काल में वैयाकरणों ने प्राकृत के विविध साहित्यिक रूपों को लिखित भाषा के रूप में नियमित तथा परिनिष्ठित बनाया है और यह भाषा परवर्ती शताब्दियों में अनिवार्यतः अपरिवर्त्तित रही है।

३—अपभ्रंश भाषा का परिचय दसवीं शताब्दी के ग्रन्थों से मिलता है, किन्तु साहित्यिक भाषा के रूप में यह कुछ शताब्दी पूर्व ही विकसित हो चुकी थी। यह मध्य भारतीय आर्य भाषा की अन्तिम स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है जो आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास के ठीक पहले वाली अवस्था है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषायें, बँगला, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के अन्त से ही लिपि-बद्ध होने लग गई थीं और उस काल से उनका विकास क्रमशः उस स्थिति तक होता रहा है जो आज पाई जाती है।

इस प्रकार भारत में तीन हजार वर्षों का निरन्तर भाषाशास्त्रीय इतिहास हमारे सामने है, जो साहित्यिक लेखों से प्राप्त है। इस काल में मूलतः एक ही प्रकार का भाषागत प्रयोग देश के अधिकतर भाग में फैल गया है, जो धीरे-धीरे विकसित होता हुआ उन विविध भाषाओं के रूप में पल्लवित हुआ है, जो उत्तरी

[1] भरत प्राचीन काल में भारतीय आर्य 'जनों' में प्रमुख 'जन' थे, जिनके आधार पर भारतवर्ष नाम की स्थापना हुई।

तथा मध्यदेशीय भारत में आज बोली जाती हैं। इस काल में अत्यधिक भाषागत परिवर्तन हुए हैं और आज की भाषायें आक्रमणकारी आर्य 'जनों' के द्वारा बोली जाने वाली भाषा से निःसन्देह अत्यधिक भिन्न हैं। इतना होते हुए भी हमें प्राप्त साहित्यिक सामग्री भाषागत विभिन्न मध्यवर्तिनी विकास-स्थितियों को समझने में पूर्ण सहायता वितरित करती है तथा इस बात का पर्यालोचन करने की क्षमता देती है कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी परिवर्तन होने के कारण एक मूल भाषा उससे उद्भूत भाषाओं के रूप में परिवर्तित हो गई है जो अब ठीक उसी रूप में नहीं पहचानी जा सकती।

भारतीय आर्य भाषा के भाषाशास्त्रीय इतिहास में प्राचीनतम लेख ऋग्वेद है, जो स्थूल अनुमान के आधार पर १००० ई० पू० के आस-पास रक्खा जा सकता है। उसमें प्राप्त भाषा वह मूल-स्रोत है जिससे भारत में समस्त परवर्ती भाषागत विकास उद्भूत हुआ है। किन्तु यह भाषा स्वयं ठीक उसी प्रकार के क्रमशः विकास तथा परिवर्तन के द्वारा किसी प्राचीन रूप से विकसित हुई है, जिस प्रकार के परिवर्तन के आधार पर यह बाद में किसी भिन्न रूप में विकसित हो गई है। यह प्राचीन विकास-स्थिति साक्षात् रूप में किसी लेखादि में लिपिबद्ध नहीं है, किन्तु सम्बद्ध भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इसका अधिकांशतः पुनर्निर्माण (Re-construction) किया जा सकता है। इस प्रक्रिया के द्वारा भाषा के पुराने इतिहास की दो सीढ़ियों की स्थापना की जा सकती है—

(१) भारतीय आर्य भाषा की इससे घनिष्ठतया सम्बद्ध ईरानी भाषा से तुलना के द्वारा मूल भारत-ईरानी अथवा आर्य भाषा की प्रकृति का ठीक तौर पर लेखा-जोखा प्राप्त करना संभव है, जिससे ये दोनों भाषायें विकसित हुई हैं।

(२) भारतीय आर्य भाषा तथा ईरानी की तुलना (नीचे निर्दिष्ट) अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं के साथ करने पर इस स्थिति से और आगे जाना संभव है और हम उस मूल भाषा की विशेषताओं का सामान्यतः पुनर्निर्माण करने में समर्थ हो सकते हैं, जिससे ये समस्त भाषायें विकसित हुई हैं।

ईरानी भाषायें भारतीय आर्यभाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण भारतीय आर्य भाषाशास्त्र के अध्ययन के लिये पहला महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, अतः उसके विभाजन तथा साहित्य का संक्षिप्त विवरण आवश्यक हो जाता है। भारतीय आर्यों का भारत में प्रवेश संभवतः आदिम आर्य समाज के दो निश्चित वर्गों में विभक्त होने का कारण था, अथवा संभवतः वह इस विभाजन की अन्तिम स्थिति थी, जिससे ये दोनों वर्ग भाषाशास्त्रीय दृष्टि तथा अन्य दृष्टि से पृथक्

पृथक् रूप में विकसित हुए हैं। ईरानी आर्य जो वक्षु (Oxus) नदी की घाटी[1] में पीछे रह गए थे विभिन्न दिशाओं में शीघ्रता से फैलने लगे तथा उन्होंने न केवल ईरानी पठार को ही, जो उनके आकर्षण का मुख्य केन्द्र था, अपितु मध्य-एशिया के विशाल भाग को—एक ओर चीन के मध्य से लेकर, दूसरी ओर दक्षिणी रूस के मैदानों तक—अपने अधिकार में कर लिया। प्राचीन काल से ही ईरानी भाषा में विभिन्न विभाषाओं के भेदीकरण की प्रवृत्ति अत्यधिक वलवती पाई जाती थी, जो शीघ्र ही स्वतन्त्र भाषाओं के रूप में विकसित हो गई। इस दृष्टि से यह प्रवृत्ति ईरानी भाषा में भारतीय आर्य भाषा की अपेक्षा अधिक वलवती थी, जिसने भौगोलिक तथा अन्य कारणों से अधिकांश उत्तरी भारत में वड़े लम्वे समय तक भाषात्मक एकता वनाये रक्खी।

ईरानी भाषा की प्राचीन स्थिति का प्रतिनिधित्व अवेस्ता तथा प्राचीन फारसी साहित्य के द्वारा किया जाता है, और ये ही ग्रन्थ वैदिक संस्कृत की तुलना की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व के हैं। अवेस्ता, जरथुस्त्रीय धर्म के मतानुयायियों के द्वारा सुरक्षित पवित्र लेखों का प्राचीन संग्रह है, और इसके आधार पर वह भाषा भी अवेस्ता (भाषा) कहलाती है। यह कोरास्मिया प्रदेश में प्रचलित पूर्वी ईरानी विभाषा जान पड़ती है। अवेस्ता का प्राचीनतम भाग, गाथायें, स्वयं जरथुस्त्र की रचनायें मानी जाती हैं, जिन्हें ईरानी परम्परा के अनुसार ६०० ई० पू० के आसपास रक्खा जा सकता है। इस तिथि के अनुसार प्राचीनतम ईरानी, हमारे द्वारा प्राचीनतम वैदिक मन्त्र-भाग के लिये निर्धारित तिथि से बहुत बाद की है। दूसरी ओर यह भाषा ऋग्वेद की भाषा की अपेक्षा किसी भी दशा में कम 'आर्ष' (archaic) नहीं है अपितु कुछ दृष्टि से अधिक ही 'आर्ष' है। ईरानी की दक्षिण-पश्चिमी विभाषा, पुरानी फारसी, जिसमें प्राचीनतम अवेस्ता की अपेक्षा आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है, अखामानीय राजाओं के अभिलेखों में सुरक्षित है जो उसके लिये आविष्कृत विशिष्ट कीलाक्षरों में लिखे गए हैं।

इस प्राचीन ईरानी भाषा तथा वेद की भाषा के सम्बन्ध इतने घनिष्ठ हैं कि एक के विना अन्य भाषा का अध्ययन सन्तोषपूर्वक नहीं किया जा सकता। व्याकरण की दृष्टि से इनमें वहुत कम भेद पाया जाता है :—प्राचीनतम स्थिति में प्रमुख भेद कतिपय विशिष्ट एवं स्पष्टतः नियत ध्वन्यात्मक परिवर्त्तनों में पाया जाता है, जिन्होंने एक ओर ईरानी भाषा तथा दूसरी ओर भारतीय आर्य भाषा को प्रभावित किया है। अवेस्ता के प्राचीनतम भाग में ऐसे पद्य ढूँढ़ लेना नितान्त

१—प्राचीन ईरानियों की परम्परा में उनके मूल स्थान कोरास्मिया (Chorasmia) का विवरण सुरक्षित है।

संभव है, जो किन्हीं निश्चित नियमों के आधार पर किए गए केवल ध्वन्यात्मक परिवर्त्तनों के द्वारा सुस्पष्ट संस्कृत के रूप में परिवर्त्तित किए जा सकते हैं। अधिकांश शब्दावली दोनों में समान है तथा ऐसे शब्दों की एक लम्बी तालिका दी जा सकती है, जो इन दोनों भाषाओं में पाए जाते हैं, किन्तु अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध नहीं होते। संस्कृति तथा धर्म के क्षेत्र में यह समानता विशेष रूप से पाई जाती है तथा कतिपय उदाहरणों के द्वारा निर्दिष्ट की जा सकती है।

संस्कृत, हिर॑ण्य–, अवेस्ता, ज़रन्य–(zaranya) 'सुवर्ण',

सं०, सेना॑, अवेस्ता, हएना (haēnā), पुरानी फारसी, हइना (hainā) 'सेना, फौज'

सं०, ऋष्टि–, अवेस्ता, पु० फा०, अर्श्ति–(aršti–) 'भाला',

सं०, क्ष॒त्र–, अवे०, ख़्शथ्र (xšaθra–) 'राजन्य',

सं०, असु॑र–, अवे०, अहुर (ahura–) 'देव',

सं०, य॒ज्ञ– अवे०, यस्न–(yasna–) 'यज्ञ',

सं०, होतृ॑– (हो॑तर्), अवे०, ज़ओतर्– (zaotar) 'होता' (हवन करने-वाला पुरोहित),

सं०, सोम॑–, अवे०, हओम–(haoma–) 'पवित्र पेय सोम',

सं०, अथ॑र्वन्–, 'एक पुरोहित वर्ग', अवे०, अथ़उर्वन्–(aθaurvan–), आथ्रवन् (āθrvan–) 'अग्नि–पुरोहित',

सं०, अ॒र्य॒मन्–, अवे०, अइर्यमन्–(airyaman–) 'धार्मिक समाज का व्यक्ति',

इसी प्रकार हमें देवताओं तथा पौराणिक व्यक्तियों के नाम भी समान मिलते हैं, उदाहरणार्थ,

सं०, मि॒त्र–, अवे०, मिथ्र–(miθra–) (सूर्य),

सं०, य॒म–, 'विवस्वान् (विवस्वन्त्–) का पुत्र' अवे०, यिम–(yima), "वीवह्वन्त्–(vīvahvant) का पुत्र',

सं०, 'अ॒पाम् नपा॑त्', अवे०, अपँम् नपात् (apąm napāt) 'जल देवता के नप्ता (पौत्र)' (एक देवविशेष),

इस क्षेत्र में जरथुस्त्र के नाम से सम्बद्ध धार्मिक परिवर्तनों ने ईरानी पक्ष में कतिपय शब्दों के अर्थों को परिवर्त्तित कर दिया है। उदाहरणार्थ—अवेस्ता, दएव–(daēva–) पु० फा०, दइव–(daiva–) जो सं० दे॒व–'देवता' का समानान्तर है, 'दैत्य' अर्थ का वहन करता है। इसी प्रकार कतिपय वैदिक

देवता अवेस्ता में दानवी शक्तियों के रूप में पाये जाते हैं :—सं०, इन्द्र–, नासत्य–, अवे०, इंद्र–, नांङ्हइथ्य (nåŋhaiθya–)।

प्राचीन ईरानी भाषा की सामग्री मात्रा तथा उसकी प्रतिनिधि विभाषाओं की संख्या दोनों दृष्टियों से कुछ नियमित है। वर्तमान शताब्दी में की गई गवेषणाओं के कारण मध्यकालीन ईरानी भाषा के अभिलेख अधिक विस्तृत रूप में उपलब्ध है। हमें अब मध्यकालीन प्रमुख फारसी (पहलवी) के अतिरिक्त दो प्रमुख पूर्वी ईरानी भाषाओं, सोग्दी तथा सक में (प्रमुख रूप से खोतान की विभाषा में, किन्तु उसके साथ दो समीपवर्त्ती विभाषाओं के खण्डित अभिलेख भी है) विस्तृत अभिलेख प्राप्त हैं। इन भाषाओं की सामग्री के प्रकाशन तथा व्याख्यात्मक अध्ययन ने शीघ्रता से एवं क्रम से प्रगति की है, किन्तु इन गवेषणाओं से उपलब्ध परिणाम भारतीय आर्य अथवा भारत-यूरोपीय भाषाविज्ञान के छात्रों के लिये सुगमता से बोध्य रूप में अभी तक नहीं आ सके हैं। परिणामतः इस सामग्री से महान् लाभ प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि यद्यपि ये अभिलेख प्राचीनता की दृष्टि से अवेस्ता तथा प्राचीन फारसी ग्रन्थों की समानता नहीं कर सकते, तथापि ये ईरानी की स्वतन्त्र शाखाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जो पहले अज्ञात थीं और इसलिये इन्होंने उन तथ्यों की रक्षा की है जो बहुत पुराने काल से अन्यत्र लुप्त हो गए थे[१]।

मध्ययुग में ईरानी का क्षेत्र प्रमुखतः तुर्की के विस्तार के कारण अत्यधिक संकुचित हो गया। मध्य एशिया के विशाल भाग में ईरानी कभी की लुप्त हो गई थी। यह मुख्य रूप से ईरान या फारस में ही सुरक्षित रही जहाँ आधुनिक फारसी एक सहस्र वर्ष से अधिक की क्रमिक साहित्यिक परम्परा का वहन करती पाई जाती है। इस क्षेत्र के सीमा प्रदेशों में मुख्यतः भारत तथा ईरान के सीमाप्रान्त पर आज भी कतिपय क्षुद्र भाषायें छोटे छोटे क्षेत्रों में सुरक्षित हैं तथा उनमें से एक अर्थात् पश्तो—अफगानिस्तान की राज्यभाषा—आज भी महत्त्वपूर्ण है। उत्तरी काकेशस में आज भी दक्षिणी दिशा पर किये गये असंख्य ईरानी आक्रमणों के कारण ओसेटिक भाषा सुरक्षित है।

२. आदिम भारत-यूरोपीय

भारतीय आर्य भाषायें जिनका संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया गया है समग्र रूप में भारत-यूरोपीय परिवार की एक शाखा में संकलित होती हैं। भारत-

[१] उदाहरण के लिये 'शूकर-शिशु' के लिये प्रयुक्त भारत-यूरोपीय शब्द जो लैटिन पोर्कुस् (porcus), लिथुआनिअन पर्शस् (paršas) में पाया जाता है, भारत आर्य शाखा में अब तक अज्ञात था किन्तु अब खोतानी भाषा में पा'स (pā'sa–) के रूप में मिल गया है।

यूरोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं के ऐतिहासिक सम्बन्ध की गवेषणा अठारहवीं शताब्दी के अन्त में यूरोपीय विद्वानों द्वारा की गई संस्कृत भाषा तथा साहित्य की गवेषणा का साक्षात् फल है। व्याकरण तथा शब्दसम्पत्ति दोनों दृष्टियों से संस्कृत भाषा यूरोप की क्लैसिकल भाषाओं के साथ इतनी घनिष्ठ समानता रखती है लैटिन तथा ग्रीक से परिचित विद्वान् इस समानता से आश्चर्य-चकित होने से अपने आपको न रोक पाए। चूँकि अब तक भाषाओं के विकास की वास्तविक प्रकृति तथा उनके परस्पर सम्बन्ध के विषय में कोई स्पष्ट धारणा नहीं पाई जाती थी, इन भाषाओं में प्राप्त आशातीत किन्तु अत्यधिक अनिषेध्य सम्बन्ध की व्याख्या, भाषाओं के अध्ययन में पूर्णतः नवीन तथा वैज्ञानिक दृष्टि-कोण के विना नहीं की जा सकती थी। बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसायटी के समक्ष सन् १७८६ में दिये गये भाषण में सर विलियम जॉन्स ने इस नवीन गवेषणा की महत्ता का स्थूल संकेत निम्न रूप में किया था।

'संस्कृत भाषा की संघटना अत्यधिक अद्भुत है, चाहे उसका मूल उद्गम कुछ भी रहा हो। यह भाषा ग्रीक से भी अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक समृद्ध तथा दोनों से अधिक परिष्कृत है, इतना होते हुए भी यह उन दोनों से क्रियाओं के मूलरूपों [धातुओं] तथा व्याकरणिक रूपों की दृष्टि से घनिष्ठतया सम्बद्ध है। यह आकस्मिक नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध इतना दृढ है कि कोई भी भाषा-शास्त्री उन तीनों का अध्ययन यह माने बिना नहीं करेगा कि वे सब किसी एक ही स्रोत से उत्पन्न हुई हैं, जो अब नहीं पाया जाता। ऐसे ही कारण के आधार पर —यद्यपि यह कारण इतना दृढ नहीं है—यह भी कहा जा सकता है कि गॉथिक तथा केल्टिक भी, संस्कृत की समान-स्रोत हैं, तथा प्राचीन फारसी को भी इसी परिवार से जोड़ा जा सकता है।'

इस कथन की सत्यता तुलनात्मक भाषाविज्ञान के परवर्ती विकास ने जो इस समय से आरम्भ होता है, भली भाँति दिग्दर्शित कर दी है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में भारत-यूरोपीय परिवार की भाषायें विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन का विषय रही हैं।

इन भाषाओं की मूल जननी (आदिम भाषा) की प्रमुख विशेषताओं को विश्वस्त रूप से पुनर्निर्मित कर दिया गया है तथा विभिन्न शाखाओं के ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक विकास के विषय में विस्तार से खोज की जा चुकी है। इस गवेषणा में प्रयुक्त पद्धतियाँ तथा सिद्धान्त क्रमशः परिवर्द्धन तथा संस्कार प्राप्त करते गए हैं और नई गवेषणायें विषय के अत्यधिक विस्तृत एवं गम्भीर ज्ञान को प्राप्त करने में सहायता वितरित करती रही हैं और आज भी कर रही है। भारत-यूरोपीय भाषाओं के अध्ययन में सर्वप्रथम प्रयुक्त पद्धतियाँ स्वतन्त्र

भाषा परिवारों (सामी, फिन्नी-उग्री, बांतू आदि) के अध्ययन में सफलतापूर्वक पुनः प्रयुक्त की गई हैं। इस प्रकार समस्त भाषावैज्ञानिक अध्ययन संस्कृत की गवेषणा से जनित उत्तेजना के फल के रूप में प्राप्त हुआ है।

भारत-यूरोपीय भाषायें दस प्रधान शाखाओं में विभक्त हैं, जिनके अतिरिक्त कुछ अन्य शाखाओं का भी पता चलता है जो यथेष्ट सामग्री को छोड़े विना ही लुप्त हो गई हैं। ये दस प्रमुख शाखायें निम्न हैं :—

१. आर्य अथवा भारत-ईरानी, इसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

२. बाल्टिक (लिथुआनियन. लैटिश तथा लुप्त प्राचीन प्रशियन) तथा स्लावोनिक (प्राचीन चर्च स्लावोनिक या प्राचीन बल्गेरियन, रूसी, पोलिश, ज़ेक, सेर्बो-क्रोटियन, बल्गेरियन आदि)। ये दोनों वर्ग एक दूसरे से अत्यधिक सम्बद्ध हैं, यद्यपि उतने सम्बद्ध नहीं हैं जितने कि भारतीय आर्य भाषा वर्ग तथा ईरानी वर्ग। इन भाषाओं में बहुत कम प्राचीन विशेषतायें पाई जाती हैं जिससे प्राचीन भारत-यूरोपीय तथा वर्तमान भाषाओं के मध्य की स्थिति, आदिम बाल्टो-स्लावी भाषाओं का निर्माण करना असम्भव हो जाता है, जैसा कि हम भारत-ईरानी भाषा का पुनर्निर्माण कर सकते हैं। इतना होते हुए भी इनकी अनेक घनिष्ठ समानताओं से कारण इन्हें बाल्टो-स्लावी इस एक नाम के वर्ग में एक साथ रखना अधिक सुविधाजनक है। प्राचीनतम साहित्यिक स्लावी नवीं शताब्दी की प्राचीन बल्गेरियन है। लिथुआनी का साहित्य सोलहवीं शताब्दी से ज्ञात है।

३. आर्मेनियन, ईसा की पाँचवीं शताब्दी से ज्ञात।

४. अल्बेनियन, केवल आधुनिक काल से ज्ञात।

ये चारों वर्ग नीचे दिए कारणों से समग्र रूप में सतम् भाषायें कहलाते हैं। इनसे इतर वर्ग केन्तुम् भाषायें हैं, जो निम्न हैं।

५. ग्रीक अनेकों विभाषाओं से युक्त। इसका साहित्य, होमर की कविताओं, ८०० ई० पूर्व, से आरम्भ होता है अर्थात् ऋग्वेद की रचना के लिये निर्धारित समय के कुछ ही बाद से।

६. लैटिन, जो अनेकों रोमान्स भाषाओं (फ्रेंच, इतालवी, स्पेनी, पुर्तगाली, रूमानी आदि) के रूप में विकसित हुई है। इसका साहित्य २०० ई० पू० से ज्ञात है तथा ई० पू० के कुछ छिटपुट शिलालेखों के अवशेष मिलते हैं।

७. केल्टिक, जिसमें कॉंटिनेंटल केल्टिक या गैलिक जो लुप्त हो गई है, तथा इन्सूलर केल्टिक, जो आयरिश (गोएलिक) तथा ब्रिटेनिक (वेल्श्, कॉर्निश्, ब्रेटन) है, सम्मिलित है। केल्टिक के साहित्यिक अभिलेख आठवीं शताब्दी की प्राचीन आयरिश टिप्पणियों से आरम्भ होते हैं।

८. जर्मन शाखा, जो पूर्वी जर्मन अर्थात् गॉथिक (लुप्त), नॉर्दिक या स्केण्डिनेवियन तथा पश्चिमी जर्मन, जिस उपशाखा में अँगरेजी तथा जर्मन भाषायें हैं, में विभक्त की जा सकती हैं। जर्मन शाखा का प्राचीनतम साहित्यिक ग्रन्थ उल्फिला के द्वारा किया गया वाइबिल का गॉथिक अनुवाद (ई० की चौथी सदी) है।

इस परिवार की वची हुई दो प्रमुख शाखायें हमें वर्तमान शताब्दी में की गई गवेषणाओं से ज्ञात हुई हैं।

९. तथाकथित 'तोखारी', जो चीनी तुर्किस्तान से मिले छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक के बौद्ध हस्तलेखों में सुरक्षित हैं। यह भाषा दो विभाषाओं में विभक्त है, जिन्हें सुविधा के लिये 'अ' तथा 'ब' कहा गया है।

१०. हित्ती, जो प्राचीन हित्ती साम्राज्य की राजधानी के समीप अनातोलिया के वोगाज़कोइ नामक स्थान से प्राप्त कीलाक्षर इष्टिकाओं में सुरक्षित है। इस सामग्री का काल ई० पू० १९ वीं सदी से लेकर ई० पू० १२ वीं सदी तक है। इनमें अधिकांश सामग्री इस काल के अन्तिम दिनों की है। भारत-यूरोपीय भाषा में यह प्राचीनतम लिखित सामग्री है तथा साथ ही यह कई बातों में वास्तविक भाषा प्रकृति से स्खलित होती हुई भी दिखाई पड़ती है। इसकी गवेषणा ने कई नवीन तथा रोचक समस्याओं को उपस्थित कर दिया है।

उपर्युक्त प्रधान भाषाओं के अतिरिक्त प्राचीनकाल में अनेक अन्य भारत यूरोपीय भाषायें भी विद्यमान थीं जो अब लुप्त हो गई हैं तथा छिटपुट मिले हुये अभिलेखों, वैयक्तिक नामों तथा सामयिक टिप्पणियों के रूप में उपलब्ध हैं। भारत-यूरोपीय परिवार को अधिक परिपूर्ण रूप में उपस्थित करने के लिये इनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण भाषायें निम्नलिखित हैं :—

११. थ्रेसियन, एक सतम् भाषा, जो किसी समय मेसिडोनिया की सीमा से लेकर दक्षिणी रूस तक के विशाल प्रदेश पर फैली हुई थी।

१२. फ्रीजियन, जो भी सतम् भाषा है, ई० पू० १२ वीं सदी के लगभग एशिया माइनर में प्रचलित थी तथा सम्भवतः थ्रेसियन से घनिष्ठतया सम्बद्ध थी।

१३. इलीरियन, अपने दक्षिण-इतालवी अंकुर मेसैपियन के साथ। यह सम्भवतः आधुनिक अल्बेनियन की जननी हो सकती है, किन्तु दूसरा मत इसका सम्बन्ध थ्रेसियन से जोड़ता है। यह अनिश्चितता इन प्राचीन भाषाओं के विषय में प्राप्त अत्यधिक अल्पज्ञान का निदर्शन है।

१४. ओस्को-उम्ब्रियन, लैटिन भाषा से घनिष्ठतया सम्बद्ध इतालवी विभाषायें, जिन्हें उसी के साथ इटैलिक शाखा में रखा जाता है।

१५. उत्तर-पूर्वीय इटली की भाषा, वेनेटिक, जो पश्चिमी भारत-यूरोपीय वर्ग की केन्तुम् भाषा थी।

१६. इस तालिका को पूर्ण बनाने के लिये एशिया माइनर की कतिपय प्राचीन भाषाओं का संकेत करना भी आवश्यक होगा जो हित्ती के साथ मिलकर एक विशिष्ट वर्ग की रचना करती हैं। हित्ती कीलाक्षर अभिलेखों में लूवियन तथा पैलेयन इन दो भाषाओं का संकेत मिलता है तथा खास तौर पर लूवियन की अल्पांश लेख सामग्री भी वहाँ उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त तथाकथित हायरो-ग्लायफिक हित्ती भी है जिसकी व्याख्या का कार्य अब अच्छी प्रगति पर है और जो भारत-यूरोपीय स्रोत की भाषा मानी जाती है।

भारत-यूरोपीय परिवार की भाषायें अन्य भाषा-परिवारों की अपेक्षा अधिक फैली हुई हैं। ये भाषायें मानव जाति की सभ्य भाषाओं के अधिकांश भाग से सम्बद्ध हैं। अतः यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि भारत-यूरोपीय भाषा के मूलस्थान का प्रश्न अत्यधिक अनुमान का विषय बना हुआ है। आरम्भ में यह धारणा पाई जाती थी कि यह स्थान मध्य एशिया था तथा वहाँ से क्रमशः निर्यात होने के कारण इस परिवार की कई भाषायें यूरोप की ओर फैल गई। इसका कारण वस्तुतः संस्कृत को आवश्यकता से अधिक दिया गया महत्त्व तथा अधिक प्राचीन भारत-यूरोपीय लोगों तथा आदिम आर्यों, जिनके विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं, को एक मानने की गलत धारणा है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि मध्य एशिया से, अधिक स्पष्ट रूप में वक्षु नदी की घाटी से, भारतीय तथा ईरानी आर्य अपने अपने प्रदेशों की ओर बढ़ चले थे। किन्तु इस बात के प्रमाण तथा सम्भाव्यता का रंचमात्र भी संकेत नहीं मिलता कि जर्मन, केल्ट, ग्रीक, तथा इस परिवार के अन्य यूरोपीय सदस्य कभी भी इस प्रदेश में रहते थे। इस विषय की सबसे प्रमुख दलील सरल किन्तु अत्यधिक प्रभावपूर्ण है, और वह यह कि यूरोप में भारत-यूरोपीय भाषाओं की अधिकतम संख्या पाई जाती है और उनमें अत्यधिक विभिन्नता है और यह विभिन्नता प्राचीनतम अभिलेखों में उपलब्ध है। प्राचीन काल में एशिया का अधिकांश प्रदेश भारतीय-ईरानी आर्यों की अधीनता में था जो इस परिवार के एक सदस्य हैं और अब तक यह शाखा विभक्त नहीं हुई थी, जब कि यूरोप में छोटे-छोटे क्षेत्रों में अनेकों भाषायें प्रयुक्त होती थीं और वे एक दूसरे से स्पष्टतः भिन्न थीं। इससे इस निष्कर्ष पर पहुंचना आवश्यक है कि भारत-ईरानी प्रदेश में भारत-यूरोपीय भाषा का अस्तित्व औपनिवेशिक विस्तार का परिणाम है। जब कि यूरोप में प्राचीनतम अभिलेखों के काल से ही इतनी अधिक भिन्नता का

होना इस बात का संकेत करता है कि वहाँ प्राचीन काल से ही भारत-यूरोपीय भाषा विद्यमान थी।

यह सत्य है कि चीनी तुर्किस्तान में दो तोखारी विभाषाओं की गवेषणा ने इस धारणा को फिर से कुछ परिवर्त्तित कर दिया है और कुछ लोग फिर एशिया को मूल स्थान मानने के विषय में विचार करने लगे हैं। किन्तु एशिया में केवल एक नई शाखा का जोड़ दिया जाना इस निर्णय की तुला को गड़बड़ाने में असमर्थ है। साथ ही तोखारी भाषा की प्रकृति, जिसमें अत्यधिक एवं दूरवर्ती ध्वन्यात्मक परिवर्तन विजातीय प्रभाव का संकेत करते हैं, इसे स्पष्ट करती हैं कि यह भाषा अपने मूल स्थान से बहुत दूर तक यात्रा कर चुकी थी। इसी प्रकार के कतिपय परिवर्तन हित्ती तथा एशिया माइनर की अन्य सम्बद्ध भाषाओं में हुए हैं, और यह उस प्रदेश में पाई जाने वाली प्राक्-भारत-यूरोपीय भाषाओं (प्राचीन हित्ती, चुर्रियन, उर्तियन आदि) के प्रभाव के कारण माना गया है जो इस प्रदेश में विद्यमान थीं। इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि ये भाषायें भी आक्रमणकारियों के द्वारा लाई गई थीं और और चूँकि प्राचीन काल में इस प्रदेश में भाषाओं का वर्गीकरण इस प्रकार का था कि अ-भारत-यूरोपीय भाषायें पूर्व की ओर बोली जाती थीं और भारत-यूरोपीय भाषायें पश्चिम की ओर, यह स्पष्ट है कि आक्रमण पश्चिम की ओर से अर्थात् यूरोप से हैलिस्पोंट की ओर से हुए होंगे। साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि भारत-यूरोपीय परिवार की एशियाई शाखा की विशेषतायें इस प्रकार की है कि इनके आधार पर यह अनुमानतः स्पष्ट किया जा सकता है कि यह शाखा भारत-यूरोपीय की प्रमुख शाखा से उस काल से कहीं अधिक पहले विभक्त हो गई थी जब कि भारत-यूरोपीय भाषा की एकता को भंग करने वाले परिवर्तन आरंभ न हुए थे। इसका यह अर्थ है कि प्राचीनतम भारत-यूरोपीय निर्यात जो हमारे प्रमाणों से पुष्ट है और जो भारत-ईरानी निर्यात से बहुत पुराना होना चाहिए, इस बात का संकेत करता है कि यूरोप में भारत-यूरोपीय भाषायें पहले ही से विद्यमान थीं।

यूरोप में भी उन प्रादेशिक सीमाओं को अत्यधिक संकुचित करना संभव होगा जहाँ भारत-यूरोपीय भाषाओं का मूल स्थान ढूँढा जाता है। यह अधिक निश्चितता के साथ ज्ञात है कि इटली तथा ग्रीक प्रायद्वीप को आर्यों ने उत्तर की ओर से उपनिवेश बनाया था। फ्रांस तथा ब्रिटिश द्वीप समूह में केल्ट मध्ययूरोप से बाद (५०० ई० पू०) में जा कर बसे थे। आइबेरिन प्रायद्वीप रोमन काल तक मुख्य रूप से अ-भारत-यूरोपीय बना रहा, और आधुनिक बॉस्क में आज भी प्राक्-भारत-यूरोपीय भाषा के अवशेष विद्यमान हैं। इसकी

पूर्वी सीमा का संकेत इस तथ्य से ज्ञात होता है कि दो एशियाई निर्यातों (तोखारी तथा भारत-ईरानी) के पूर्व भारत-यूरोपीय भाषा पूर्व में फिन्नी-उग्री परिवार के प्राचीन रूप से सीमित थीं तथा आदिम युग के इन दो भाषा-परिवारों के मध्य में परस्पर सम्वन्ध के कतिपय प्रमाण उपलब्ध हैं। इस मान्यता का कारण विद्यमान है कि फिन्नी-उग्री विस्तार का वास्तविक केन्द्र वोल्गा तथा यूराल के बीच था और यह वह अंतिम सीमा है जिससे आगे इतिहास की आरंभिक स्थितियों में भारत-यूरोपीय भाषा नहीं पाई जाती थी। इस प्रकार राइन नदी से लेकर मध्य एवं दक्षिणी रूस तक का यूरोप का मध्य-देश बचा रहता है और यह संभव है कि भारत-ईरानी निर्यात के समय इस प्रदेश का अधिकांश भाग अनेक भारत-यूरोपीय विभाषाओं के द्वारा व्याप्त था।

मूल भारत-यूरोपीय निवासस्थान के विषय में इससे अधिक संकुचित शब्दों में कहना संभव नहीं है, साथ ही उसका प्रयत्न करना भी अनुचित है। क्योंकि जिन लोगों ने इस बात का प्रयत्न किया है, वे प्रायः आदिम भारत-यूरोपीय की प्रकृति एवं उसकी प्राचीनतम शाखायें कब विभक्त हुई, इस काल के विषय में भ्रान्त धारणाओं से आक्रान्त रहे हैं। भारत-यूरोपीय भाषा का विकास ठीक उसी ढंग से नहीं माना जा सकता जिस तरह लैटिन से रोमान्स भाषाओं का विकास हुआ है। जहाँ तक लैटिन का प्रश्न है, ये विभिन्न भाषायें उस एक ही भाषा से उत्पन्न हुई हैं, जो एक ही नगर की भाषा रही है। किन्तु भारत-यूरोपीय भाषा के सम्वन्ध में यह निश्चित है कि ऐसी एकाकी भाषा का सर्वथा अभाव था जिसकी कल्पना हम केवल तुलना के आधार पर करते हैं। सं० नाभि-, ग्री० ओम्फलॉस् (Omphalós) 'नाभि', जैसे शब्दों की लम्बी तालिका देना सरल होगा, यद्यपि ये साक्षात् रूप से आदिम भारत-यूरोपीय काल से विकसित हुए हैं और एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, तथापि किसी एक मूल शब्द के रूप में कल्पित नहीं किए जा सकते। वस्तुतः विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन इसे स्पष्ट करता है कि इस प्रकार के साधनों से प्राप्त भारत-यूरोपीय भाषा कई प्रकार की विभाषाओं में समुचित रूप से विभक्त हो गई थी। इस दृष्टिकोण के अनुसार भारत-यूरोपीय भाषा के विभाजन का प्रश्न माना जाना चाहिए। सैद्धान्तिक इतिहास तथा भाषाविज्ञान के ग्रन्थों में यह धारणा होना असामान्य नहीं है कि ईसा पूर्व तृतीय सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध में अविभक्त भारत-यूरोपीय भाषा अत्यधिक सीमित क्षेत्र में पाई जाती थी तथा बाद में अनेक देशों में निर्यात हुई जहाँ भारत-यूरोपीय भाषायें बाद में पाई जाती हैं और इन निर्यातों के बाद विकसित हुई हैं। किन्तु अब यह स्पष्ट होने लगा है कि इस समय तक इस परिवार के विभिन्न सदस्यों ने अपने ऐतिहासिक रूप

को प्राप्त करना आरंभ कर दिया था। उदाहरण के लिये जब भारत-ईरानी लोगों ने निर्यात के लिये २००० ई० पू० के लगभग, जैसा कि बहुधा संकेतित किया जाता है, यूरोप छोड़ा; तो वे अपने साथ उस भारत-यूरोपीय भाषा को लेकर नहीं चले थे जो वाद में चलकर भारत-ईरानी के रूप में परिवर्त्तित हुई, किन्तु वे उस भारत-ईरानी भाषा को लेकर चले थे जिसका पुनर्निर्माण हम कर सकते हैं, और जो अपने मूल निवासस्थान (यूरोपीय निवासस्थान) में ही अपनी तात्त्विक विशेषताओं से सम्पन्न हो चुकी थी। यह स्पष्ट है कि ज्योंही निर्यात आरंभ हुआ होगा, त्योंही निर्यात इतने अधिक विस्तृत क्षेत्र में आरंभ हुआ होगा कि भारत-ईरानी भाषा के समग्र विकास के समस्त अवसर समाप्त हो गए थे और चूँकि जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, भारत ईरानी वर्ग में एक समय समग्र रूप में यह विकास हुआ था, यह विकास निर्यात के पूर्व ही हुआ होगा।

जो सिद्धान्त भारत-ईरानी शाखा के साथ लागू होते हैं वे इस परिवार की अन्य शाखाओं के साथ भी लागू होने चाहिएँ। भारत-यूरोपीय परिवार के विभिन्न यूरोपीय सदस्यों के परस्पर गंभीर विभेद के विषय में हम संकेत कर चुके हैं और इसकी पुष्टि वास्तविक विभाग के काल से; उस की अपेक्षा और अधिक पीछे; हो सकती है जो प्रायः अनुमानित किया गया है। यदि कोई समग्र भारत-यूरोपीय भाषा एक संकुचित क्षेत्र से अन्यत्र फैली तो यह काल तुलनाओं के आधार पर प्राप्त कारण से और अधिक पुराना होगा। 'आदिम भारत-यूरोपीय' यूरोप के विशाल प्रदेश में व्याप्त सम्बद्ध भाषाओं का प्रवहमान रूप माना जा सकता है, जो महान् निर्यात के पूर्व ही स्वतन्त्र भाषाओं की प्रकृति को व्याप्त करने लग गई थी।

३. भारत-यूरोपीय का वर्गीकरण

प्राचीन भारत-यूरोपीय विभाषाओं से सम्बद्ध प्रश्न अत्यधिक अध्ययन का विषय रहा है तथा कतिपय उपयोगी प्रमाण प्राप्त हुए हैं। भाषा के व्यक्तिगत रूप के आविर्भाव के पूर्व रूप में इन भाषाओं के विभाजन की स्पष्ट धारणा बनाना सम्भव है। अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं स्पष्ट प्राचीन वैभाषिक भेद वह है जिसके अनुसार सतम् भाषायें केन्तुम् भाषाओं से अलग की जाती हैं। इन दोनों वर्गों का नामकरण इस आधार पर किया गया है कि 'सौ' के लिये प्रयुक्त भारत-यूरोपीय शब्द (*क्यृम्तोम् k̂m̥tóm) में भा० यू० क्य् (k̂) इन वर्गों में किस तरह विकसित हुआ है। केन्तुम् भाषाओं ने इसी रूप में सुरक्षित रखा है। [लै० 'केन्तुम्' (centum), ग्री० 'हेकतोन्' (hekatón), आय० 'केत्' (cēt), तोखारी—अ. 'कंत' (Känt)]; जब कि सतम् भाषाओं में यह किसी

न किसी सोष्म ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो गया है (सं० शतम्, अवे० सतॅम् (satəm), लिथु० स्ज़िमॅतस् (szimtas), पु० स्ला० सुतो (sŭto)। भा० यू० ग्य् (ĝ) तथा घ्य् (ĝh) के विषय में भी इसी प्रकार के परिवर्तन पाए जाते हैं। इस परिवर्तन में योग देने वाली भाषायें भारत-ईरानी, बाल्तो-स्लावी, आर्मीनी, अल्बेनी (सम्भवतः प्राचीन इलीरियन के साथ), थ्रेसियन और सम्भवतः फ्रीजियन हैं। चूँकि यह विशेषता अत्यधिक व्यापक है और चूँकि यह परिवर्तन विना किसी परिस्थितिगत परिवर्तन के सभी सम्बद्ध भाषाओं में पाया जाता है, यह अनुमान किया जा सकता है कि यह परिवर्तन भारत-यूरोपीय काल में ही, विभिन्न भाषाओं के विभाजन के पूर्व ही हो चुका था तथा इसने भा० यू० क्षेत्र में ही कतिपय भाषाओं के एक वर्ग को प्रभावित कर लिया था। इन विभाषाओं तथा इनसे उद्भूत भाषाओं की एकता की परिपुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि भा० यू० क्व्, ग्व्, घ्व् (उदाहरणार्थ, सं० क– 'कौन', लि० कस् (kas), जो ग्रीक पो-थॅन् (po-then) लै० क्वो-द् (quo-d), गॉथिक ह्वस् (hʋas) के विपरीत है) में ओष्ठ्य तत्त्व का लोप भी भाषाओं के इसी वर्ग की स्पष्ट विशेषता है।

तोखारी तथा हित्ती की खोज के पूर्व केन्तुम् तथा सतम् वर्गों को क्रमशः पश्चिमी तथा पूर्वी भारत-यूरोपीय वर्ग मानने की धारणा साधारणतः पाई जाती थी और सतम् भाषाओं की भाँति केन्तुम् भाषाओं को एक समग्र वर्ग में सम्मिलित किया जाता था। यह मत सन्तोषजनक नहीं था, क्योंकि ग्रीक भाषा सतम् वर्ग की भाषा अल्बेनी के द्वारा अन्य पश्चिम भारत-यूरोपीय भाषाओं से कटी हुई ही नहीं है, किन्तु इस विशेषता के अतिरिक्त यह भाषा उनसे कोई विशिष्ट समानता नहीं प्रदर्शित करती, अपितु सतम् भाषाओं से विशिष्ट समानता व्यक्त करती है। इन नवीन भाषाओं की खोज ने, जो निर्भ्रान्त रूप में केन्तुम् भाषायें थीं, यह असंभव कर दिया कि अव भाषाओं के पूर्वी और पश्चिमी वर्गीकरण की चर्चा की जाय, और इस वात को भी स्पष्ट कर दिया कि केन्तुम् वर्ग की भाषायें समग्र रूप में कभी नहीं थीं। केन्तुम् वर्ग की भाषायें केवल इस बात में समान हैं कि इनमें मूल क्य्, ग्य्, घ्य् (k̂, ĝ, ĝh) स्पर्श ध्वनियों के रूप में सुरक्षित हैं और भाषाशास्त्र में यह धारणा पाई जाती है कि समान सुरक्षित तत्त्वों का पाया जाना इस वात का आवश्यक संकेत नहीं है कि वे विभाषायें अथवा भाषायें घनिष्ठतया सम्बद्ध हैं। अतः भारत-यूरोपीय विभाषाओं के वर्गीकरण को हम निम्न रूप में उपस्थित कर सकते हैं :—

१. मध्यवर्ती वर्ग, जिसे सतम् भाषाओं से अभिन्न माना जा सकता है तथा जो उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त है।

२ मध्यवर्ती वर्ग को घेरने वाले चार वैभाषिक वर्ग (१) पश्चिमी भारत-यूरोपीय, जिसमें इटैलिक, केल्टिक तथा जर्मन शाखा का समावेश है, (२) ग्रीक, जो मध्यवर्ती वर्ग से कुछ विशेष सम्बन्ध रखती है, (३) पूर्वी भारत-यूरोपीय, जो तोखारी के रूप में बची रही है, (४) हित्ती तथा एशिया-माइनर की अन्य भारत-यूरोपीय भाषायें, जो मूल भारत-यूरोपीय परिवार से बहुत पहले ही अलग हो गई थीं।

भारत-यूरोपीय भाषाओं का ऐतिहासिक विभाजन पूर्णतः इसी पद्धति से हुआ है किन्तु अत्यधिक परवर्ती काल में संस्कृत भाषा के निर्यात के कारण यह भाषा भारत-यूरोपीय क्षेत्र के सुदूर पूर्व में चली गई। इस काल के पूर्व इसकी पूर्वज, भारत-ईरानी भाषा स्पष्टतः केन्द्रीय स्थान में स्थित रही होगी और इसका सतम् वर्ग की अन्य विभाषाओं से साक्षात् सम्बन्ध रहा होगा. और इसके पूरब में भारत-यूरोपीय परिवार की वह भाषा थी, जो अन्त में जा कर चीनी तुर्किस्तान की अ. तथा ब (तोखारी) विभाषाओं के रूप में परिवर्त्तित हुई। इसकी स्थिति उन विशिष्ट घनिष्ठ सम्बन्धों के आधार पर भी निर्धारित की जा सकती है जो इसमें तथा बाल्तोस्लावी में पाए जाते हैं। चूंकि बाल्त तथा स्लाव अपनी वास्तविक स्थिति से, जिसमें वे प्राचीन अभिलिखित इतिहास में पाए जाते हैं, अधिक दूर नहीं गए हैं, भारत-ईरानी का मूलस्थान इस क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व में मानना अधिक संभव है।

भारत-यूरोपीय भाषा का पश्चिमी वर्ग, जिसमें इटैलिक, केल्टिक तथा जर्मन शाखा समाविष्ट है, व्याकरण तथा शब्दकोश की कतिपय विशेषताओं की दृष्टि से अन्य शाखाओं से भिन्न है; ये शाखायें प्राक्-ऐतिहासिक काल में ही परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध को व्यक्त करती हैं। यह सम्बन्ध इटैलिक तथा केल्टिक के विषय में अत्यधिक घनिष्ठ हैं, यद्यपि ये सम्बन्ध इतने अधिक परिपूर्ण नहीं हैं कि वे इटैलो-केल्टिक जैसी अविभक्त शाखा को मानने वाले सिद्धान्त को प्रमाणित कर सके। जर्मन शाखा का अन्य दो शाखाओं से कम घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु वे स्पष्ट हैं। इसके साथ ही यह शाखा स्लावी शाखा तथा समान मध्यवर्ती (केन्द्रीय)- वर्ग से विशिष्ट सम्बन्ध रखती है (उदाहरणार्थ, '–र्' वाले कर्मवाच्य-आत्मनेपदी क्रियारूपों का अभाव)।

भारत-ईरानी तथा पश्चिमी भारत-यूरोपीय में विशिष्ट समानताओं का सर्वथा अभाव है। अब तक जिन समानताओं का संकेत किया गया है वे शब्दकोश के कतिपय समान तत्त्व हैं जो शेष भारत-यूरोपीय में अधिकतर लुप्त हो गए हैं। ये शब्द अनेक दृष्टि से अत्यधिक रोचक तथा महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु ये प्राचीन भारत-

यूरोपीय शब्दों से ही सम्बद्ध हैं जो स्वतन्त्र रूप में दोनों वर्गों में सुरक्षित रहे हैं जिनमें अन्यथा कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार के शब्द निम्न हैं: —

लै॰ क्रेदो (credo), आयरिश, क्रेतिम् (cretim), सं॰ श्रद्धा, 'श्रद्धा'

लै॰ रेक्स (rēx), आयरिश, रि (rí) 'राजा', सं॰ राज्–, राजन्–,

आय॰ रिगेन (rígain) 'रानी' सं॰ राज्ञी,

आय॰ रिगे (ríge) 'राज्य' सं॰ राज्य–

लै॰ युस् (ius), युस्तुस् (iustus), आ॰ उइस्से (uisse) 'न्याय्य', 'न्यायप्रिय', सं॰ योस्, अवे॰ यओश् (yaoš) 'न्यायप्रियता, पवित्रता'

लै॰ एन्सिस् (ensis) 'खड्ग', सं॰ असि–,

लै॰ रेस् (rēs) सम्पत्ति' सं॰ रै–,

आय॰ ब्रो (bro), 'चक्की का पत्थर' सं॰ ग्रावन्–(गॉथिक क्वइर्नुस् (quairnus), आदि में भिन्न रूप में परिवर्तित')

आय॰ गेर्त (gert) 'दूध' सं॰ घृत–'घी'

आय॰ अइरे (aire) (सम्बन्ध एकवचन रूप अइरेख (airech), 'सरदार, कुलीन' सं॰ अर्य–, आर्य– 'स्वामी, कुलीन, आर्य'

लै॰ फ्लमेन् (flamen), सं॰ ब्रह्मन्–'पुरोहित' की प्राचीन समानता अत्यधिक स्पष्ट एवं विश्वसनीय है। इनमें से बहुत से शब्द धर्म, न्याय आदि से सम्बद्ध हैं तथा यह तथ्य कि ये केवल इन्हीं दो शाखाओं में बचे रहे हैं, इसका कारण है कि इन दोनों समाजों में अत्यधिक रूढ़ प्रवृत्तियाँ पाई जाती थीं। ये प्रवृत्तियाँ उन मूल विभाषाओं के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध को व्यक्त नहीं करतीं जिन पर ये भाषायें आधृत हैं।

ग्रीक भाषा अन्य केन्तुम् वर्गों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध को नहीं प्रदर्शित करती। इसके विरुद्ध उसका घनिष्ठ सम्बन्ध सतम् भाषाओं, विशेष रूप से भारत-ईरानी तथा आर्मीनियन के साथ, प्रतीत होता है। संस्कृत के तुलनात्मक व्याकरण का पर्यालोचन इस बात के लिये पर्याप्त होगा कि संस्कृत तथा ग्रीक में जितनी अधिक समानता पाई जाती है उतनी संस्कृत तथा भारत-ईरानी से बाहर की इस परिवार की अन्य शाखा में नहीं पाई जाती। यह समानता विशेष रूप से तिङ् विभक्तियों के सम्बन्ध में पाई जाती है। ये दोनों भाषायें प्राचीन काल से लिखित रूप में उपलब्ध हैं, यह तथ्य भी अंशतः इसी स्थिति का कारण है, किन्तु केवल इसी कारण यह समानता नहीं है। इन विशेषताओं में से कतिपय परवर्त्ती भारत-यूरोपीय उद्भव की हैं और समान परिवर्तन के कारण जनित मानी जा सकती हैं और प्राचीन रूपों के समान सुरक्षण के कारण नहीं हैं। उदाहरण के लिये भा॰ यू॰ भाषाओं में ओ-कारान्त शब्दों के सम्बन्ध

एक वचन में समान रूप नहीं हैं। –ओस्यो (–osyo) वाले रूप जो ग्रीक (–ओइओ (–oio), ओउ (ou)), आर्मीनी (–ओय् (–oy)), तथा भारत-ईरानी (सं० –अस्य, अवे०-अह्य (ahya)) में समान हैं, इटैलो-केल्टिक –ई (–ī) अथवा हित्ती रूपों (अश्, ∠ ओस् (–aš ∠ os) से जो कर्ता कारक के रूपों से अभिन्न प्रतीत होते हैं, अधिक पुराने नहीं बन सकते। वस्तुतः इस विषय में अनेक रूपों की उपलब्धि इस बात को व्यक्त करती है कि ये अनेक रूप भा० यू० भाषा के परवर्ती काल में विकसित हुए हैं जब कि भाषा विभाषाओं के रूप में विस्तार से विभक्त हो गई थी। अतः यह प्राक्-ऐतिहासिक घनिष्ठ सम्बन्ध का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। इसी प्रकार (भूतकाल के द्योतन के लिये) आगम का प्रयोग केवल ग्रीक (ऐफेरे éphere), भारत-ईरानी, (सं० अभरत्), तथा आर्मीनी (एवेर, eber) में—फ्रीजियन के अवशिष्ट चिह्नों के साथ—पाया जाता है। चूंकि इस धारणा का कारण यह नहीं मालूम पड़ता कि यह तिङ् विभक्ति के नियमित अंश के रूप में उन भाषाओं में कभी भी विद्यमान था जिनमें यह अभिलिखित रूप में नहीं मिलता, भारत-ईरानी, ग्रीक तथा आर्मीनी में इसका विकास उन सम्बद्ध विभाषाओं में समान उद्भव के रूप में माना जाना चाहिए जिन पर ये भाषायें आधृत हैं। आत्मनेपदी कर्मवाच्य रूपों में र्– वाले रूपों का लोप संस्कृत तथा ग्रीक की महत्त्वपूर्ण समान विशेषता है। ध्वन्यात्मक दृष्टि से संस्कृत तथा ग्रीक में अक्षरसंघटनाकारी अनुनासिक ध्वनियों (भारत-यूरोपीय न्, म्) का समान परिवर्तन पाया जाता है जहाँ ये दोनों अ स्वरध्वनि के द्वारा परिवर्तित कर दिए जाते हैं। इन दोनों भाषाओं में पाई जानेवाली अन्य समानताओं को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह घनिष्ठ सम्बन्ध आकस्मिक होना असंभव है। अन्य दृष्टियों से, उदाहरणार्थ पुरोनिहित (Prothetic) स्वर ध्वनियों की दृष्टि से, ग्रीक आर्मीनी के अत्यधिक निकट दिखाई देती है तथा इनमें शब्दकोश की दृष्टि से भी कई महत्त्वपूर्ण समानतायें हैं।

यह तथ्य कि ग्रीक भाषा सतॅम् भाषाओं, आर्मीनी तथा भारत-ईरानी के साथ अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित करती है, इस बात से सर्वथा विपरीत है कि यहाँ सतॅम् वर्ग में होनेवाले विशिष्ट ध्वन्यात्मक परिवर्तन नहीं पाए जाते हैं। हमें यह अनुमान करना होगा कि वह भा० यू० विभाषा जिस पर ग्रीक आधृत है मूलतः केन्द्रीय वैभाषिक वर्ग से घनिष्ठतया सम्बद्ध थी, किन्तु यह सम्बन्ध सतॅम् वर्ग में होने वाले ध्वन्यात्मक परिवर्तन के पूर्व-काल में ही विच्छिन्न हो गया था।

तोखारी भाषाद्वय के विषय में यह बात अधिक आश्चर्यजनक है कि

एशियाई परिवार की अन्य (भा० यू०) भाषा, भारत-ईरानी के साथ उसका कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है। ये भाषायें भारत-ईरानी भाषा के अधिक निकट नहीं हैं अपितु कई स्थितियों में उससे अत्यधिक भिन्न प्रतीत होती हैं तथा उसकी अपेक्षा पश्चिम की इटैलिक तथा केल्टिक जैसी भाषाओं से अधिक संबद्ध हैं। यह इस तथ्य के अनुसार है कि भारत-ईरानी की पूर्वज विभाषा मूलतः केन्द्रीय विभाषा थी और इस प्रकार उसकी पूर्वी सीमारेखा पर एक ऐसी विभाषा थी जिससे तोखारी विकसित हुई है और जो सुदूर पश्चिमी सीमारेखा पर स्थित इटैलिक तथा केल्टिक के वंशजों की अपेक्षा अधिक समान तत्त्वों का वहन नहीं करती। साथ ही ये भाषायें भारत-यूरोपीय परिवार के किसी भी अन्य एक वर्ग से विशिष्ट सम्बन्ध नहीं व्यक्त करतीं। तोखारी में आत्मनेपदी क्रियारूपों में 'र्' का प्रयोग एक ओर इटैलो-केल्टिक, अथवा दूसरी ओर हित्ती के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध को ही नहीं व्यक्त करता, अपितु यह तिङ् विभक्ति के रूप का संकेत मात्र करता है जो प्रारम्भिक भा० यू० की एक विशेषता थी, किन्तु जो केन्द्रीय क्षेत्र की विभाषाओं में परवर्ती काल में लुप्त होने लगी थी। एक वर्ग से दूसरे वर्ग का सम्बन्ध जोड़ने के अन्य प्रमाणों को प्राप्त करने की चेष्टा असफल रही है। ये दोनों विभाषायें मूल भा० यू० से अत्यधिक परिवर्तित हो गई हैं। सुप् प्रत्ययों की पुरानी पद्धति अधिकांश रूप में भग्न हो चुकी है तथा शब्दकोश में उन शब्दों की संख्या, जिनके आधार पर सन्तोषजनक निरुक्ति की जानकारी संभव है, अत्यधिक स्वल्प है। इसके साथ ही इन दोनों भाषाओं की कतिपय विशेषतायें प्राचीन तत्त्वों का वहन करती हैं, जो इस बात का संकेत करती हैं कि ये भा० यू० के अपेक्षाकृत प्राचीन रूप से विकसित हुई हैं। यह धारणा तोखारी के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत पुराने निर्यात को जन्म देती है तथा इस प्रकार का अनुमान तोखारी एवं भारत-ईरानी में पाए जाने वाले अत्यधिक विभेद को पुष्ट करता है। हम यह अनुमान कर सकते है कि पूर्वी भा० यू० विभाषा-वर्ग; इसके पूर्व कि भारत-ईरानी वर्ग केन्द्रीय भा० यू० क्षेत्र से अपेक्षाकृत परवर्ती-काल में एशिया की ओर निर्यात हुआ; अनेक सदियों तक विच्छिन्न अवस्था में रहा होगा।

हित्ती तथा उससे सम्बद्ध भाषाओं का भा० यू० परिवार से विच्छेद इन सबसे अधिक प्राचीन जान पड़ता है। यही एक मार्ग है जिसके द्वारा हित्ती तथा पूर्वज्ञात भा० यू० परिवार की भाषाओं के आधार पर पुनर्निर्मित (कल्पित) भा० यू० भाषाओं में अत्यधिक विभिन्नता का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। हित्ती भाषा की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता 'ह्' (ḫ) का संरक्षण है, जो अन्यत्र लुप्त हो गया है। इसके अतिरिक्त यह भा० यू० की मूल प्रकृति

से कई बातों में हटी हुई है। संज्ञा रूपों में हलन्त प्रातिपदिकों की प्रतिशत संख्या और विशेष रूप से ल् तथा र् वाले प्राचीन नपुंसक रूप, जिनके साथ विकल्प से न् वाले रूप भी हैं, परिनिष्ठित प्राचीन भा० यू० की अपेक्षा अत्यधिक है। स्त्रीलिङ्ग (शब्द) अविकसित हैं। संज्ञाओं की सुप् विभक्तियाँ भा० यू० पद्धति से—जिसका प्रतिनिधित्व संस्कृत करती है—अधिक सरल है तथा इस मान्यता के विषय में कोई कारण नहीं जान पड़ता कि यह हित्ती में जनित लोप के कारण है। सबसे बढ़ कर बात यह है कि इसके धातुरूप संस्कृत तथा ग्रीक की तुलना पर पुनर्निर्मित भा० यू० धातुरूपों से अत्यधिक भिन्नता रखते हैं जो स्थिति एक समय प्राचीन भा० यू० में थी। इन तथ्यों की मीमांसा ने कतिपय विद्वानों, उल्लेखार्थ ई. स्टर्टेवन्ट को, हित्ती भाषा को भा० यू० परिवार से भिन्न करने तथा अपेक्षाकृत प्राचीन भारत-हित्ती भाषा की कल्पना करने—जिससे एक ओर हित्ती तथा दूसरी ओर भा० यू० विकसित हुई है—की प्रेरणा दी। अधिकांश विद्वान् इस मत के विरुद्ध हैं तथा भारत-हित्ती और भा० यू० की अपेक्षा प्राचीनतम भा० यू० एवं परवर्ती भा० यू० की कल्पना अधिक ठीक जान पड़ती है। इस बात का संकेत किया जा चुका है कि भा० यू० भाषा का वैभाषिक भेदीकरण भारत-ईरानी के निर्यात के बहुत पहले ही आरम्भ हो गया था। यद्यपि हित्ती भाषा का विच्छेद अत्यधिक प्राचीन काल में हो गया होगा तथापि यह भा० यू० वैभाषिक भेदीकरण के आरंभ होने से पहले नहीं हुआ होगा। वस्तुतः परवर्तीकाल में समग्र अविभक्त भा० यू० भाषा नहीं थी जैसा कि भारत-हित्ती सिद्धान्त की परिकल्पना करने पर मानना पड़ेगा। यह सत्य है कि हित्ती को छोड़ कर शेष भा० यू० में जो विकास हुआ है (उदाहरणार्थ, स्त्रीलिंग का विकास) उसका अधिकांश, जो हित्ती के विच्छेद से परवर्तीकाल में माना जाना चाहिए, समस्त विभाषाओं में समानरूप से हुआ है, किन्तु यह स्पष्ट है कि यह विकास तबतक हो गया होगा, जबतक विभिन्न विभाषायें एक दूसरे के सम्पर्क में थीं। इनमें महत्त्वपूर्ण भेद अब यह है कि केवल आदिम भा० यू० भाषा की परिकल्पना की अपेक्षा हमें हित्ती के विच्छेद के पूर्व की प्राचीन भा० यू० भाषा एवं कतिपय विकासशील तत्त्वों से विशिष्ट परवर्ती भा० यू० भाषा में, जिसका निर्णय किया जा सकता है, और जिसमें समान रूप से विकसित विभिन्न विभाषायें क्रमशः विभिन्न भाषाओं का रूप ग्रहण कर रही थीं, भेद करना होगा।

४. भारत-ईरानी तथा बाल्तो-स्लावी

भारत-ईरानी से इतर अन्य सतॅम् भाषायें केन्तुम् भाषाओं में से अधिकांश की अपेक्षा अधिक परवर्तीकाल से ज्ञात हैं। इसके साथ ही सतॅम् वर्ग में

निश्चितरूप में पाई जाने वाली कतिपय शाखायें—उदाहरणार्थ थ्रेसियन—कुछ चिह्नों को छोड़ कर लुप्त हो गई हैं। अतः प्रारंभिक काल में सतॅम् वर्ग में भारत-ईरानी की क्या स्थिति थी, इसकी स्पष्ट धारणा बनाना संभव नहीं है। हम केवल इसी निष्कर्ष पर पहुँच पाते हैं कि एक समय प्राचीन भारत-ईरानी तथा उन भा० यू० विभाषाओं में विशिष्ट सम्बन्ध था, जिनसे बाद में बाल्ती तथा स्लावी भाषायें विकसित हुईं। चूंकि यह तथ्य भारत-ईरानी के प्राचीन निवास स्थान के निर्धारण के लिये महत्त्वपूर्ण है, इन प्रमाणों को कुछ विस्तार से देना आवश्यक होगा।

ध्वन्यात्मक दृष्टि से भारत-ईरानी तथा स्लावी में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समान विशेषता यह है कि भारत-आर्य तथा स्लावी में क्, र्, इ तथा उ के बाद स् का श् (> स्ला० छ (ch)) रूप में परिवर्तन हो जाता है तथा लिथुआनी में भी र् के बाद यह परिवर्तन पाया जाता है।[1] यह समानता आकस्मिक नहीं हो सकती क्योंकि जिन परिस्थितियों में ये परिवर्तन पाए जाते हैं वे अत्यधिक समानान्तर हैं। इससे यह निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है कि ये दोनों शाखायें एक समय भौगोलिक दृष्टि से अत्यधिक समीप थीं और भा० यू० स् का यह परिवर्तन स्लावी तथा भारत-ईरानी के संकुचित क्षेत्र में ही पाया जाता था तथा भा० यू० की अन्य शाखायें इससे बची रहीं। यह तथ्य कि यह परिवर्तन बाल्ती शाखा के बहुत कम क्षेत्र में पाया जाता है, इस बात का निदर्शन करता है कि प्राचीन काल में भी बाल्ती शाखा किसी सीमा तक स्लावी शाखा से स्वतन्त्र थी।

इन दोनों शाखाओं में दूसरा परिवर्तन ऍ—ए, इ—ई के पूर्व क् का च् के रूप में विकास है।[2] यह परिवर्तन संभवतः समानान्तर स्वतन्त्र विकास जान पड़ता है। प्राचीन स्लावी में इस प्रकार के परिवर्तन तथा द्वितीय स्लावी तालव्यीभाव से जनित रूपात्मक वैविध्य पाया जाता है (उदाहरणार्थ—कर्ता ए० व० व्लुकु (vlŭkŭ), संबोधन व्लूचे (vluče), अधिकरण, व्लुचे (vlŭče))। इस प्रकार का परिवर्तन संस्कृत में आरंभ में ही लुप्त कर दिया गया था और यह असंभव है कि यह स्लावी में बहुत लम्बे समय तक सुरक्षित रखा जा सका हो, और यह भी असंभव है कि हमें यह अनुमान करना आवश्यक है कि स्लावी में यह परिवर्तन इतना पुराना था।

व्याकरण की दृष्टि से इन दोनों वर्गों में कतिपय समान विशेषतायें उद्धृत की जा सकती हैं, यद्यपि इनमें कतिपय महत्त्वपूर्ण विरोध भी पाए जाते हैं।

[1] उदाहरणों के लिये देखिये— ३६९

[2] उदाहरणों के लिये देखिये— ३६७

इन विरोधों में से अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व जर्मन शाखा के समान बाल्तो-स्लावी में -म्- तत्त्व का अस्तित्व है जो संस्कृत तथा भा० यू० भाषाओं में पाए जाने वाले—भ्—तत्त्व के स्थान पर नियत रूप से उपलब्ध होता है (उदाहरणार्थ—सम्प्रदान-अपादान ब० व० लिथु० विल्कम्स् (vilkams), स्लावी० व्लुकोमु (vlŭkomŭ) गॉ० वुल्फम् (wulfam), सं. वृकेभ्यः)। यह प्राचीन भा० यू० वैविध्य है जो प्रचलित वैभाषिक वर्गों को काटता है। बाल्तो-स्लावी की दूसरी विचित्रता ओ-कारान्त शब्दों के सम्बन्ध में एक वचन रूपों के लिये प्राचीन अपादान रूपों का प्रयोग है: लिथु० विल्को (vilko), प्रा० स्ला० व्लुक (vlŭka)।

इन विरोधों के होते हुए भी इन दोनों वर्गों को परस्पर संश्लिष्ट करने वाली कई व्याकरणात्मक विशेषतायें उपलब्ध हैं। इनमें से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण संक्षेप में निम्नलिखित हैं:—

(अ) सुप् विभक्ति : (१) र्—(ऋ-) कारान्त शब्दों के कर्ता कारक रूपों में र् का अभाव, संस्कृत—माता 'माँ', स्वसा 'बहिन' : प्रा० स्ला० मति (mati), लिथु० मोते (motē), सेसुओ (sesuŏ)।

(२) केवल इन्हीं दो वर्गों में अधिकरण कारक बहुवचन में —सु (ग्रीक —सि के विपरीत) विभक्ति चिह्न पाया जाता है : संस्कृत वृकेषु, प्रा० स्ला० व्लुचेछु (vlŭcechŭ)।

(३) द्विवचन के विभक्ति-चिह्न अत्यधिक समान है तथा अत्यधिक उपलब्ध होते हैं जो अन्यत्र नहीं पाए जाते। उदाहरणार्थ—सं० कर्ता कारक द्वि० व० बाले, युगे, नामनी, मनसी, अक्षी, सूनू, प्रा० स्ला० ज़ेने (žene), इझे (iže), इमेनि (imeni), तेलेसि (te lesi), ओचि (oči), (लिथु० अकि (aki)) सूनू (syny) (लिथु० सूनु (sūnu), सम्बन्ध कारक द्वि० तयोः, द्वयोः, : लिथु० तोयु (toju), द्वोयु (dvoju).।

(४) आ-कारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के ए० व० रूपों में समान विकास ; उदाहरणार्थ—करण कारक सं० तया, सेनया, : प्रा० स्ला० तोयो (toję), रोकोयो (rǫkoję), अधिकरण कारक, सं० सेनायाम्, अवे० हएनय (haēnaya), : लिथु० रङ्कोये (rañkoje)।

(५) इ-कारान्त तथा उ-कारान्त शब्दों के रूपों में निकट समानता, जैसा कि इन उदाहृत समानताओं से स्पष्ट है, सम्प्रदान ए० व० सं० सूनवे, प्रा० स्ला० सूनोवि (synovi)।

(ब) सर्वनाम तथा क्रियाविशेषण :—(१) पुरुषवाचक सर्वनामों के रूपों में समान विशेषता, उदाहरणार्थ कर्ता कारक ए० व० में —ओम् का

प्रयोग, सं० अहम्, प्रा० स्ला० अज़ु (azu), सानुनासिक कर्मकारक रूप सं० माम्, प्रा० स्ला० मे (me), सम्बन्ध ए० व०, अवे० मन (mana), प्रा० स्ला० मेने (mene), (सं० मम के विपरीत)।

(२) कतिपय स्थितियों में निर्देशात्मक सर्वनाम आदि के विस्तृत प्रातिपदिक का प्रयोग, उदाहरणार्थ सम्प्रदान ए० व० पुल्लिङ्ग सं० तस्मै, प्रा० प्रसियन, कस्मु (kasmu), स्तेस्मु (stesmu), प्रा० स्ला० तोमु (tomu), स्त्रीलिङ्ग सं० तस्यै, प्रा० प्रसियन स्तेस्सिएइ (stessiei). ।

(३) प्रश्नवाचक सर्वनाम में क्वि– प्रातिपदिक के विरुद्ध क्वो– प्रातिपदिक का प्रयोग । सं० क–, लिथु० कस् (kas)।

(४) कतिपय समान सार्वनामिक प्रातिपदिकों का अस्तित्व, उदाहरणार्थ– अवे० अव– (ava–), प्रा० स्ला० ओवु (ovŭ), सं० अवे० अन– लिथु० अनस् (anas), प्रा० स्ला० ओनु (onŭ), ।

(५) अनेक क्रियाविशेषण. सं० कुह, अवे० कुदा (kudā). 'कहाँ', प्रा० स्ला० कुदे (kŭde), सं० कुदा 'कब', तुदा 'तब', लिथु० कद (kada), सं० न 'समान', लिथु० नेइँ (neĩ), सं० वहिः 'बाहर', प्रा० स्ला० वेज़ु (vezŭ), 'बाहर', सं० विना, प्रा० स्ला० वुने, (vŭnĕ), 'विना', प्रा० फारसी (अवह्य) रादि (avahya) rādi) 'उसके कारण', प्रा० स्ला० (तोगो) रादि (togo) radĭ)।

(स) क्रिया :—क्रियारूपों में भारत-ईरानी तथा बाल्तो-स्लावी में समान रूप से खास विशेषतायें विशेष स्पष्ट नहीं हैं। यह अंशतः इस तथ्य के कारण है कि स्लावी (और अपेक्षाकृत अधिक अंश तक बाल्ती) बहुत बाद अभिलिखित रूप में मिलती है और सुप् विभक्तियों की अपेक्षा तिङ् विभक्तियों के सम्बन्ध में कम रूढ है (उदाहरणार्थ – पूर्णभूत तथा आत्मनेपदी रूपों का लोप)। संकेत करने योग्य बिन्दु निम्न हैं:—

(१) स्– लुङ् (s–aorist), के रूपों में समानता, उदाहरणार्थ धातु में वृद्धि (स्लावी, वेस्ति (vesti), वेसु (vésu), सं० वहति : अवाक्षम्) तथा उत्तम पुरुष ए० व० में—ओम् विभक्ति चिह्न (जो ग्रीक अ के विरुद्ध है)।

(२) स्यो– वाले भविष्यत्कालिक रूप निश्चित रूप से केवल भारत-आर्य तथा लियुआनी में ही पाए जाते हैं:—सं० दास्यामि 'मैं दूँगा', लिथु० दुओसिउ (dúosiu)।

(३) दोनों वर्गों में णिजन्त प्रक्रिया के रूप अच्छी तरह विकसित हैं तथा कई समान रूपों को उदाहृत क्रिया जा सकता है। उदाहरणार्थ—सं० बोधयति 'वह बोध कराता है' प्रा० स्ला० बुज़्दो (buždǫ), बुदिति (buditi)।

शब्दकोश के क्षेत्र में भारत-ईरानी में बाल्ती तथा स्लावी के समान शब्द अत्यधिक संख्या में पाए जाते हैं जो अन्य भा० यू० भाषाओं में नहीं मिलते। यह समानता उस समानता से कहीं विशेष अधिक है जो भारत-ईरानी तथा इस परिवार के अन्य सदस्यों में उपलब्ध होती है और यह तथ्य इन दोनों शाखाओं के प्राचीन सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रमाण उपस्थित करता है। उदाहरणार्थ—'बकरे' के लिये भा० यू० में कोई समान शब्द नहीं है। सं० अज- लिथु० ओज़ूस् (ožỹs), से सम्बद्ध है किन्तु समानान्तर रूप अन्य भा० यू० भाषाओं में अनुपलब्ध हैं। ग्रीक तथा आर्मीनी में, दोनों भाषायें इस दृष्टि से संयुक्त हैं, समान शब्द पाया जाता है, अइज़् (aiz), अइच् (aiç), किन्तु इसे हम भा० यू० ध्वनिविज्ञान के नियमों के अनुसार उससे सम्बद्ध नहीं कर सकते। पश्चिमी भा० यू० भाषाओं में अन्य शब्द पाया जाता है (लैटिन हएदुस् (haedus), अंग्रेजी गोट (goat), इन शब्दों का विभाजन ऊपर वर्णित वैभाषिक वर्ग के अनुसार है और इस सम्बन्ध के अध्ययन में शब्दकोश के विकास का संकेत करता है। संस्कृत शब्द अजिन 'चमड़ा', प्रा० स्ला० अज़िनु (azĭnu) यज़िनो (jazĭno) के समान है और इन दोनों भाषाओं में इसका मूल अर्थ 'बकरे का चमड़ा' है जो आगे जाकर 'चमड़े' के सामान्य अर्थ में विस्तृत हो गया है। कुछ शब्दों का वर्ग ऐसा भी पाया जाता है जिसका मूल धातु रूप अनेक भा० यू० भाषाओं में समान है किन्तु भारत-ईरानी भाषा में जो विशिष्ट प्रत्यय पाया जाता है वह अन्यत्र केवल स्लावी तथा बाल्ती में ही उपलब्ध होता है। उदाहरण ये हैं:—सं० फेन- 'झाग', प्रा० प्रशियन स्पोय्नो (spoayno), लिथु० स्पइने (spáine), जो पश्चिमी भा० यू० शब्दों के विरुद्ध है, जहाँ म् प्रत्यय पाया जाता है (लैटिन स्पूम (spūma) अंग्रेजी फ़ोम (foam))। सं० दक्षिण 'दाहिना (हाथ)', प्रा० स्ला० देसिनु (desinŭ), लिथु० देशिने (dešinẽ), के अत्यधिक समानान्तर है, जब कि अन्य भाषाओं में विभिन्न प्रत्यय पाये जाते हैं (ग्रीक, देज़िओस् (deziós), देज़ितेरोस् (deziterós), लैटिन- देक्स्तेर (dexter), गॉथिक तइहस्व (taihswa), । इसी प्रकार सं० ग्रीवा 'गर्दन' तथा प्रा० स्ला० ग्रीव 'अयाल' रूपात्मक दृष्टि से अत्यधिक समानान्तर है किन्तु ग्रीक देरे (derē), 'गर्दन' (√ग्वेर (√gwer) के साथ केवल सम्बद्ध धातु की दृष्टि से ही तुलनीय है। सं० मज्जन्-का न्- प्रत्यय केवल स्लावी (प्रा० स्ला० मोज़्दनु (moždanŭ) तथा बाल्ती (प्रा० प्रशियन मुज़्गेनो (muzgeno) में प्राप्त होता है। सं० मिश्र- 'मिश्रित' का स्पष्ट समानान्तर रूप केवल लिथुआनी मिश्रस् (mišras) के रूप में उपलब्ध हैं।

अन्य उल्लेखनीय विशेषता दोनों वर्गों में विशिष्ट अर्थों के अस्तित्व की समानता है। सं० बुध्– तथा सम्बद्ध बाल्तो-स्लावी शब्दों में समान अर्थ 'जगना तथा ज्ञान-सम्पन्न होना' पाया जाता है, किन्तु यह अन्य भाषाओं में अनुपलब्ध है। ईरानी (नि–) पिस् (ni–) pis–) का अर्थ 'लिखना', प्रा० स्ला० पिसति (pĭsati) में पाया जाता है।

भारत-ईरानी तथा बाल्तो-स्लावी में अन्य विशिष्ट शब्दों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित हैं:—

अवे० स्पॅन्त (spənta–) 'पवित्र' प्रा० स्ला० स्वे ँतु (svętŭ), लिथु० श्वेङ्तस् (s'veñtas), ,

सं० सव्य– 'बायाँ' अवे० हओय–(haoya), प्रा० स्ला० शुयि (šu'jĭ),

सं० बर्हिः 'कुशासन', अवे० वरॅज़िश् (varəziš) 'गद्दा, तकिया,' प्रा० स्ला० ब्लज़िन (blazina) 'गद्दा',

सं० कृष्ण– 'काला', प्रा० स्ला० च्रुनु (črŭnŭ) प्रा० प्रसि० किर्स्नन् (kirsnan),

सं० भर– 'युद्ध, लड़ाई', तुल० प्रा० स्ला० बोर्यो (borjo) 'लड़ाई',

सं० ओष्ठ– 'ओठ', प्रा० स्ला० उस्त (usta), प्रा० प्रसि० अउस्तिन (austin) 'मुख',

सं० अवट, 'झरना, कूप', लेटिश अवुओत्स (avuots),

अवे० वरस– (varəsa-) 'बाल', प्रा० स्ला० व्लासु (vlasu), रूसी वोलोस् (vólos),

सं० गिरि– 'पर्वत' अवे० गइरि- (gairi-), प्रा० स्ला० गोर (gora 'पर्वत'), लिथु० गिरिअ (giria), गिरे (gire), 'वन',

सं० तूष्णीम् 'चुपचाप', अवे० तुश्नि–(tušni) 'चुप', प्रा० प्रसि० तुस्नन् (tusnan),

सं० तुच्छ्य–'खाली', खोतानी तुश्शअ–(ttus's'a a) प्रा० स्ला० तुश्ति (tŭštĭ) लिथु०, तुश्चिअस् (tuščias) 'खाली',

सं० दधि (सम्बन्ध कारक, दध्नः) 'दही', प्रा० प्रसि० ददन् (dadan),

सं० पयस्–'दूध' अवे० पएम (paēma), लिथु० पेनस् (pénas) (भिन्न-प्रत्ययों से युक्त),

अवे० ख़्श्विद्–(xšvid–) 'दूध', तुल० स्विएस्तस् (sviestas) 'मक्खन'।

सं० अङ्गार–'कोयला' प्रा० स्ला० ओँग्लि (ǫglĭ), रूसी उगोल (ugol)

सं० ब्रध्न–'पीला, हल्के रंग वाला', प्रा० स्ला० ब्रोनु (bronu) 'सफ़ेद',

सं० अर्भ–'छोटा, शिशु' तुल० रूसी रेबेनोक (rebénok) 'शिशु',

सं० व्रत– 'व्रत, प्रण', अवे० उर्वत–(urvata–). प्रा० स्ला० रोत (rota) 'प्रण',

सं० अण्ड– 'अण्डा, अण्डकोश' (कलाश, ओन्द्रक (ondrak) 'अण्डा'), प्रा० स्ला० येंद्रो (jędro) 'अण्डकोश',

सं० पांशु–'धूल', अवे० पँस्नु–(pąsnu), प्रा० स्ला० पेसुकु (pěsŭkŭ) 'रेत',

सं० धाना 'अनाज, धान्य' फारसी दान (dāna), लिथु० दुओन (du'ona) 'रोटी',

सं० श्याम– श्याव– 'कृष्ण-वर्ण', लिथु० शेंमस् (šẽmas) 'भूरा',

सं० सान्द्र–'सघन', तुल० प्रा० स्ला० सेद्रू क्रिविनूये, (sedry krovinyje). स्यद्रू क्रोवूनूय (sjadry krovnyja) 'सघन, जमा हुआ खून',

फा० रज़ (raz) 'मदिरा, सोम-लता' प्रा० स्ला० लोज़ (loza),

अवे० फ़्शरॅम– (fšarəma–), फा० शर्म (šarm) 'लज्जा, प्रा० स्ला० स्रमु (sramu),

सं० श्राम 'लँगड़ा', प्रा० स्ला० ख्रोमु (chromŭ),

अवे० हाम– (hāma–) 'वही वस्तु', पालि सामं, क्रि० वि० 'स्वयं', प्रा० स्ला० समु (samŭ) 'स्वयं',

सं० विश्पति–'कबीले का सरदार', अवे० वीस्पइति–(vīspaiti–) लिथु० विएँश्पत्स (viẽspats) 'स्वामी',

अवे० सरॅत– (sarəta–)[1] 'ठंडा', लिथु शल्तस् (šaltas),

सं० शाक–'हरी सब्जी', लिथु शेकस् (šékas) 'हरा चारा',

सं० शफर 'मत्स्यविशेष', लिथु० शपलस् (šãpalas), 'मत्स्यविशेष',

सं० शकुन '(बडा) पक्षी', प्रा० स्ला० सोकोलु (sokolŭ) 'बाज'।

सं० शार्प– 'लट्ठा', लिथु० शपइ (šapai)।

सं० भङ्ग– 'लहर', लिथु० बङ्ग (bangà)।

दोनों वर्गों में समान क्रियाओं में से हम निम्नलिखित रूपों का उल्लेख कर सकते हैं:—

[1] इसी से सम्बद्ध सं० 'शरत्' तथा फारसी 'सर्द' शब्द हैं।

—अनुवादक

सं० हवंते 'बुलाता है', अवे० ज़वइति (zavaiti), प्रा० स्ला० ज़ोवेतु (zovetŭ) ।

सं० श्वित्– 'चमकना, श्वेत', लिथु० श्वितेति (šviteti), प्रा० स्ला० स्वितेति (svitéti), ।

सं० भी–, भयंते 'भय करना', प्रा० स्ला० बोयोसे (bojǫsę), लिथु० वियउस् (bijaus) ।

सं० प्रुष्–, प्रुष्णाति 'छिड़कना', प्रा० स्ला० प्रुस्नोति (prysnǫti) ।

सं० धम्–, ध्मा–, 'फूँकना', प्रा० स्ला० दुमो (dŭmǫ), दोति (dǫti), लिथु० डुमिउ (dumiù), डुम्ति (dùmti) ।

सं० बृंह्–, बृंहते '(हाथी) चिंघाड़ता है', लिथु० ब्रेन्ज़्गु, (brenzgu) ब्रन्ज़्गु (branzgu) 'शब्द करना, शोर मचाना ।

सं० मुच्– 'छोड़ना,' लिथु० मुन्कु (munkù) मुक्ति (mùkti) 'ढीला होना' ।

सं० गॄ–, गृणाति 'प्रशंसा करता है', प्रा० प्रसि० गिर्त्वेइ (girtwei) 'प्रशंसा करना', लिथु० गिरिउ (giriù), गिर्ति (gìrti), ।

इन दोनों वर्गों में विशेष रूप से पाए जाने वाले समान शब्द तथा अन्य विशिष्टताओं की तालिका स्पष्ट रूप में प्रभावोत्पादक है तथा इस समस्त सामग्री को आदिम भारत-ईरानी काल का संकेतित किया जा सकता है । इसके विपरीत जब हम केवल ईरानी तथा स्लावी (अथवा बाल्ती) के विशिष्ट सम्पर्क के चिह्नों को देखते हैं तो हमें व्यावहारिक दृष्टि से कोई चिह्न नहीं मिलते । यह सत्य है कि ऊपर की तालिका के कतिपय शब्द केवल ईरानी में ही मिलते हैं संस्कृत में नहीं, किन्तु इसकी विपरीत स्थिति को संकेतित करना भी समान रूप में संभव है । इसके साथ ही यदि हम उदाहरणार्थ अवेस्ता स्पॅन्त– (spənta–), प्रा० स्ला० स्वेंतु (svętŭ), लिथु० श्वेङ्तस् (sveñtas), शब्द को लेते हैं तो यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि बाल्ती तथा स्लावी शब्दों का रूप इस प्रकार का है कि ये आदिम ईरानी रूप (* स्वन्त–) अथवा आदिम भारत-ईरानी (* श्वन्त–) से विकसित नहीं हो सकते किन्तु सभी शब्दों को किसी प्राचीन सतॅम् रूप (* श्वेन्तो–) से सम्बद्ध मानना होगा ।

स्लावी में ईरानी शब्दों के रेशे को ढूँढ़ने की चेष्टा असफल रही है । रूसी शब्द सोबक (sobáka), जो मेडियन स्पक (spáka), (हैरोदो०) से उद्भूत है, उपलब्ध होता है किन्तु यह शब्द समस्त स्लावी वर्ग में उपलब्ध नहीं होता और यह अभी तक अस्पष्ट बना है कि यह शब्द रूसी में किस माध्यम से आया । रूसी तोपोर (topór) 'परशु', फा० तबर (tabar) के सम्बन्ध

में हम अनिश्चित मूल वाले अन्य भाषा से गृहीत शब्द के विषय में विचार कर रहे हैं। स्लावी सुतो (sŭto) '१००' के लिये ईरानी मूल की कल्पना की गई है, क्योंकि इस शब्द का रूप स्लावी ध्वनिरचना के अनुसार नहीं है, किन्तु यह वह रूप भी नहीं है जो ईरानी सतॅम् से उद्भूत होने पर होना चाहिए (जिससे सोत्- जैसे रूप की उत्पत्ति होनी चाहिए)। 'देवता' के लिये प्रयुक्त स्लावी शब्द (प्रा० स्ला० बोगु (bogŭ)) तथा प्रा० फा० बग- (baga-) में स्पष्ट समानता पाई जाती है, किन्तु अन्य गृहीत शब्दों के पूर्ण अभाव को देखते हुए इन शब्दों को समान रूप से विकसित मानना अधिक ठीक होगा।

यूरोप में सिथियन जाति के द्वारा निरन्तर प्रवेश तथा डेन्यूब नदी तक के विशाल भूभाग पर उनके दीर्घकालीन अधिकार को देखते हुए स्लावी पर ईरानी प्रभाव का यह अभाव अत्यधिक आश्चर्यजनक है। स्पष्टतः इस परवर्ती काल में स्लाव जाति ईरानियों से राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्णतः अप्रभावित रही होंगी। दूसरी ओर बहुत पहले (२००० ई० पू०) इसके पूर्व कि आदिम ईरानियों ने अपने यूरोपीय निवास-स्थान को छोड़ा, भारत-ईरानी तथा वाल्ती और स्लावी के पूर्वरूप बहुत काल तक निकटतम पड़ोसियों के रूप में रहे होंगे। व्यवहारतः इन दोनों वर्गों में पाए जाने वाले समस्त सम्पर्कों को इस काल के, केवल इसी काल के, संकेतित किया जा सकता है।

५. भारत-ईरानी तथा फिन्नो-उग्री

इसी काल में भारत-ईरानी तथा अ-भारत-यूरोपीय भाषाओं के पड़ोसी परिवार फिन्नो-उग्री के परस्पर सम्बन्ध के प्रमाण उपलब्ध हैं। इस परवर्ती परिवार में फिनिश, एस्थोनियन तथा हंगेरियन ये तीन यूरोपीय भाषायें पाई जाती हैं जिन्होंने साहित्यिक भाषाओं का स्तर प्राप्त कर लिया है तथा अल्प-संख्यक लोगों के द्वारा बोली जाने वाली कतिपय छोटी भाषायें भी सम्मिलित हैं, यथा—लेप, मोर्द्विन, चेरेमिस्, जीरियन, वोत्यक्, वोगुल्, ओस्त्यक्। इनमें से वोगुल् तथा ओस्त्यक् यूराल के पूर्व में पाई जाती है। किन्तु ये यहाँ पूर्व से आई हुई मानी जाती है। ये दो भाषायें हंगेरियन के साथ मिल कर उग्रियन उपवर्ग की रचना करती है तथा अन्य भाषाओं से कतिपय विशेषताओं की दृष्टि से भिन्न हैं। हंगेरियन लोग ९वीं शताब्दी में वोल्गा प्रदेश से इस प्रदेश में आ गए थे जहाँ वे आज हैं। साइबेरिया में कतिपय समोयेद भाषायें पाई जाती हैं जो वर्ग की दृष्टि से फिन्नो-उग्री से सम्बद्ध हैं। ये दोनों परिवार सम्मिलित रूप में यूराली भाषायें कहलाते हैं।

भारत-ईरानी काल के पूर्व भी भा० यू० तथा फिन्नो-उग्री में सम्पर्क होने के प्रमाण हैं। कतिपय महत्त्वपूर्ण समानताओं ने (उदाहरणार्थ—लैटिन सल् (sal) 'नमक', फिनिश सुओल (suola); सं० मधु 'शहद', ग्रीक मेथु (methu); फिनिश, मेते-(mete-); सं० नामन्-, ग्रीक ओनोम (onoma) 'नाम', फिनिश निमे-(nime-); गॉथिक वातो (watō) 'जल', फिनिश वेते- (vete-)) बड़े दिनों से लोगों का ध्यान आकृष्ट कर रखा है, किन्तु इस विषय में मतैक्य नहीं है कि इनका किस तरह स्पष्टीकरण किया जाय। एक मत यह है कि ये दोनों परिवार अन्तिम रूप से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, किन्तु उपलब्ध प्रमाण इतने अधिक परिपूर्ण नहीं हैं कि वे इसे निश्चित रूप से सिद्ध कर सकें। समग्र रूप में यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है ये समानतायें, जहाँ तक कि वे आकस्मिक नहीं हैं, प्राचीन प्राक्-ऐतिहासिक काल में एक दूसरे के परस्पर सम्पर्क तथा प्रभाव का परिणाम है।[1]

जहाँ तक फिन्नो-उग्री के साथ प्राचीन भारत-ईरानी के सम्पर्क का सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में अधिक प्रमाण उपलब्ध हैं तथा उनका विश्लेषण करना अधिक सरल है। यहाँ फिन्नो-उग्री भाषा के अनेक शब्दों का संकेत करना संभव है जो इस काल में भारत-ईरानी से लिए गए दिखाए जा सकते हैं। अत्यधिक महत्त्वपूर्ण फिन्नो-उग्री शब्द जो भारत-ईरानी से गृहीत हैं निम्नलिखित हैं:—

(१) फिनिश, सत (sata), 'सौ', लेप कुओत्ते (cuotte), मोर्द्विन, शदो (śado), चैरेमिस् शुदो (šüδo), ज़ीरियन, शो (šo), वोत्यक शु (s'u), वोगुल, सात, शात (sāt, šāt), ओस्त्यक, सोत, सत (sȯt,, sȧt) हंगेरियन, स्ताज़् (szāz), सं० शतम्, अवे० सतॅम् (satəm)।

(२) मोर्द्विन, अज़ोरो, अज़ोर (azoro, azor) 'स्वामी', वोत्यक, उज़ोर

[1] शब्दों का आदान-प्रदान दोनों दिशाओं में रहा होगा और यह निर्णय करना प्रायः कठिन है कि किस परिवार ने शब्दों को ग्रहण किया है। फिन्नो-उग्री भाषा से लिए गए संभाव्य ऋण के उदाहरण के रूप में हम अंग्रेजी ह्वेल (whale), प्राचीन नोर्स ह्वाल् (hvalr) प्रा० प्रसि० कलिस् (kalis) : अवे० कर (kara), 'रङ्हा (वोल्गा) नदी में रहने वाला पौराणिक मत्स्य विशेष', फिनिश, कल (kala) 'मछली' आदि को ले सकते हैं। इस सम्बन्ध में अर्थ का समुचित संरक्षण इस बात का संकेत करता है कि भा० यू० भाषाओं ने इस शब्द को बाहर से लिया है और यह सम्भव है कि ईरानी तथा उत्तरी भा० यू० भाषाओं में यह आदान स्वतन्त्र रूप में हुआ है।

(uzir), जीरियन ओज़ीर (ozir) 'सम्पत्तिशाली', वोगुल ओतेर, ओँतेर (ōter, āter) 'वीर' सं० असुर 'स्वामी, देव' अवे० अहुर (ahura), 'देवता' ।

(३) फिनिश वसर (vasar) 'हथौड़ा', लेप वोचेर (vœčer) मोर्द्विन विज़िर, उज़ेर (vizir, uźer), सं० वज्र– 'इन्द्र का अस्त्र', अवे० वज्र– (vazra–) 'गदा' ।

(४) फिनिश पोर्सस (porsas), जीरियन पोर्श, पोरुश (pors', porys') वोत्यक पर्श-परिश (pars, paris) 'सूअर का बच्चा' शब्द आर्य* पर्श– (pars'a) = लेटिन पोर्कुस (porcus), से सम्बद्ध माना गया है, और अब इसकी पुष्टि खोतानी पास– (pā'sa) से हो गई है ।

(५) फिनिश ओरस (oras) '(बधिया) सूअर', मोर्द्विन उरेश (urëś) 'वही' :—सं० वराह–, अवे० वराज़– (varāza-) 'सूअर'

(६) फिनिश उतर (utar), मोर्द्विन ओदर (odar), चेरेमिस् वोदर (vodar) 'थन' : सं० ऊधः (ऊधर्) 'वही'

(७) फिनिश ओर (ora), मोर्द्विन उरो (uro), हंगेरियन अर् (ár) 'चमड़े आदि में छेद करने का औजार', सं० आरा 'वही' (= प्रा० डच जर्मन आल (āla आदि)

(८) हंगेरियन ओस्तोर (ostor) 'चाबुक', वोगुल ओश्तेर, (oster), चेरेमिस वोश्तिर (wos'tyér) : सं० अष्ट्रा, अवे० अश्त्रा 'चाबुक'– (√अज्– 'हाँकना, ले जाना')

(९) हंगेरियन अरन्य (arany) 'सुवर्ण, सोना', वोगुल सुरेन, सरेन (suren , saren), मोर्द्विन सिर्ने (sirne), जीरियन, वोत्यक ज़र्नि (zarni), सं० हिरण्य–, अवे० ज़रन्य– (zaranya–)

(१०) फिनिश अर्वो (arvo) ' मूल्य, कीमत', हंगेरियन अर् (ár, आदि) : सं० अर्घ–, ओसेतिक अर्ग़ (arγ) 'वही' (लिथु० अल्ग (algà) आदि)

(११) फिनिश, सिसर (sisar) 'बहिन' मोर्द्विन सज़ोर (sazor), चेरे. स– शुज़र (sužar) : सं० स्वसर्– (स्वसृ–), अवे० ख़ङ्हर्– (xaŋ . r–)

(१२) हंगेरियन सोर (sör) 'सुरा, मदिरा', वोत्यक– सुर (sur), वोगुल सोर (sor), ओस्त्यक सर (sar), सं० सुरा 'मदिरा', अवे० हुरा (hurā),

(१३) फिनिश सर्वि, (sarvi) 'सींग', मोर्द्विन शुरो (śuro), चेरेमिस शुर (šur), लेप चोअर्वे (čoarvve) हंगेरियन स्ज़ार्व (szarv) : अवे० स्रू–, स्रुवा–(srū-, srvā-) 'सींग' (= ग्री० केरस् (kéras) आदि,

(१४) वोगुल शुओर्प (šuorp), शोर्प (šōrp) 'मृगविशेष', सं० शुरभ 'मृगविशेष' (अन्तिम धातुरूप से),

(१५) मोर्द्विन सेद (sed) 'सेतु', सं० सेतु–, अवे० हएतु- (haētu-),

(१६) मोर्द्विन वॅर्गस् (vərgas) 'भेड़िया', जीरियन वोर्कश् (vörkas), सं० वृक-, अवे० वॅह्रक– (vəhrka-),

(१७) जीरियन, वोत्यक् तुरिन (turïn) 'घास', : सं० तृण–,

(१८) जीरियन वोर्क (vork) 'वृक्क, गुर्दा', : सं० वृक्क–, अवे० वॅरॅद्‌क– (vərəδka–) ,

(१९) वोगुल तस् (tas) 'अपरिचित', सं० दास– 'अनार्य, दास',

(२०) हंगेरियन वस्ज़ोन (vàszon) 'वस्त्र', : सं० वसन– 'वस्त्र',

(२१) फिनिश मेहिलइनेन (mehiläinen) 'मक्खी', मोर्द्विन मेक्श (mekš), चेरेमिस मुक्श (mükš), जीरियन, वोत्यक मुश (muš), हंगेरियन मेह (mèh) : सं० मक्ष्-, मक्षा, मक्षिका 'मक्खी, शहद की मक्खी', अवे० मख़्शी (maxšī) 'मक्खी',

(२२) फिनिश सीक-नेन (siika-nen) 'अनाज का धाँसा (अन्न का नुकीला अग्रभाग) आदि, मोर्द्विन शुव (śuva), चेरेमिस शु (šu), जीरियन शु (śu), : सं० शूक– 'वही',

(२३) मोर्द्विन शव, शेय (śava, śeja) 'बकरा', सं० छाग- ।

उपर्युक्त तथा ऐसे अन्य तुलनात्मक शब्दों से उत्पन्न विस्तृत समस्यायें जटिलता से रहित नहीं हैं किन्तु कतिपय सामान्य निर्णय स्पष्टतः प्राप्त होते हैं । इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन शब्दों को समग्र रूप में लेने पर फिन्नो-उग्री रूपों की परिकल्पना करनी पड़ेगी, वे आदिम भारत-ईरानी के लिये पुनर्निर्मित रूपों से अभिन्न हैं, और उन परवर्ती ध्वन्यात्मक परिवर्तनों से मुक्त हैं जो एक ओर ईरानी तथा दूसरी ओर भारतीय आर्य भाषा की विशेषता है । यह प्रथम शब्द, जो सत– (ईरानी रूप) को व्यक्त न कर प्राचीन रूप शत– (भारत-ईरानी तथा संस्कृत रूप) को व्यक्त करता है, इस तथ्य का भले प्रकार से निदर्शन करता है । स के ह वाले परिवर्तन की ईरानी विशेषता यहाँ सर्वत्र अनुपलब्ध है (३, मोर्द्विन अज़ोरो (azoro), ११, मोर्द्विन सजःर (sazor), १५, मोर्द्विन सेद (sed) आदि । इसी प्रकार ज़्ह (žh), झ की ह के रूप में परिवर्तन वाली भारतीय आर्य विशेषता नहीं पाई जाती (५, फिनिश, ओरस् (oras) आदि । अतः इस विषय में किंचिन्मात्र सन्देह नहीं कि इन शब्दों के आदान का समय प्राचीन भारत-ईरानी काल था तथा यह अधिक सम्भव प्रतीत

होता है कि प्राचीन भारत-ईरानी भाषा का क्षेत्र दक्षिणी रूस में रहा होगा, क्योंकि तभी यह सम्पर्क संभव हो सकता है।

इनमें से कतिपय शब्दों को देखने पर इस विन्दु पर ध्यान जाता है कि भा० यू० ल्, ॡ का भारतीय आर्य भाषा में र्, ऋ के रूप में परिवर्तन कभी का हो चुका था (६, फिनिश ओर (ora), ९, वोगुल सरेन (saren) आदि, १६, मोर्द्विन वर्गस् (vargas)। यह परिवर्तन ईरानी भाषा में परिपूर्ण रूप में पाया जाता है किन्तु भारतीय आर्य भाषा में अपूर्ण है। इसका यह अर्थ है कि भारतीय आर्य भाषा में कुछ ऐसी विभाषायें थीं जिनमें भा० यू० ल् (ॡ नहीं) सुरक्षित था, किन्तु साथ ही ऐसी भी (ऋग्वेदीय) विभाषायें थीं जो इस दृष्टि से ईरानी भाषा के समान थी। फिन्नी-उग्री रूपों से यह स्पष्ट है कि यह विशेषता प्राचीन भारतीय आर्यकाल में अत्यधिक फैली हुई थी तथा समीपवर्ती पूर्व की आर्य भाषा में र्-रूपों का अस्तित्व इसकी पुष्टि करता है। फिर भी यह प्रवृत्ति सर्वव्यापी न थी क्योंकि उस दशा में संस्कृत में कोई भी ल्-रूप उपलब्ध नहीं होते।

यह नितान्त स्पष्ट है कि ये शब्द फिन्नी-उग्री भाषा परिवार ने भारत-ईरानी शाखा से लिए हैं तथा इससे विपरीत स्थिति नहीं हो सकती। अन्य भा० यू० भाषाओं में इनके समानान्तर शब्द उपलब्ध हैं तथा फिन्नी-उग्री भाषा में लिए जाने के पूर्व ये शब्द आर्यशाखा के विशिष्ट परिवर्तनों से युक्त हो चुके थे। जहाँ हमें भारत-ईरानी शब्द का कोई वास्तविक समानान्तर रूप भा० यू० भाषा में नहीं मिलता वहाँ भी उस शब्द की संघटना तथा ज्ञात भा० यू० धातु (या मूल शब्द) से उद्भूत होने की संभावना प्रायः इस बात का निदर्शन करती है कि वह परम्परा से प्राप्त शब्द है। उदाहरणार्थ सं० वज्र॑–, अवे० वज्र॒– (vazra–) प्रसिद्ध प्रत्यय–र (भा० यू० प्रत्यय–रो) जोड़ कर बनाया गया है और इसे उस भा० यू० धातु से उद्भूत माना जा सकता है जो ग्रीक वग्नुमि ((w)ágnumi) 'तोड़ना, फोड़ना' में है। उपर्युक्त तालिका में कतिपय शब्द ऐसे हैं जहाँ इस प्रकार से निश्चित मत देना संभव नहीं है। भारत-ईरानी में 'मक्खी' (सं० २१,) के लिये प्रयुक्त शब्द का समानान्तर रूप अन्य भा० यू० भाषा में नहीं पाया जाता और यह अधिक संभव है कि इस विषय में भारत-ईरानी ने फिन्नी-उग्री शब्द को ग्रहण कर लिया है। ठीक यही बात सं० २२ (संस्कृत शूर्क–,) तथा सं० २३ (सं० छाग–,) पर लागू होती है। भारत-ईरानी में अन्य फिन्नी-उग्री शब्दों के उदाहरण भी हो सकते हैं किन्तु इस दृष्टि से इस विषय की गवेषणा कभी नहीं की गई है। संभाव्य समान्तर शब्दों के रूप में हम इनका उल्लेख कर सकते हैं:—

सं० कफ– 'कफ', अवे० कफ़– (kafa–), फारसी कफ़् (kaf) 'झाग,' हंगेरियन हब् (hab) 'झाग, क्रीम,', वेप्स– कोब (kobe) 'लहर, फेन,', सम– (कम) खोवु (khówu) 'झाग'।

सं० कूप 'गड्ढा, कुआँ', : फिनिश कुओप्प (kuoppa) 'गड्ढा', लेप गुओप्प (guöppa), चेरेमिस कुप (kup), वोत्यक गोप (gop) आदि।

सं० शलाका 'सलाई', हंगेरियन स्ज़िलंक (szilank) 'लकड़ी आदि के लम्बे टुकड़े', फिनिश सले (sale), इ. सलीन (saleen)।

इन उदाहरणों के विषय में, जिनके साथ कुछ और भी जोड़े जा सकते हैं, संस्कृत शब्दों के लिये कोई भी भा० यू० व्युत्पत्ति नहीं मिल पाई है। चूंकि यह निश्चित है कि हमें प्राचीन भारत-ईरानियों तथा पड़ोसी फिन्नी-उग्रियों के दीर्घ सम्पर्क की कल्पना करनी ही पड़ेगी और चूंकि इस विषय में इस बात का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि शब्दों का आदान केवल एक ओर ही हुआ होगा, हमें उन भा० यू० शब्दों के विषय में, जिनमें उक्त शब्दों की भाँति रूप तथा अर्थ दोनों दृष्टि से अत्यधिक समानता दृष्टिगोचर होती है, फिन्नी-उग्री परिवार को संभाव्य मूलस्रोत मानना चाहिए।

६. समीपवर्ती पूर्व में आर्य

आर्यों के प्राचीनतम अभिलेखों के चिह्न भारत तथा ईरान से उपलब्ध न होकर समीपवर्ती पूर्व से उपलब्ध होते हैं। इस क्षेत्र में आर्यों की स्थिति का संकेत प्रमुखतः १५००–१३०० ई० पू० में उत्तरी मेसोपोटामिया के मितन्नी साम्राज्य के अभिलेखों में लिखित है। नाना प्रकार के कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) अभिलेखों में सुरक्षित राजकीय नामावलियों की सूची स्पष्टतः आर्य आकृति का वहन करती है, यद्यपि इनका स्पष्टीकरण सब स्थितियों में पूर्णतः निश्चित नहीं है। इन राजाओं के नाम निम्न हैं:—

सुतर्न (Sutarna), पर्शसतर् (Paršasatar), सउश्शतर् (Sauššatar), अर्तदाम (Artadāma), अर्तशुमर (Artašumara), तुश्रथ (Tušratha), मतिवाज़ (Matiwāza), अर्थात् भारतीय आर्य रूप में, सुतर्ण– (तुल० वैदिक सुतर्मन्–), प्रशास्तर्– (प्रशास्तृ–) 'स्वामी, नायक', *सौक्षत्र– 'सुक्षत्र का पुत्र (?)' ऋतधामन् (कर्ताकारक– ऋतधामा,), वा० सं० ऋतस्मर– 'ऋत का स्मरण करने वाला', *त्विषरथ–, तुल० त्वेषरथ 'तेज रथ वाला', *मतिवाज– 'प्रार्थना से विजय प्राप्त करने वाला',। इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र से असीरी भाषा में लिखित विविक्त (वैयक्तिक) अभिलेखों में कतिपय व्यक्तिवाचक नाम मिलते हैं जो आर्य परिवार के माने जा सकते हैं।

उदाहरणार्थ—अर्तम्न (Artamna), वर्दश्व (Bardaśva), बिर्यशूर (Biryaśura), पुरुश (Puruśa), शइमशुर (S'aimaśura), सतवाज़ (Satawāza) अर्थात्—ऋतम्न–'न्याय को समझने वाला', वार्द्धश्व–'वृद्धाश्व का पुत्र', वीर्यशूर–'शक्तिसम्पन्न वीर', पुरुष–'पुरुष', क्षेमशूर–'कुशलता का वीर', सातवाज–'पारितोषिक-विजेता' (तुल० वैदिक वाजसाति–)।

यह समीपवर्ती क्षेत्रों में मितन्नी साम्राज्य के प्रभाव के विस्तार का काल था। फलतः हमें निकटवर्ती राज्यों के राजाओं के नाम आर्यनामों के समान मिलते हैं तथा यह सीरिया और पैलेस्टाइन तक फैले हुए हैं। आर्य नामों के स्पष्टतम उदाहरण ये हैं:—

शुवर्दत्त (S'uvardata) : *स्वर्दात–'स्वर्ग द्वारा प्रदत्त', शतुअर (S'atuara) *सत्वर–यह प्रातिपदिक संस्कृत सत्वन्– 'वलिष्ठ, विजयी, योद्धा', से ठीक वही सम्बन्ध रखता है, जो संस्कृत ईश्वर–'स्वामी, समर्थ' का सम्बन्ध अवेस्ता इस्वन्– (isvan–) से है, अर्तमन्य (Artamanya) : ऋतमन्य–'न्याय के विषय में सोचने वाला', बिरिदश्व (Biridaśva): बृद्धाश्व–'विशाल घोड़ों वाला', वीर्यवाज़ (Biryawāza) : वीर्यवाज–'वीरता के पुरस्कार से सम्पन्न', इन्द्रोत (Indarota) : इन्द्रोत–(ऋ० वे०) 'इन्द्र से सहायता प्राप्त', शुबन्दु (S'ubandu) : सुबन्धु– ।

समकालीन हित्ती साम्राज्य का मितन्नी साम्राज्य के साथ शान्ति एवं युद्ध दोनों दृष्टि से घनिष्ठ सम्बन्ध था और हित्ती राजधानी से उपलब्ध अभिलेख मितन्नी देश में आर्यों के अस्तित्व के महत्त्वपूर्ण प्रमाण उपस्थित करते हैं। इन अभिलेखों में अत्यधिक रोचक, हित्ती राजा सुप्पिलुलिउमा तथा मितन्नी राजा मतिवाज (१३५० ई० पू०) के मध्य हुई सन्धि है। इस अभिलेख में जिन देवताओं की शपथ ली गई है उनमें चार प्रसिद्ध वैदिक देवताओं के नाम हैं। ये इन्दर (indara), मित्रश् (इल्) (mitraś (il)), नशतिअ (न्न) (naśatia (nna)), उरुवनश्श् (इल) (uruvanaśś (il)), हैं जो अपने आर्येतर पदरचनात्मक रूपों से अलग करने पर निर्भ्रान्त रूप में वैदिक इन्द्र–, मित्र–, नासत्य–, तथा वरुण– हैं। यह स्पष्ट है कि केवल आर्य भाषा ही नहीं किन्तु ऋग्वेद से ज्ञात धर्म से घनिष्ठतया समान रूप वाला आर्यधर्म भी इस काल में समीपवर्ती पूर्व के इस क्षेत्र में प्रचलित था।

समीपवर्ती पूर्व के इन प्रदेशों में ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के प्रथमार्ध में घोड़ों का प्रचार मुख्य रूप से इन्हीं आर्यों के द्वारा किया गया था। युद्ध में इस पशु की उपयोगिता के कारण यह समीपवर्ती राज्यों में, हित्ती में, शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गया। हित्ती राजधानी के पुरातत्त्व सम्बन्धी उपकरणों में घोड़ों की शिक्षा

तथा देखभाल के सम्बन्ध में एक प्रबन्ध मिलता है। यह ग्रन्थ हित्ती भाषा में निबद्ध है किन्तु इसका लेखक, जो राजकीय अश्वों का अध्यक्ष था, किक्कुलि नामक मितन्नी था। इतना ही नहीं इस ग्रन्थ में प्रयुक्त कतिपय पारिभाषिक शब्द आर्य शब्द हैं। ये शब्द अइकवर्तन्न, तेरवर्तन्न, पंज़वर्तन्न, सत्तवर्तन्न तथा नवर्तन्न (नव-वर्तन्न के स्थान पर वर्ण लोप से) = सं० एकवर्तन 'एक वार घुमाना' है, और इसी प्रकार संख्या ३, ५, ७ तथा ९ के लिये प्रयुक्त शब्द हैं। हित्ती ग्रन्थ में इन ऋण-शब्दों (लोन-वर्ड) का अस्तित्व इस क्षेत्र में आर्यों की प्राग्वर्तिता को स्पष्टतः निर्दिष्ट करता है।

उपर्युक्त प्रमाणों के साथ ही वेबीलोन के कसीत वंश (Kassite dynasty) (१७५० ई० पू० से ११७० ई० पू०) के अभिलेखों में कतिपय आर्य चिह्न पाए जाते हैं। कसीत लोग स्वयं पूर्व की ओर से, ईरानी पठार से, आए हुए आक्रमण-कारी थे, और उनकी भाषा, जिसके वारे में कुछ जानकारी मिलती है आर्य या भा० यू० से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। इतना होने पर भी वेविलोनियन समानार्थक शब्दों के साथ मिली देव-नामों की तालिका में हमें सूर्य देवता शुरिअश् (S'uriaš) (भाषान्तर शमश् (S'amaš)) का नाम मिलता है जो स्पष्ट रूप से संस्कृत सूर्य-से अभिन्न माना जाना चाहिए। इसके साथ ही युद्ध के देवता मरुत्तश् (maruttaš) (भाषान्तर एनू-उर्त (en-urta)), की तुलना संस्कृत मरुत् से की गई है, यद्यपि यहाँ इस तथ्य के कारण कुछ कठिनता होती है कि संस्कृत शब्द सदा वहुवचन में प्रयुक्त होता है। इस वंश के राजाओं में एक का नाम आर्य रूप में विश्लिष्ट किया जा सकता है:—अबिरत्तश् (Abi-rattaš) : अभिरथ 'युद्ध में रथों का सामना करने वाला'।

कीलाक्षर अभिलेखों में इन आर्य नामों की खोज के समय तक इस प्रदेश में आर्यों के अस्तित्व के विषय में कोई, संकेत नहीं था। यद्यपि कतिपय नामों की विस्तृत व्याख्या के विषय में सन्देह हो सकता है तथापि उपलब्ध सामग्री इतनी यथेष्ट है कि वह आर्यों के स्पष्ट प्रसार को निःसन्देह व्यक्त करती है। निकटवर्ती पूर्व के प्रदेश में उनकी स्थिति भी नितान्त स्पष्ट है। सर्व प्रथम वे मितन्नी राज्य में बसे थे और जहाँ वे इस राज्य के वाहर पाए जाते हैं वहाँ उन प्रदेशों में मिलते हैं जो मितन्नियों के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विस्तार से विशेषतः प्रभावित थे। इस विषय में भी कोई सन्देह नहीं कि कतिपय कसीत नाम भी इसी मूल से सम्बद्ध हैं; क्योंकि ईरान में जहाँ वे वाद में जाकर बसे हैं आर्यों का तब तक कोई चिह्न नहीं दिखाई देता जब तक कि ई० पू० की परवर्ती सहस्राब्दी के आरंभिक अंश में मेद तथा पारसी लोग रंगमंच पर अवतरित नहीं हुए थे।

मितन्नी में आर्य लोग १५०० ई० पू० से शासक वंश के रूप में मिलते हैं, इसका यह अर्थ है कि वे सर्व प्रथम इस देश में विजेताओं के रूप में आए होंगे। इस दृष्टि से इनका जीवन अपने भारतीय तथा ईरानी बान्धवों के समान है किन्तु दो महत्त्वपूर्ण दृष्टियों से यह भिन्न है। पहले तो ये लोग अन्य स्थानों की तरह अधिकृत प्रदेश में अपनी भाषा को नहीं थोप सके। वहाँ के लोगों की जन-भाषा, हुर्रियन, देश की भाषा बनी रही तथा उसे विजेताओं ने भी अपना लिया। यह भी ज्ञात नहीं है कि व्यक्तिवाचक नामों के अतिरिक्त इन लोगों ने अपनी आर्य-भाषा को किसी काल तक सुरक्षित रखा था। अब तक इसमें लिखा हुआ कोई भी अभिलेख नहीं मिला है। दूसरे, यहाँ पर हमें आर्यों तथा अनार्यों के प्रबल विरोध के चिह्न नहीं मिलते जो भारतीय तथा ईरानी विस्तार की विशेषता है। यहाँ पर मामूली वर्ग-भेद के अतिरिक्त और किसी प्रकार का भेद आर्य राजाओं तथा इस देश के निवासियों में नहीं मिलता। विशेषतः धार्मिक क्षेत्र में, आर्य तथा स्थानीय देवता साथ-साथ समादृत दिखाई पड़ते हैं जो वैदिक आर्यो के व्यवहार के अत्यधिक प्रतिकूल है।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से ये नाम अनेक निर्णयों को उपस्थित करने में पर्याप्त सामग्री नहीं देते। यह कहा जा सकता है कि किसी भी प्रकार के ध्वन्यात्मक विकास के ऐसे उदाहरण नहीं हैं जो या तो स्पष्टतः भारतीय हों या स्पष्टतः ईरानी। जो कुछ थोड़ी बहुत भाषासम्बन्धी सामग्री हमारे पास है उसे आदिम भारतीय आर्य के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है और इनमें पाए जानेवाले ध्वन्यात्मक परिवर्तन, जहाँ तक कि लिपि की अपूर्णता हमारी सहायता करती है, स्थानीय तथा स्वतन्त्र परिवर्तन प्रतीत होते हैं। ये परिवर्तन व > ब, जैसे विरिय–, च > ज़ का जैसे पंज़ (अनुनासिक ध्वनि के बाद) में, तथा - त्र – का – त्त - के रूप में समीकरण जैसे सत्त में; हैं। इस विवाद में कोई सार नहीं है कि यह भाषा ईरानी है या भारतीय आर्य, क्योंकि इनमें से अन्यतर होने के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, और इस विषय में हमें निश्चित रहना चाहिए कि यदि अधिक पर्याप्त सामग्री मिल गई तो हम भारत-ईरानी शाखा से सर्वथा स्वतन्त्र एक तीसरी शाखा की खोज कर डालेंगे। यह ईरानी परम्परा के प्रतिकूल भारतीय परम्परा की प्राचीनता तथा रूढ़िवादिता ही है जिसके कारण इन आर्यों को विद्वान् लोग भारतीय आर्य मान बैठे हैं।

इस प्रदेश के अधिकृत किए जाने की तिथि अज्ञात है। केवल यही तथ्य उपलब्ध है कि यह अधिकार १५०० ई० पू० तक पूरा हो चुका था। अतः संभावना यह प्रतीत होती है कि यह इससे पर्याप्त समय पूर्व हुआ था, क्योंकि प्राचीनतम अभिलिखित युग से शासन पूर्णतः व्यवस्थित प्रतीत होता है और

इस बात का कोई चिह्न नहीं कि शासक वर्ग नवागन्तुक हैं। आक्रमण की दिशा निश्चित रूप से उत्तर की ओर से, काकेशस के माध्यम से ही जान पड़ती है। यह तथ्य उस कथन से ठीक बैठ जाता है जो दक्षिणी रूस में भारत-ईरानी आर्यों के मूल स्थान के विषय में ऊपर कहा गया है और निकटवर्ती पूर्व में आर्यों की वास्तविक स्थिति का मजे से स्पष्टीकरण हो जाता है, यदि यह कल्पना करली जाती है कि आक्रमण इसी दिशा से हुआ था, पूर्व की ओर से नहीं।

७. भारतीय आर्य भाषा का विकास

भारत की आर्य भाषा का पुराना इतिहास देश तथा काल की दृष्टि से हमें वैदिक युग के उत्तर-पश्चिमी भारत से भी आगे ले जाता है। अन्य भाषाओं के साथ तुलना करने पर भाषाशास्त्रीय इतिहास का पुनर्निर्माण सम्भव है जो कहीं भी साक्षात् रूप में अभिलिखित नहीं मिलता तथा यह तुलना लोगों के महत्त्वपूर्ण आयात तथा प्रगति के तथ्य को पुष्ट करती है जो अन्यथा इतिहास को अज्ञात रहती। इन गतिविधियों के मूल एवं उनके तिथिक्रम के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक कहना सम्भव है, यद्यपि यह स्वाभाविक रूप से निश्चित सीमाओं द्वारा आबद्ध है। भा० यू० भाषाओं का वर्गीकरण इस बात का संकेत करता है कि इनका मूल स्थान केन्द्रीय तथा पूर्वीय यूरोप में ढूँढ़ना चाहिये। भारत-ईरानी वर्ग का सतॅम् वर्ग की भाषाओं, मुख्यतः बाल्ती-स्लावी से विशिष्ट सम्बन्ध तथा इसमें और फिन्नी-उग्री में आदिम भारत-ईरानी काल में होने वाले सम्पर्कों का प्रमाण, इसके मूल स्थान के विषय में दक्षिणी रूस का संकेत करते हैं। ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य में समीपवर्ती पूर्व में आर्यों का अस्तित्व इस प्रदेश से आक्रमण के द्वारा मजे से समझा जा सकता है। वैसे अत्यधिक निर्यात कैस्पियन सागर के पूर्व तथा उत्तर से हुए थे और इसका परिणाम यह हुआ कि आर्य जाति का अधिकांश उस प्रदेश में एकत्र हो गया जो आज रूसी तुर्किस्तान कहलाता है। यहाँ से ईरानी तथा भारतीय आर्य अलग-अलग रूप में ईरान और भारत में प्रविष्ट हुए। भारतीय आर्य-भाषा का स्वतन्त्र भाषा के रूप में अस्तित्व आर्य जाति के भारत में प्रवेश के साथ आरम्भ होता है। इस काल से ये दोनों शाखायें एक दूसरे से विच्छिन्न रूप में विकसित होती हैं।

तिथि की दृष्टि से हमें कोई साक्षात् जानकारी ऐसी नहीं उपलब्ध है जिस पर विश्वास किया जा सके। प्राचीनतम एवं अत्यधिक महत्वपूर्ण सामग्री १५०० ई० पू० के बाद से समीपवर्ती पूर्व में आर्यों के अस्तित्व से सम्बद्ध हैं। यह आर्यों के निर्यात काल का महत्त्वपूर्ण संकेतक हैं, जिसे ऐतिहासिक समानताओं के आधार पर निर्णय करने से ऐसा माना जा सकता है कि ये निर्यात एक

निश्चित सीमित समय में हुए होंगे। इस प्रकार ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी का प्रथमार्ध इन निर्यातों का सामान्य युग माना जा सकता है तथा यह उन सभी पहलुओं के अनुरूप है जो इससे सम्बद्ध किए जा सकते हैं। आर्यों के विषय में अन्य साक्षात् जानकारी ईरानियों का संकेत करती है। ईरान में मेद तथा पारसियों की स्थिति १० वीं सदी ई० पू० से मिले असीरी लेखों से पुष्ट होती है और ऐसा नहीं जान पड़ता कि उन्होंने इस प्रदेश को इस काल के बहुत पहले से हस्तगत कर रखा था। भारत में भारतीय आर्यों के आक्रमण के विषय में कोई साक्षात् प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इतना होने पर भी वैदिक भाषा तथा प्राचीन ईरानी में अत्यधिक साम्य इन दोनों के बीच में एक लम्बे काल की कल्पना करने से हमें रोकता है, और इसे सम्भव सिद्ध नहीं करता कि वैदिक मन्त्रों को ईसा पूर्व तीसरी या चोथी सहस्राब्दी में घसीटा जा सके। स्थूल अनुमान के अनुसार भारतीय आर्यों के आक्रमण का काल १७०० ई० पू० तक माना जा सकता है तथा ऋग्वेद का रचना-काल १२००–१००० ई० पू०; अधिक सदियों दूर नहीं, चाहे इधर चाहे उधर।

इस विषय में कतिपय भाषाशास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध हैं कि भारतीय आर्य आक्रमण क्रमिक रूप में हुआ है, एक साथ नहीं। उत्तर पश्चिम की वैदिक भाषा तथा मध्यदेश की परवर्ती परिनिष्ठित भाषा में विभाषागत भेद पाए जाते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि वैदिक भाषा में ल् का र् के रूप में परिवर्तन हो जाता है, जब कि परिनिष्ठित संस्कृत में अधिकतर र् तथा ल् के भेद सुरक्षित हैं। यह वैदिक विशेषता समस्त ईरानी में पाई जाती है और आगे चलकर यह समीपवर्ती पूर्व की आर्य भाषा में तथा फिन्नी-उग्री में उपलब्ध आर्य शब्दों में भी देखी जा सकती है। यह तथ्य कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की अधिकांश पूर्वीय विभाषाओं में यह परिवर्तन नहीं पाया जाता, मूल शाखा से इसके अपेक्षाकृत प्राचीन विभाजन का संकेत करता है, जब कि वैदिक विभाषा, जो भारत में आने के पूर्व अन्य आर्य भाषाओं के साथ इस परिवर्तन से युक्त हो चुकी थी, अपेक्षाकृत कम पुरानी है।

उत्तर-पश्चिम की काफीरी भाषाओं की कतिपय विभाषायें भारतीय आक्रमण के पूर्व की प्राचीन आर्य भाषा के महत्त्वपूर्ण वैभाषिक भेदों का संकेत करती हैं। कुछ दृष्टि से ये भाषायें भारतीय आर्य तथा ईरानी का मध्य बिन्दु हैं। ये भाषायें इस बात में भारतीय आर्य भाषा के समान हैं कि इनमें 'स्' ध्वनि सुरक्षित रहती है जो ईरानी में 'ह्' में परिवर्तित हो जाती है, किन्तु इस बात में ईरानी के समान है कि यहाँ दो प्रकार की तालव्य ध्वनियाँ पाई जाती हैं (उदाहरणार्थ—ज़िम (zim) 'बर्फ' : सं० हिम–, जाँ—(jã 'मारना',

सं० हन्)। इस दृष्टि से ये केवल मध्यवर्ती वैभाषिक वर्ग की रचना करती हैं, जैसा कि दो प्रमुख वर्गों के बीच में विद्यमान उनकी स्थिति से स्पष्ट है। दूसरी ओर संस्कृत श् ध्वनि के सम्बन्ध में इन भाषाओं ने ऐसे रूप को सुरक्षित रखा है जो भारतीय भाषा में उपलब्ध रूपों से अधिक आर्ष है। (च, जैसे–चुन–(ċuna–), 'कुत्ता', डुच (duċ) '१०' इत्यादि में···)। यह विशेषता भारत-ईरानी वर्ग में किसी अत्यधिक प्राचीन वैभाषिक प्रकृति को सुरक्षित रखना माना जा सकता है। ठीक यही बात दोस् (dōs) '(गुजरा) कल', मूसॅ musə), 'चूहा' जैसे शब्दों में 'उ' ध्वनि के बाद स् के मूर्धन्यीभाव न होने के सम्बन्ध में कही जा सकती है। कतिपय विशिष्ट स्थितियों में स् का श् (संस्कृत ष) के रूप में परिवर्तन इतना पुराना है कि यह भारतीय आर्य तथा स्लावी दोनों वर्गों में समान रूप से पाया जाता है, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय आर्य भाषा की कतिपय सीमाप्रदेशीय विभाषा उ–ऊ के सम्बन्ध में इस परिवर्तन से बच गयी है और उक्त काफिरी शब्द इसी मूल से विकसित है। इस प्रमाण से यह संकेत मिलेगा कि वह आर्य विभाषा जिसमें ये आर्य प्रयोग सुरक्षित थे, भारत के सीमान्त पर सबसे पहले पहुँची थी तथा भारतीय आर्य आक्रामकों की परवर्ती तरङ्गों ने इसे उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के पार्वत्य प्रदेश में, संकुचित क्षेत्र में, बन्द कर दिया, जहाँ यह आज भी और भाषाओं से असम्पृक्त रूप में जीवित है।

भारतीय आर्य भाषा का इतिहास भारत में आर्य भाषा के प्रथम प्रचार से ही आरम्भ हो जाता है। किन्तु इस घटना तथा भारतीय आर्य भाषा के प्रथम लिखित साहित्य, ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना के बीच में बहुत समय गुजर गया है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि ऋग्वेद संहिता में ही; यद्यपि वहाँ ऐतिहासिक संकेत अनुपलब्ध नहीं है; निर्यात के विषय में कोई संकेत नहीं है तथा इस बात का कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है कि यह अभी भी लोगों के स्मृति–पटल पर था। भाषाशास्त्रीय कारण भी हमें इस प्रकार की कल्पना करने के लिये बाध्य करते हैं क्योंकि भारत-ईरानी स्थिति के बाद होने वाले भाषा-शास्त्रीय (प्रमुखत: ध्वन्यात्मक) परिवर्तनों की संख्या अत्यधिक है। यद्यपि यह निःसंदिग्ध है कि वैभाषिक प्रवृत्तियों का आरम्भ भारतीय आर्य काल तक जाता है, तथापि इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि भारतीय आर्य तथा ईरानी के विशिष्ट परिवर्तनों में से अधिकांश इन दो वर्गों के पूर्ण विभाजन के बाद अर्थात् आर्यों के भारत में आक्रमण के बाद हुए हैं।

भारतीय आर्य भाषा में इस युग में होने वाले कतिपय महत्त्वपूर्ण परिवर्तन संक्षेप में निम्न हैं:—

(१) झ तथा ज़्ह का ह (=ईरानी ज तथा ज़) में परिवर्तन,

(२) ज तथा ज़ दोनों ज (=ईरानी ज तथा ज़) में मिल गए हैं,

(३) क्+स् तथा श्+स् के संयोग से च्ष् का विकास हुआ है, ईरानी में ये ध्वनियाँ अलग-अलग सुरक्षित रहती हैं,

(४) ग्ज़्ह्, ब्ज़्ह् जैसी आर्य सघोष संयुक्त ध्वनियाँ अघोष क्ष्, प्स्, के रूप में बदल दी गई हैं (संस्कृत दिप्स–, अवे० दिब्ज़ (diwza)

(५) आर्य ज़् ध्वनि सर्वत्र लुप्त हो गई है (सं० मेधा, तुल० अवे० मज़्दा (mazdā̊)

(६) द के पूर्व आर्य ज़् ध्वनि के लोप से भारतीय आर्य प्रतिवेष्ठित ध्वनि ड् का विकास हुआ है (नीड–), तथा अन्य संयुक्त ध्वनियों के परिवर्तन (अष्टौ, विट्, कारण–) के साथ एक नई व्यञ्जन ध्वनियों का आरंभ होता है जो आर्य भाषा साथ ही अवशिष्ट भा० यू० भाषा के लिये सर्वथा नवीन है।

(७) दो व्यञ्जन ध्वनियों के बीच स् (ष्) का लोप हो जाता है (अभक्त, स्–लुङ्)

(८) सभी पदान्त संयुक्त व्यञ्जन ध्वनियाँ सरल बना दी जाती हैं तथा केवल पहली ध्वनि सुरक्षित रहती है (सं० वाक्, अवे० वाक्श् (vāxs))

(९) महाप्राण ध्वनि ध् तथा भ् को ह् के रूप में दुर्बल बनाने की प्रवृत्ति आरंभ हो जाती है (इह 'यहाँ', : अवे० इद् (iδa), किन्तु पालि ने प्राचीन रूप इध को सुरक्षित रखता है)

(१०) आर्य ध्वनियुग्म अइ, तथा अउ एकाकी स्वर ध्वनियों, ए तथा ओ के रूप में बदल दिए गए हैं।

परिवर्तन की यह तालिका अत्यधिक प्रभावोत्पादक है तथा भारतीय आर्य भाषा के भावी इतिहास के लिये अत्यधिक महत्त्व की है, और इसके परिपूर्णता प्राप्त करने के लिये समुचित समय की कल्पना करनी चाहिए। इसके साथ ही हमारी यह धारणा है कि त्वरित भाषाशास्त्रीय परिवर्तन का युग वैदिक युग के पूर्व का था। जहाँ तक परिनिष्ठित संस्कृत का सम्बन्ध है, निश्चित साहित्यिक भाषा की संस्थापना तथा उससे सम्बद्ध शैक्षणिक परम्परा के साथ भाषा का प्रवहमान विकास अवरुद्ध कर दिया गया। वैदिक भाषा से परिनिष्ठित संस्कृत को अलग करने वाले ध्वन्यात्मक परिवर्तन साक्षात् प्राक्-वैदिक काल में होने वाले ध्वन्यात्मक परिवर्तनों की अपेक्षा नगण्य हैं। दूसरी ओर जनभाषा शीघ्र ही प्राकृतों में विकसित होती हुई इस त्वरित परिवर्तन की प्रवृत्ति का

निदर्शन करती हैं। विशेषतः यह तथ्य मनोरंजक है कि उपर्युक्त उदाहरणों में उपलब्ध परिवर्तन वैसे ही है जैसे परवर्ती मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के परिवर्तन। पदान्तवर्ती संयुक्त व्यञ्जन ध्वनियों का समीकरण उस प्रक्रिया का आरंभ है जो समस्त व्यञ्जन वर्गों को प्रभावित करती है। सघोष महाप्राण ध्वनियों का ह् के रूप में विकास, जो झ, ज़्ह के सम्बन्ध में सामान्यतः तथा अन्यत्र छिटपुट रूप में उपलब्ध होता है, पालि तथा प्राकृत में मिलता है। एक वार उत्पन्न प्रतिवेष्टित व्यञ्जन अधिक से अधिक प्रचलित हो चले थे। प्रथम भारतीय आर्य भाषा के युग से ही कतिपय विशिष्ट परिवर्तन सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ चल पड़ी हैं जो परवर्ती युगों में प्रभावशाली बनी रही हैं। ये परिवर्तन जो आरंभ से ही पाए जाते हैं, त्वरित हैं, तथा जन भाषा में त्वरित गतिवाले वने रहे हैं। अत्यधिक प्राचीन युग में ही ब्रग्ह्मण-संस्कृति के संस्थापकों के द्वारा संस्कृत भाषा के परिनिष्ठितीकरण ने ही इस विकास को संस्कृत भाषा के विषय में अत्यधिक प्रगति के पूर्व ही अवरुद्ध कर दिया और इस प्रकार हमारे लिये एक ऐसे भाषास्वरूप को सुरक्षित रखा जो अनेक दृष्टियों से अपेक्षाकृत अधिक आर्ष है तथा इस परिवार के अन्य सदस्यों की अपेक्षा मूल भा० यू० भाषा से कम परिवर्तित है।

परिच्छेद २

१. वैदिक भाषा तथा परिनिष्ठित संस्कृत

भारतीय आर्य भाषा के पुरातन इतिहास के विषय में; भारत में जहाँ यह स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकसित हुई तथा भारत के बाहर भा० यू० तथा भारत-ईरानी की क्रमिक स्थितियों में गुजरती निष्पन्न हुई; तुलनात्मक भाषाशास्त्र की सहायता से निश्चित रूप में पर्याप्त अनुमान किया जा सकता है, किन्तु भाषा की इन समस्त स्थितियों का कोई साक्षात् साहित्य सुरक्षित नहीं है। इस भाषा का ऐतिहासिक युग ऋग्वेद की रचना एवं संकलन से, जैसा कि हम देख चुके हैं, संभवतः १२०० ई० पू०—१००० ई० पू० के आसपास के काल से आरंभ होता है। इस काल से साहित्यिक परंपरा निरन्तर एवं अविच्छिन्न रही है और भारतीय आर्य भाषा का क्रमिक विकास विभिन्न स्थितियों के द्वारा आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के युग तक विस्तार से मीमांसित किया जा सकता है।

इस युग में महान् परिवर्तन हुए हैं। समस्त युग में उस परिवर्तनों की प्रक्रिया निरन्तर प्रवहमान रही है। इस परिवर्तन तथा विकास से संस्कृत भाषा बहुत कम सीमा तक प्रभावित हुई है। आरंभ से ही, वैदिक मंत्रों की रचना एवं उनके द्वारा एक परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा की संस्थापना के काल से ही ब्राह्मणों में, जो साहित्य तथा धार्मिक एवं सामाजिक पद्धति के संरक्षक थे, भाषा की परिवर्तन से रक्षा करने की बलवती प्रवृत्ति रही है। यह प्रवृत्ति केवल उन धार्मिक ग्रन्थों के संरक्षण के विषय में ही नहीं लागू होती जो आज हमें मौखिक परम्परा के द्वारा अत्यधिक त्रुटिरहित रूप में उपलब्ध हैं, अथवा प्राचीन पद्धति के अनुसार साहित्यिक ग्रन्थों की रचना से ही सम्बन्ध नहीं रखती, अपितु परस्पर ब्राह्मणों में तथा उन राजसभाओं में, जिनसे वे घनिष्ठतया सम्बद्ध थे, दैनन्दिन के उपयोग में आनेवाली भाषा को भी प्रभावित करने में समर्थ हुई। इस प्रकार इस प्रवृत्ति ने शिक्षित समुदाय की भाषा तथा जनसामान्य की उस भाषा में अभिवृद्धमान वैविध्य को जन्म दिया जो आरंभिक युग से ही तेजी से मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की दिशा में परिवर्तित हो रही थी।

इसके साथ ही शिष्ट समुदाय की भाषा भी सचेतन रूढ़िवादिता से प्रभावित होने पर भी, सर्वथा अपरिवर्तित नहीं रही। पाणिनि (चौथी सदी ई० पू०)

के द्वारा परिनिष्ठित संस्कृत भाषा वैदिक संहिताओं में उपलब्ध भाषा की अपेक्षा स्पष्टतः परवर्ती है, यद्यपि वह जन सामान्य की उस कथ्य भाषा की अपेक्षा उससे कम परिवर्तित है, जो कुछ वाद में अशोक के शिलालेखों से ज्ञात है। वस्तुतः इस काल तक हमें भारतीय आर्य भाषा के दो समानान्तर विकास समाज के दो भिन्न स्तरों में दिखाई पड़ते हैं, शिक्षा तथा साहित्यिक परम्परा के द्वारा अवरुद्ध ब्राह्मण वर्ग में यह परिवर्तन मन्थर तथा क्रमिक है, जब कि शिक्षा तथा परम्परा के द्वारा अनवरुद्ध जन सामान्य में क्षिप्र विकास पाया जाता हैं। पाणिनि की कृति के साथ संस्कृत भाषा वाह्य आकृति में पूर्ण रूप से परिनिष्ठित हो गई थी तथा अब कोई अन्य परिवर्तन नहीं होने दिया गया। इस काल के वाद भारतीय आर्य भाषा का इतिहास मध्यकालीन भारतीय भाषा की विभिन्न स्थितियों (पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश) का तथा वाद में आधुनिक भारतीय आर्य भाषा का इतिहास है। इस विकास में संस्कृत ने कोई भाग नहीं लिया, अपितु वह ठीक उसी रूप में वनी रही जिस रूप में वह महान् संस्कृत साहित्य की रचना के वहुत पहले पाणिनि के द्वारा परिनिष्ठित वना दी गई थी।

वैदिक भाषा तथा शास्त्रीय संस्कृत की विषमतायें भाषा की ध्वन्यात्मक संघटना को वहुत कम प्रभावित करती है और इस दृष्टि से परिनिष्ठित (शास्त्रीय) संस्कृत तथा प्रारंभिक मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की भिन्नता अधिक स्पष्ट है। ये भिन्नतायें शब्दसम्पत्ति तथा व्याकरण के क्षेत्र में अधिक स्पष्ट हैं, यद्यपि यहाँ भी वे अपेक्षाकृत कम संकुचित हैं।

ध्वन्यात्मक दृष्टि से कतिपय वैभाषिक विशेषताओं को, जैसे ड्, ढ् के स्थान पर ळ्, ळ्ह्, तथा कतिपय शब्दों में र् के स्थान पर ल् के परिवर्तन को छोड़ कर प्रमुख विभिन्नतायें सन्धिप्रक्रिया से सम्वद्ध हैं। उदाहरण के लिये वेद के –इय्, –उव् के सम्वन्ध में यह विभिन्नता स्पष्ट है जो परिनिष्ठित संस्कृत में य्, व्, के द्वारा परिवर्तित कर दिये जाते हैं। यह नियम ऋग्वेद की मान्य संहिता के साथ लागू होता है, उदाहरणार्थ—जहाँ तन्वः लिखा जाता है वहाँ छन्द के साक्ष्य से तनुवः उच्चारण किया जाता है। पदान्त सन्धि की वैदिक विशेषताओं में ध्यान देने योग्य बात यह है कि पदान्त न् तथा पदादि त् के मध्य में वहाँ स् जोड़ दिया जाता है, जहाँ यह व्युत्पत्ति की दृष्टि से उचित है (सर्वां स्तान्, किन्तु वव्र्नन् तस्थौ, मघवन् तव, अजग्मिरन् ते) तथा स्वर ध्वनि के पूर्व द्वितीया बहुवचनान्त रूपों में –आन्, ईन्, ऊन्, क्रमशः –आँ, ईँर्, ऊँर् हो जाते हैं (सर्गां इव, परिधीँ रति) इन स्थितियों में परवर्ती संस्कृत में एक रूप के सादृश्य के आधार पर सन्धि नियमित कर दी गई जो

मूलतः कुछ प्रकरणों में ही उचित थी (उदाहरणार्थ—सघोष व्यञ्जन ध्वनियों के पूर्व तथा पदान्त स्थिति में –आन्, –ईन्, –ऊन्, का ध्वन्यात्मक विकास नियत था और इनके सादृश्य पर यह उन स्थानों पर भी विस्तृत कर दिया गया जहाँ परवर्ती ध्वनि स्वर थी)। इस प्रकार के कतिपय तुलनात्मक छोटे परिवर्तनों के अतिरिक्त परिनिष्ठित संस्कृत भाषा ने वैदिक भाषा की मूल ध्वन्यात्मक संघटना को समग्र रूप में सुरक्षित रखा है।

परिवर्तन की प्रवृत्ति पदरचना के सम्बन्ध में और अधिक दृष्टिगोचर होती है और परिनिष्ठित संस्कृत में प्राचीन भाषा में प्रचलित विविध शब्द रूपों की सम्पत्ति अत्यधिक कम हो गई है।

परिनिष्ठित संस्कृत भाषा में सुबन्त रूपों की विविधता कम हो चली है और कतिपय प्रत्ययों के अप्रयोग के कारण ऐसे शब्दों के समस्त वर्ग लुप्त होने लगे हैं। उदाहरणार्थ वैदिक भाषा में –यु, प्रत्यय केवल कृदन्त (मुख्य प्रत्यय) रूपों (यज्युं– 'पवित्र') को ही निष्पन्न नहीं करता अपितु नाम-शब्दों से सम्बद्ध तद्धित (गौण प्रत्यय) रूपों को (देवयु– 'देव-भक्त', वाजयु– 'विजय का इच्छुक') को भी निष्पन्न करता है। आद्य वैदिक-युग के बाद यह प्रत्यय अपनी निष्पादन शक्ति खो चुका और इस प्रकार बने अनेक शब्द परिणामतः अप्रयुक्त बन गए। स्वतन्त्र शब्दों के रूप में जो शब्द जीवित रहने में समर्थ थे, केवल वे ही बचे रहे :—मन्यु– 'गुस्सा, क्रोध', दस्यु– 'चोर' आदि। समस्त सुबन्त प्रक्रिया के क्षेत्र से इस प्रकार की प्रवृत्ति के निदर्शन उपन्यस्त किए जा सकते हैं।

नाम-शब्दों की प्रातिपदिक रचना के सम्बन्ध में भरद्वाज– 'पारितोषिक का वहनकर्ता' आदि जैसे समासान्त शब्द आरंभ में ही लुप्त हो चले हैं। अन्य दृष्टियों से हम नाम-शब्दों की समस्त रचना में कमी न देख कर इसके प्रयोग में अधिकाधिक विकास देखते हैं। वेद में समस्त शब्दों के पदों की संख्या दो से अधिक कम उपलब्ध होती है और जिन परिस्थितियों में समासान्त शब्दों का निर्माण होता है, वे भी सीमित हैं। ज्यों-ज्यों भाषा आगे बढ़ती है त्यों-त्यों समासान्त शब्दों के पदों की संख्या के विषय में एवं इस प्रकार अभिव्यञ्जनीय वाक्यरचनागत पद्धति के सम्बन्ध में अधिक स्वतन्त्रता का उपयोग किया जाने लगा है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ गई है जब कि बिना किसी रोक-टोक के कितने ही लम्बे समासान्त शब्दों की रचना की जा सकती है और इससे साहित्यिक भाषा का समग्र रूप परिवर्तित हो गया है। इस दृष्टि से परवर्ती संस्कृत भाषा उस स्थिति से भी बहुत आगे बढ़ गई है, जो पाणिनि के द्वारा स्वीकृत की गई थी।

शब्द रूपों में काफी सरलीकरण और आधुनिकता की प्रवृत्ति पायी जाती है। अकारान्त शब्दों के प्राचीन विभक्तिज रूप, उदाहरण के लिए तृतीया एक वचन में–आ वाले रूप (वीर्येण के साथ-साथ वीर्या) तथा नपुंसक प्रथमा बहुवचन में–आ (भुवनानि के साथ-साथ भुवना) वाले रूप नये रूपों के लिए छोड़ दिए गए हैं। इसी समय वैदिक भाषा के कुछ नवीन प्रयोग (पुल्लिङ्ग प्रथमा बहुवचन–आसः, तृतीया बहुवचन–एभिः, –आः, –ऐः के साथ-साथ) छोड़ दिए गए हैं। इकारान्त तथा उकारान्त प्रातिपदिकों के एक प्रकार के विभक्तिज रूप (अर्य्यः, क्रत्वः) लुप्त हो गए हैं, यद्यपि नपुंसक शब्दों में एक विशिष्ट विभक्तिज कोटि सुरक्षित है (वारिणः, मधुनः) और ईकारान्त शब्दों में एक नये प्रकार के स्त्रीलिङ्ग विभक्ति-चिह्न का प्रयोग आरम्भ हो गया है (गत्याः, धेन्वाः)। ईकारान्त शब्दों के दो प्रकार के विभक्तिज रूपों में से देवी वर्ग के शब्दों के कारण वृकी वर्ग के विशिष्ट रूप छोड़ दिए गए हैं, पर उस वर्ग के शब्दों पर भी अपर वर्ग के शब्दों का प्रभाव पड़ गया है (प्रथमा बहुवचन में वैदिक भाषा के देवीः के विरुद्ध देव्यः) तथा कुछ छिटपुट बचे हुए अवशिष्ट रूप (कर्ता एकवचन लक्ष्मीः)। –वन्– तथा –वन्त्– प्रत्यययुक्त शब्दों के स् (:) वाले अनियत सम्बोधन रूप (भगवः आदि) छोड़ दिए गए। –अन्न् वर्ग के शब्दों के विभक्तिचिह्न रहित सप्तम्यन्त रूप परिपूर्ण सविभक्तिक रूपों (अक्षणि या अक्षिण) के लिए छोड़ दिए गए। व्यक्तिवाचक सार्वनामिक शब्दों के ए विभक्ति चिह्न वाले (अस्मे आदि) वैदिक सप्तम्यन्त रूप लुप्त हो गए हैं। द्विवचन में उन विभक्तिज रूपों की संख्या, जो इन सार्वनामिक शब्दों से बनाए जाते हैं, पाँच से घटाकर तीन कर दी गई है और इस तरह प्रथमा तथा पंचमी के रूपों का लोप कर दिया गया है (आवम्, युवम्, आवत्, युवत्)। तिङन्त धातुरूपों में शास्त्रीय भाषा ने प्राचीन भाषा की जटिल पद-रचना को बहुत कुछ सरल बना दिया है। उत्तम पुरुष बहुवचन के –मसि वाले वैकल्पिक तिङन्त रूप और इसी तरह मध्यम पुरुष बहुवचन के –तन, –थन वाले दीर्घ रूप भी छोड़ दिए गए हैं। वे विशिष्ट आत्मनेपदी तिङन्त रूप, जिनमें प्रथम पुरुष एकवचन में त् का लोप पाया जाता है और प्रथम पुरुष बहुवचन में र् वाले तिङन्त रूप (दुहे, दुह्रे, लङ् अदुह, अदुह्र) लुप्त हो गए। प्राचीन –सि वाले लोट् रूपों का लोप हो गया। स्– वाले लुङन्त रूप प्रथम तथा मध्यम पुरुष के एकवचन रूपों में भी मजे से पहचाने जानेवाले रूपों को उत्पन्न करने की दृष्टि से बढ़ा दिए गए हैं (अनैः के स्थान पर अनैषीत्)। धातुज–लुङ् रूप केवल दीर्घ आकारान्त धातुओं में और भू धातु में ही बचे रहे हैं।

परिपूर्ण भूत (pluperfect) के रूप हटा दिए गए हैं। धातुज संघटना में सब

से महत्त्वपूर्ण हानि अभिप्राय प्रकार के लोप की है। यह प्रकार वेद में बहुतायत से मिलता है और ब्राह्मण काल के अन्त तक भी बहुत बाद तक उपलब्ध है, किन्तु पाणिनि के समय तक उत्तम पुरुष के कतिपय रूपों के अलावा जिन्हें लोट् लकार के रूपों में खपा दिया गया, यह पूरी तरह प्रयोग से हटा दिया गया है। आगमहीन निषेधार्थक निर्बन्ध प्रकार का प्रयोग, जो एक स्वतन्त्र प्रकार था, केवल निषेधार्थक मा के साथ बने वाक्य-प्रयोगों में ही सुरक्षित रहा है। वर्तमान रूपों की प्रक्रिया से बाहर के प्रकारज रूपों (modal forms) का प्रयोग बन्द हो गया है, जैसे लुङ्-वाले मूल रूपों से बनाए गए कृदन्तज रूपों का प्रयोग। वेद में उपलब्ध अनेक बहुविध तुमन्त रूपों के स्थान पर शास्त्रीय संस्कृत में केवल एक ही रूप तुम् प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार प्राचीन पूर्वकालिक क्रिया रूप (उदाहरणार्थ, –त्वी, –त्वाय, वाले रूप) और अन्य भविष्यत्कालिक कृदंत रूप (उदाहरणार्थ– –त्व, --एन्य वाले रूप) लुप्त हो गए हैं।

वैदिक तथा शास्त्रीय भाषा का अन्य महत्त्वपूर्ण भेद धातुरूपों के साथ उपसर्गों के प्रयोग की दृष्टि से है। शास्त्रीय संस्कृत में उपसर्ग धातुरूपों के बिलकुल पहले प्रयुक्त होते हैं, जिनके साथ उन्हें समस्त कर दिया जाता है। जबकि दूसरी ओर वैदिक भाषा में उनकी स्थिति काफी स्वतन्त्र है। क्रिया से उन्हें कई शब्दों के द्वारा पृथक् किया जा सकता है और कभी-कभी वे उसके बाद भी आते हैं। यह स्वतन्त्रता भारत- यूरोपीय भाषा की विशेषता रही है। अन्यत्र ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया, उपसर्गों को क्रिया के साथ अत्यधिक निकट रूप में संयुक्त करने की प्रवृत्ति होती गई। इस दृष्टि से होमर की ग्रीक और परवर्ती शास्त्रीय (classical) ग्रीक में भी वही भेद है, जो वैदिक भाषा और शास्त्रीय संस्कृत में।

अन्त में शब्दकोश की दृष्टि से भी भेद पाए जाते हैं। नाम-शब्दों की कुछ खास प्रकार की पदरचना के लोप या अप्रयोग के सम्बन्ध में यह संकेत किया जा चुका है, किन्तु यह शब्दकोश के समस्त क्षेत्र के साथ भी समानतः लागू होता है। अनेक ऐसे प्राचीन भारत-यूरोपीय शब्द, जो वेद में प्रचलित हैं, शास्त्रीय संस्कृत के युग में बिलकुल प्रयुक्त नहीं किए जाते। ऐसे शब्द ये हैं—अत्कं– 'वस्त्र' (अवेस्ता अद्‌क–), अपस् 'कार्य' (लैटिन ओपुस्–opus), अन्धस् 'सोमलता का रस' (तुल० ग्रीक अन्थोस्, ánthos, पुष्प ?), अमं–'बल' (अवे० अम–), अर्वन्त्–'घोड़ा' (अवे० अउर्वन्त्–'तेज') अवट 'झरना' (लेटिश आवुओत्स्–avuots), आम्र–'नीच, निम्न', (अवे० आद्र–), आपि– 'मित्र, दोस्त', (तुल० एपिओस्, ēpios, 'उदार, दयालु'), इषिर–'वीर्यवान्, बलवान्' (तुला० ग्रीक हिएरोस्, hierós, पवित्र), ईर्म–'टांग का आगे का

हिंसा' (लैटिन अर्मुस्–armus, आदि), उशिज्–'एक प्रकार का ऋत्विक्, (अवे० उसिग्–), ऋष्व–'ऊँचा' (अवे० अॅरॅश्व–ərəšva–) क्रविष्–'कच्चा मांस' (तुल० ग्रीक क्रेअस्–krēas–), गातु–'रास्ता, गति, निवास' (अवे० गातु–), ग्ना 'देवपत्नी' (अवे० गॅना, gənā, 'पत्नी', ग्रीक गुने, gunē, आदि), चनस्–'सुख, सन्तोष' (अवे० चनह्–), च्यौत्न–'कार्य, काम' (अवे० श्यओथ्न– šyaoθna–), जनः 'जाति', (ग्रीक गेनोस्–genos, लैटिन गेनुस् genus), जनि–'स्त्री' (अवे० जइनि–), जेन्य–'अधिकार्य, आश्रित' (सोग्दी ज़िनिह्, zynyh, खोतानी य्सिनीय–ysīniya, इसीसे मध्य एशियाई प्राकृत झेनिग– (वही), ज्रयस्–'विस्तार, समतल ऊपरी सतह' (अवे० ज्रयह्, zrayah–, 'झील), तितउ–'चलनी' (*तित ? उ–, *titaHu–, तुल० ग्रीक दिअत्तओ, diattáō, चालन, फटकन आदि) तोक–, 'प्रसव', तोक्मन् 'अंकुर' (अवे० तओख्मन्–'बीज'), त्वक्ष्–'क्रियाशील होना, शक्तिशाली होना (अवे० थ्वख्श्–, θwaxš–), दुस्म–, दुस्र– 'कुशल, चतुर', दंसस्– 'अद्भुत कार्य' (तुल० अवे० दख़्म– 'शिक्षित', दख़्र 'कुशल', दख़्हह्– 'दक्षता', ग्रीक देदऐ dédae, 'शिक्षित' अदएस्, adēs, 'अशिक्षित', दएमोन्, daēmōn, शिक्षित, आदि), दम– 'घर' (लैटिन दोमुस्, domus, आदि), दानु– 'नमी' (अवे० दानु 'झरना', ओसेतिक दोन्), दाश्वस्– 'उपासक', द्रप्स– 'ध्वज' (अवे० द्रफ़्श, drafša–), नक्त्– 'रात' ऋ० वे० ७. ७१, १ (लैटिन नोक्स्, nox, आदि, इसका क्रियाविशेषणीभूत रूप नक्तम् मौजूद है), नहुष्– 'पड़ोसी'. नेम– 'आधा' (अवे० नएम–), पण्– 'स्तुति करना, गुणगान करना', पस्त्या 'निवास', पितु– 'गिज़ा, भोजन' (अवे० पितु– 'वही, लिथुआनियन पेंतूस्, pētūs, 'दोपहर का भोजन', आदि) भृष्टि– 'भाला', (अवे० बरॅश्ति obardši–, तुल० अंग्रेजी ब्रिसल् bristle, आदि), पाजस्– 'ऊपरी सहत' (खोतानी पाय्स–, सोग्दी प'ज़ p'z 'चेहरा'), मृडीक– 'दया' तथा सम्बद्ध शब्द', (अवे० मॅरॅज़्दीक-मॅरॅज़्दिक, mərəždika–), मर्य– 'युवा मनुष्य' (तुल० ग्रीक मेइरज़् meiraz, 'लडका तथा मितन्नी अभिलेखों का मरिअन्नि), मियेध– 'यज्ञवलि' (अवे० म्यज़्द–myazda–), मीढ– 'पुरस्कार, इनाम', (अवे० मिज़्द–, miždа–, ग्रीक मिस्थोस्, misthos, आदि), यहु–, यह्व, छोटा, सबसे छोटा, सबसे बाद का', (अवे० यज़ु–, फारसी येज़िवी 'वही'), योस् 'कुशलता, क्षेम' (अवे० यओश्–, लैटिन यूस् iūs), रोदसी 'द्यावा-पृथिवी' (अवे० रओदह्–, रओद- 'चेहरा' फारसी रोय् 'वही'), वध्रि– 'वधिया' (ग्रीक ऐथ्रिस् ethrís (बधिया बनाया हुआ मेंढा'), वस्न– मूल्य, कीमत' (तुल० लैटिन वेनुम् vēnum, ग्रीक ओनोस्, ōnos, आदि; हित्ती उश्शनिअ

uššania–बेचना), वार्ज–'इनाम, लूट का माल', विड्डु– 'सबल, दृढ़', वेन्– 'इच्छा करना', शर्स– 'शृंगहीन' (तुल० ग्रीक केमस् kemás हिरन का छौना, मृगशावक', लिथुआनियन श्मुलस् šmulas 'बिना सींग वाला), शिप्रा 'मूँछ', शुन– 'कुशलता', श्येत– 'अनाथ' ऋ० वे० १.७१.४ (तुल० अवे० सए saē, प्राचीन स्लावी सिरु sirŭ, आदि), सप्–, सपर्य– 'धार्मिक कार्यों में भाग लेना' (ग्रीक हेपो hepō, 'सेवा करना', लैटिन सेपेलिओ sepeliō मुर्दे को गाड़ना), सस्– 'सोना' (हित्ती शेश् šeš–), स्तिघ्–चलना, कदम बढ़ाना' (ग्रीक स्तेइखो steikhō, गॉथिक स्टेइगन् steigan, आदि), स्योन– 'कोमल, मुलायम', हरस्– 'गर्मी' (ग्रीक थेरोस् théros 'ग्रीष्म', आर्मीनी जेर् jer 'गर्म मौसम') हर्य्–'प्रसन्न होना, उल्लसित होना' (ग्रीक खइरो khairō आनन्द करना)।

विपरीतार्थक शब्दों के अस्तित्व के कारण इन युग्मों में से एक प्रायः दबा दिया गया है। आरम्भिक वैदिक भाषा में दो शब्द थे असुर[1]—'स्वामी या बलवान्' (अवे० अहुर) और असुर[2]– 'दैत्य'। परवर्ती वैदिक काल के बाद से केवल द्वितीय अर्थवाला प्रयोग ही प्रचलित है। इसी तरह अरि[1]– 'विश्वस्त, भक्त' (जिससे अर्य–, आर्य–, तुल० हित्ती अर– 'मित्र' आदि) तथा अरि[2] 'शत्रु' (< अलि–, तुल० लैटिन अलिउस alius, आदि) के युग्म में से केवल द्वितीय ही सुरक्षित रहा है। वैदिक कारु–'गायक'[1] (कृ– 'उत्सव मनाना', तुल० ग्रीक केरूज़्– Kérūz, कारूज़् Kárūz 'चारण') ने अपना स्थान शास्त्रीय संस्कृत शब्द कारु– 'कलाकार' (कृ– 'करना, बनाना') को दे दिया है, और वैदिक रजस्- 'आकाश' (रज्– 'फैलना', तुल० लैटिन रेगिओ– regiō आदि), रजस्[2]– 'धूल, मिट्टी' (लग् 'चिपकना') की स्पर्धा के कारण छोड़ दिया गया। इसी तरह पुरुष[1]– 'हलका भूरा' (अवे० पोउरुश– तुल० अंग्रेजी फेलो fallow, आदि) तथा परुष[2]– 'गाँठदार, कठोर' (परुष्–, पर्वन्– 'गाँठ'), पायु[1]– 'रक्षक' और पायु[2] 'गुदा'; फल्गु[1]– 'लाल रंग का, गुलाबी', फल्गु[2]– 'खोखला, निःसार'— इन युग्मों में से प्रथम भिन्नार्थक शब्द परवर्ती भाषा में प्रयुक्त होने बन्द हो गए।

अर्थपरिवर्तन वस्तुतः बड़े लम्बे समय तक होते रहे हैं। इनमें से कई तो भाषा के स्वाभाविक विकास में हुए हैं। उदाहरण के लिये वेद में वह्नि– का साधारण अर्थ 'वहन करने वाला' है और यह अग्नि के साथ देवताओं के प्रति दी गई आहुति को उन तक वहन करने की शक्ति के कारण प्रयुक्त किया जाता है। आगे चलकर इसका अर्थ स्वाभाविक अर्थविकास के कारण सामान्यतः अग्नि हो गया है। दस्यु– शब्द मूलतः जातिगत है, जिसका अर्थ भारत के अनार्य निवासी है। परवर्ती काल में इस शब्द ने 'डाकू, लुटेरा'

अर्थ ग्रहण कर लिया। इसी तरह दास– शब्द मूलतः एक जाति का नाम (तुल०, मध्य एशिया के दहए–) था और यही शब्द शूद्र 'चतुर्थ वर्ण का व्यक्ति' के लिए प्रयुक्त हो सकता है, चूँकि इस नाम की एक जाति भारतीय तथा अन्य परम्परागत स्रोतों से उत्तर-पश्चिमी भारत में किसी समय विद्यमान ज्ञात है।

अन्य दशाओं में परवर्ती भाषा में अर्थ का परिवर्तन केवल वैदिक शब्द को गलत समझने के कारण है। यह दशा वैदिक क्रतु 'बुद्धि, प्रतिभा' के विपरीत क्रतु 'यज्ञ' की है। यहाँ अर्थपरिवर्तन नहीं हुआ है, बल्कि वैदिक ग्रन्थों के अर्थ को ठीक तरह से समझने की केवल असफलता है। शास्त्रीय संस्कृत में मातरिश्वन्– का अर्थ 'वायु' है, जब कि मूलतः इसका अर्थ वह देवता है, जिसने दो अरणियों को रगड़कर अग्नि की खोज की थी और साथ ही इसका अर्थ स्वयं 'अग्नि' भी है (मातरिश् 'अरणि' से, जो व्युत्पत्ति की दृष्टि से लैटिन मात्रिक्स mātrix के समानान्तर है); इस शब्द में अर्थपरिवर्तन केवल इस कारण है कि सामान्यतः जन–मानस से प्राचीन पुराकथा (Mythology) लुप्त हो गई है। वैदिक शब्द कीलाल– का अर्थ 'एक विशेष प्रकार की दूध की बनी खाद्य सामग्री' है (तुल० खोवार कीळाळ्– 'एक प्रकार का पनीर'); जब कि इस शब्द का प्रयोग शास्त्रीय संस्कृत में 'रक्त' के अर्थ में होता है, जो प्राचीन ग्रन्थों को गलत समझने के कारण है।

प्राचीन शब्द असुर– 'दैत्य' और असित– 'काला' के सम्बन्ध में गलत लौकिक व्युत्पत्ति के कारण दो नये शब्दों की रचना हुई। चूँकि इन शब्दों का पदादि अ– भ्रान्ति से निषेधार्थक अ समझ लिया गया, इन शब्दों के विपरीत शब्द सुर 'देवता', सित– 'सफेद' की उत्पत्ति हो गई।

ऊपर के उदाहरण इस बात का संकेत करते हैं कि भाषा के इतिहास में इस युग में शब्दावली का लोप प्रचुरता से हुआ। अन्यत्र समय के गुजरने के साथ-साथ भारतीय आर्य भाषा की भारत-यूरोपीय विरासत काफी कम हो गई। इसका एक परिणाम यह हुआ कि वेद के अनेक प्राचीन शब्दों का परवर्ती काल में समझा जाना लुप्त हो गया। इन कठिनताओं के कारण आरम्भिक युग में ही वेदों की व्याख्या (निरुक्त) की एक विशिष्ट शाखा का उदय हुआ। कठिन शब्दों के संग्रह किए गए और उन्हें व्युत्पत्ति के आधार पर स्पष्ट करने की चेष्टायें हुईं। ये अध्यवसाय यास्क के ग्रन्थ में संक्षिप्त किए गए हैं, जो मोटे तौर पर पाणिनि के समसामयिक रहे होंगे। व्याख्या की ये चेष्टायें केवल सीमित अंश तक ही सफल थीं, और यह अत्यधिक स्पष्ट रूप में जान पड़ता है कि उस समय अनेक वैदिक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक परम्परा विद्यमान न थी, फलतः निरुक्तकारों को अन्दाजे से अर्थनिर्धारण करना पड़ा था।

ठीक यही बात परवर्ती भाष्यों के साथ लागू होती है, जिनका चरम परिपाक सायण के भाष्य में मिलता है। आधुनिक काल में प्राचीनों की अपेक्षा अधिक सामग्री से समन्वित विद्वानों के अध्यवसाय ने अनिश्चितता के क्षेत्र को बहुत कुछ कम कर दिया है, लेकिन अभी भी काफी सामग्री ऐसी बच रही है जो निश्चित व्याख्या को चुनौती देती हैं।

प्राचीन शब्दों के लोप के विरुद्ध शास्त्रीय संस्कृत ने अनेक स्रोतों से बहुसंख्यक नये शब्दों को ग्रहण किया है। इस लाभ ने पुराने शब्दों की हानि को बहुत कुछ हद तक संतुलित कर दिया है और शास्त्रीय संस्कृत का शब्दभाण्डार जाने-माने शब्दभाण्डारों में समृद्धतम में से एक है। निःसन्देह ऐसे अनेक शब्द हैं, जो सर्वप्रथम परवर्ती भाषा में मिलते हैं, किन्तु इसके साथ ही भारतीय आर्य भाषा के अतिप्राचीन स्तर से भी सम्बद्ध हैं। ऐसे शब्दों का लोप अंशतः आकस्मिक है, क्योंकि यद्यपि वैदिक संहितायें काफी विस्तृत हैं, फिर भी उनमें शास्त्रीय संस्कृत से पहले के युग की समस्त भाषागत सामग्री नहीं है। अंशतः यह विभाषा का प्रश्न भी है; परवर्ती काल में वैदिक संस्कृत के विपरीत क्षेत्र का और अधिक विस्तार प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की उस सामग्री के समाहार को जन्म देता है जो उन विभाषाओं में प्रचलित नहीं रही होगी जिनके आधार पर प्राचीन परिनिष्ठित भाषा स्थित थी। उदाहरण के लिये पाणिनि से पहले क्रियाविशेषण शब्द परुत्– 'पिछला साल' उल्लिखित नहीं है, किन्तु यह एक प्राचीन भारत-यूरोपीय शब्द है, जो ग्रीक समानान्तर शब्द पेरुसि– (pérusi) से स्पष्ट है। इसी तरह हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इससे सम्बद्ध परारि– 'पिछले साल से पहले का साल', केवल आकस्मिक रूप में ही प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता। इसी तरह ऐसे अनेक शब्द हैं, जो प्राचीन होने चाहिएँ, क्योंकि उनकी संघटना प्राचीन ढंग की है; उदाहरण के लिए विपुल– 'अत्यधिक', जो प्री– धातु 'भरना' से बना है। इस उदाहरण में भारत-यूरोपीय ल् का सुरक्षित रहना, जो इस धातु में अन्यत्र नहीं मिलता, इस बात का संकेत करता है कि प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में इसका अभाव केवल विभाषागत है।

अनेक नये शब्द विद्यमान धातुओं और प्रत्ययों के आधार पर बनाये हुए नये रूप हैं। जब तक रचनात्मक प्रत्ययों की जीवन्तता सुरक्षित रही, आवश्यकता के अनुरूप नये शब्दों की रचना का विशाल क्षेत्र मौजूद था। यह खास तौर पर इसलिये था कि उपसर्गों से युक्त संयुक्त धातुओं के साथ इसे जोड़ा जाता था और इस तरह कितनी ही आवश्यकता के लिये इच्छानुरूप शब्दों की रचना की जा सकती थी। अकेले कृ– 'करना' धातु से ही कृदन्त प्रत्ययों के

माध्यम से, लगभग वीस उपसर्गों की सहायता से, सैकड़ों शब्द वनाए गए, जिनके अर्थ व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक अभिव्यञ्जना के प्रत्येक क्षेत्र को छेंके हुए हैं।

शब्दकोश पुनः भारतीय आर्य भाषा के वाहर से भी समृद्ध किया गया। पहले से ही विद्यमान देश्य भाषाओं ने संस्कृत शब्दभाण्डार को काफी अनुदान दिया है। यह प्रभाव प्रबलतम है और ऐसा मालूम पड़ता है कि द्रविड शब्दों के सम्बन्ध में, जिन्हें निश्चित रूप से पहचाना जा सकता है, यह संख्या कई सौ है। यद्यपि इनमें से कुछ वैदिक भाषा में भी मिलते हैं, तथापि इनमें से अधिकांश शास्त्रीय संस्कृत के पूर्व प्रचार में नहीं आते। आनुपातिक दृष्टि से कुछ शब्द कोल भाषाओं ने दिए हैं। कभी-कभी कुछ शब्द भारत के वाहर से भी लाए गए हैं, उदाहरण के लिये ईरानी से (वारवाण– 'कवच') या ग्रीक से (होरा– 'घंटा'), किन्तु ये शब्द बहुत कम हैं।

यद्यपि इन नये शब्दों का लेखा-जोखा ले लिया गया है, फिर भी शास्त्रीय संस्कृत में ऐसे अनेक शब्द वचे रहते हैं, जिनके उद्भव का पता नहीं है। अधिकांश निःसन्देह मूलतः भारतीय परिभाषा में देशी शब्द हैं, और चूँकि प्राक्-आर्य भारत की भाषासम्बन्धी जटिलता इससे कहीं अधिक रही होगी, जो आज मालूम पड़ती है, हमें ऐसे शब्दों की उपलब्धि से आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए, जिनका उद्भव अविश्लिष्ट बना रहता है।

संक्षेप में ये वे प्रमुख परिवर्तन हैं, जो प्राचीन वैदिक युग और शास्त्रीय संस्कृत युग के बीच में संस्कृत में हुए हैं। प्राक्-शास्त्रीय साहित्य में यह विकास अपनी पारम्परिक स्थितियों में देखा जा सकता है। यह साहित्य जो पूरी तरह धर्म तथा कर्मकाण्ड से सम्वद्ध है, तीन प्रमुख भागों में बाँटा जाता है।

(१) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद की संहितायें।

(२) कर्मकाण्ड की रहस्यात्मक व्याख्या से सम्बद्ध गद्य ग्रन्थ. ब्राह्मणग्रन्थ।

(३) याज्ञिक कर्मकाण्ड के विधान के लिये विस्तृत संकेत वाले सूत्रग्रन्थ, जिनमें श्रौतसूत्र वड़े सार्वजनिक यज्ञों से सम्बन्ध रखते हैं और गृह्यसूत्र पारिवारिक कर्मों से।

इस साहित्य की रचना के लिये परम्परागत रूप में जो समय अनुमानित किया जाता है, वह यह है। (१) संहिता भाग, १२००–८०० ई० पू०, (२) ब्राह्मण भाग ८००–५०० ई० पू०, (३) सूत्र भाग ६००–३०० ई० पू०।

किसी निश्चित जानकारी के अभाव में यह तिथिनिर्धारण मुख्यतः अनुमान पर आधृत है। दूसरी ओर परवर्ती स्तरों की तुलनात्मक तिथियाँ बिना किसी सन्देह के स्वयं ग्रन्थों में विद्यमान भाषाशास्त्रीय सामग्री के आधार पर निर्धारित

की जा सकती है। ऊपर संक्षिप्तीकृत भाषागत परिवर्तन क्रमशः हुए हैं और परवर्ती साहित्य की भाषा साहित्यिक भाषा की तरह अधिकाधिक स्थिर हो गई है। ऋग्वेद की भाषा को शास्त्रीय संस्कृत से दूर करनेवाली खाई उससे कहीं अधिक है, जो उससे प्राचीन गद्य-ग्रन्थों तक की भाषा को अलग करती है। परवर्ती संहितायें भाषा के आधार पर तिथि की दृष्टि से ऋग्वेद से परवर्ती वताई जा सकती हैं और इस संहिता में भी इसी कारण से दशम मण्डल अत्यधिक परवर्ती माना जाता है। इसी तरह आरम्भिक और परवर्ती ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी तिथिगत भेद किया जा सकता है। चूँकि ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्य में हैं, इसलिये उनकी भाषा मजे से परवर्ती वैदिक युग में उच्च वर्ग की कथ्य भाषा की प्रतिनिधि मानी जा सकती है। इस भाषा में अभी तक कई प्राक्-शास्त्रीय विशेषतायें सुरक्षित हैं; उदाहरण के लिये प्राचीन अभिप्राय प्रकार का प्रयोग, जब कि प्राचीन वैदिक रूपों में से अधिकांश तबतक प्रयोग से उठ गए हैं। सूत्रग्रन्थों की रचना के समय तक भाषा सभी तत्त्वों की दृष्टि से उस स्थिति पर पहुँच गई है, जब पाणिनि ने उसे परिनिष्ठित बनाया। सभी सूत्रग्रन्थों में इस तरह के व्याकरणिक रूपों की उपलब्धि सम्भव है, जो पूरी तरह पाणिनि के नियमों से मेल नहीं खाते, किन्तु प्राचीन साहित्य की तुलना में ये रूप नियमतः आर्ष रूप नहीं हैं। भेद यह है कि इनका प्रयोग वैयाकरणों के निश्चित नियम-पालन की अपेक्षा अधिक सरल और लापरवाहीवाला है और इस दृष्टि से ये ग्रन्थ ठीक तौर पर पाणिनि के अपने और उनसे ठीक पहले के समय के कथ्य प्रयोगों को प्रतिबिम्बित करते हैं। इनकी भाषा परवर्ती शास्त्रीय संस्कृत की तरह निश्चित परिनिष्ठित और परम्परागत व्याकरणिक पद्धति पर आधृत नहीं है, किन्तु शिक्षित ब्राह्मणों की उस कथ्य भाषा पर आधृत है, जो पाणिनि की व्याकरणिक पद्धति का स्रोत है। ये ग्रन्थ भाषाशास्त्रीय इतिहास की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण हैं; ये पाणिनि के साथ-साथ भाषा के अन्तिम परिनिष्ठितीकरण के ठीक पहले के समय की जीवन्त संस्कृत भाषा के स्वतन्त्र आधिकारिक ग्रन्थों के रूप में स्थित हैं। ये ही वे ग्रन्थ हैं; बाद का बना साहित्य नहीं; जहाँ हमें पाणिनि के द्वारा अन्तिम रूप में प्रतिष्ठापित भाषा के जीवन्त निदर्शन को ढूँढना चाहिए।

२. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा

वैदिक तथा शास्त्रीय रूप में संस्कृत, जैसा कि देखा गया है, एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र से सम्बद्ध थी। अत्यधिक आरम्भिक युग में यह क्षेत्र पंजाब था, किन्तु शीघ्र ही यह केन्द्र पूर्व की ओर कुरु तथा पांचाल देशों की ओर फैल गया और वहाँ समस्त परवर्ती वैदिक युग तक बना रहा। ऋग्वेद की भाषा

तथा परवर्ती साहित्य की भाषा का परस्पर भेद, खासतौर पर वैदिक र् के स्थान पर ल् का प्रयोग, इसी तथ्य के कारण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे वैभाषिक क्षेत्र भी थे, जिनकी विशेषतायें संस्कृत में कोई स्थान न पा सकीं। बहुत आरम्भ में ही वैदिकयुग में पूर्व (कोसल आदि) तथा दक्षिण (अवन्ती आदि) तक विस्तृत निवेश थे। इस क्षेत्र के बाहर की कथ्य भाषा उस क्षेत्र की कथ्य भाषा से जो शास्त्रीय संस्कृत का वास्तविक क्षेत्र है, कुछ बातों में भिन्न थी। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा, यह पारिभाषिक संज्ञा कभी-कभी संस्कृत के वैकल्पिक रूप में प्रयुक्त की जाती है, किन्तु यह संज्ञा इसलिये गलत है कि उन विभाषाओं के अतिरिक्त जिनपर संस्कृत की स्थापना हुई है, अन्य भारतीय आर्य विभाषायें भी विद्यमान थीं। 'प्राचीन भारतीय आर्य' शब्द का प्रयोग आरम्भिक युग में समस्त भारतीय आर्य विभाषाओं के लिये किया जाना चाहिए और 'संस्कृत' इसके साथ इतनी समान विस्तारवाली संज्ञा नहीं है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की संस्कृतेतर बोलियों का कोई साक्षात् अवशेष सुरक्षित नहीं है और यदि यह तथ्य न होता कि परवर्ती मध्य-भारतीय आर्य विभाषाओं में अधिकांश सामग्री ऐसी है जिसे संस्कृत, वैदिक अथवा शास्त्रीय, से विकसित नहीं बताया जा सकता, किन्तु उन समान प्राचीन रूपों से, जो भारतीय आर्य के भिन्न रूप हैं और जिनका संकेत ऊपर किया जा चुका है,—तो इसके विषय में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता था। इस प्रकार की सामग्री का परिपूर्ण संकलन उपस्थित नहीं किया गया है, किन्तु एक समय प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की संस्कृतेतर बोलियों के अस्तित्व का विवरण देने के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इन बोलियों में पाए जानेवाले अन्तर अत्यधिक (उदाहरणार्थ ईरानी की प्राचीन बोलियों के साथ तुलना करने पर) नहीं थे, किन्तु ये ध्यान देने के लिये पर्याप्त हैं।

ध्वन्यात्मक विशेषताओं की दृष्टि से हम खास तौर पर संस्कृत तथा मध्य क्षेत्र की परवर्ती प्राकृत में पदान्त -अस् के स्थान पर ओ के परिवर्तन के विरुद्ध -ए के परिवर्तन का संकेत कर सकते हैं। पूर्वी भारतीय आर्यभाषा की यह भेदक विशेषता थी और इस तरह के उदाहरण सुदूर पूर्व में भी मिलते हैं। इस प्रकार का एक वैभाषिक रूप ऋग्वेद में 'सूरे॑ दुहि॒ता' "सूर्य की पुत्री' में सुरक्षित है। संस्कृत क्ष् के स्थान पर मध्य-भारतीय आर्यभाषा में उन स्थानों पर कभी-कभी झ्-, ज्झ्-, ग्घ- पाये जाते हैं, जहाँ ईरानी में ग़्ज़् (γž)-संयुक्त सघोष व्यंजन मिलते हैं (प्राकृत झरइ- 'झरता है, बहता है, पालि पग्घरति, संस्कृत क्षर्-, अवे० ग़्ज़र् (γžr-, आदि)। प्राचीन ऋ? (r H) (ॠ) का विकास अनेक वैभाषिक रूपों में देखा जाता है, प्राचीन भारतीय आर्य ऊर्

का अस्तित्व संस्कृत ईर् के स्थान पर कतिपय स्थानों में देखा गया है : प्राकृत जुण्ण– 'पुराना' < *जुर्ण– (: संस्कृत जीर्ण–), तूह 'नदी पार करने का घाट' < तूर्थ– (: संस्कृत तीर्थ–)। कतिपय विभाषाओं में प्राचीन –ज़्द्– (ẑd) संस्कृत में पूर्ववर्ती स्वर के दीर्घत्व के साथ एक –ड– के प्रयोग के स्थान पर '–ड्ड–' के द्वारा स्थानान्तरित किया गया है, उदाहरण के लिए पालि निड्ड– : संस्कृत नीड– 'घोंसला'। पालि इध 'यहाँ' में संस्कृत 'इह' से अधिक पुराने शब्द का रूप सुरक्षित है। प्राकृत सिढिल– 'ढीला' (*शिठिल– से विकसित) और संस्कृत शिथिर– (०ल–) प्राचीन रूप *श्रृथिर– (श्रथ्) 'ढीला करना', से समानान्तर स्वतन्त्र विकास है।

यद्यपि मध्यभारतीय आर्यभाषा में अनेक प्राचीन विभक्तियों के लोप ने व्याकरणिक रूपों के अधिकांश विभेदों को हटा दिया है, फिर भी कई व्याकरणिक भेद देखे जा सकते हैं। आत्मनेपदी प्रथम पुरुष बहुवचन के रूप जैसे पालि विज्जरे 'देखे जाते हैं' (> *विद्यरे) इस बात का संकेत करते हैं कि इस प्रकार के 'र्–' विभक्ति वाले रूप संस्कृत की अपेक्षा किन्हीं प्राचीन भारतीय आर्य विभाषाओं में अत्यधिक प्रयोग में थे पालि जिगुच्छति 'घृणा करता है' (संस्कृत जुगुप्सते) यह निर्देश करता है कि कतिपय उ स्वरवाले धातुओं के सम्बन्ध में सन्नन्त रूपों में द्वित्व होने पर इ स्वर पाया जाता है, जो संस्कृत में नहीं मिलता, लेकिन प्राचीन ईरानी में परिचित है (अवे० चिख्शुश– Cixšnuša– 'प्रसन्न करने की इच्छा'); पालि हरायति 'रुष्ट होता है' उस प्राचीन भारतीय आर्य रूप का विकास है, जिसका संस्कृत हृणीते के साथ ठीक वही सम्बन्ध है, जो वैदिक गृभायति का गृह्णाति के साथ। विहेसेति 'तकलीफ देता है, चोट पहुँचाता है', विहेसा 'चोट' (< *विहेषयति, *विहेसा, √हिंस्–) जैसे रूप उन प्राचीन भारतीय आर्य रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो संस्कृत में अपरिचित हैं। पालि सब्बधि 'सर्वत्र' में एक प्राचीन क्रियाविशेषणीभूत रूप सुरक्षित है, जिसका समानान्तर विभक्तिचिह्न ग्रीक –थि (thi) है। प्राकृत में प्रथम पुरुष सर्वनाम के लिए से निपात का प्रयोग पाया जाता है, जो अवे० हे, शे (he, še) प्राचीन फारसी शइय् (šaiy) से मिलता है और जो संस्कृत में उपलब्ध नहीं होता। पालि काहामि 'मैं करूँगा' संस्कृत करिष्यामि के विपरीत प्राचीन भारतीय आर्य अनिट् भविष्यत् रूप *कर्ष्यामि का प्रतिनिधित्व करता है। पालि सामं 'स्वयं' जो संस्कृत में अज्ञात है, अवे० हाम–hāma–, प्राचीन स्लावी समु (Samŭ) के समान है। मुक्क, 'मुक्त', रुण्ण 'रोया हुआ' जैसे निष्ठारूप –न प्रत्ययवाले प्राचीन रूपों की परम्परा है, जो संस्कृत –त प्रत्ययवाले रूपों के विरुद्ध है। अर्धमागधी –मीण

प्रत्ययवाले आत्मनेपदी वर्तमानकालिक कृदन्त रूप संस्कृत –मान के प्राचीन भारतीय आर्य वैकल्पिक रूप का प्रतिनिधित्व करते जान पड़ते हैं। निष्ठारूप दिन्न– 'दिया हुआ' एक प्राचीन रूप का संकेत करता है, जिसमें ग्रीक की तरह अभ्यासगत (द्वित्वगत) रूप इ स्वरयुक्त होते हैं (*दिदामि : ग्रीक दिदोमि didōmi)। –ताविन् प्रत्यय वाले कृदन्त रूप (विजिताविन्– 'जिसने जीत लिया है') संस्कृत के –तवन्तु– प्रत्ययवाले निष्ठारूपों के समान प्राचीन रूप हैं। एतसे 'जाने के लिये' में हमें वैदिक प्रकार के तुमन्त रूप की उपलब्धि होती है, जो अन्यत्र नहीं मिलती। –तून (प्राकृत ऊन), गन्तून, आदि प्रत्ययवाले पूर्वकालिक रूप –त्वान प्रत्ययवाले वैदिक रूपों से केवल अपश्रुतिगत भेद की दृष्टि से भिन्न हैं। धातुज रूपों में यह अपश्रुतिगत भेद प्रायः दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए सुपिन– 'स्वप्न'=ग्रीक हुप्नॅास् (húpnos) जो संस्कृत गुण रूप स्वप्न– के विपरीत है; गरु– 'भारी' संस्कृत गुरु– के विरुद्ध धातु के गुण रुप का वहन करता है, इसी प्रकार तुरित 'तेज', थीन– 'आलसी' (< *स्तीन) की संस्कृत त्वरित–, स्त्यान– से तुलना कीजिए। संस्कृत में न पाए जानेवाले नामिक प्रातिपादिक रूप अप्रचलित नहीं हैं, उदाहरण के लिये पालि नहारु– 'स्नायु' 'नस', थेत– 'स्थिर', थेव– 'बूँद' (< *स्नारु–, *स्थैत–, *स्तेप– (स्तिप्– 'टपकना'); प्राकृत माहण– 'ब्राह्मण' (शाब्दिक अर्थ 'महान्'), तुल० वैदिक माहिन्– 'महान्'।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तक में प्राचीन स्थितियों में अपरिचित प्राचीन शब्द कभी-कभी मिल जाते हैं, उदाहरण के लिए हिन्दी आटा 'चूर्ण' : फारसी 'आर्द' उस धातु से सम्बद्ध है, जो ग्रीक अलॆओ aleō 'पीसना', 'मैं पीसता हूँ' में है।

इस प्रकार के प्रमाणों से हम प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के वैभाषिक रूपों का कुछ अन्दाजा लगा सकते हैं, हालाँकि यह बहुत आंशिक है। यह ध्यान रखना आवश्यक है ताकि संस्कृत का विकास अपने समुचित परिदृश्य में ही देखा जा सके। परिनिष्ठित भाषा की रचना, चयन और बहिष्कार की कठोर प्रक्रिया से सम्बन्ध रखती है। सभी कथ्य भाषाओं में एक वर्ग से दूसरे वर्ग तक निरन्तर भेद पाया जाता है। संस्कृत मध्यदेश के उच्चवर्ग की कथ्य भाषा पर आधृत थी, जो ऋग्वेद की प्राचीन पवित्र भाषा से प्रभावित है, जो और अधिक पश्चिम में विकसित हुई थी। यह भाषा अपने परिनिष्ठित रूप में ब्राह्मण धर्म के प्रचार का केन्द्र थी और एक निश्चित परिनिष्ठित भाषा थी, जो आर्यावर्त के किसी भी भाग में रहनेवाले ब्राह्मण समुदाय की संपत्ति थी। पाणिनि ने कभी-कभी पूर्व और उत्तर के लोगों की बोली के

भेदों का जिक्र किया है, किन्तु ये भेद सदा नगण्य हैं। संस्कृत समस्त उत्तरी भारत में और काफी प्राचीन काल से दक्षिण में भी तत्त्वतः कथ्य भाषा के रूप में एक-सी थी। इसके तल में बोलीगत भेद मौजूद थे, जो प्राचीन युग में बहुत धूमिल दिखाई पड़ते हैं, और जो भाषा की अगली स्थिति में, मध्य भारतीय आर्यभाषा में अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट हो गए हैं।

३. संस्कृत वैयाकरण

संस्कृत भाषा के इतिहास में वैयाकरणों का महत्त्व विश्व की अन्य भाषाओं की अपेक्षा अतुलनीय है। उनके भाषावैज्ञानिक विश्लेषण की परिपूर्णता आधुनिक युग तक अनुपम है। सम्पूर्ण शास्त्रीय संस्कृत साहित्य भाषा के उस रूप में लिखा गया है, जिसे पाणिनि और उनके अनुयायियों के कार्य ने अन्तिम विस्तार तक नियमबद्ध कर दिया है।

भारत में व्याकरणिक अभिरुचि सर्वप्रथम वेदों के पवित्र ग्रंथों को अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित रखने की आवश्यकता से सम्बद्ध होकर उदित हुई। यह यज्ञ-क्रिया के अत्यधिक महत्त्व की बात थी कि यज्ञादि के समय मन्त्रों में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द परिपूर्ण शुद्ध रूप में उच्चरित किया जाना चाहिए था। वैदिक संहिताओं के शुद्ध संरक्षण के लिए प्रयुक्त साधनों में एक पदपाठ है, जिसमें संहिता के मन्त्रभाग का प्रत्येक पद व्यस्त रूप में पुनरुच्चरित होता है। इसे शुद्ध रूप में विश्लेषित करने के लिये, जैसा कि यह मुख्यतः किया जाता है, व्याकरणिक विश्लेषण का प्रारम्भ अभीष्ट है, और इसके कारण सन्धि या ध्वन्यात्मक विश्लेषण के नियमों की अवतारणा हुई।

वेदों के शुद्ध उच्चारण के लिये आवश्यक ध्वनिशास्त्रीय अध्ययन प्रातिशाख्यों में है। ये ग्रन्थ विविध वैदिक शाखाओं से सम्बद्ध होने के कारण अनेक हैं और इनमें इस विषय को काफी विस्तार और परिपूर्णता के साथ विवेचित किया गया है। प्राचीन उच्चारण के परिज्ञान के लिये ये ग्रन्थ हमारे लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री हैं। यह विवाद का विषय रहा है कि वर्तमान रूप में उपलब्ध इन ग्रन्थों में से कोई पाणिनि से प्राचीन है या नहीं, किन्तु किसी न किसी रूप में अथवा इस सामग्री के स्रोत के रूप में ये ठीक उतने ही पुराने होने चाहिएँ, जितनी पुरानी स्वयं वैदिक शाखायें हैं। ध्वनिविज्ञान से सम्बद्ध परवर्ती ग्रन्थ शिक्षायें हैं, जो काफी संख्या में विद्यमान हैं और बहुमूल्य जानकारी से युक्त है।

शब्दों के अप्रचलन से जनित, वैदिक मन्त्रभाग की व्याख्या की कठिनाई के कारण कोशविज्ञान का आरम्भ हुआ। इस प्रकार के प्राचीनतम ग्रन्थ निघण्टु में देवता आदि से सम्बद्ध कठिन वैदिक शब्दों की सूची है, जिन्हें आचार्यों के

उपयोग के लिये संकलित किया गया था। इनपर यास्क की—जो पाणिनि के समय से सम्भवतः बहुत अधिक पुराने नहीं हैं—व्याख्या है, जिसमें व्याकरण से सम्बद्ध प्रश्नों का प्राचीनतम व्यवस्थित विवेचन है। यहाँ हमें नामन् (संज्ञा), सर्वनामन्- (सर्वनाम), आख्यात- (क्रिया), उपसर्ग- तथा निपात- के रूप में वाक्य के विविध पदों का विभाजन मिलता है। कृत्- तथा तद्धित- प्रत्ययों के द्वारा नामशब्दों की व्युत्पत्ति के विषय में एक निश्चित सिद्धान्त बन गया है और शाकटायन तथा गार्ग्य के बीच में एक मनोरंजक विवाद का जिक्र मिलता है कि क्या सभी नामशब्दों को इस ढंग से किन्हीं धातुओं से निष्पन्न किया जा सकता है। शाकटायन उन्हें धातुओं से बने हुए मानते हैं और गार्ग्य के द्वारा अन्य पक्ष में उपस्थित किए गए उपयुक्त तर्कों के बावजूद संस्कृत व्याकरणिक सिद्धान्त के क्षेत्र में यह सिद्धान्त सामान्यतः स्वीकृत किया जाता रहा है। यह एक तथ्य है कि संस्कृत शब्दभाण्डार में से अधिकांश अन्य भाषाओं की अपेक्षा इस प्रकार के विश्लेषण के योग्य हैं।

पाणिनि का समय सामान्यतः चौथी सदी ई० पूर्व निर्धारित किया जाता है, जो देशी परम्परा से मेल खाता है, जिसके अनुसार वे मगध के राजा नन्द से सम्बद्ध हैं। उनके जीवन के विषय में सिवाय इसके कि वे उत्तर भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त में शालातुर में पैदा हुए थे, कोई जानकारी नहीं मिलती। उनकी अष्टाध्यायी जिसने सदा के लिये संस्कृत व्याकरण के ढाँचे को निर्धारित कर दिया, अत्यधिक संक्षिप्त, लगभग चार हजार सूत्रों में निबद्ध है। यह संक्षिप्तता विशेष प्रकार के बीजगणितात्मक संकेतों के निर्माण से उत्पन्न की गई है, जो व्याकरणिक सम्प्रदायों के बाहर नहीं मिलती। यह पद्धति इतनी विचित्र है कि किसी एक आदमी के द्वारा उसी समय बनायी गई, और उसके अन्य साथियों पर तत्काल थोपी हुई सम्भवतः नहीं हो सकती। यह स्पष्टतः कई सदियों के विकास का फल है और पाणिनि को परम्परागत व्याकरण का अन्तिम सम्पादक माना जाना चाहिए, जिन्होंने अपने अत्यधिक विस्तृत ज्ञान और परिपूर्णता के कारण अन्य वैयाकरणों को अभिभूत कर लिया। पाणिनि से पूर्व के अनेक आचार्य वस्तुतः उनके ग्रन्थ में उल्लिखित हैं, किन्तु उनके अपने ग्रन्थ के गुणों ने अन्य लोगों की रचनाओं को अन्धकार में डाल दिया।

सूत्र-पद्धति की संक्षिप्तता इस दृष्टि से रखी गई थी कि तबतक समस्त शिक्षा मौखिक और स्मृति पर निर्भर थी। इसके साथ बहुत आरम्भ से ही एक टीका (वृत्ति) का अस्तित्व भी समाविष्ट है, जो भी मौखिक थी और जिसमें उदाहरण संकलित थे। यह सर्वप्रथम कब लिपिबद्ध की गई, यह

जानकारी नहीं मिलती, किन्तु पाणिनि की प्राचीनतम व्याख्या, काशिका लगभग उनके एक हजार साल वाद की (७०० ई० ल०) है।

इस तिथिसम्बन्धी अत्यधिक अन्तराल के बावजूद यह जान पड़ता है कि इस व्याख्या में विद्यमान विशाल भाषाशास्त्रीय सामग्री में से अधिकांश परिपूर्ण तथा अविच्छिन्न परम्परा के जरिये खुद पाणिनि के समय तक चला जाता है। पाणिनि सूत्रों के साथ अष्टाध्यायी के रचनाकाल के कुछ समय वाद ही कात्यायन ने वार्तिक जोड़े और किसी हद तक उन्हें शुद्ध भी किया। ये टिप्पणियाँ (वार्तिक) मूल ग्रन्थ की तरह ही संक्षिप्त हैं, किन्तु सौभाग्य से वहुत शीघ्र ही पतञ्जलि के द्वारा एक विस्तृत व्याख्या (महाभाष्य) का विषय वना दी गई। उनकी तिथि सौभाग्य से शुंग राजा पुष्यमित्र और वेक्ट्रिया के यूनानियों के आक्रमण के समसामयिक संकेतों के कारण परिज्ञात है, जो उन्हें निश्चित रूप में ई० पू० दूसरी सदी में रखते हैं।

परवर्ती व्याकरणिक ग्रन्थ अनेक हैं और विविध सम्प्रदाय उदित हो गए हैं। किन्तु इनमें से कोई भी स्वतन्त्र परम्परा से युक्त नहीं है, और पूरी तरह पाणिनि से लिए गए हैं। इनमें प्राचीनतम कातन्त्र है, जो ईसवी सदी के आसपास उदित हुआ था और जिसके पुरस्कर्ता शर्ववर्मन्, परम्परा के अनुसार दक्षिण के सातवाहन राजवंश से सम्बद्ध हैं। इस ग्रन्थ का लक्ष्य शुद्ध संस्कृत के अध्ययन को उन शिक्षित ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक जनसमाज में फैलाना था, जिनके लिये पाणिनि तथा उसके ठीक बाद के अनुयायियों ने व्याकरण निबद्ध किया था। परवर्ती ग्रन्थों में चन्द्र का व्याकरण (छठी सदी ई०), जिसने बौद्धों में काफी प्रचार प्राप्त किया था और जैनेन्द्र व्याकरण (छह सौ अठत्तर ई० ल०), जो जैनों के लिये लिखा गया था, के नाम लिये जा सकते हैं। आगे चलकर सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हेमचन्द्र ने जैनों के लिये ही हैमव्याकरण की रचना की। इनके अलावा और भी कई छोट-मोटे सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं, जो विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित रहे हैं, किन्तु जिनकी मौलिकता की दृष्टि से कोई देन नहीं है।

इन सभी परवर्ती व्याकरणों का लक्ष्य पाणिनि व्याकरण की सामग्री को अपेक्षाकृत सरल रूप में उपस्थित करना था और इस दृष्टि से इन्होंने उन अनेक लोगों के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य किया, जो पाणिनि के मूल ग्रन्थ को आधिकारिक रूप में अध्ययन का विषय बनाने के श्रमसाध्य कार्य में असमान थे। ये व्याकरण कितने अधिक लाभदायक थे, इसका प्रमाण उनका अविच्छिन्न प्रचार है। इसमें बहुत कम मौलिकता है, क्योंकि इनके लिये उनके महान् पूर्वज पाणिनि के ग्रन्थ के अतिरिक्त और कोई स्रोत उपलब्ध नहीं था, जिससे वे कुछ ग्रहण कर पाते। पाणिनि के लिये अपने ग्रन्थ का प्रमुख स्रोत उनकी

अपनी और अपने समसामयिकों की जीवन्त भाषा थी। उनकी व्याकरणिक पद्धति का सबसे बड़ा गुण यह है कि सूत्र तथा व्याख्या के द्वारा, और धातुपाठ, गणपाठ आदि परवर्ती परिशिष्टों के द्वारा समसामयिक भाषासम्बन्धी प्रयोग का अधिकांश वैयाकरणों के सम्प्रदायों में गुरु-शिष्य-परम्परा के रूप में प्रचलित शिक्षा में सम्मिलित, विश्लेषित और नियमबद्ध कर दिया गया। मध्यभारतीय आर्यभाषा की विविध विकास स्थितियों में देशी भाषाओं में जो भाषासम्बन्धी परिवर्तन की द्रुत प्रक्रिया चल पड़ी, उसने भी इस नियमालेखन के मूल्य को और अधिक बढ़ा दिया। यह प्राचीन भारत की विशेषता रही है कि सम्प्रदायों और मतों के प्रवर्तक अर्धदैवी पद पर प्रतिष्ठापित किए जाने चाहिएँ और उन्हें सर्वज्ञाता माना जाना चाहिए। पाणिनि के विषय में यह बात और अधिक ठीक थी, क्योंकि उन्हें चौथी सदी ई० की जीवन्त भाषा की साक्षात् जानकारी थी, जो उनके समस्त विवरणों का मूलस्रोत है। उनके परिश्रम और उनके सम्प्रदाय के अध्यवसाय के परिणामस्वरूप भाषा का यह रूप भारत की परम्परावादी संस्कृति के महान् युग में परिनिष्ठित रूप में स्वीकार कर लिया गया। ज्यों-ज्यों इस भाषा और देशी भाषाओं के बोलनेवालों में खाई चौड़ी से चौड़ी होती गई, त्यों-त्यों संस्कृत भाषा के बोलनेवालों और लिखनेवालों के प्रयोग पाणिनि पर और अधिक निर्भर होते गए और उनकी मान्यता और अधिक परिपूर्ण होती गई। पाणिनि का व्याकरण अपने समय के लोगों की भाषा पर आश्रित है और इसके विपरीत कालिदास तथा उनके अनुयायियों की भाषा पाणिनि-व्याकरण पर आश्रित है। शास्त्रीय साहित्यिक संस्कृत इस दृष्टि से जीवन्त भाषा थी कि यह शिक्षित समुदाय के द्वारा अन्य भाषा की अपेक्षा अधिक लिखी और बोली जाती थी, किन्तु इसके साथ ही यह ऐसी भाषा थी, जिसे विद्यालयों में अत्यधिक श्रमसाध्य अनुशासन के द्वारा सीखना पड़ता था। उस युग के शिक्षित वर्ग के लिये यह प्राथमिक आवश्यकता थी कि वे अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करें और इसके प्रमाण उनके ग्रन्थों में निरन्तर उपलब्ध होते हैं।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, शास्त्रीय संस्कृत का विकास कोशों या अभिधानों पर भी निर्भर होने लगा। वैदिक निघण्टुओं के अतिरिक्त भारत में कोशविज्ञान व्याकरण की अपेक्षा परवर्ती विकास की चीज है। उपलब्ध कोशग्रन्थ बहुत बाद के हैं और वे किन्हीं प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर संकलित हैं। प्राचीनतम उपलब्ध कोश, अमरकोश की तिथि पूरी तरह निश्चित नहीं हुई है, किन्तु इसे ६००–८०० ई० के लगभग रखा जाता है। प्राचीन ग्रन्थों की जानकारी है और उनमें से कुछ उद्धृत भी हैं, किन्तु ये सुरक्षित नहीं हैं। ये

ग्रन्थ छन्दोवद्ध हैं और कण्ठस्थ याद करने के लिये हैं, जो परम्परा आज भी पुराने ढंग के विद्यालयों में प्रचलित है। साहित्यिक अध्ययन में कोश की जानकारी आवश्यक सामग्री के रूप में कव से मानी जाने लगी, यह पूरी तरह ज्ञात नहीं है, किन्तु हम यह अनुमान कर सकते हैं कि संस्कृत साहित्य के परवर्ती युग में लेखक निश्चित ही इनकी जानकारी से समन्वित थे।

इनकी परवर्ती तिथि और सामान्यतः अवैज्ञानिक पद्धति के बावजूद कोशग्रन्थ अत्यधिक मूल्यवान् हैं, क्योंकि इनमें ऐसे अनेक ग्रन्थ सुरक्षित हैं, जो उपलब्ध ग्रन्थों में निर्दिष्ट नहीं हैं। इसके साथ ही असावधानी से की गई प्रतिलिपियों और अपरिपूर्ण हस्तान्तरण ने कई विचित्र शब्दों को जन्म दे दिया है, जिन्हें विविध कोशग्रन्थों के सावधानी से किए गए तुलनात्मक अध्ययन से दूर किया जा सकता है।

४. महाकाव्यों की संस्कृत

शास्त्रीय संस्कृत साहित्य का अधिकांश पाणिनि के द्वारा भाषा के परिनिष्ठितीकरण के बहुत बाद के युग में विरचित हुआ है। साहित्यिक तथा भाषावैज्ञानिक इतिहास में प्रारम्भिक युग का प्रतिनिधित्व दो अत्यधिक प्रसिद्ध महाकाव्यों, महाभारत तथा रामायण के द्वारा किया जाता है। ये दोनों महाकाव्य, ईसवी संवत् के पहले तक अन्तिम रूप में स्थिर हो गए होंगे, ऐसा नहीं जान पड़ता, किन्तु महाकाव्यों के गान की परम्परा वैदिकयुग तक चली जाती है। महाभारत खास तौर पर बड़े दिनों तक परिवृद्ध होता रहा है और इसके अन्तिम संस्करण में संकलित अंशों में से काफी अंश प्राचीन तिथि का दावा कर सकते हैं।

इसलिये हमें इन महाकाव्यों में संस्कृत के सुविस्तृत लेख प्राप्त हैं, जो संकुचित अर्थ में शास्त्रीय साहित्य की अपेक्षा पाणिनि के अधिक समीपवर्ती युग से सम्बद्ध हैं। इन ग्रन्थों से साधारण जनता में संस्कृत साहित्य के एक विशेष प्रकार के विस्तृत प्रचार का प्रमाण भी मिलता है, क्योंकि ये ग्रन्थ किन्हीं खास अथवा सुसंस्कृत श्रोताओं के लिये सुरक्षित न थे, बल्कि सामान्य जनता के लिये सामाजिक गान के लिये थे। इनकी यह सार्वजनीन प्रकृति इनकी भाषा से प्रमाणित होती है। यह भाषा समसामयिक मध्यभारतीय आर्यभाषा के विपरीत निश्चित रूप में संस्कृत है, किन्तु यह वह संस्कृत है, जिसमें उन नियमों की निरन्तर अवहेलना पायी जाती है, जिनका आलेखन पाणिनि ने किया था और जिनका पालन अत्यधिक मर्यादित साहित्यिक समाज में सदा किया जाता था। महाकाव्यों की भाषा की सामान्य प्रतिकूलताओं में से कतिपय विशिष्ट प्रक्रियाओं

को उद्धृत किया जा सकता है। परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी क्रियारूपों का भेद जो पाणिनि के समय पूरी तरह विद्यमान था, और जिन पर उन्होंने काफी ध्यान दिया है, महाकाव्यों में गड़बड़ाने लगता है। यहाँ आत्मनेपदी रूपों के स्थान पर परस्मैपदी रूप और परस्मैपदी रूपों के स्थान पर आत्मनेपदी रूपों का प्रयोग मिलता है; यहाँतक कि कर्मवाच्य क्रिया भी कभी-कभी परस्मैपदी तिङन्त विभक्तियों का प्रयोग करती है (श्रूयन्ति– सुने जाते हैं, आदि)। –त्वा, तथा –य प्रत्ययों में परस्पर कुछ गड़बड़ी पायी जाती है और पाणिनि का वह नियम जो प्रथम को अनुपसर्ग धातुओं में और द्वितीय को सोपसर्ग धातुओं में नियमित करता है, सदा नहीं पाला गया है। आगमरहित लुङन्त रूप मिलते हैं, जो वेद, तथा आरम्भिक मध्यभारतीय आर्यभाषाओं में भी एक खास विशेषता के रूप में उपलब्ध होते हैं। इसके विपरीत आगमयुक्त रूप प्रायः निषेधार्थक निपात के साथ प्रयुक्त मिलते हैं (मा···अगमः 'मत जाओ')। मा निपात का प्रयोग नियम के अनुसार आगमरहित लुङ् के साथ ही सार्वत्रिक रूप से नहीं प्रयुक्त होता अपितु वैकल्पिक रूप में लोट् (मा भव), विधिलिङ् (मा ब्रूयः), भविष्यत् लृट् (मा द्रक्ष्यसि) और इसी तरह अन्यत्र भी प्रयुक्त होता है। चुरादिगणी तथा प्रेरणार्थक (णिजन्त) धातुओं के साथ आत्मनेपदी कृदन्त प्रत्यय –अयान (चोदयान–, शुद्धरूप चोदयमान– के प्रतिकूल) का प्रयोग मिलता है, जिसे छन्द की सुविधा के कारण माना गया है। वर्तमानकालिक कृदन्तों के स्त्रीलिङ्ग रूपों को बनाने में –अती और –अन्ती के वैकल्पिक रूपों के प्रयोग के विषय में पाणिनि के नियमों का पूरी तरह पालन नहीं किया गया है। सेट् तथा अनिट् रूपों का विभाजन प्रायः नियमानुकूल नहीं है।

ये और ऐसे ही अन्य अनियमित रूप आरम्भिक मध्यभारतीय आर्यभाषा में मिले रूपों के समान हैं और इस बात का संकेत करते हैं कि महाकाव्यों की संस्कृत पाणिनि की संस्कृत से परवर्ती संस्कृत का रूप है। महाकाव्यों में कोई भी प्राक्-पाणिनीय रूप नहीं मिलते और इसका अर्थ यह है कि यद्यपि महाकाव्यों की परम्परा वैदिक युग तक जाती है और यद्यपि पाणिनि के समय से पहले भी लोगों को महाभारत की कथा की जानकारी थी, तथापि वर्तमान ग्रन्थ के प्राचीनतम रूप भी पाणिनि से स्पष्ट रूप में बाद के होने चाहिएँ। चूँकि शताब्दियों तक महाकाव्य की कथाओं की आनुवंशिक परम्परा मौखिक परम्परा पर निर्भर थी और यह मौखिक परम्परा वैदिक शाखाओं की तरह निश्चित नहीं थी, यह आश्चर्य-जनक नहीं है कि वैदिक युग में उत्पन्न कई कथाओं का चक्र अपने अन्तिम रूप में बहुत बाद की भाषा में बिना किन्हीं आर्ष प्रयोगों को सुरक्षित रखे

मिलता है। पौराणिक कथाओं का गान तथा पठन ब्राह्मणों का कार्य नहीं था, अपितु सूतों का था, जो विशेष प्रकार के राजसेवक थे, जिनका मूल कार्य सारथित्व था। यह स्वाभाविक है कि उनकी भाषा उच्चतम शिक्षित वर्ग, ब्राह्मणों की भाषा की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक हो; इसके साथ ही यह भी मनोरंजक है कि प्राकृत की स्पर्धा के बावजूद संस्कृत ब्राह्मण (पौरोहित–) सम्प्रदाय की अपेक्षा जिसके लिये पाणिनि की रचना निबद्ध की गयी थी, अधिक विस्तृत क्षेत्र में पनपी। ब्राह्मण–सम्प्रदाय के बाहर व्याकरणिक सिद्धान्तों की जानकारी बहुत प्रारम्भिक रही होगी और आरम्भिक युग में पुराणकथा–गायकों का संस्कृत ज्ञान मुख्यतः प्रयोग पर निर्भर करता होगा, नकि व्याकरणिक शिक्षा पर। इसी के आधार पर इस भाषा को मध्यभारतीय आर्यभाषा के प्रचलित रूप के समीप मानने की प्रवृत्ति उदित हुई। आगे चलकर जब दोनों में खाई और गहरी होती चली, संस्कृत की नियमबद्ध व्याकरणिक शिक्षा अत्यधिक आवश्यक हो गई, किन्तु इस समय तक पुराणकथा शैली और पुराणकथा भाषा अपने आप में पूरी तरह स्थिर हो चुकी थी, और उपरिवर्णित भाषाशास्त्रीय विशेषतायें पूरी तरह स्वीकृत और सुरक्षित कर ली गई थीं।

पुराणकथा साहित्य की भाषा पुराणों की भाषा के आदर्श रूप में मानी गई, जिनमें से अधिकांश मूल रूप उसी समय का है। यह अनेक परवर्ती संकलनों में तथा और बाद के सम्प्रदायिक आगमों आदि में प्रचलित है। भाषाशास्त्रीय दृष्टि में यह संकलन कभी-कभी शब्दकोश की दृष्टि के अलावा विशेष महत्व के नहीं हैं और इनमें से अनेक, विशेषतः परवर्ती ग्रन्थलेखकों के व्याकरणिक अल्पज्ञान को प्रमाणित करते हैं।

५. शास्त्रीय साहित्य की संस्कृत

शास्त्रीय संस्कृत में खास विशेषताओं का उदय इस तथ्य से हुआ है कि इस साहित्य का अधिकांश उस समय के बहुत बाद का है, जब कि भाषा एक निश्चित साँचे में परिनिष्ठित कर दी गई थी। यदि कालिदास का समय ४५० ई० के लगभग माना जाता है, तो उन्हें वैयाकरण पाणिनि से लगभग ८०० वर्षों का युग अलग करता है। कालिदास की रचना अब तक सुरक्षित शास्त्रीय साहित्य की सामग्री में प्रारंभिक है और इसमें से अधिकांश, भाषा के परिनिष्ठापक से एक सहस्राब्द से अधिक समय के द्वारा विच्छिन्न है। शैली और भाषा की कृत्रिमता, जो अच्छे से अच्छे लेखकों में भी विद्यमान है, इसी कारण है और यह कुछ लेखकों में आवश्यकता से अधिक स्फीत दिखाई पड़ती है।

ईसा के समीपवर्ती तथा परवर्ती निकटतम युग की साहित्यिक खाई प्राक्-कालिदासीय साहित्य के लोप का परिणाम है, जब कि यह जानकारी मिलती है कि इस समय काव्य का अपनी सभी विधाओं में प्रचुर व्यवहार होता था। संस्कृत के प्राचीनतम अभिलेख (उदाहरणार्थ–रुद्रदामन् का अभिलेख—१५० ई०) विकसित संस्कृत काव्य के अस्तित्व का संकेत करते हैं। पतञ्जलि (१५० ई० पू० ल०) कतिपय काव्यों के अंशों को उद्धृत करते हैं और कवि वररुचि का नामतः निर्देश करते हैं। उनका स्वयं का ग्रन्थ उस युग की गद्यशैली का बहुमूल्य निदर्शन है और यह हमें प्रारम्भिक पाणिनीय संस्कृत का खाका उपस्थित करने में सहायता देता है, जब कि यह एक परिपूर्ण जीवन्त भाषा थी। कनिष्क (७८ + ई०) के समय विद्यमान अश्वघोष की रचनायें भारत में बड़े दिनों से भुला दिए जाने पर भी नेपाल (और अंशतः मध्य-एशिया) में संस्कृत काव्य साहित्य के प्राचीनतम रूपों के एकमात्र निदर्शन के रूप में सौभाग्यतः सुरक्षित रही हैं।

पाणिनि तथा शास्त्रीय साहित्य की बीच की खाई, जिसे केवल अंशतः जोड़ा जा सकता है, शैली तथा प्रयोग के उन कतिपय प्रयोगों के लिये उत्तरदायी है, जिन्होंने व्याकरणिक नियमों का पूरी तरह पालन करने के बावजूद परवर्ती काल की भाषा को प्रभावित किया है। इन परिवर्तनों में कतिपय प्रयोगों का लोप और कुछ नयें प्रयोग शामिल हैं। लुप्त तत्त्वों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्वर-विधान की प्राचीन प्रक्रिया थी। यह प्रक्रिया पाणिनि के समय तक पूरे प्रचलन में थी और उसके कुछ समय के बाद तक अवश्य प्रचलित रही, किन्तु जिस समय शास्त्रीय साहित्य का अधिकांश भाग लिखा जा रहा था, यह प्रक्रिया सामान्य व्यवहार से निश्चित ही लुप्त हो गई। पाणिनि के कई व्याकरणिक प्रयोग स्वीकृत होने पर भी व्यवहार में प्रयुक्त नहीं होते थे। पतञ्जलि ने ही इस बात का उल्लेख किया है कि परोक्षभूते लिट् के मध्यम पुरुष बहुवचन के रूप ऊष, तेर, चक्र अब प्रयोग में बिलकुल नहीं रहे हैं और उनका स्थान उषिताः, तीर्णाः, कृतवन्तः जैसे निष्ठारूपों ने ले लिया है। परवर्ती काल में अनेक अन्य प्रयोगों की उपेक्षा की जाने लगी। पाणिनि ने कई ऐसे प्रयोगों और मुहावरों को सिखाया है, जो परवर्ती साहित्य में उल्लिखित नहीं हैं। (अन्वाजे– या उपाजे– कृ 'मजबूत करना', निवचने कृ 'चुप होना', आदि) और ऐसे अनेक प्रयोग हैं, जिनका व्यवहार परवर्ती लेखकों ने केवल अपने व्याकरणिक ज्ञान का परिचय देने के लिये ही किया है (उदाहरणार्थ–नैषध-चरित में अनद्यतने भविष्यत् के आत्मनेपदी उत्तम पुरुष में दर्शयिताहे–)। शब्दकोश में भी लोप पाया जाता है और अन्ववसर्ग– 'इच्छानुकूल कार्य

करने की अनुमति', निरवसित—'जाति बहिष्कृत' और अभ्रेष 'योग्यता, औचित्य' जैसे शब्द अब बिलकुल प्रयोग में नहीं आते। खास तौर पर गणपाठ में ऐसे अनेक शब्द हैं जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलते और चूंकि यह ग्रन्थ बड़े दिनों तक बिना अर्थ के परम्परा से हस्तान्तरित होता रहा है, ऐसे शब्दों के अर्थों को ढूँढ निकालना प्रायः असम्भव हो गया है। तीन भूतकालिक लकारों (अनद्यतन-भूते लङ्, सामान्यभूते लुङ्, परोक्षभूते लिट्) के अर्थ के प्राचीन भेद का सामान्यतः पालन नहीं किया गया है। यद्यपि सामान्यभूते लुङ् शिक्षित लोगों द्वारा प्रयोग में पाया जाता है किन्तु सामान्य व्यवहार से सर्वथा लुप्त हो गया है।[1] —आन वाले आत्मनेपदी कृदन्त रूप पूरी तरह प्रयोग से निकल चले हैं और —वस् वाले परस्मैपदी कृदन्तज रूप बहुत कम दिखाई पड़ते हैं।

परवर्ती शास्त्रीय संस्कृत के नये प्रयोग मुख्यतः वाक्य-रचना और शब्दकोश को प्रभावित करते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वाक्यरचनागत विकास समासान्त पदों की बढ़ती हुई प्रवृत्ति और उनकी बढ़ती हुई लम्बाई और जटिलता है। प्राचीनतम संस्कृत में समासान्त पदों का प्रयोग होमर की ग्रीक की अपेक्षा अधिक नहीं दिखाई पड़ता। पाणिनि के समय की भाषा में समासान्त पदों की रचना के विषय में निश्चित नियम और सीमायें थीं, जैसा कि उनके स्वयं के उल्लेखों एवं उदाहरणों से अत्यधिक स्पष्ट है। परवर्ती भाषा में इनकी रचना बिना किसी बन्धन के पायी जाती है (उदाहरणार्थ, कोई भी विशेषण, विशेष्य संज्ञाशब्द के साथ समस्त किया जा सकता है, जब कि इसके विरुद्ध मूल रचना-प्रक्रिया में केवल विशेष अर्थ को द्योतित करने वाले प्रयोग कृष्णसर्प 'काला नाग' आदि ही इस प्रकार समस्त हो सकते थे), और इनमें से कुछ प्रायः पाणिनि के नियमों के साक्षात् विरोध में भी पाए जाते हैं (उदाहरणार्थ : जगत्-कर्तृ 'जगत्कर्ता' जो पाणिनि सूत्र २. १५-१६ के विरुद्ध है)। किन्तु सबसे प्रमुख बात यह है कि यहाँ आकर समस्त पद में जोड़े गए पदों की निश्चित सीमा इसलिये समाप्त हो गई है कि यहाँ समस्त पदों को फिर से व्यस्त पद के रूप में इकाई मानकर अन्य शब्दों के साथ समास में जोड़ा जा सकता है और इस योग-प्रक्रिया के कारण लम्बे-लम्बे संश्लिष्ट पदों की रचना की जाती है, जिनमें अङ्गभूत पदों के परस्पर वाक्यरचनागत सम्बन्ध को विभक्ति-चिह्नों के प्रयोग के बगैर अभि-

---

१ पद्मप्राभृतक भाण (दूसरी-तीसरी सदी ई० ल०) का नायक विद्वत्तापूर्ण भाषा बोलनेवाले वैयाकरण से सामान्य संस्कृत (व्यावहारिक भाषा) का प्रयोग करने की प्रार्थना करता है। यहाँ निदर्शन रूप में उपस्थित विद्वत्समाज लुङन्त रूपों और सन्नन्त रूपों के समुदार प्रयोग का पक्षपाती है।

व्यक्त किया जाता है। यह प्रक्रिया केवल सामान्यतः प्राचीन प्रयोग और भारत-यूरोपीय प्रयोग के विरुद्ध ही नहीं है, बल्कि लोक-व्यवहार की भाषा के किसी भी ऐसे रूप से स्पष्टतः मेल नहीं खाती, जो उस समय भारत में प्रचलित रहा है। यह भाषाशास्त्रीय विकास केवल शुद्ध साहित्यिक विकास है और यह संस्कृत भाषा की बढ़ती हुई कृत्रिमता का प्रतीक है, जिससे इसमें और देश्य मध्य भारतीय आर्य भाषा में परस्पर विषमता बढ़ती गई है।

अन्य वाक्यरचनागत विकास क्रियारूपों को प्रभावित करता है, किन्तु यह लोक-व्यवहार पर आधृत है। भूतकालिक लकारों में कतिपय लङ् रूपों के मिश्रण के साथ लुङ्रूप आरम्भिक मध्यभारतीय आर्यभाषा में बचे रहे, लेकिन परवर्ती प्राकृत के समय तक प्राचीन लङन्त और लुङन्त रूपों के सभी चिह्न लुप्त हो गए हैं। उनका स्थान कर्मवाच्यपरक निष्ठा प्रत्यय से बने कर्मवाच्य प्रयोगों ने ले लिया है और इन्हीं प्रयोगों से नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के भूतकालिक क्रियारूप विकसित हुए हैं। यह प्रवृत्ति संस्कृत साहित्य में भी प्रतिबिम्बित हुई है और कर्मवाच्य प्रयोग धीरे-धीरे अधिकाधिक प्रभावशाली होते गए हैं। इस प्रवृत्ति से स्पष्टतः इसलिये सरलता का लाभ हुआ कि संस्कृत के जटिल तिङन्त रूपोंसे छुटकारा मिल सका और हितोपदेश जैसे ईप्सित सरल शैली वाले ग्रन्थोंमें इसके लिये उनको स्पष्टतः चुना गया है। कर्त्तृवाच्य प्रयोगों के लिए निष्ठा प्रत्यय —तवन्त् को भूतकालिक लकार के वैकल्पिक प्रयोग के रूप में चुन लिया गया है: कृतवान्—'उसने किया'। उद्देश्य तथा विधेय के केवल वाक्यगत स्थान परिवर्तन से बिना किसी क्रिया के प्रयोग के जहाँ अर्थ-प्रतीति करायी जाती है; ऐसे नामिक उपवाक्यों (Nominal phrases) का प्रयोग अधिकाधिक व्यवहार में चल पड़ा है। यह प्रवृत्ति खास तौर पर दर्शन-साहित्य में पायी जाती है और क्योंकि भाषा लम्बे समासों को भी तरजीह देने लगी है; यहाँ हमें व्याख्या के ऐसे लम्बे-लम्बे स्थल मिल सकते हैं, जिनमें व्याकरण केवल कतिपय भाववाचक संज्ञा शब्दों के सविभक्तिक रूपों तक सीमित है।

संस्कृत शब्दकोश पूर्णतया अत्यधिक स्थिर था। फिर भी परवर्ती साहित्य से ऐसे काफी शब्दों को चुनना सम्भव है, जो पूर्ववर्ती युग में नहीं मिलते। कुछ दशाओं में यह आकस्मिक हो सकता है कि ये शब्द परवर्ती युग में उल्लिखित न हुए हों, किन्तु इस छूट को मान लेने पर भी काफी नये शब्द बचे रहते हैं। शब्दकोश की अभिवृद्धि निम्नाङ्कित स्रोतों से हुई है।

(१) आवश्यकता पड़ने पर इनकी रचना संस्कृत धातुओं, उपसर्गों और प्रत्ययों के आधार पर और विशिष्ट अर्थ के साथ नये समासान्त शब्दों की रचना के द्वारा की जा सकती थी।

(२) कुछ प्राकृत शब्द संस्कृत में अपना लिए गए थे। उदाहरण के लिये भट्ट–, भट्टार–,भट्टारक– स्वामी, राजा (संस्कृत–भर्तृ–), उडु– 'नक्षत्र' (संस्कृत ऋतु मौसम; उडुवइ–'चन्द्रमा' < सं० ऋतुपति–'ऋतुओं का स्वामी') के भ्रान्त रूप को समझ लेने से विकसित ।)

(३) संस्कृत के अन्य अंगों की तरह भाषा में भी प्राचीन भारत, विदेशी प्रवाहों के विरुद्ध रहा है। इसीलिये विदेशी शब्द बहुत कम हैं; किन्तु कुछ मिलते हैं। लेखन के लिए प्रयुक्त शब्द संस्कृत लिपि, अशोक दिपि और लिपि, प्राचीन फारसी दिपि– में प्राचीन ईरानी ऋण-शब्द मिलता है। ईरानियों के साथ परवर्ती सम्पर्क और कुछ शब्दों का कारण है, उदाहरणार्थ—वारबाण– 'कवच, बख्तर' (प्राचीन ईरानी *वरोवान 'सीने की रक्षा करने की चीज') खोल– 'कण्टोप' एक खास तरह का टोप'; अवे० ख़ओद्– (xaoδa–), पश्तो खोल् (xōl) ।

प्राचीन फारसी असवार– 'घुड़सवार' को अश्ववार– रूप में संस्कृत बना लिया गया। कुछ ऐसे शब्द जैसे—दिविर्, 'लिपिक' केवल उत्तरपश्चिमी सीमान्त में प्रचलित थे और इनका सामान्य प्रचलन नहीं हो पाया। उत्तर-पश्चिमी भारत में यूनानी शासन के कारण कतिपय ग्रीक शब्द संस्कृत में खप गये, उदाहरणार्थ खलीन– 'लगाम' (ग्रीक खलीनॉस् khalinós), सुरुङ्गा– 'सुरङ्ग' (ग्रीक सुरिग्ज़् sŭrigj)। इनके अतिरिक्त ज्योतिष के क्षेत्र में कुछ शास्त्रीय शब्दों का आदान हुआ है। उदाहरणार्थ ग्रीक दिअमॅत्रोन् (diám·etron) से जामित्र–। इस प्रकार के शब्दों को लौकिक व्युत्पत्ति के द्वारा छिपाने की प्रवृत्ति देखी जाती है। ग्रीक कमेलॉस्– (kamélos) 'ऊँट' को क्रमेलक– बना दिया गया है, जैसे यह संस्कृत धातु क्रम् से बना हो। इसी तरह ज्योतिष का पारिभाषिक शब्द हुद्रॉखोओस्– (hudrokhóos) को हृद्रोग में परिवर्तित कर दिया गया है और ग्रीक ऍरॅबिन्थोस् (erébinthos) 'चना' हरिमन्थ में बदल दिया गया है। पूर्वी देशों के साथ व्यापार के कारण भारत में कुछ विदेशी वस्तुओं का प्रचलन हुआ और उदाहरण के लिये इनमें से लवङ्ग– 'लौंग' अपने हिन्देशियाई नाम (लवङ्) को सुरक्षित रखे हुए है।

(४) द्रविड तथा कोल ऋण शब्दों का विवेचन नीचे अलग से किया जायगा। द्रविड शब्द खास तौर पर बहुसंख्यक और महत्त्वपूर्ण हैं और प्राचीन काल से बाद तक संस्कृत शब्दकोश को समृद्ध बनाने में एक निरन्तर स्रोत बने रहे हैं।

(५) देशी पारिभाषिक शब्द का प्रयोग उन प्राकृत शब्दों के लिए किया जाता है, जो किन्ही समानान्तर संस्कृत शब्दों से विकसित नहीं हुए हैं।

इन शब्दों में ऐसी संख्या तुलनात्मक दृष्टि से कम है, जिन्हें द्रविड तथा अन्य किसी स्रोत से आदत्त बताया जा सकता है और सम्भवत: ऐसे शब्द हमेशा अनिर्णीत बने रहेंगे। ऐसे शब्द नव्य भारतीय आर्य युग में अधिकाधिक प्रचुर होते गए हैं और ये एक ऐसी भाषावैज्ञानिक समस्या उपस्थित करते हैं, जिसका समाधान सरल नहीं है। शास्त्रीय संस्कृत सम्पूर्ण रूप में ऐसे शब्दों का प्रयोग बचाती है, किन्तु इनमें से कुछ उसमें खप गए हैं और खास तौर पर जैन लेखकों ने काफी संख्या में ऐसे शब्दों को अपना लिया है।

६. संस्कृत तथा प्राकृत

अपने अस्तित्व के संपूर्ण युग में शास्त्रीय संस्कृत के साथ-साथ मध्य भारतीय आर्य भाषा अपने विविध रूपों में; केवल कथ्य भाषा के रूप में ही नहीं बल्कि साहित्यिक भाषा के रूप में भी; प्रतिस्पर्द्धक थी। आरम्भिक युग में यह प्रतिस्पर्द्धा परवर्ती युग की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी, यद्यपि यह आपातत: स्वत:-विरोधी दिखाई पड़ती है; क्योंकि संस्कृत भाषा संस्कृति तथा राजतन्त्र की भाषा के रूप में अपने परिपूर्ण विकास को केवल उस समय प्राप्त हुई, जब कि वह मातृभाषा नहीं रही थी।

मध्य भारतीय आर्यभाषा का साहित्यिक भाषा के रूप में उदय ५०० ई० पू० के आस-पास बौद्ध तथा जैन इन नये धर्मों की स्थापना के साथ-साथ जुड़ा था। इन धर्मों के संस्थापकों ने स्वेच्छा से अपने उपदेश के माध्यम के लिए देश भाषा को, पहले-पहल मगध की बोली को, चुना था। तीसरी सदी ई० पू० में अशोक ने अपनी धर्मलिपियों को विभिन्न देश्य बोलियों में उत्कीर्ण करवाया था और संस्कृत की उपेक्षा की थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मौर्य साम्राज्य के शासन-तन्त्र की भाषा मध्य भारतीय आर्य भाषा थी, परवर्ती काल की तरह संस्कृत न थी। यदि यह प्रक्रिया न उलट दी गई होती तो संस्कृत अपनी अनुजा भाषा के लिए स्थान छोड़ देती, किन्तु मौर्य युग के अन्त के बाद से ही बिलकुल उलटी बात घटित हो गई और एक ऐसी स्थिर प्रक्रिया चल पड़ी, जिसके परिणामस्वरूप संस्कृत, साहित्य, संस्कृति और शासन-तन्त्र की प्रमुख भाषा बन गई।

अशोक के द्वारा स्थापित अभिलेखात्मक परम्परा कुछ सदियों तक चलती रही। ई० सदी के बाद तक केवल देशी भाषा ही अभिलेखात्मक कार्यों के लिए प्रयुक्त होती रही और इसका यह अर्थ है कि व्यवहार तथा शासन-तन्त्र के लेख—जो सभी नष्ट होनेवाली सामग्री पर लिखे गए थे और जो आज नहीं बचे हैं—इसी भाषा में निबद्ध थे। ई० सदी के बाद संस्कृत अभिलेखों में

दिखाई पड़ने लगी; आरम्भ में प्राकृत की प्रतिस्पर्धा में तथा अन्त में एक मात्र प्रयोग की दृष्टि से। रुद्रदामन् (१५० ई०) का अभिलेख भारत के एक भाग में संस्कृत की विजय का संकेत करता है। दक्षिण में प्राकृत अधिक लम्बे अरसे तक प्रयोग में रही और चौथी तथा पाँचवीं सदी ई० तक संस्कृत के द्वारा पूरी तरह नहीं हटाई गई थी। अन्त में प्राकृत का प्रयोग बिलकुल टूट चला और गुप्तकाल से मुस्लिम आक्रमणों तक संस्कृत—प्रायः अशुद्ध संस्कृत—एक मात्र प्रयोग में बनी रही।

अभिलेखों की इस भाषावैज्ञानिक क्रान्ति के समानान्तर क्रान्ति अन्य क्षेत्रों में भी हुई है। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म ग्रन्थ पूरी तरह मध्य भारतीय आर्यभाषा में थे। ईसवी सदी के आरम्भ के आस-पास एक परिवर्तन हुआ और उत्तरी बौद्धों ने इसके बजाय संस्कृत को अपना लिया। अश्वघोष (१०० ई० ल०) अलंकृत संस्कृत के अधिपति हैं और उनके द्वारा इस भाषा का उपदेशात्मक प्रचार के माध्यम के रूप में चुना जाना इस समय संस्कृत के द्वारा प्राप्त अभिवृद्धि का संकेत करता है। यहाँ भी हमें पता चलता है कि संस्कृत का आधिपत्य सर्वप्रथम उत्तर में स्थापित हुआ। दक्षिण भारत तथा लंका के थेरवादी पालि के प्रति निष्ठावान् रहे।

बौद्धों की अपेक्षा जैन परिवर्तन करने में अधिक धीमे थे। भारतीय सम्प्रदायों में ये सबसे अधिक रूढ़िप्रिय थे और श्वेताम्बरों के वर्तमान सिद्धान्त ग्रन्थों के अन्तिम रूपनिर्णय (५२६ ई० में वलभी की परिषद्) के समय तक वे पूरी तरह प्राकृत का ही प्रयोग करते थे। किन्तु वे भी परवर्ती युग में संस्कृत के प्रयोग की ओर झुक पड़े। उसी समय संस्कृत के अलावा उन्होंने प्राकृत को भी ध्यानपूर्वक समृद्ध बनाना शुरू किया, जब कि अन्य साहित्यिक क्षेत्रों में परम्परागत प्राकृत, साहित्यिक अभ्यास की अपेक्षा कुछ अधिक क्षेत्रों में प्रयुक्त हो रही थी।

इन क्षेत्रों में हमें वह परिवर्तन दिखाई पड़ सकता है, जिसके कारण संस्कृत की महत्ता हुई। अन्य क्षेत्रों में सामग्री का अभाव स्पष्ट चित्र को और अधिक जटिल बना देता है। काव्य-साहित्य में सातवाहन वंश तथा उनके अनुयायियों के यहाँ महाराष्ट्री प्राकृत में मुक्तक काव्य की एक सक्रिय परम्परा विद्यमान थी, जिसके कतिपय अंश हाल के संग्रह में सुरक्षित हैं। इसके साथ आरंभिक युग के महत्त्वपूर्ण काव्यग्रन्थ संस्कृत में मौजूद थे। भारत के साहित्यिक इतिहास में महाभारत तथा रामायण का वह महत्त्वपूर्ण स्थान है जिस पद तक प्राकृत का कोई भी ग्रन्थ नहीं पहुँच सका है और ये उस समय की रचनायें हैं, जब शिलालेखों के आधार पर दैनंदिन व्यवहार में प्राकृत भाषा संस्कृत पर हावी हो

गई थी। इस तरह यह स्पष्ट है कि शिलालेखी साक्ष्य समसामयिक भाषाशास्त्रीय परिस्थितियों का केवल एकपक्षीय चित्र दे पाता है। साम्प्रदायिक धर्मों से वाहर संस्कृत सदा उस समय भी, जब कि प्राकृत का प्रयोग अत्यधिक वृद्धि पर था, भारत की प्रमुख साहित्यिक भाषा थी।

ईसवी सदी के परवर्ती युग में प्राकृत के प्रतिकूल संस्कृत की वढ़ती हुई महत्ता के दो कारण माने जा सकते हैं—१ विचारात्मक और २ व्यावहारिक। मौर्य काल में बौद्ध तथा जैन अवैदिक धर्मों का इतना प्रभाव हो गया था कि वे प्राचीन ब्राह्मण-व्यवस्था के अस्तित्व को चुनौती दे रहे थे। परवर्ती युग में पुष्यमित्र (१८८ ई० पू० ल०) के शासन हथियाने के समय से एक प्रतिक्रिया चल पड़ी और इन सम्प्रदायों का विजयी वैदिक आस्तिकता के समक्ष क्रमशः पतन शुरू हो गया। धार्मिक वातावरण का यह परिवर्तंत भाषा में प्रतिविम्वित हुआ और परम्परागत वैदिक धर्म के साथ जुड़ी हुई संस्कृत, प्राकृत की बजाय महत्त्व प्राप्त करने लगी, जिसका विकास केवल अवैदिक सम्प्रदायों की गति के कारण था।

व्यावहारिक कारण यह था कि संस्कृत ने सम्पूर्ण भारत के लिये एक समन्वित भाषा का रूप प्रस्तुत किया। आरम्भिक मध्य भारतीय युग में विभिन्न देश्य भाषाओं की विषमता एक-दूसरे से इतनी अधिक नहीं थी कि जिससे पारस्परिक विचार-विनिमय में विघ्न हो। किन्तु इस समय भी अशोक ने तीन विभिन्न बोलियों में अपने धर्म ग्रन्थों को उत्कीर्ण कराना आवश्यक समझा। समय की प्रगति के साथ-साथ देश्य विभाषाओं का अन्तर बढ़ता गया और इसलिये भारत की सांस्कृतिक एकता के लिए संस्कृत आवश्यक बन्धन बन गयी। साथ ही प्राकृत भाषायें सदियों तक अस्थिर तथा निरन्तर गतिशील परिवर्तन से प्रभावित रही हैं। देश्य भाषा के आधार पर निर्मित कोई भी साहित्यिक भाषा तेजी से लुप्त हो जाती थी। परवर्ती काल में परम्परागत प्राकृत भाषायें उतनी ही कृत्रिम हो गई थीं जितनी संस्कृत; और उनमें सार्वजनीन आकर्षण और उपयोग की अनुकूलता नहीं रही थी। इन कारणों से अकेली संस्कृत ही भाषा का ऐसा रूप थी, जो प्राचीन भारत की राष्ट्रभाषा का कार्य कर सकती थी, जिसकी सांस्कृतिक एकता राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप में इस प्रकार की भाषा को अत्यावश्यक बनाती थी। संस्कृत तथा प्राकृत का परस्पर सम्बन्ध शास्त्रीय संस्कृत के युग में संस्कृत नाटक-साहित्य के द्वारा अच्छी तरह निर्दशित किया गया है। यहाँ एक परम्परा पायी जाती है कि कतिपय पात्र संस्कृत बोलते हैं और दूसरे प्राकृत, और नाटक का यह प्रयोग उस समय की

वास्तविक व्यवहार की स्थिति को निःसन्देह अच्छी तरह उपस्थित करता है। संस्कृत का प्रयोग खास तौर पर समाज के अभिजात वर्ग, राजाओं, मन्त्रियों, शिक्षित ब्राह्मणों आदि तक संकुचित रूप में सीमित था। स्त्रियाँ कतिपय अपवादों के अलावा प्राकृत बोलती हैं और इसी तरह बच्चे भी, यह तथ्य इस बात का संकेत करता है कि यह प्रत्येक व्यक्ति की प्राथमिक भाषा थी। इतना ही नहीं, प्राकृत केवल निम्नवर्ग के लोगों द्वारा ही नहीं, बल्कि व्यापारियों, श्रेष्ठियों के सम्पत्तिशाली तथा प्रभावशाली वर्ग के द्वारा भी खास तौर पर बोली जाती है। एक अशिक्षित प्राकृतभाषी ब्राह्मण विदूषक के हास्यपरक पात्र का अस्तित्व इस बात का संकेत करता है कि इस वर्ग के सभी लोग संस्कृत ज्ञान के लिए आवश्यक परिश्रमसाध्य अनुशासन को प्राप्त करने के योग्य नहीं थे।

प्राचीनतम नाटक, जिनमें विद्यमान सर्वाधिक उदाहरण मृच्छकटिक है, इस प्रकार के जीवन्त व्यवहार का प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है। उपलब्ध नाटकों में से अधिकांश की रचना जो परवर्ती युग (५०० ई० से १००० ई० तक) से सम्बद्ध हैं, परम्परा के अनुसार है और इनकी प्राकृत केवल रटे हुए व्याकरणिक नियमों के अनुसार बनाया हुआ संस्कृत का परिवर्तित रूप हो गया है। इस युग में देश्य भाषा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की राह पर और अधिक बढ़ चली थी।

७. बौद्धों और जैनों की संस्कृत

बौद्धों और बाद में जैनों के द्वारा संस्कृत के अपना लिए जाने से संस्कृत साहित्य का क्षेत्र और अधिक विस्तृत हो गया और इन नयी आवश्यकताओं के अनुरूप प्रयुक्त संस्कृत भाषा इन लेखकों के हाथों अपरिवर्तित नहीं रही। बौद्ध साहित्य का संस्कृतीकरण खास तौर पर इसलिये जटिल है कि यह क्रमशः संस्कृत और आरम्भिक बौद्ध धर्म की मध्य भारतीय विभाषाओं के परस्पर समझौते से शुरू होकर शुद्ध शास्त्रीय संस्कृत के ग्रहण से समाप्त हुआ। हम बौद्ध संस्कृत के निम्नाङ्कित प्रकारों में परस्पर भेद कर सकते हैं।

(१) मिश्रित संस्कृत : यह भाषा महत्सांघिक सम्प्रदाय के द्वारा प्रयुक्त की जाती थी। इसमें मूल प्राकृत अर्धसंस्कृतीकृत दिखाई पड़ती है। जहाँ शब्द खास तौर पर संस्कृत ध्वन्यात्मक रूप में ढाल दिए गए हैं, किन्तु प्राकृत व्याकरण अधिकांशतः सुरक्षित रखा गया है। उदाहरण के लिये पालि, भिक्खुस्स–, 'भिक्खु' (संस्कृत भिक्षु–) का षष्ठी एकवचनान्त रूप नियत संस्कृत रूप भिक्षोः के द्वारा न बदला जाकर भिक्षुस्य के यान्त्रिक रूप में परिवर्तित कर दिया गया। यह अनुमान किया जा सकता है कि कुछ समय

तक कतिपय वर्गों में इस प्रकार की वर्णसंकर भाषा वस्तुतः उन लोगों के द्वारा प्रयुक्त की जाती थी, जो उदात्त संस्कृत भाषा का प्रयोग करना चाहते थे, किन्तु उसके व्याकरण पर अधिकार प्राप्त करने में असमर्थ थे।

(२) उत्तर-पश्चिम के सर्वास्तिवादी बौद्धों ने वास्तविक संस्कृत को आरम्भिक काल से ही अपना लिया था। प्राचीन सैद्धान्तिक ग्रन्थों को संस्कृत में अनूदित किया गया था और इनके अंश इस रूप में अभी भी सुरक्षित हैं। इन ग्रन्थों की भाषा ने आवश्यकतानुसार मूल मागधी के शब्दकोश और वाक्य-रचना को पूरी तरह आत्मसात् कर लिया है और इस प्रवृत्ति तथा कतिपय गलत संस्कृतीकृत रूपों के कारण जिनका होना सम्भाव्य है, यह भाषा संख्या १ के अशुद्ध प्रयोगों से मुक्त है।

(३) इसी सम्प्रदाय के संख्या दो वाले ग्रन्थों से हमें उन ग्रन्थों को अलग करना चाहिए जो अनुवाद नहीं है, किन्तु सैद्धान्तिक साहित्य के बहुत बाद में स्वतन्त्र रूप में निबद्ध किए गए हैं। विनयपिटक की वस्तु को जीवन्त बनाने की दृष्टि से प्रक्षिप्त कथायें, जो दिव्यावदान में संगृहीत हैं, इस प्रकार के संस्कृत का उत्कृष्ट निदर्शन हैं। यद्यपि यह भाषा पाणिनीय व्याकरण के सिद्धान्तों को पूरी तरह सन्तुष्ट करने में प्रायः असफल होती है, तथापि इनकी शैली अत्यधिक स्पष्ट और प्रवाहपूर्ण है और कतिपय शास्त्रीय गद्यग्रन्थों की परिश्रमसाध्य कृत्रिमता की दृष्टि से यह अनभीप्सित परिवर्तन नहीं है। इस रचनाओं का शब्दकोश अनेक देशी और प्रान्तीय शब्दों के प्रयोग की विशेषता से समन्वित हैं, जिनमें से अनेक फिर से आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में दिखाई पड़ती हैं उदाहरणार्थ –लर्दय् 'प्यार करना', हिन्दी 'लाड़ना'।

(४) शुद्ध शास्त्रीय संस्कृत का प्रयोग जो काव्यशैली की समन्वित विशेषताओं से सम्पन्न है, अश्वघोष और उनके अनुयायियों के ग्रन्थों में लक्षित होता है। इस तरह के ग्रन्थ शास्त्रीय संस्कृत साहित्य के अन्य ग्रन्थों से केवल बौद्ध पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से अलग किए जाते हैं। इसी तरह नैयायिक और दार्शनिक, संस्कृत के वैदिक मतानुयायी दर्शन-ग्रन्थों की शैली का ही अनुगमन करते हैं, जहाँ बौद्धों की विशिष्ट पारिभाषिक पदावली जोड़ दी गई है। जैनों ने बड़े लम्बे अरसे तक संस्कृत के प्रयोग से अपने आप को बचाया और वे केवल प्रथम सहस्राब्दि ई० के उत्तरार्ध में ही इस ओर झुके। इस काल में प्राकृत ने संस्कृत के लिये क्रमशः स्थान दिया है, किन्तु अन्त में अन्य क्षेत्रों की तरह यहाँ भी संस्कृत अपने आप को पूरी तरह स्थापित कर लेती है। जैनों की संस्कृत ठीक उसी तरह प्राचीन प्राकृत भाषा के प्रभाव से प्रभावित है; जैसे बौद्धों की संस्कृत। शब्दकोश की दृष्टि से यह

समसामयिक शास्त्रीय संस्कृत की अपेक्षा देश्य स्रोतों से अधिक विस्तृत सामग्री ग्रहण करती है और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में परवर्ती काल में परिज्ञात शब्द सबसे पहले प्राय: यहीं उल्लिखित हुए हैं।

८. बृहत्तर भारत में संस्कृत

दक्षिणी भारत में भारतीय आर्यभाषा का विस्तार देशी द्रविड भाषाओं (तमिळ, तेलुगु, कन्नड़) के द्वारा अवरुद्ध कर दिया गया, जो समयानुसार अपने आप साहित्यिक भाषाओं के रूप में प्रतिष्ठित हो गई थीं। इतना होने पर भी इस प्रदेश में भारतीय आर्यभाषा का प्रभाव सदा शक्तिशाली रहा है और यह आरम्भिक लेखों के समय से इन भाषाओं के शब्दभाण्डार में स्पष्ट है। आरम्भ में ये भाषायें प्राकृत के द्वारा प्रभावित हुई, जो सातवाहन वंश और अनेक साक्षात् उत्तराधिकारियों की राज्यभाषा थी। दक्षिण में काञ्ची तक फैले हुए अभिलेख यह संकेत करते हैं कि समस्त तेलुगु-कन्नड़ प्रदेश उन आर्य राजवंशों के द्वारा शासित था, जिनकी मातृभाषा प्राकृत थी। बाहर से आए भारतीय आर्य इतने बहुसंख्यक न थे कि इस प्रदेश की कथ्य भाषा के रूप में भारतीय आर्यभाषा को थोप पाते और ४०० ई० के लगभग से बाद में प्राकृत अभिलेखों का मिलना बन्द-सा हो गया। संस्कृत ने अन्य स्थानों की तरह शासन तथा संस्कृति के कार्य के लिये प्राकृत का स्थान ग्रहण किया और कथ्य भाषा के रूप में इसका स्थान द्रविड भाषाओं के द्वारा ग्रहण कर लिया गया। इसी समय स्थानीय द्रविड भाषा परिनिष्ठित बनने लगी, कन्नड़ ४५० ई० के लगभग से और तेलुगु ६५० ई० के लगभग से। आरम्भिक युग से इन भाषाओं पर पड़ा हुआ प्राकृत का प्रभाव संस्कृत शब्दभाण्डार से लिए गए विस्तृत आदान से द्रुतगति से हटा दिया गया। अपने आरम्भिक साहित्यिक युग में ये भाषायें संस्कृत पर निर्भर थीं और परवर्ती काल में यह प्रक्रिया चलती रही। वर्तमान समय में इन भाषाओं के शब्दभाण्डार का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंश संस्कृत का है।

सुदूर दक्षिण के तमिळ प्रान्त में भारतीय आर्यप्रभाव अत्यधिक दुर्बल था। तमिळ, साहित्यिक कार्य के लिये प्रयुक्त प्राचीनतम द्रविड भाषा है और यह आर्य प्रभाव से स्वतन्त्र रूप में विकसित हुई थी। परवर्ती युग में संस्कृत का प्रभाव बढ़ गया है; लेकिन यह उस मात्रा में नहीं है, जिस मात्रा में इसकी दो उत्तरी पड़ोसी भाषाओं में मिलता है।

लंका ने अपनी आर्यभाषा को पूर्वी भारत से उपनिवेश-स्थापना के द्वारा प्राप्त किया इसके साथ ही बौद्ध धर्म ने पालि को साहित्यिक भाषा के रूप में

स्थापित किया। परवर्ती काल में संस्कृत का प्रचार हुआ, जो कुछ समय तक काफी विस्तृत मात्रा में रहा।

बौद्ध धर्म के कारण मध्यएशिया के विस्तृत क्षेत्रों में भारतीय आर्य-भाषागत प्रभाव फैला। एक समय चीनी-तुर्किस्तान के क्रोरैना राज्य की शासन भाषा प्राकृत का एक विशिष्ट रूप थी। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ एक विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित थे और भारत में बड़े दिनों से लुप्त हुए ग्रन्थ इधर इन दिनों मध्यएशिया में मिले हैं। बौद्ध धर्म के प्रभाव से इस प्रदेश की स्थानीय भाषायें, खास तौर पर ईरानी भाषा खोतानी और दो अत्यधिक सम्बद्ध भारत-यूरोपीय भाषायें, जो तोखारी के नाम से प्रसिद्ध हैं, साहित्यसम्पन्न होने लगीं। इन भाषाओं का शब्दकोश संस्कृत तथा प्राकृत स्रोतों से प्रचुरता से ग्रहण करता है। दूसरी ओर तिब्बती भाषा, जो सातवीं शताब्दी से बौद्धप्रभावापन्न बन गई, विदेशी भाषागत प्रभाव को बचाती रही और अत्यधिक श्रमसाध्य प्रक्रिया के द्वारा सम्पूर्ण बौद्ध शब्दावली को स्थानीय तिब्बती में रूपान्तरित कर दिया गया। यह इससे पहले चीनी भाषा ने भी किया था, जहाँ लिपि तथा भाषा के विभेद ने अन्य पद्धति को अपनाना अव्यावहारिक बना दिया था।

पूर्व तथा दक्षिण पूर्व के देशों में संस्कृत का प्रभाव सामान्यतः विस्तृत रहा। ब्रह्मदेश में संस्कृत बौद्ध धर्म के प्रभाव के आरम्भिक प्रमाण मिलते हैं। यह प्रभाव बाद में (११ वीं सदी ई०) एक धार्मिक सुधार के द्वारा हटा दिया गया जिसने थेरवाद बौद्धधर्म को राजधर्म और उसके साथ पालि को धर्मभाषा के रूप में स्थापित किया। सुदूर पूर्व में दक्षिण-श्याम (द्वारावती), कम्बोडिया (कम्बुज) और अन्नाम (चम्पा) में हिन्दू उपनिवेश थे। दूसरी सदी से तीसरी सदी ई० तक के प्रभूत संस्कृत अभिलेख इन क्षेत्रों में संस्कृत के महत्व को स्पष्ट करने के लिये आज भी बच रहे हैं और इसका प्रभाव स्थानीय भाषाओं पर उस समय आवश्यक समझा गया, जब वे साहित्य-सम्पन्न होने लगीं। आज भी श्यामी भाषा अपनी पारिभाषिक शब्दावली के लिये संस्कृत से प्रेरणा ग्रहण कर रही है। उन्हीं दिनों हिन्दू संस्कृति हिन्देशिया में फैली और जावा, सुमात्रा और बाली में संस्कृत साहित्य सुसम्पन्न बना।

इस प्रदेश की स्थानीय भाषायें संस्कृत के प्रभाव में काफी आयी और आज भी इस प्रदेश में संस्कृत के संस्कृति-शब्द (culture-words) काफी प्रचलित हैं। जावा की साहित्यिक भाषा संस्कृत शब्दों से भरी पड़ी है, ठीक उसी तरह जैसे इसका साहित्य संस्कृत साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करता है। मुसलमानों के द्वारा जावा की विजय (१६ वीं सदी ई०) ने इस क्षेत्र में हिन्दू प्रभुत्व को समाप्त

कर दिया, किन्तु पूर्ववर्ती शताब्दियों का प्रभाव इतना अधिक गहरा था कि वह पूरी तरह न हटाया जा सका।

९. भारत में लेखनकला

आर्य भारत में लेखनकला का उदय देर से हुआ। आर्य आक्रमण के पूर्व यह कला सिन्धु-सभ्यता में मौजूद थी, किन्तु उस सभ्यता के साथ ही लुप्त भी हो गयी। जिन दिनों वैदिक सभ्यता का निर्माण हो रहा था, भारत में लेखन का कोई प्रकार प्रयोग में नहीं था और इसके अभाव में मौखिक परम्परा के द्वारा वैदिक साहित्य को सुरक्षित रखने का प्रयास हुआ। लेखनकला के प्रचार हो जाने पर भी यह मौखिक परम्परा ज्ञान के विविध क्षेत्रों में चलती रही और आधुनिक युग तक भारतीय शिक्षा और सभ्यता की मौलिक विशेषता के रूप में प्रचलित रही है।

भारत में सबसे पहले वर्णमाला का प्रचार कब हुआ, इसकी जानकारी नहीं है। जहाँ तक सुरक्षित लिखित सामग्री पहुंच पाती है, यह केवल तीसरी सदी ई० पू० से ही प्रमाणित हो पाता है, जब दो वर्णमालायें खरोष्ठी और ब्राह्मी अशोक के अभिलेखों में पूरी तरह दिखाई पड़ती है। खरोष्ठी वर्णमाला जो दाहिनी ओर से बायीं ओर लिखी जाती है, केवल सुदूर उत्तर-पश्चिमी भारत में ही, उस प्रदेश में जो पूर्ववर्ती सदियों में पारसी राज्य का एक अंग रहा था, सीमित है। यह अरमाइक वर्णमाला का रूपान्तर है, जो अखेमेनिद युग में इस क्षेत्र में प्रयुक्त होता था और जो सम्भवतः इस युग के अन्तिम दिनों में विकसित हुआ था। यह वर्णमाला इस क्षेत्र में तथा मध्यएशिया के समीपवर्ती भागों में चौथी सदी ई० तक प्रचलित रही, जिसके बाद इसके लेख मिलने बन्द हो गए हैं।

ब्राह्मी वर्णमाला जो खरोष्ठी से इसलिये भिन्न है कि यह बाँयीं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती है सभी परवर्ती भारतीय वर्णमालाओं का, साथ ही भारतीय सांस्कृतिक विस्तार के क्षेत्रों से युक्त अन्य बाहरी देशों की वर्णमालाओं (बर्मी, श्यामी और जावानी आदि) का मूलस्रोत है। यह वर्णमाला भी सामी वर्णमाला के किसी न किसी रूप से उद्भूत हुई है, किन्तु इस शैली के वास्तविक स्रोत और इसके उदय का युग दोनों अनिश्चित हैं। यह सुझाया जाता है कि यह प्रचार पश्चिमी भारत के बन्दरगाहों के व्यापारिक मार्गों के जरिये दक्षिणी सामी प्रदेश से हुआ होगा और इसका समय सामान्यतः ५०० ई० पू० के लगभग अनुमित किया जाता है।

लिपि के ग्रहण का यह कार्य काफी महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि इसमें न केवल स्वर-चिह्नों के योग का विकास हुआ, बल्कि भारतीय व्यञ्जन-पद्धति को अभिव्यक्त करने के लिये आवश्यक परिवर्तनों और समायोगों को भी विकसित

करना पड़ा। यह कार्य जिस परिपूर्णता के साथ किया गया, वह प्राचीन भारतीय ध्वनिशास्त्रियों के अध्यवसाय का फल हैं, जिनकी उपलब्धियों का जिक्र पहले किया जा चुका है। इतना होने पर भी लिपि का प्रयोग ब्राह्मण सम्प्रदायों में धीरे धीरे प्रचलित हुआ और आरम्भिक युग में इसका कार्य मुख्यतः व्यवहार तथा शासन और केवल गौणतः साहित्य के माध्यम से सम्बद्ध था। इसीलिये सभी प्राचीन सुरक्षित लेख प्राकृत में हैं और संस्कृत लेख केवल वाद में मिलने लगते हैं। यह असम्भव है कि दूसरी सदी ई० पू० के पूर्व का अधिकांश साहित्य हस्तलेखों के रूप में विद्यमान था।

आरम्भिक ब्राह्मी वर्णमाला आगे बहुत कुछ एक-सी थी और केवल थोड़े से प्रदेश को छोड़कर जहाँ खरोष्ठी का प्रयोग होता था, समस्त भारत में प्रचलित थी। ई० सदी के बाद से स्थानीय विशेषतायें बढ़ती गईं और ब्राह्मी कई क्षेत्रीय वर्णमालाओं में विकसित हो गई, जो एक-दूसरे से ठीक उतनी ही भिन्न हैं, जितनी वे मूल रूप से परिवर्तित हो गई हैं। वर्णों का संगठनगत सिद्धान्त ठीक वही बना रहा, किन्तु अक्षरों की वैयक्तिक आकृतियाँ अनन्त विभेदों में विकसित हुईं। उत्तरी भारत में यह वर्णमाला क्रमशः उस रूप में विकसित हुई, जो अब देवनागरी के नाम से प्रचलित है। छापे के प्रचार के कारण इस वर्णमाला को संस्कृत के लिये अपना लिया गया, किन्तु इस युग के पूर्व संस्कृत हस्तलेख उन क्षेत्रों की विविध क्षेत्रीय लिपियों में लिखे गए हैं, जहाँ वे निबद्ध हुए थे, उदाहरण के लिए काश्मीर में शारदा, बँगला, उड़िया, तेलुगु-कन्नड, मलयालम तथा तमिळ प्रदेश में ग्रन्थलिपि।

भारत में लेखन के लिये प्रयुक्त सामान्य सामग्री ताड़पत्र था। दक्षिणी भारत में इसका एकमात्र प्रयोग आधुनिक युग तक मिलता है। इस पत्र पर अक्षरों को एक नुकीली लोहे की कलम से खोदा जाता था और बाद में उनमें स्याही भर दी जाती थी। उत्तर में, खास तौर पर कश्मीर में भूर्ज वृक्ष की अन्दर की छाल का प्रयोग किया जाता था, जिस पर स्याही से अक्षर लिखे जाते थे। उत्तर में यह पद्धति ताड़पत्र हस्तलेखों के लिये भी प्रयुक्त की जाती थी और उत्तरी तथा दक्षिणी वर्णमालाओं का परस्पर भेद लेखन-पद्धति के भेद के कारण अधिक उत्पन्न हो गया है। इन सामग्रियों की नष्ट होनेवाली प्रकृति के कारण प्राचीन भारतीय हस्तलेख वस्तुतः बहुत कम मिलते हैं। इनमें प्राचीनतम वे हैं, जो मध्यएशिया की सूखी भूमि में कम या ज्यादा खण्डित अवस्था में खोज में मिले हैं। संस्कृत साहित्य का अधिकांश केवल पिछली कुछ शताब्दियों से सम्बद्ध हस्तलेखों के रूप में ही सुरक्षित हैं।

परिच्छेद ३

ध्वनि-विचार

१. भारत-यूरोपीय व्यञ्जन-प्रक्रिया

वर्तमान भारत-यूरोपीय भाषाओं की ध्वन्यात्मक प्रक्रिया का तुलनात्मक अध्ययन मूल पूर्वज भाषा की ध्वनियों को निश्चित अंश तक पुनर्निर्मित करने में योग देने में समर्थ है। इस आधार पर संस्कृत ध्वन्यात्मक प्रक्रिया का एक सुसम्बद्ध ऐतिहासिक विवरण दिया जा सकता है, जिसमें अपने सम्बद्ध तिथिक्रम के अनुसार प्रागैतिहासिक युग में विकास की विभिन्न स्थितियों को एक-दूसरे से विभक्त किया जा सकता है। इन विकास-स्थितियों को इस रूप में उपस्थित किया जा सकता है: (१) भारत-यूरोपीय युग के परिवर्तन; (२) केवल भारतीय आर्य तथा ईरानी के सामान्य परिवर्तन; (३) भारतीय आर्य के विशिष्ट परिवर्तन, जो उसमें ईरानी से विघटित होने पर उत्पन्न हुए हैं। संस्कृत के ध्वन्यात्मक विकास का विवरण उपस्थित करने में जहाँ तक संभव है, हम इस बात का संकेत करेंगे कि विभिन्न परिवर्तन इनमें से किस युग के हैं।

तुलनात्मक भाषावैज्ञानिकों ने सामान्यतः भारत-यूरोपीय व्यञ्जन-प्रक्रिया का निम्नलिखित पुनर्निर्माण किया है :

		अघोष		सघोष	
		अल्पप्राण	महाप्राण	अल्पप्राण	महाप्राण
स्पर्श-व्यञ्जन	कण्ठोष्ठ्य	क्व् (k^w)	ख्व् (k^wh)	ग्व् (g^w)	घ्व् (g^wh)
	कण्ठ्य	क् (k)	ख् (kh)	ग् (g)	घ् (gh)
	तालव्य	क्य् ($\hat{k}$)	ख्य् ($\hat{k}h$)	ग्य् ($\hat{g}$)	घ्य् ($\hat{g}h$)
	दन्त्य	त् (t)	थ् (th)	द् (d)	ध् (dh)
	ओष्ठ्य	प् (p)	फ् (ph)	ब् (b)	भ् (bh)

अनुनासिक : म्, न्; ङ्; द्रवित : ल्, र्; अन्तःस्थ : य्, व्; सोष्म (घर्ष) : स्, ज़्; सन्दिग्ध : थ़् (þ) द़् (đ)।

यह पुनर्निर्माण दो प्रकार का है। पहली और सामान्य दशा में भारत-यूरोपीय में कल्पित ध्वनि कई वर्तमान भाषाओं में मिलती है, जहाँ यह निरन्तर अपरिवर्तनशील रही है; दूसरी और अत्यधिक न्यून दशाओं में भारत-

यूरोपीय के लिये कल्पित ध्वनि कहीं सुरक्षित नहीं है, किन्तु इसे इससे विकसित रूपों की तुलना के द्वारा निश्चित किया गया है। निसर्गतः प्रथम वर्ग के विषय में अत्यधिक निश्चितता है, किन्तु द्वितीय वर्ग के शुद्ध पुनर्निर्मित रूप भी कतिपय अपवादों के साथ, किसी तात्त्विक सन्देह से परे निर्धारित हैं।

निम्नलिखित दशाओं में भारत-यूरोपीय व्यञ्जन ध्वनि संस्कृत तथा अपर भाषाओं में अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित है :

प् : पञ्च '५' ग्रीक पेन्ते (pénte); पतति 'उड़ता है' : ग्रीक पेतेतइ (pétetai); अप 'दूर, से' : ग्रीक अपो (apó); सर्पति 'रेंगता है' : ग्रीक हेर्पेइ (hérpei), लैटिन सेर्पित (serpit)।

त् : तनु– 'पतला' : ग्रीक तनु– (tanu), लैटिन तेनुइस् (tenuis); त्रयः '३', ग्रीक त्रेइस् (treîs) लैटिन त्रेस् (trēs); वर्त्तते 'है, घूमता है'; लैटिन वेर्तो (verto)।

द् : दश '१०', ग्रीक देक (déka), लैटिन देकेम् (decem), दीर्घ– 'लम्बा'; ग्रीक दोलिखोस् (dolikhós), प्रा० स्लावी द्लुगु (dlŭgŭ); वेद 'मैं जानता हूँ', ग्रीक ओइद (oîda), लैटिन विदेओ (video)

क् : क्रविष्– 'कच्चा मांस', ग्रीक क्रेअस् (kréas); कक्ष– 'काँख', तुल० लैटिन कोक्स (coxa)।

ग् : युगम् 'जुआ', ग्रीक ज़ुगोन् (žugón), लैटिन युगुम् (iugum), स्थग्– 'ढाँकना', ग्रीक स्तेगो (stégo).

न् : नाम 'नाम', लैटिन नोमेन् (nōmen); नव– 'नया', ग्रीक नेओस् , (néos), लैटिन नोवुस् (novus); नभः 'बादल', ग्रीक नेफोस् (néphos), दानम् 'दान', लैटिन दोनुम् (dōnum), प्रा० स्ला० दानु (danŭ)।

म् : मातर्– 'माता', लैटिन मातेर (Māter); मा– 'मुझको', लैटिन मे (mē); मूष्– 'चूहा', लैटिन मूस् (Mūs), प्रा० स्ला० मूशि (myšĭ); दम– 'मकान, ग्रीक दोमोस् (dómos), लैटिन दोमुस् (domus)।

ल् : लुभ्–, लुभ्यति -इच्छा करना, लोभ करना', लैटिन लुबेत् (lubet), गाँथिक लिउफ़्स् (liufs), प्रा० स्ला० ल्युबु (ljubŭ) 'प्रिय'; लघु–'हलका, 'तेज', ग्रीक एलखुस् (elakhús), लैटिन लेविस् (levis)।

र् : रुधिर– 'लाल, खून', ग्रीक एरुथ्रोस् (eruthrós,) लैटिन रुबर् (ruber); राज् , राजन्– 'राजा', लैटिन रेक्स्– (rēx), गैलिक रीक्स् (rīx); भरति 'धारण करता है', ग्रीक फेरो (phérō), लैटिन फ़ेरो (fero) गाँथिक बइर (baíra)।

य् : युवन्- 'युवा पुरुष', लैटिन युवेनिस् (iuvenis); यकृत् 'यकृत्', लैटिन येकुर् (iecur); यूष्-'शोरवा, दाल', लैटिन यूस् (iūs), प्रा० स्ला० यूछ (jucha)।

व् : वाच्-'वाणी', लैटिन वोक्स् (vōx); वहति 'धारण करता है' लैटिन वेहित् (vehit); नव-'नया', लैटिन नोवुस् (novus); अवि 'भेड़', लैटिन ओविस् (ovis)।

स् : सन- 'पुराना', लैटिन सेनेक्स् (senex), आयरिश, सेन् (sen); सन्ति 'वे लोग हैं', लैटिन सुन्त् (Sunt); सूनु- 'पुत्र', लियुआनी सूनुस् (sūnùs), गॉथिक सूनुस् (sunus); अंस- 'कंधा', गॉथिक अम्स् (ams); अस्थि 'हड्डी', ग्रीक ओस्तेओन् (ostéon), लैटिन ओस् (os), ओस्सिस् (ossis).

उपर्युक्त जैसे उदाहरणों में भारत-यूरोपीय रूपों का पुनर्निर्माण बहुत कम समस्या उपस्थित करता है। पूरे अर्थ में पुनर्निर्माण आवश्यक नहीं है, क्योंकि सम्बद्ध ध्वनियाँ काफी सुरक्षित हैं। ये ध्वनियाँ सभी भाषाओं में सुरक्षित नहीं है (उदा० अंग्रेजी थिन् thin : लैटिन तेनुइस् tenuis, वेल्श हेन् hen, आयरिश सेन् sen), किन्तु समस्त उपलब्ध प्रमाणों का अध्ययन इस विषय में कोई सन्देह नहीं रखता कि कौन सी भाषाओं में मूल ध्वनि सुरक्षित है। दूसरी दशाओं में परिवर्तन काफी फैला हुआ है। इस प्रकार के उदाहरण वे हैं, जहाँ मूल भारत-यूरोपीय ध्वनि केवल एक ही भाषा में सुरक्षित है और नियम के अनुसार मूल पूर्वज भाषा में होने वाली ध्वनि अन्यत्र कहीं भी सुरक्षित नहीं है। इन दशाओं में भी काफी निश्चित रूप में मूल ध्वनि को स्थिर करना सम्भव है।

२ सघोष महाप्राण

सघोष महाप्राण ध्वनियाँ, जिनके विषय में सामान्यतः यह माना जाता है कि ये भारत-यूरोपीय भाषा में थीं, वर्ग के रूप में केवल संस्कृत में ही सुरक्षित हैं। अन्यत्र ये अलग-अलग ढंग से परिवर्तित हो गयी हैं, ईरानी, स्लावी आदि में महाप्राणता लुप्त हो गयी है; ग्रीक में इन्हें सम्बद्ध अघोष महाप्राण के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है; लैटिन (और अन्य इटैलिक विभाषाओं) में ये घर्ष ध्वनियों में परिवर्तित हो गयी है। इस माला के उदाहरण निम्नलिखित हैं।

भ् : संस्कृत भ्रू- 'भौहें', ग्रीक ओफ्रुस् (ophrũs); प्रा० स्ला० ब्रुवि (brŭvĭ); भ्राता 'भाई', ग्रीक फ्रातेर् (phrātēr) 'भ्रातृवर्ग का सदस्य' लै० फ्रातेर् (frater), प्रा० स्ला० ब्रात्रु (bratrŭ), प्रा० आयरिश ब्राथिर् (brāthir);

भरति 'धारण करता है', अवे० बरइति (baraiti), ग्रीक फ़ेरो (phérō) लैटिन फ़ेरो (fero), आर्मिनियन बेरेम् (berem), प्रा० स्ला० बेरो (berọ), गॉथिक वइर (baíra), प्रा० आयरिश बेरिम् (berim); नभस् 'बादल, आकाश, ग्रीक नेफ़ोस् (néphos), प्रा० स्ला० नेबो (nebo), हित्ताइत नेपिश् (nepiš)।

ध् : धा–, दधाति 'धारण करना', अवे० ददाइति (dadāiti), ग्रीक तिथेमि (títhēmi), लिथुआनी देति (déti); धूम– 'धुँआँ' प्रा० स्ला० दूमु (dymŭ), लैटिन फ़ूमुस् (fūmus); मधु 'मधु, शहद', अवे० मद़ु (maδu), ग्रीक मेथु (méthu), प्रा० स्ला० मेदु (medŭ), एंग्लोसेक्सन मेदु (medu), प्रा० आयरिश मिद् (mid); विधवा 'विधवा', तुल० ग्रीक एइथेओस् (ēítheos) '(अविवाहित) युवा पुरुष', प्रा० स्ला० विदोवा (vĭdova) 'विधवा', लैटिन विदुअ (vidua), प्रा० आयरिश फ़ेद्व् (fedb)।

घ् : स्तिघ्– 'लम्बे डग भरना', ग्रीक स्तेइखो (steíkhō), गॉथिक स्तेइग (steiga); मेघ– 'बादल', तुल० ग्रीक ओमिख्ले (omíkhle), प्रा० स्ला० मिग्ल (mĭgla), अल्बेनियन म्येगुले (mjégule)।

कंठ्य वर्ग के सम्बन्ध में सघोष महाप्राण ध्वनियाँ संस्कृत में इस वर्ग की अन्य ध्वनियों के समान परिवर्तित हुई है, इसे विस्तार से नीचे बताया जायगा।

यद्यपि सघोष महाप्राण ध्वनियाँ भारत-यूरोपीय भाषाओं में केवल भारतीय आर्य-शाखा में ही सुरक्षित हैं, तथापि इस सम्बन्ध में कम सन्देह है कि ये ध्वनियाँ मूल पूर्वज भाषाओं में मानी जायँ, क्योंकि कोई अन्य प्रकार की ध्वनियाँ इस तरङ् के विविध विकासों को इतनी सरलता से उपस्थित नहीं करतीं। कुछ दिशाओं में प्रचलित यह सिद्धान्त कि इन दशाओं में हम मूल भारत-यूरोपीय घर्ष-ध्वनियों के वर्ग का विवेचन कर रहे हैं; इसकी कोई पुष्टि नहीं करता।

यद्यपि संस्कृत में सघोष महाप्राण ध्वनियाँ एक समग्र वर्ग के रूप में उपस्थित हैं, फिर भी इसमें बिलकुल अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित नहीं हैं। दो कण्ठ्य वर्गों से सम्बद्ध सघोष महाप्राण ध्वनियों के विशिष्ट विकास का विवरण नीचे उपस्थित किया जायगा। दन्त्य और ओष्ठ्य सघोष महाप्राण सामान्यतः सुरक्षित हैं, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में हैं; किन्तु कतिपय स्थितियों में प्राचीन युग में भी ध् और भ्, ह् के रूप में दुर्बलीकृत कर दिए गए हैं, और यह मध्यकालीन आर्यभाषा में इनके परवर्ती भाग्य का प्रारूप है।

ध् : हित– 'रखा हुआ, धारण किया हुआ' (धा–), वेद में –धित– भी; –हि लोट् लकार मध्यम पुरुष के ए० व० का विभक्ति चिह्न, –धि भी, अवे० –द़ि (δi); आत्मनेपद उत्तम पुरुष के द्विवचन तथा बहुवचन के क्रिया रूप

–वहे, –वहि, –वहै; –महे, –महि, –महै, तुल० अवे० –मइदे (maide), –मइदी (maidī); इह 'यहाँ', पालि इध, अवे० इद्, (iδa) सुह 'साथ', वैदिक सध– भी, अवे० हद् (haδa); लोहित–, रोहित– 'लाल', तुल० रुधिर; रोहति 'चढ़ता है', वैदिक रूप रोधति भी; नह्– 'बाँधना' तु० निष्ठारूप 'नद्ध–, स्नुह्– 'चूना, गिरना', तुल० अवे० स्नओद्– (snaod–)।

भ्: ग्रह् 'ग्रहण करना', वैदिक ग्रभ्– भी; ककुह–'ऊँचे' के साथ-साथ ककुभ– 'ऊँचे' भी; ककुभ् 'चोटी'।

संस्कृत में जब एक महाप्राण ध्वनि अन्य महाप्राण ध्वनि द्वारा अनुगत होती थी तो उसकी महाप्राणता सुरक्षित नहीं रखी जाती थी। इस सिद्धान्त का प्रभाव व्याकरण में अभ्यास (द्वित्व) रूप में देखा जा सकता है, जहाँ सवर्गीय सघोष अल्पप्राण प्रयुक्त होता है—धा–, दधौ, भा–, बभौ, हन्–: जघान। ठीक यही नियम ग्रीक में भी दिखाई पड़ता है (थ्नेइस्को) (thnēiskō): तेथ्नेक (tethnēka); यह समान रूप में आयी हुई भारत-यूरोपीय विशेषता नहीं है, किन्तु यह प्रक्रिया प्रत्येक भाषा में स्वतन्त्र रूप से पायी जाती है। ग्रीक में यह प्राणता-लोप तब तक विकसित नहीं हुआ, जब तक सघोष महाप्राण अघोष न बन गए और फलस्वरूप इसका परिणाम अघोष महाप्राण है। इसलिये ऐसी दशाओं में संस्कृत पदादि सघोष ध्वनि से सम्बद्ध रूप में हमें ग्रीक में पदादि अघोष ध्वनि मिलती है। इस प्रकार भारत-यूरोपीय मूल धातु भेउध् (bheudh) 'जानना, समझना' से एक ओर ग्रीक पेउथोमइ (peútho-mai) (*फेउथ्– (pheuth) के द्वारा) और दूसरी ओर संस्कृत बुध्– उत्पन्न हुए हैं। ठीक यही सम्बन्ध ग्रीक तेइखोस् (teikhos) 'दिवाल' और संस्कृत दिह्– 'लीपना, मिट्टी से चुनना', देही 'परकोटा'; इसी तरह ग्रीक पेन्थेरोस् (pentherós) 'ससुर' तुल० संस्कृत बन्धु– 'सम्बन्धी', बन्ध्– 'बाँधना', ग्रीक पेखुस् (pékhus) 'बाजू': संस्कृत बाहु–, ग्रीक पुथ्मेन् (puthmén) 'पेंदा', संस्कृत बुध्न– में दिखाई देता है। अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में इस तरह की विषमीकरण-प्रक्रिया नहीं पायी जाती और भारत-यूरोपीय सघोष महाप्राण ध्वनि से सम्बद्ध ध्वनि उसी स्थिति में मिलती है: उदा० भारत-यूरोपीय धेइघ्य् (dheiĝh)– (संस्कृत दिह्–) गॉथिक देइगन् (deigan) 'बाँधना, मजबूत करना', लैटिन फिन्गो (fingo) ऑस्कन फेइहुस् (feihúss)।

जब सघोष महाप्राण ध्वनि पदान्त –स् या –त् के ठीक पहले थी तो महाप्राणता प्राचीन युग में ही लुप्त हो गई थी: उदा० संस्कृत में प्राचीन *अधोक्, *अधोक्–, के लिए दुह्– 'दुहना' के सामान्यभूते लुङ् के

प्रथम तथा मध्यम पुरुष एक वचन में संस्कृत अधोक् में दह्- 'जलाना' के स्- विकरण वाले लुङ् लकार के प्रथम पुरुष ए० व० में *अधाक्श्त् के लिये अधाक् में; ठीक इसी तरह धातुज शब्दों के प्रथमा ए० व० में *धुघ्, *भ्रुघ् से बने धुक् 'दुहता हुआ', भ्रुक् 'हानि पहुँचाता हुआ' में। अपने प्राचीन रूप में ये धातु दो महाप्राण ध्वनियों से युक्त थे, *धुघ्-, *धघ्-, *भ्रुघ्। उपर्युक्त सम्मिश्रण में महाप्राणता में विषमीकरण नियम के लागू होने के पूर्व ही दूसरी महाप्राण ध्वनि लुप्त हो गयी थी और फलतः इन स्थितियों में पदादि व्यञ्जन की महाप्राणता सुरक्षित रही। ठीक ऐसा ही समानान्तर विकास ग्रीक में भी हुआ— थ्रिज़् (thríz) 'केश', ब० व० त्रिखेस् (tríkhes), त्रेफ़ो (trépho) 'मैं लालन-पालन करता हूँ', भविष्यत् थ्रेप्सो (thrépsō)। प्रत्येक भाषा-विशेष की दृष्टि से यह जान पड़ता है कि इन दशाओं में पदान्त महाप्राण ध्वनि पीछे फेंक दी जाती है, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मूलतः वहाँ दो महाप्राण ध्वनियाँ थीं, जिनमें पहली ध्वनि इन स्थितियों में विषमीकरण प्रक्रिया से सुरक्षित रखी गयी थी।

सघोष महाप्राण + त् अथवा स् के आभ्यन्तर संयोग का विकास बिलकुल भिन्न था और इसका विचार नीचे किया जायगा। (§ १४, १६)। यहाँ हम केवल इस बात का संकेत कर दें कि शास्त्रीय संस्कृत रूप धिप्सति आदि में महाप्राण ध्वनि जो वैदिक दिप्सति के विरुद्ध हैं, सादृश्य के आधार पर बना नया रूप है।

३. अघोष महाप्राण

अघोष महाप्राण ध्वनियाँ विविध प्रकार से भारत-ईरानी में ही मिलती हैं और यहाँ भी ये ध्वनियाँ सम्बद्ध सघोष ध्वनियों की अपेक्षा बहुत कम प्रचलित हैं। इनमें से बहुत थोड़ी ध्वनियाँ साक्षात् तुलना के आधार पर भारत-यूरोपीय स्थिर की जा सकती हैं। इस प्रकार के तुलनात्मक उदाहरण केवल ग्रीक में उपलब्ध हैं, जहाँ संस्कृत अघोष महाप्राण ध्वनियों से मिलती-जुलती कुछ महाप्राण-ध्वनियाँ हैं, और आर्मीनी में भी। अन्यत्र लैटिन में कुछ अवशेषों के अतिरिक्त (उदा० फुन्द, funda 'मद्यविशेष', ग्रीक स्फेन्दोने (sphendónē)) इस कोटि की ध्वनियाँ अघोष अल्पप्राण ध्वनियों के साथ घुल-मिल गयी हैं।

निम्नलिखित उदाहरण निदर्शन का काम करेंगे :

फ् : संस्कृत स्फूर्ज्-, ग्रीक स्फरगेओमइ (spharagéomai); स्फ्य 'श्रुवा', तुल० ग्रीक स्फेन् (sphén); फाल- 'हल का नुकीला अग्रभाग', फारसी 'सुपार्' (supār); स्फुरति 'स्फुरण करता है, काँपता है', लिथुआ-

नी स्पिरिउ (spiriu), ग्रीक स्पइरो (spairō), लैटिन स्पेर्नो (sperno) तुल० ग्रीक स्फइर (sphaira) 'गेंद, गोला'; 'फेन' 'झाग' ऑसेटिक फिंग् (fing), प्रा० स्ला० पेन (pěna), प्रा० प्रशियन स्पोअय्नो (spoayno); शफ– 'खुर', अवे० सफ़– (safa–) ।

थ् : वेत्थ 'तुम जानते हो', ग्रीक ओइस्थ (oistha); स्था– 'ठहरना', ग्रीक हिस्तेमि (histēmi); स्थग् 'ढँकना', ग्रीक स्तेगो (stégō), रथ– 'रथ', अवे० रथ़ (raθa), तुल० लैटिन रोत (rota) 'पहिया,' पृथु– 'विशाल', अवे० पॅरॅथु– (pərəθu), ग्रीक प्लतुस् (platús) प्राणताहीन, किन्तु तुल० प्लथनोस् (pláthanos) 'रोटी बनाने का चकला'; पृथुक– 'पशुशावक', आर्मीनियन ओर्थ (orth) 'बछड़ा', ग्रीक पोर्तिस् (pórtis), पोर्तज़् (pórtaz) 'बछिया' प्राणताहीन, किन्तु तु० पर्थेनोस् (parthénos) 'कुमारी' प्राणतायुक्त ।

ख्– : शङ्ख– 'शङ्ख', ग्रीक कोङ्खोस् (kónkhos, kogkhos), 'शाखा', 'डाली', आर्मीनियन, चख् (çax); लिथुआनी शक (šaká); खा– 'कुआँ', अवे० ख़ाँ (xå) ।

सघोष महाप्राण ध्वनियों के विपरीत, जो भारत-यूरोपीय ध्वन्यात्मक प्रक्रिया में प्राचीन तथा प्रधान तत्त्व है, अघोष महाप्राण ध्वनियाँ परवर्ती विकास हैं, और भारत-यूरोपीय सैद्धान्तिक अध्ययन की अधुनातन प्रगति ने इसका निदर्शन करना सम्भव कर दिया है, कि ये ध्वनियाँ किस तरह अस्तित्व में आयीं। स्–ध्वनि से संयुक्त होने पर स्वतः महाप्राणता वाले कतिपय सम्भाव्य निदर्शनों (संस्कृत स्थग्– आदि) के अतिरिक्त इनका विकास पूर्ववर्ती अघोष अल्पप्राण ध्वनि के साथ. भारत-यूरोपीय ? (H) के संयोग के कारण माना जा सकता है। पिछले दिनों भारत-यूरोपीय अध्ययन में बहुतायत से मिलने वाले इस ? (H) की प्रकृति नीचे परीक्षित की जायगी। यहाँ इतना सङ्केत करना पर्याप्त होगा कि यह ध्वनि केवल हित्ती को छोड़कर सभी भारत-यूरोपीय भाषाओं में लुप्त हो गयी है, किन्तु इसके ठीक पूर्व , प् , त् , क् आने पर यह इन व्यंजन ध्वनियों को महाप्राण बनाने का प्रभाव दिखाती रही है। इस प्रकार जो महाप्राणता संस्कृत स्था– 'ठहरना' (भारत-यूरोपीय स्ता, अर्थात् स्त ? (staH- अर्थात् स्ते $?_2$ ($steH_2$) में प्रथमतः मूल धातु के संक्षिप्त रूप भा० यू० स्त् ?– (सं० तिष्ठति (ति– स्त् ?–एति, ti– stH–eti) से उत्पन्न हुई है, यहाँ से साधारणीकृत हो गई है। दूसरी ओर ग्रीक में (हिस्तेमि hístēmi) अल्पप्राण त् जो कि मूल धातु के सबल रूप में यथोचित है, सुरक्षित रह गया है। संस्कृत पथ्– 'रास्ता' (तृतीया रूप पथा, आदि) < पत् ?– (patH–) में ? (H) एक प्रत्यय है, जो अपने गुण रूप में प्रथमा ए० व० पन्थाः में आ (< अ ?

(< aH)) के रूप में मिलता है। परवर्ती रूप में थ् केवल दुर्बल रूपों के सादृश्य के आधार पर मिलता है, जैसा कि अवेस्ता रूप पन्ताँ (pantā̊) (मूल परिवर्तन पन्त ?–, पत् ?– (pantaH–, patH–) से पुष्ट होता है। मूल धातु प्रथ्– 'बढ़ाना' और उससे बने शब्दों (पृथु 'चौड़ा', आदि) में दो सम्मिलित प्रत्यय हैं (भारत-यूरोपीय प्ल्- एत्-?- (pl–et–H)) और इस संयोग ने संस्कृत में अघोष महाप्राण ध्वनि उत्पन्न की है। यह ?– (H–) प्रत्यय, त्– प्रत्यय से असंयुक्त रूप में हित्ती पल्हिश् (palhiš) 'चौड़ा', और लैटिन प्लानुस् (plānus) में मिलता है। ग्रीक प्लतुस् (platús) में कोई ?– (H–) प्रत्यय विद्यमान नहीं है और इसलिये वहाँ महाप्राणता नहीं है। संस्कृत रथ– में हमें आ (–अ ? (aH–)) अन्त वाले मूल शब्द के आधार पर बने संज्ञा के रूप में प्रयुक्त विशेषण (*रत् ?–अ (*ratH-á) 'पहियों वाला' सामान्य स्वर-परिवर्तन के साथ) मिलता है, जो लैटिन रोत (rota) 'पहिया' (रोत ? (rotaH) में उपलब्ध है।

? (H) के कारण सघोष ध्वनियों का ठीक ऐसा ही महाप्राण रूप भी सम्भवतः विचार का विषय होना चाहिए, किन्तु इस तरह के अधिक उदाहरण नहीं मिले हैं। इस तरह का एक उदाहरण मूल धातु स्पन्द्– 'बहना' के साथ संस्कृत सिन्धु 'नदी' की तुलना करने पर मिलता है, जहाँ संज्ञा शब्द का रूप पदान्त उ– प्रत्यय के पूर्व ? (H) प्रत्यय के अस्तित्व के द्वारा मजे से स्पष्ट किया जा सकता है।

यह माना जाता है कि एक अन्य प्रकार का भा० यू० ? ($?_3$) (H (H_3)) पूर्ववर्ती अघोष व्यंजन ध्वनियों को भिन्न रूप में सघोष बनाकर प्रभावित करता था, संस्कृत पिबति=प्रा० आयरिश इबिद् (ibid) 'पीता है' (√पो– (pō), अर्थात् पे $?_3$ (peH_3), वर्तमान रूप *पि– प् $?_3$ –एति (*pi-pH_3-eti)) में, किन्तु यह केवल अकेला उदाहरण मालूम होता है। यह माना जा सकता है कि ब्, इस उदाहरण से अन्यत्र अथवा प् की सहध्वनि (allophone) के रूप में (संस्कृत उपब्द– : तुल० पद्– 'पैर', आदि) बहुत कम मिलता था, यद्यपि भा० यू० में यह बिलकुल अनुपस्थित नहीं था।

४. प्रथम तालव्यीभाव

जब हम तथाकथित कण्ठ्य ध्वनियों (कण्ठोष्ठ्य, कण्ठ्य, तालव्य; ऊपर देखें) की ओर आते हैं तो हमें पता चलता है कि ये ध्वनियाँ संस्कृत में काफी बदल गयी हैं। तालव्य ध्वनियों से शुरु करते हुए उनके विकास को निम्नलिखित ढंग मे उदाहृत किया जा रहा है :

क्य् : संस्कृत श्वन्– 'कुत्ता', अवे० स्पन्– (span); ग्रीक कुओन् (kúōn), लैटिन कनिस्– (canis); शतम् '१००', अवे० सतॅम् (satəm), लिथुआनी शिम्तस् (šimtas) : ग्रीक हेकतोन् (hekaton), लैटिन केन्तुम् (centum), प्रा० आयरिश केत् (cēt), गॉथिक हुन्द् (hund) ; शेते 'सोता है' : ग्रीक केइतइ (keitai); शङ्कते 'हिचकिचाता है, सन्देह करता है' : लैटिन कुंक्तोर् (cunctor); विश्– 'जाति, आबादी', अवे० विस्–, (vis–) प्रा० फारसी विथ्र् (viθ)–, प्रा० स्ला० विशि (vĭsĭ) 'गाँव', अल्बेनियन विस् (vis–) 'स्थान' : तुल० ग्रीक ओइकोस् (oíkos) 'मकान', लैटिन वीकुस् (vīcus); श्रोणि 'नितम्ब', अवे० स्रओनि (sraoni)–, लिथु० श्लउनिस् (šlaunis) : लैटिन क्लूनिस् (clūnis), प्रा० आइलैंडिक ह्लउन् (hlaun); श्रु– 'सुनना', श्रवः 'यश', अवे० स्रु–, स्रवह्– (sru–, sravah–)– प्रा० स्ला० स्लोवो (slovo) 'शब्द' : ग्रीक क्लेओस् (kléos), क्लुओ (kluō), लैटिन क्लुएओर् (clueor), आदि; ददर्श परोक्षभूते लिट् प्रथम पुरुष ए० व० 'उसने देखा' : ग्रीक देदोर्के (dédorke); दिश्– 'दिखाना, बताना' : ग्रीक देइक्नुमि (deíknumi), लैटिन दीको (dīco), आदि ।

ग्य् : संस्कृत जानु 'घुटना', अवे ज़ानु (zānu); ग्रीक गोनु (gōnu), लैटिन गेनु (genu); जरन्त्– 'वृद्ध', आर्मीनियन चेर् (cer) 'वृद्ध पुरुष' : ग्रीक गेरोन् (gérōn); जम्भ– 'दाँत', प्रा० स्ला० ज़ोंबु (zǫbu), अल्बेनियन ढ्म्प् (δemp), 'वही' : ग्रीक गोम्फोस् (gómphos) 'नख', अंग्रेजी कूम् (comb), तोखारी अ कम् (kam), ब केमे (keme), 'दाँत'; जुष् 'आनन्द लेना', जोष– 'आनन्द', अवे० ज़ओश (zaoša) 'वही' : ग्रीक गेउ-ओमइ (geúomai) 'स्वाद', लैटिन गुस्तुस् (gustus), गॉथिक किउसन् (kiusan) 'चुना'; रजत– 'चाँदी', अवे० ॲरॅज़त (ərəzata)–, ग्रीक अर्गुरोस् (árguros), लैटिन अर्गेन्तुम् (argentum), आयरिश अर्गत् (argat) 'वही'; अजति 'चलाता है, ढकेलता है', अवे० अज़इति (azaiti); ग्रीक अगो (ágō), लैटिन अगो (ago); भूर्ज– 'भोजपत्र', लिथुआनी बेर्ज़स् (béržas), प्रा० स्ला० ब्रेज़ (brěza) : एंग्लोसेक्सन बेओर्च्(beorc) ।

घ्य् : संस्कृत हिम 'बर्फ', हेमन्त– 'हेमन्त ऋतु', अवे० ज़िम–, (zima–), आर्मीनियन जिउन् (jiun) 'बर्फ', अल्बेनियन दिमेन् (dimən), लिथुआनी ज़ेम (žëmà), प्रा० स्ला० ज़िम (zima) 'जाड़ा' : ग्रीक खेइमोन् (kheímōn), लैटिन हिएम्स् (hiems), प्रा० आयरिश गिम-रेद (gim-red) 'जाड़ा' ; अंहु– संकीर्ण', अंहस् 'पाप, बाधा', प्रा० स्ला० अँज़ुकु (ązuku) 'संकीर्ण' : ग्रीक अङ्खो (ankhō; agkhō) 'टेंटुआ', लैटिन अंगो (ango),

अंगुस्तुस् (angustus), प्रा० आयरिश कुम्-उंग् (cum-ung) गॉथिक अग्ग्वुस् (aggwus) 'संकीर्ण'; लिह् 'आस्वाद लेना, चाटना', आर्मीनियन लिज़ुम् (lizum), लिथुआनी लॅज़िउ (lëžiù) प्रा० स्ला० लिज़ति (lizati) : ग्रीक लेइखो (leikhō), लैटिन लिंगो (lingo), प्रा० आयरिश लिगिम् (ligim), गॉथिक बि-लइगोन् (bi-laigōn) 'चाटना'।

यह देखा जायगा कि अन्तिम भारतीय आर्य तथा ईरानी विकास एक दूसरे से भिन्न हैं (संस्कृत श्, ज्, ह्=अवे० स्, ज़्, ज़्)। यह इस कारण है कि जो भी परिवर्तन हुए हैं, वे दो स्थितियों में हुए हैं : (१) एक पहला सामान्य भारत-यूरोपीय विकास श्, ज़्' ज़्ह्' (ś, ź, źh), (२) इन ध्वनियों का दोनों वर्गों के अलग-अलग होने के बाद भारतीय-आर्य और ईरानी के वास्तविक ध्वनि रूपों में परिवर्तन। पहला परिवर्तन भारत-ईरानी और सतॅम् (satəm) वर्ग की भाषाओं (देखें, परिच्छेद १) में समान है और यह भारत-यूरोपीय युग में ही हो चुका था। इसके बाद अन्य भाषाओं में कई विशिष्ट विकास भी हुए, जो जहाँ तक स्लावी का सम्बन्ध है, ईरानी से मिलते-जुलते हैं।

मध्यवर्ती श्, ज़्', ज़्ह् (š, ź, źh), बाल्टोस्लावी की तरह अधिकांश भारत-ईरानी विकासों को भी स्पष्ट कर देंगे, किन्तु यह सम्भव है कि इनके परिपूर्ण सोष्म (घर्ष) ध्वनियाँ बनने के पूर्व एक घर्षस्पर्श ध्वनिवाली स्थिति रही होगी। इसका प्रमाण काफ़िरी बोलियों में सुरक्षित है, जो भारतीय तथा ईरानी के बीच की स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है। काती भाषा में उपलब्ध विकास दुच् (duc̓) 'दस' और चुईँ (c̓uĩ) 'खाली' उदा० के लिये (संस्कृत दश, शून्य-) संस्कृत से अधिक प्राचीन स्थिति का स्पष्ट संकेत करता मालूम पड़ता है। इसलिये हमें एक प्रा० भारत-ईरानी (और ठीक यही बात सतॅम्) (satəm), भाषाओं के साथ भी लागू होगी) ध्वनिवर्ग च्,' ज़्', ज़्ह्' (c', j', j'h) (अथवा त्स्, द्ज़्, द्ज़्ह् t', d', d'h, जो द्वितीय तालव्यीभाव के च्, ज्, झ् से भिन्न है) की कल्पना करनी होगी। ऐसा होने पर यह सम्भव हो जाता है कि (१) इस वर्ग का संस्कृत ज् अपने घर्षस्पर्श उच्चारण के कारण सीधा ज़् से विकसित हुआ है, जो दूसरे घर्षस्पर्श ज़् से मध्यवर्ती सोष्म स्थिति ज़् हुए बिना घुल-मिल गया है, और (२) कि प्रा० फारसी थ्, द् जो शेष ईरानी में उपलब्ध स्, ज़् के स्थान पर मिलते हैं (थ्रद्-θard- 'वर्ष', अवे० सरॅद् sarəd; संस्कृत शरद्-; दउश्तर् dauštar 'दोस्त', अवे० ज़ओश zaoša- 'आनन्द', सं० जोष, जोष्टर्-, दस्त- 'हाथ', अवे० ज़स्त (zasta) संस्कृत हस्त-), इस प्रकार की घर्षस्पर्श ध्वनियों से साक्षात् रूप में विकसित हुए हैं और ईरानी में इसीलिये कोई सामान्य विकास नहीं मिलता।

५. कण्ठोष्ठ्य ध्वनियों का विकास

सतॅम् (satəm) वर्ग की सभी भाषायें इस अन्य विशेषता की दृष्टि से समान हैं कि इनमें भारत-यूरोपीय ध्वनिवर्ग क्व्, ग्व्, घ्व् के ओष्ठ्य तत्त्व का लोप हो गया है। कॅन्तुम् भाषाओं में ये ध्वनियाँ आरम्भ में सुरक्षित थीं, किन्तु वाद में कई विकास-स्थितियों से गुजरी हैं, जिनमें अधिक प्रचलित शुद्ध ओष्ठ्य ध्वनियों का प्रयोग है। द्वितीय तालव्यीभाव से प्रभावित उदाहरणों को न लेते हुए कण्ठोष्ठ्य ध्वनियों का विकास निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है।

क्व् : संस्कृत कः– 'कौन ?', किम् 'क्या', लिथुआनी कस् (kàs), प्रा० स्ला० कु–तो (kŭ-to) : ग्रीक तिस् (tis) 'कौन', पोथॅन् (pòthen) 'कहाँ से', लैटिन क्विस् (quis); यकृत् 'यकृत्', अवे० याकरॅ (yākarə), ग्रीक हेपर् (hêpar), लैटिन येकुर् (iecur); क्रीणामि 'मैं खरीदता हूँ', प्रा० रूसी क्रिनुति (krinuti); ग्रीक एप्रिअमेन् (epríamēn) 'मैंने खरीदा', आयरिश क्रेनिम् (crenim), वेल्श प्रिनफ़ (prynaf); कृमि– 'जन्तु', लिथुआनी किर्मेले (kirmėlė) : आयरिश क्रुइम् (cruim), वेल्श प्रिफ़ (pryf); रिणक्ति 'छोड़ता है, खाली करता है', रिक्त 'खाली', आर्मीनियन ल्कनेम् (lk 'anem) 'मैं खाली करता हूँ', एलिक् (elik') 'उसने खाली किया' लिथुआनी लेंकु (lẽkù) 'मैं छोड़ता हूँ' : ग्रीक लेइपो (leípō), लैटिन लिंक्वो (linquo) आदि।

ग्व् : संस्कृत गम्– गच्छति 'जाना' : ग्रीक वस्को (báskō) लैटिन वेनिओ (venio), गॉथिक क्विमन् (qiman); गो– (कर्ता ए० व० गौः) 'गाय', आर्मीनियन कोव् (kov), प्रा० स्ला० गोवॅदो (govędo) : ग्रीक बोउस् (boûs), लैटिन वोस् (bōs), प्रा० आयरिश बो (bō), संस्कृत ग्ना '(दैवी) स्त्री, पत्नी', अवे० गॅना (gənā), प्रा० प्रशियन गेन्ना (genna); आर्मीनियन किन् (kin), ब० व० कनइक् (kanaik') : ग्रीक गुने (gunḗ), बना (baná), आयरिश वेन्, गॉथिक क्विनो (qinō), गिरति 'निगलता है', लिथुआनी गेरिउ (geriù), 'मैं पीता हूँ' : ग्रीक बोरा (borā́), 'भोजन', लैटिन वोरारे (vorāre), 'भकोसना'; गुरु 'भारी' ग्रीक वरुस् (barús), गुर्– 'उठाना, खींचना', अवे० गर् 'फेंकना' : ग्रीक बल्लो (bállō); ग्रावन् 'सोम पीसने का पत्थर', आयरिश ब्रो (brō), संबंधकारक ब्रून (broon), वेल्श ब्रेउअन (breuan) 'चक्की का पाट'।

घ्व् : संस्कृत जघान 'मार डाला' : प्रा० आयरिश गेगुइन् (geguin), तुल० ग्रीक एपेफ्नोन् (épephnon), फोनोस् (phónos); अर्घ 'मूल्य,

कीमत'; लिथुआनी अल्ग (algà) : ग्रीक अल्फनो (alphánō) 'कमाना'; घृर्म 'गर्मी, अवे० गरॅम (garəma)–, प्रा० प्रशियन गोर्मे (gorme) : ग्रीक थेर्मोस् (thermós) 'गरम', लैटिन फ़ार्मुस् (formus); लघु 'हलका, तेज', ग्रीक एलखुस् (elakhús), एलफ्रोस् (elaphrós), लैटिन लेविस् (levis) ।

जैसा कि इन उदाहरणों में देखा जा सकता है, सतॅम् (satəm) भाषाओं में इन व्यंजन ध्वनियों ने ओष्ठ्य तत्त्व के सभी चिह्नों को समान रूप से छोड़ दिया है, और प्रथम तालव्यीभाव के साथ इस विशेषता का समाहार इस बात का प्रबल प्रमाण उपस्थित करता है कि ये भाषायें भारत-यूरोपीय परिवार के एक ही वैभाषिक वर्ग से विकसित हुई हैं। दोनों परिवर्तन परवर्ती भारत-यूरोपीय युग से सम्बद्ध हैं, इस वर्ग की विविध भाषाओं के अलग-अलग विकास के युग से नहीं।

इन कण्ठ्य ध्वनियों के साथ जोड़ा गया तत्त्व व् (^{w}) परिपूर्ण भारत-यूरोपीय व् से इस बात में भिन्न है कि इसके बाद में प्रयुक्त स्वरध्वनि की सन्धि होने पर इसे उ स्वर के रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता : उदा० भारत-यूरोपीय ध्वन्ति : ध्व्नोन्ति (gwhenti : gwhnonti) से विकसित संस्कृत हन्ति 'वह मारता है' : घ्नन्ति 'वे मारते हैं'; इसी तरह ग्रीक एपेफ्नोन् (épephnon) आदि जो स्वप्न 'नींद' : सुप्त 'निद्रित' जैसे उदाहरणों में व् के सामान्य विकास के विरुद्ध हैं। यह सम्भव है कि यह विशेषता केवल परवर्ती भारत-यूरोपीय स्थिति के साथ ही लागू होती है। खास तौर पर हित्ती में कुछ अवशेष मौजूद हैं, जिनमें यह तत्त्व ठीक व् की तरह स्वर बनाया गया मिलता है। उपर्युद्धृत संस्कृत धातुरूपों से मिलते-जुलते हित्ती रूप प्रथम पुरुष ए० व० कुएन्ज़ि (kuenzi) : प्रथम पुरुष ब० व० कुनन्ज़ि (kunanzi) और संस्कृत नक्त्–, ग्रीक नुज़् (núz), लैटिन नोक्स् (nox) 'रात', भा० यू० *नोक्व्त्– (*nok^{w}t–) से मिलता-जुलता हित्ती रूप नेकुज़् मेहुर (nekuz mehur) 'रात का समय' है। इस विकास के अन्य उदाहरण तोखारी अ कुर्यर् (kuryär) 'व्यवसाय', संस्कृत क्री– 'खरीदना', (भारत-यूरोपीय *क्व्री (*k^{w}rī), तोखारी अ कुकल् (kukäl) रथ', ग्रीक कुक्लोस् (kúklos) 'पहिया' : संस्कृत चक्र, अंग्रेजी व्हील (wheel) (*क्वेक्व्लोस् (*k^{w}k^{w}los)) और ग्रीक गुने (gunḗ) 'स्त्री' : संस्कृत ग्ना– (*ग्व्ना, *g^{w}nā) में देखा जा सकता है। इस प्रकार के उदाहरण भारत-यूरोपीय की प्राचीन स्थिति को प्रतिबिम्बित करते जान पड़ते हैं, जब इन कण्ठ्य ध्वनियों के साथ ओष्ठ्य तत्त्व सामान्य व् के समान था।

६. शुद्ध कण्ठ्य ध्वनियाँ

ये ध्वनियाँ उन स्थितियों को स्पष्ट करने के लिए खोजी गयी हैं, जिनमें कन्तुम् भाषाओं की क् ग् आदि ध्वनियाँ सतॅम् (satəm) वर्ग की भाषाओं में तालव्यीभूत नहीं होतीं और वे उस ओष्ठ्य तत्त्व से भी रहित होती हैं, जिसका प्रभाव कण्ठोष्ठ्य ध्वनियों पर अधिक पाया जाता है। इस प्रकार के उदाहृत निदर्शन निम्नलिखित हैं :

क् : संस्कृत कक्ष– 'काँख', तुल० लैटिन कोक्स (coxa), प्रा० हाईजर्मन हह्स (hahsa); संस्कृत क्रविष्– 'कच्चा मांस', लिथुआनी क्रउयस् (krauyas), प्रा० स्ला० क्रुवि (krŭvĭ) 'खून', ग्रीक क्रेअस् (kréas), लैटिन क्रुओर् (cruor); संस्कृत कृन्तति 'काटता है' (√कर्– तृ–), ग्रीक केइरो (keirō); कर्कट– 'केकड़ा', ग्रीक कर्किनोस् (karkínos), लैटिन कंकेर् (cancer); कृणत्ति 'बुनता है' तुल० ग्रीक कर्तलोस् (kártalos) 'टोकरी', लैटिन क्रातिस् (crātis); अङ्क– 'झुका हुआ, गोद', तुल० लैटिन उंकुस् (uncus), ग्रीक ओङ्कोस् (ónkos, ógkos), °कुल्व– 'गंजा', लैटिन कल्वुस् (calvus); कवि 'बुद्धिमान्', ग्रीक कोएओ (koéō) 'ध्यान देना, खबर लेना' लैटिन कवेओ (caveo) ।

ग् : संस्कृत स्थग्– 'ढँकना', ग्रीक स्तेगो (stégo), लैटिन तेगो (tego); तिग्म 'तीक्ष्ण', ग्रीक स्तिग्मे (stigmḗ) 'छिद्र'; आगस् 'अपराध', ग्रीक अगोस् (ágos); उग्र 'तेज, मजबूत', अवे० अओगरॅ (aogarə); 'शक्ति', लैटिन अउगेओ (augeo), अउगुस्तुस् (augustus) ।

घ् : स्तिघ्– 'लंबे डग भरना', ग्रीक स्तेइखो (steíkho), गॉथिक स्तइग (steiga); दीर्घ– 'लम्बा', प्रा० स्ला० द्लुगु (dlŭgŭ), ग्रीक दोलिखोस् (dolikhós), हित्ती दलुगश् (dalugaš); मेघ– 'बादल', लिथु० मिग्ल (miglà), ग्रीक ओमिख्ले (ōmíkhlē) ।

इस प्रकार के तीसरे कण्ठ्य ध्वनि वर्ग को मूल पूर्वज भाषा में कल्पित करने से उत्पन्न कठिनाई यह है कि वर्तमान भाषाओं में से किसी में भी दो से अधिक कण्ठ्य ध्वनिवर्ग (लैटिन क्विस् quis : कनिस् canis, संस्कृत कः : श्वन्–) नहीं पाए जाते। इस दृष्टि से यह अत्यधिक सन्दिग्ध है कि भारत-यूरोपीय में तीन स्पष्टतः भिन्न कण्ठ्य ध्वनिवर्ग मौजूद थे। तीसरे वर्ग की परिकल्पना सैद्धान्तिकों के लिये सुविधा है, किन्तु यह ऐतिहासिक तथ्य से मेल खाती सम्भव नहीं है। साथ ही परीक्षण करने पर यह परिकल्पना इतनी सुविधा-जनक नहीं मालूम होती, जैसी कि आशा की जाती है, जब कि यह एक ढंग से

ऐसे मिलते-जुलते रूपों को, जो वैसे अनियमित मालूम पड़ते हैं, स्पष्ट कर देती है, फिर भी ऐसे बहुत से रूप सतॅम् (satəm) भाषाओं में बचे रहते हैं, जो इस ढाँचे में नहीं खप पाते। इस प्रकार के उदाहरण संस्कृत क्लम् 'थक जाना', इसके साथ ही श्रम्- 'वही', तुल० ग्रीक क्लमरॉस् (klamarós) 'दुर्बल, सुस्त', और रुच्-/रुक्- 'चमकना', इसके साथ ही रुशन्त् 'चमकीला', तुल० ग्रीक लॅउकॉस् (leukós) 'सफ़ेद', आदि हैं। इस प्रकार के उदाहरण खास तौर पर बाल्टोस्लावी भाषाओं में प्रचलित हैं: लिथुआनी अक्मु (akmũ) 'पत्थर', संस्कृत अश्मन्, तुल० ग्रीक अक्मोन् (ákmōn); लिथु० क्लउश्यूति (klaušyti) 'सुनना', तुल० संस्कृत श्रोषमाण-, तोखारी अ क्ल्योस् (klyos)-; लिथुआनी पॅकुस् (pekus), प्रा० प्रशियन पॅच्कु (pecku), संस्कृत पशु 'पालतू जानवर', लैटिन पॅकु (pecu); प्रा० स्ला० स्वेक्रु (svekrŭ) 'ससुर' संस्कृत श्वशुर-, लैटिन सॉकॅर् (socer), प्रा० स्ला० च्रॅद (črěda) 'झुण्ड', संस्कृत शर्ध-; लिथुआनी स्मक्र (smakrá) 'ठुड्डी', अल्बेनियन म्येक्रॅ (mjekrɛ), संस्कृत श्मश्रु 'मूँछ', आयरिश स्मॅख़ (smech) 'ठुड्डी'। स्पष्टतः ऐसा सिद्धान्त, जो इतनी अधिक अनियमितताओं को स्पष्ट किये बिना छोड़ देता है, विशेष परिपुष्ट रूप में स्थित नहीं है, और चूँकि इन उदाहरणों को आरम्भिक भारत-यूरोपीय में बोली भेद के रूप में ही स्पष्ट करना होगा, इस सिद्धान्त को शेष अंशों में भी लागू करना अधिक सरल प्रतीत होगा। इस सम्बन्ध में खास तौर पर और अधिक सुदृढ बात तब है, जब हमें इस बात का ज्ञान होता है कि जब मिथ्या व्युत्पत्तियों को हटा दिया जाता है[1] और जब प्रत्यय-परिवर्तन के लिए छूट दे दी जाती है और जब ऊ स्वरध्वनि के समीप में ओष्ठ्य तत्त्व के लोप की संभावना पर विचार कर लिया जाता है (उदा० क्रुविष्-, उग्र-), तो इस सिद्धान्त के स्थिरीकरण के लिये अधिक उदाहरण नहीं बचते।

७. द्वितीय तालव्यीभाव

सतॅम्-भाषाओं के विशिष्ट परिवर्तनों के परिपूर्ण हो जाने पर भारत-ईरानी की पूर्वज बोली में क्, ग्, घ् और श्, ज़्, ज़्ह (अथवा च्, ज्, झ्) ये दो ध्वनिवर्ग

---

१. उदाहरण के लिए संस्कृत काल- 'काला' द्रविड़ भाषा से आया है और लैटिन कालिगो (cāligō), आदि से सम्बद्ध नहीं है; आर्य मूल कन्- (संस्कृत कन्या- 'लड़की' आदि) ग्रीक कइनॉस् (kainós) 'नया' से सम्बद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इसका मुख्य अर्थ निश्चित रूप में 'छोटा' है, 'नया' नहीं।

थे। परवर्ती वर्ग भारत-ईरानी युग के अन्तिम समय तक तत्त्वतः अपरिवर्तित रहा, पूर्ववर्ती वर्ग निम्नलिखित परिवर्तन से गुजरा। ऍ-ए (ĕ) (बाद में भारत-ईरानी में अ-आ (ă) के रूप में परिवर्तित) और इ-ई (ĭ) स्वरध्वनियों के पूर्व तथा अन्तःस्थ ध्वनि य् के पूर्व, क्, ग्, घ् क्रमशः घर्ष स्पर्श च्, ज्, झ् के रूप में विकसित हो गए. जिनमें से अन्तिम ईरानी में ज् और संस्कृत में ह् के रूप में बाद में परिवर्तित हो गया है।

क्: संस्कृत च 'और', ग्रीक तें (te), लैटिन क्वे (que); चत्वारः 'चार', प्रा० स्ला० चेतूरे (četyré), लिथु० केतुरि (keturi), ग्रीक तेस्सरेस् (téssares), लैटिन क्वअत्तुओर् (quattuor); सचते 'साथ देता है', अवे० हचइति (hačaiti), ग्रीक हेपेतइ (hépetai) 'अनुसरण करता है', लैटिन सक्वितुर् (sequitur), आयरिश सेख़िथिर (sechithir); पञ्च 'पाँच', लिथु० पेन्‌कि (penki), ग्रीक पेन्ते (pénte), लैटिन क्विन्‌क्वे (quinque); पचति 'रसोई बनाता है', प्रा० स्ला० पेचेतु (pečetŭ), किन्तु उत्तम पुरुष पेकों (pekǫ); चक्र 'पहिया', एंग्लोसे० ह्वेओह्‌ल् (hweohl), तुल० ग्रीक कुक्लोस् (kúklos), तोखारी अ कुकल् (kukäl); चरु- 'एक खास तरह का पात्र विशेष', एंग्लोसे० ह्वेर् (hwer) 'केटली', तुल० प्रा० आयरिश कोइरे (coire) वेल्श पइर् (pair) 'वही'।

ग्: संस्कृत जीव- 'प्राणी, प्राण', जीवति 'जीता है', अवे० ज्वइति (jvaiti), प्रा० स्ला० ज़ि़वु (živŭ) 'जिन्दा', लैटिन वीवुस् (vīvus), ग्रीक बिओस् (bíos); ज्या 'धनुष की डोरी', लिथु० गिज (gijà) 'डोरी', ग्रीक बिओस् (biós) 'धनुष'; जतु 'गोंद, लाह', एंग्लोसे० क्विदु (cwidu), तुल० लैटिन बितूमेन् (bitūmen); ०जानि 'भार्या', गॉथिक क्वेन्स् (qēns); रजनी 'रात', ग्रीक एरेम्नोस् (eremnós), एरेबेन्नोस् (erebennós) 'अँधियारा'।

घ्: संस्कृत हन्ति 'मारता है', अवे० जइन्ति (jainti), संस्कृत जघान 'मार डाला' के विरुद्ध, प्रा० आयरिश गेग्विन् (geguin), हित्ताइत कुएन्जि (kuenzi) 'मारता है'; अर्हति 'समर्थ है', अवे० अरॅजइति (arəjaiti) संस्कृत अर्घ- 'मूल्य' के विपरीत, लिथु० अल्ग (alga) 'इनाम', ग्रीक अल्फनो (alphánō); हरस्- 'गर्मी', ग्रीक थेरोस् (théros) 'ग्रीष्म' (उपर्युक्त घर्म- आदि); दहति 'जलाता है', अवे० दज़इति (dažaiti): निदाघ- 'ग्रीष्म का ताप', लिथु० देगु (degù) 'मैं जलाता हूँ'।

भारत-ईरानी के विकास में द्वितीय तालव्यीभाव इसके बहुत पहले हुआ था, जब शेष भारत-ईरानी से इस शाखा को भिन्न करने वाली विशेषता ऍ-ए का अ-आ के रूप में परिवर्तन हो गया था। इस तरह के परिवर्तन सतॅम्-

वर्ग की अन्य भाषाओं में मिलते हैं, उदा० स्लावी (चेतूरे četyre '४', ज़िवु živŭ 'जिन्दा') और आर्मीनी (जेर्म jerm 'गरम') में किन्तु ये स्वतन्त्र रूप में बाद में विकसित हुए जान पड़ते हैं।

८. भारतीय-आर्य में दो तालव्य ध्वनि वर्ग

भारतीय-आर्य उपशाखा में, ईरानी में पूरी तरह सुरक्षित दो तालव्य वर्गों (स्, ज़्, ज़् : च्, ज्, ज्) का परस्पर भेद केवल अघोष (श् : च्) ध्वनियों के सम्बन्ध में ही है। दूसरी ओर अल्पप्राण तथा महाप्राण दोनों तरह की सघोष ध्वनियाँ क्रमशः ज् (= ज़् और ज्) तथा ह् (= ज़्ह् और झ्) के साथ गड्डमड्ड कर दी गई हैं। किन्तु व्याकरणिक प्रक्रिया में इन दोनों का परस्पर भेद कई ढंग से प्रभावपूर्ण रहा है, क्योंकि इनके मूल की दृष्टि से ज् और ह् दोनों अलग-अलग प्रकरणों में दो भिन्न ढंग से उपस्थित किए गए हैं। शब्दरूपों में तथा विभक्ति-चिह्नों के साथ ज् और ह् के भिन्न-भिन्न मूलों में सन्धि के नियम भिन्न-भिन्न ढंग से लागू होते हैं। इस बात को दो प्रकार के धातुओं से बने –त प्रत्ययान्त रूपों के क्रमशः भिन्न उदाहरणों से निदर्शित किया जा सकता है।

ज् : (अ) यज्– 'याग करना' (अवे० यज़्– ,yaz) : इष्ट–, सृज्– 'भेज देना' (अवे० हरॅज़् harəz–) : सृष्ट–, मृज्–, मिटाना' (अवे० मरॅज़् marəz) : मृष्ट–।

(ब) निज्– 'धोना' (अवे० नएज् (naēǰ–) : निक्त–; भज्– 'विभाग करना' (अवे० बज् baǰ–) : भक्त–; युज्– 'जुड़ना' (अवे० यओज्–yaoj) : युक्त–।

ह् : (अ) वह् 'धारण करना' (अवे० वज़्– vaz–) : ऊढ–, लिह् 'चाटना' (अवे० रएज़् raēz) : लीढ–; सह्– 'सहन करना' (अवे० हज़्, haz–) : साढ–, सोढ–।

(ब) दह् 'जलाना' (ईरानी दज् daǰ–, अवे० दज़्इति dažaiti) : दुग्ध–, द्रुह्– 'चोट पहुँचना, द्रोह करना' (अवे० द्रुज् druǰ) : द्रुग्ध–। अन्य दृष्टियों की तरह इसमें भी इन दो वर्गों का परस्पर भेद संस्कृत व्याकरण में सक्रिय है।

द्वितीय तालव्यीभाव की दशा में प्रथम के विपरीत, जो कि सभी परिस्थितियों में सक्रिय था, तालव्यीभूत और अतालव्यीभूत रूपों के बीच प्रभावित धातुओं में एक वैकल्पिक प्रक्रिया विद्यमान है, जो परवर्ती स्वरध्वनि के मूलतः ऍ-ए अथा ऑ-ओ की प्रकृति पर आधृत थी। यह जुघान 'मारा' और जिगाय 'जीता' जैसे लिट् रूपों में, जो हन्ति तथा जयति जैसे वर्तमान रूपों से भिन्न रूप हैं,

देखा जा सकता है। इस प्रकार के वैकल्पिक रूप उन धातुओं के सम्बन्ध में स्वीकृत नहीं है, जिनका ज् और ह् प्रथम तालव्य वर्ग से सम्बद्ध है, उदा० ज़जान॑ 'उत्पन्न किया' (जन्– : अवे० ज़न्) और जुहाव॑ 'बुलाया' (ह्व : अवे० ज़व्–)।

आरम्भ में तालव्यीभूत और अतालव्यीभूत रूपों का वर्गीकरण पूरी तरह परवर्ती स्वरों की प्रकृति पर आवृत रहा होगा और फलतः इन दोनों में परिवर्तन संज्ञा तथा रूप-रचना-प्रक्रिया (paradigm) में सक्रिय रहा होगा। स्लावी भाषा के समानान्तर तालव्यीभाव में इस तरह का परिवर्तन मिलता है, उदा० व्लुकु (vlŭkŭ) 'भेड़िया' कर्ता ए० व० और व्लुचे (vlŭčĕ) सम्बोधन ए० व० में, तथा पेकोँ (pekǫ) 'मैं पकाता हूँ' और पेचेतु (pečetŭ) 'वह पकाता है' में। चूँकि भाषाशास्त्रीय विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया इस प्रकार की अनियमितताओं को हटा देना है (जैसा कि बाद में रूसी आदि में हुआ है), यह सम्भव है कि स्लावी तालव्यीभाव साहित्यिक परम्परा के विकास के अधिक पूर्व तक नहीं था। दूसरी ओर भारत-ईरानी में यह परिवर्तन इस सादृश्य के अधिक प्रभावशाली बनने के लिये काफी पहले हो चुका था। स्लावी पद्धति के ढंग पर संज्ञा तथा क्रियाओं की रूपरचना में विभिन्नता केवल स्वररूप तथा व्यञ्जन रूप प्रत्ययों के परस्पर भेद (सप्तमी ए० व० वाचि, सप्तमी ब० व० वाक्षु) के अतिरिक्त हटा दिया गया है। दूसरी ओर यह परिवर्तन विभिन्न व्युत्पन्न संज्ञाशब्दों में सक्रिय है (भोग– : भोज–, आदि)। धातु के आरम्भ में तालव्य और कण्ठ्य का यह परिवर्तन केवल ऊपर उद्धृत कुछ धातुओं के सम्बन्ध में ही सक्रिय है। अधिकांशतः यह हटा दिया गया है और इस दृष्टि से संस्कृत प्राचीन ईरानी की अपेक्षा नये रूपों की अधिक प्रवृत्ति प्रदर्शित करती है। तुल० संस्कृत अकर् धातुज लुङ् (root aorist) प्रथम पुरुष, अवे० चोरॅत् (čōrət) (प्रा० आर्य अचर्त् <ए॑कॆर्त्) और अगमत् अ–लुङ्, अवे० जिमत् (ǰimat)। परवर्ती स्थिति में व्यक्तिवाचक संज्ञाशब्द जमदग्नि– (जो अग्नि के समीप जाता है) में प्राचीन प्राग्वैदिक रूप सुरक्षित है। लिट् लकार के अभ्यास रूप आदि में परिवर्तन इस आधार पर पाया जाता है कि अभ्यास रूप अक्षर (reduplicating syllable) की स्वरध्वनि मूलतः ए॑ (जुगार्स <ग्वॆग्वोमे, <$g^w eg^w$ōme, आदि) थी।

संस्कृत में ऐसे कुछ उदाहरण हैं, जहाँ प्राचीन तालव्य वर्ग का ज् व्युत्पन्न नामिक शब्दों में ग् के साथ परिवर्तित होता है, उदा० सर्ग॑– 'निकास' (सृज्–, अवे० हरॅज़् (harəz), याग॑– 'यज्ञ' (यज्–, अवे० यज़् = yaz–)। यहाँ कण्ठ्य ध्वनि मूल ध्वनि नहीं हो सकती और यह परवर्ती वर्ग की तालव्य

ध्वनियों के आधार पर है, जो उस समय के बाद सक्रिय थीं, जब कि दोनों उच्चारण में एक साथ पड़ गयी थीं।

९. भारत-ईरानी तथा स्लावी में स् के विकास

संस्कृत में यह नियम है कि दन्त्य सोष्म ध्वनि क्, र्, ऋ, इ, उ के बाद आने पर मूर्धन्य बना दी जाती है। इसी तरह के नियम के अनुसार ईरानी स् (>ईरानी ह्) तालव्य श् (š) का रूप ग्रहण कर लेता है। इसके अतिरिक्त स्लावी भाषाओं में इन परिस्थितियों में स् प्रायः छ् का आदेश ग्रहण करता है और यह छ् प्राचीन तालव्य श् का प्रतिनिधित्व करता है। लिथुआनी में ठीक इसी तरह का परिवर्तन मिलता है, किन्तु केवल र् के बाद। उदाहरण निम्नलिखित है।

क् के बाद : (संस्कृत क्ष्, ईरानी ख्श् (xš), स्लावी <छ्<क्ख्<क्श् (ch<kx<kš) संस्कृत वक्ष्यामि, अवे० वख्श्या (vaxšyā); संस्कृत क्षुद्र- 'छोटा', तुल० प्रा० स्ला० छूदु (chudŭ) 'वही'; संस्कृत अरैक्षम्, रिच्- 'छोड़ना' का स्- लुङ् (भारत-यूरोपीय लेइक्व्- (leikʷ-), ग्रीक एलेइप्स (éleipsa); तु० प्रा० स्ला० तेछु (těchŭ), तेकॅाँ (tekǫ) 'मैं दौड़ता हूँ' का स्- लुङ् रूप।

क्य्- के बाद : संस्कृत श् : (संस्कृत क्ष्, ईरानी श् (š), स्लावी स्), संस्कृत अक्ष- 'धुरी', अवे० अश् (aša)–, प्रा० स्ला० ओसि (osĭ), लिथु० अशिस् (ašis), ग्रीक अज़ोन् (ázōn), लैटिन अक्सिस् (axis); संस्कृत दक्षिण- 'दाहिना (हाथ)', अवे० दशिन- (dašina–), प्रा० स्ला० देसिनु (desinŭ), लिथु० देशिने (dešinē), ग्रीक देज़िओस् (deziós), लैटिन देक्स्तेर् (dexter), आदि; संस्कृत तक्ष्-'लकड़ी का काम करना (बढ़ई की तरह)', अवे० तश्- (taš), प्रा० स्ला० तेसति (tesati), लिथु० तशूति (tašýti), ग्रीक तेख्ने (tékhnē) 'कला' (*तेक्स्ना *téksnā), तेक्तोन् (téktōn) 'बढ़ई' (*तेक्स्तोन् *tékstōn), हित्ती तक्श्- (takš-) 'जोड़ना', लैटिन तेक्सो (texo) 'बुनना', संस्कृत मक्षू 'जल्दी', अवे० मोशु (mošu), लैटिन मोक्स् (mox).

र् : (और ऋ) के बाद : संस्कृत वर्ष्मन्- 'शिखर, चोटी', वर्षीयस् 'अधिक ऊँचा', प्रा० स्ला० व्रिछु (vrĭchŭ) 'शिखर', लिथु० विर्शुस् (viršŭs) 'ऊपरी हिस्सा'; मृष् 'तरजीह न देना, माफ करना' मर्ष- 'सहिष्णुता', लिथु० मिर्श्ति (miršti) 'भूलना'; मर्शस् (maršas) 'भुलक्कड़पना', तोखारी अ मार्स् (märs) 'भूलना'; धृष्णोति 'हिम्मत करता है', प्रा० फारसी अदर्शनउश्

(adaršnauš) 'उसने हिम्मत की', तुल० ग्रीक थर्सोस् (thársos) 'साहस', गॉथिक गदर्स् (gadars) 'साहस करना', अंग्रेजी डर्स्ट् (durst), आदि।

इ : के बाद : संस्कृत पिष् 'पीसना', प्रा० स्ला० पिछ्ति (pichati) 'खटखटाना, मारना', लैटिन पिन्सो (pinso); त्रिषु, त्रि- 'तीन' का सप्तमी ब० व०, प्रा० स्ला० त्रिछु (trichŭ); अश्व- 'घोड़ा' का सप्तमी ब० व०, अश्वेषु, अवे० अस्पएशु (aspaēšu), तुल० प्रा० स्ला० व्लुचेछु (vlŭchěchŭ) (व्लुकु (vluku) 'भेड़िया'); विष- 'जहर' अवे० विश-, वीश- (vīša), लैटिन वीरुस् (vīrus), ग्रीक इओस् (iós)।

उ के बाद : जुष्- 'आनन्द लेना', जोष-'आनन्द', अवे० ज़ओश्- (zaoš) तुल० लैटिन गुस्तूस् (gustūs), आदि; मूष्- 'चूहा', प्रा० स्ला० मूशि (myšĭ) लैटिन मूस (mūs), आदि; शुष्क-'सूखा', शोष-'सूखना', अवे० हुश्क- (huška) 'सूखा', प्रा० स्ला० सूछु (suchŭ), लिथु० सउसस् (sausas), ग्रीक अऊओस् (aûos) 'वही'।

जैसा कि देखा जा सकता है, भारत-ईरानी तथा स्लावी की समानान्तरता पूरी तरह परिपूर्ण नहीं है, क्योंकि ये दोनों भारत-यूरोपीय क्य् (> संस्कृत श्, स्लावी स्) के बाद आने वाले स् के विकास में एक-दूसरे से भिन्न हैं। किन्तु अन्य सभी बातों में वे एक-दूसरे से मिलती हैं और इस बात की समानता काफी गहरी है कि इस प्रकार के परिवर्तन बिलकुल स्वतन्त्र रूप में नहीं हुए हैं। ठीक इसी तरह का परिवर्तन लिथुआनी में भी दिखाई पड़ता है, किन्तु केवल र् के सम्बन्ध में, जो कि एक सुदूर सम्बन्ध का संकेत करता है, जो भारत-ईरानी तथा स्लावी के परस्पर सम्बन्ध से अधिक दूर का है।

स् का मूर्धन्यीभाव संस्कृत में उस स्थिति में नहीं होता, जब उसके ठीक बाद र्, ऋ आते हैं : उदा० विस्र 'दुर्गन्धयुक्त (मांस)', तुल० विष- आदि, अवे० वएश (vaēša) 'भ्रष्टाचार'; त्रि- 'तीन' से बने तिस्रः, तिसृभिः, तिसृणाम्, उषर् 'उषःकाल' से षष्ठी ए० व० उस्रः; सर् 'जाना' से सिस्रते। अवेस्ता में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है, उदा० थ्रि- (θri)' तीन' का कर्ता ब० व० स्त्रीलिङ्ग तिश्रो (tišrō)।

१०. तथाकथित चंचल 'स्'

संयुक्त व्यंजन ध्वनियों में प्रथम ध्वनि होने पर भारत-यूरोपीय स् एक ऐसी अस्थिर ध्वनि थी, जो अब तक पूरी तौर पर अनियत और अविश्लिष्ट परिस्थितियों में लुप्त हो जाती थी। विभिन्न भाषाओं में स् से युक्त तथा स् से रहित रूप साथ-साथ मिलते हैं, जिन्हें निम्नलिखित उदाहरणों से विश्लिष्ट किया

जा सकता है: संस्कृत तन्यति 'गरजता है', लैटिन तोनारे: (tonāre): संस्कृत स्तनयित्नु 'बादल की गरज', तु० ग्रीक स्तेनो (sténō), प्रा० स्ला० स्तेन्यौं (stenję), आदि; संस्कृत तायु– 'चोर', प्रा० स्ला० तत्तु (tatŭ) 'वही', ग्रीक तेतओ (tētáō), हित्ती ताय– 'चुराना', संस्कृत स्तेन–'चोर' स्तायु–, स्तायन्त्–, आदि; संस्कृत तृ–, तारा 'तारा' : संस्कृत स्तृ–, अवे० स्तर् (star)–, ग्रीक अस्तेर् (ástēr), आदि 'वही'; संस्कृत तिज्- 'तेज करना', तिग्म 'तेज, तीक्ष्ण' : ग्रीक स्तिज़ो (stízō), स्तिग्मे (stigmḗ) आदि; संस्कृत तुद्– प्रेरित करना, ढकेलना', लैटिन, तुन्दो (tundo) : गॉथिक स्तउतन् (stautan) 'वही'; संस्कृत फेन– 'झाग', प्रा० स्ला० पेन (pěna): प्रा० प्रशियन स्पोअयनो (spoayno), भिन्न प्रत्यय के साथ लैटिन स्पूम (spūma); अंग्रेजी फोम–(foam); संस्कृत प्लीहन्- 'पेट की तिल्ली' : अवे० स्पॅरॅज़न्- (spərəzan), ग्रीक स्प्लेन्-(splḗn), आदि; संस्कृत पश्यति 'देखता है' : स्पश्- 'गुप्तचर', लैटिन स्पेकिओ (specio); संस्कृत खञ्ज्- 'लँगड़ा होना', : ग्रीक स्कज़ो (skázo); संस्कृत फाल 'हल के आगे का नुकीला भाग' : फारसी सुपार् (supār); फारसी फिङ् 'पतवार : संस्कृत स्फ्य- श्रुवा' अवे० (वी-) ख़द्- (vi-xad-) '(जमीन) तोड़ना' : संस्कृत स्खद्- 'टुकड़े-टुकड़े कर डालना', तुल० ग्रीक स्केदन्नुमि (skedánnumi); संस्कृत नव–'छींकना' : जर्मन नीसेन् (niesen) : अंग्रेजी स्नीज़् (sneeze) (नेउ-स्- : स्नेउ–स्- ; neu–s– : sne–u–s–); संस्कृत लवण– 'खारा, नमक' : तुल० लैटिन सल् (sal), निहाका 'कोहरा', नीहार– 'कोहरा, ओस' : स्निह्- 'भीगना', आदि। सभी भारत-यूरोपीय भाषाओं को प्रभावित करने वाले इस प्रकार के परिवर्तन को स्पष्ट करने का कोई पूर्ण सन्तोषजनक सिद्धान्त नहीं है। बहुत अधिक सम्भव है कि यह भारत-यूरोपीय युग में पदादि स् को प्रभावित करने वाली किसी प्रकार की बाह्य सन्धि का परिणाम है। यह अधिक स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यह प्रक्रिया पदादि स् के लोप के कारण है, और यदि ऐसा है तो स् को किसी न किसी तरह के उपसर्ग का अवशेष मानने वाले सिद्धान्त का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

११. थ्, थ्ह्, ध् (p, ph, d̄h) का पुनर्निर्माण

व्युत्पत्ति की दृष्टि से सम्बद्ध कुछ शब्दों में, खास तौर पर भारतीय-आर्य और ग्रीक-शाखाओं में, प्रथम शाखा का स् (श् ś) परवर्ती शाखा में त् या थ् से मिलता प्रतीत होता है। इस परिवर्तन के अतिप्रचलित उदाहरण, जिन्होंने काफी कठिनाई उपस्थित की है, निम्नलिखित हैं: संस्कृत तक्षन्– 'बढ़ई' : ग्रीक

तेक्तोन् (téktōn); संस्कृत ऋक्ष- 'भालू', लैटिन उर्सुस् (ursus) : ग्रीक अर्क्तोस् (árktos), आयरिश अर्त- (art), संस्कृत क्षन्- 'जख्म पहुँचाना' ग्रीक क्तेइनो (kteínō), 'मारना', संस्कृत क्षि- 'निवास करना', अवे० शय्- (šay), : ग्रीक क्तेइनो (kteínō), ; सं० क्षि 'रहना', अवे० शय् (šay-) ग्रीक क्तिज़ो (ktízō) क्तिमेनोस् (ktímenos) ; क्षि- 'अधिकार में करना' : ग्रीक क्तओमइ (ktáomai); रक्ष्- 'चोट पहुँचाना' : ग्रीक एरेख्थो (erékhthō) ; क्षम्- 'पृथ्वी' : ग्रीक ख्थोन् (khthṓn) ; क्षर्- 'बहना' ग्रीक फ्थेइरो (phtheírō) 'नष्ट होना', ; क्षि- 'विनाश करना' : ग्रीक फ्थिनो (phthínō)। इनको स्पष्ट करने के लिये भारत-यूरोपीय घर्ष-ध्वनियों अर्थात् थ्, थ्ह्, ध् (þ, þh, đh) के वर्ग की कल्पना करने की परम्परा हो गयी है, किन्तु यह निश्चित है कि ये पुनर्निर्माण बिना किसी गम्भीर आधार के हैं, क्योंकि एक वैकल्पिक व्याख्या, जो इन सम्बन्धों में मजे से लागू हो सकती है, प्रत्यय-परिवर्तन की है। भारोपीय तेक्स्- (teks-) स्पष्टतः संस्कृत, लैटिन और हित्ती (तक्ष्-, तेक्सो texo, तक्श्-, takš) के रूप में पर्याप्ततः उदित होता है। ग्रीक तेक्तोन् (téktōn) (<*तेक्स्-तोन्, *teks-tōn) कोय ह मानकर वड़ी सरलता से स्पष्ट किया जा सकता है कि इसके साथ संस्कृत के केवल न् प्रत्यय के विपरीत तेन्/तोन् संयुक्त प्रत्यय जोड़ दिया गया है। यह स्पष्ट है कि ग्रीक अर्क्तोस् (árktos) में त् उन रूपों से लिया प्रत्यय है, जिनमें यह नहीं मिलता (अर्कोस् árkos, अर्किलोस् árkilos, अर्कदेस् A'rkades) : ऐसा होने पर संस्कृत और लैटिन में मिलने वाले रूप स्पष्टतः भिन्न प्रत्यय से युक्त व्यक्त किए जा सकते हैं। संस्कृत अक्षि के स्- प्रत्यय को प्रा० स्ला० ओको (oko), सम्बन्ध ए० व० ओचेसे (očese) के साथ वर्गीकृत करना होगा और यह ग्रीक ओक्तल्लोस् (óktallos) ओप्तिलोस् (optílos), ओफ्थल्मोस् (ophthalmós) में त्, थ् से भिन्न प्रत्यय है। संस्कृत क्षन्-को वस्तुतः शस्- 'वध करना' धातु का विस्तृत रूप स्पष्ट करना होगा, जिसमें ठीक वही प्रत्यय जोड़ दिया गया है, जो शसन- 'वध' में मिलता है। ग्रीक क्तेइनो (kteínō) 'मारना' (क्स्-तेन्-यो ks-ten-yō) में हमें एक वैकल्पिक संयुक्त प्रयुक्त -तेन्- मिलता है, और यह तथ्य क्तेरेस्-नेक्रोइ (ktéres-nekroi) के अस्तित्व के द्वारा स्पष्ट होता है, जिनमें इन प्रत्ययों की विशेषता र् / न् का परिवर्तन है। ग्रीक क्तेरस् (ktéras) 'अधिकार' (और व्यक्ति-वाचक नाम पोलुक्तोर (Polúktōr) की क्तओमइ (ktáomai) 'अधिकार में रखना' के साथ तुलना इस प्रत्यय-परिवर्तन का संकेत करती है, जो धातु को

७ सं०

केवल प्रथम ध्वनि के रूप में संकुचित करने के साथ – तेर्– और – ता– जैसे अधिक संश्लिष्ट रूपों तक मजे से बढ़ सकता है। क्षि–ः क्षित के विषय में यह ठीक सुझाया जाता है कि तेक्ष्यस् (teks) 'गढ़ना, बनाना, रचना' धातु का एक संकुचित रूप विविध प्रत्ययों के साथ संयुक्त है (*त्क्स्–इ, *त्क्स्–ति–, *tks-i, *tks-ti), और इस प्रकार का विकास भारत-यूरोपीय में समुचित होगा, यद्यपि अत्यधिक संकुचित रूप इसे सिद्ध करने की कठिनाई उपस्थित करता है। किसी भी तरह और भी अन्य पर्याप्त रूपों को लेकर इसे स्पष्ट करने के लिये विश्लेषित किया जा सकता है कि भारत-यूरोपीय में इन अधिक रूपों की कल्पना करने की कोई जरूरत नहीं है।

१२. र् और ल् का विकास

ईरानी में भारत-यूरोपीय र्, ल् बिना किसी भेद के र् के रूप में मिलते हैं।[1] ऋग्वेद की भाषा में भी मुख्यतः यही स्थिति है। शास्त्रीय संस्कृत में ल् और र् दोनों मिलते हैं, किन्तु उनका विभाजन भारत-यूरोपीय के विभाजन के साथ ठीक-ठीक नहीं मिलता। भारतीय आर्य की कतिपय पूर्वी विभाषाओं में (खास तौर पर अशोक के शिलालेखों में और नाटकों की मागधी में) केवल ल् मिलता है। संस्कृत में ल् का विकास निम्नलिखित उदाहरणों के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है :

(अ) ल् का र् हो जाता है : रिणक्ति 'छोड़ता है' : लैटिन लिन्क्वित् (linquit); श्रोणि– 'नितम्ब' : लैटिन क्लूनिस् (clūnis), लिथु० श्लउनिस् (šlaunis); सर्पिः 'घी', तोखारी अ षल्यप् (ṣalyp), तुल० अंग्रेजी साल्व (salve); अरत्नि (बाज़ू) : ग्रीक ओलेने (ōlénē), लैटिन उल्न (ulna); श्रवः 'यश' : ग्रीक क्लेओस् (kléos), प्रा० स्ला० स्लोवो (slovo) 'शब्द'; गर्भ 'गर्भ', ग्रीक देल्फुस् (delphús) 'वही', अदेल्फोस् (adelphós) 'भाई' (तुल० सोदर–); चक्र– 'पहिया' ग्रीक कुक्लोस् (kúklos); परशु– 'कुठार' : ग्रीक पेलेकुस् (pélekus), पिपर्ति 'भरता है', : ग्रीक पिम्प्लेमि (pímplēmi), पुर्– 'नगर' : लिथु० पिलिस् (pilis), ग्रीक पोलिस् (pólis), श्रि– 'झुकना' : ग्रीक क्लिनो (klínō); सूर्य– 'सूरज', लैटिन सोल् (sōl)।

---

१. आधुनिक फारसी में और कभी-कभी अन्यत्र भी इसके कुछ अपवाद हैं : पर्शियन लिश्तन (lištan) 'चाटना', रिह्–, लिह्, ग्रीक लेइखो (leíkhō); लशिन् (lašin) 'मुलायम', संस्कृत श्लक्ष्ण–; लब् 'ओठों से छूना' : लैटिन लबिउम् (labium); ऑसेटिक सल्द् 'ठंडा', लिथु० शल्तस् (šáltas)।

(व) ल् ही बचा रहता है : लुभ्यति 'लोभ करता है' : लैटिन लुबेत् (lubet); पलित- 'श्वेत बालों वाला' : तुल० ग्रीक पोलिओस् (poliós), पेलित्नोस् (pelitnós), आदि; कुल्व- 'गंजा' : लैटिन कल्वुस् (calvus); पुलाव- 'भूसा' : प्रा० स्ला० प्लेव (plěva), लैटिन पलेअ (palea); पल्वल- 'पोखरा' : तुल० लैटिन पलुस् (palus) 'दलदल' प्लीहन्- 'प्लीहा' : ग्रीक स्प्लेन् (splén), लैटिन लिएन (lien); दल- 'भाग' : लिथु० दलिस् (dalis), क्लोमन्- (klóman-) 'फेफड़ा' : ग्रीक प्लेउमोन् (pleúmōn)।

वैदिक भाषा की तुलना शास्त्रीय भाषा के साथ करने पर हमें पता चलता है : (i) कि कुछ शब्दों में परवर्ती भाषा में वहाँ ल् मिलता है, जहाँ पूर्ववर्ती भाषा में र् है और यह सामान्यतः उन स्थलों पर है, जहाँ दूसरी भारत-यूरोपीय भाषाओं में ल् मिलता है, उदा० लघु- 'हलका', वैदिक रघु- ग्रीक, एलखुस् (elakhús), लैटिन लेविस् (levis); प्लु- 'तैरना', वैदिक प्रु-, ग्रीक प्लेओ (pléō), लिप्- 'लीपना', वैदिक रिप्-, ग्रीक अलेइफो (aleíphō); लिह्- 'चाटना', वैदिक रिह्-, ग्रीक लेइखो (leikhō), (ii) कि शास्त्रीय भाषा के ऐसे काफी अनुपात वाले शब्द जिनमें मूल भा० यू० ऍ सुरक्षित है, ऋग्वेद की संहिता में नहीं मिलते, आकस्मिक रूप से अथवा इसलिये कि उनका अर्थ इस प्रकृति का है कि उनका धार्मिक मन्त्रों की संहिता में उपलब्ध होना सम्भव नहीं था, (उदा० प्लुषि- 'जूँ', आर्मीनियन लु (lu) अल्बेनियन प्लेश्त् (pl'ešt), तुल० लिथुआनी ब्लुस (blusá); (iii) कि कुछ ऐसे व्युत्पन्न शब्द जो अपने धातुओं से दूर जा पड़े हैं, भारोपीय ल् को सुरक्षित रखते हैं, यद्यपि उसके स्थान पर सामान्यतः र् का प्रयोग होने लगा है : श्लोक 'पद्य' (श्रु-), विपुल-'बड़ा, विस्तृत' (पॄ-, पिपर्ति 'वह भरता है')।

इस आपाततः जटिल विकास की व्याख्या बहुत सरल है। ऋग्वैदिक बोली का मूलाधार उत्तर पश्चिमी प्रदेश में था, जब कि शास्त्रीय भाषा मध्य देश में बनी थी। इन दोनों का मूल विभाजन इस तरह का रहा होगा कि पश्चिमी विभाषा में र् ठीक उसी तरह ल् हो जाता होगा, जिस तरह ईरानी में (क्योंकि यह ईरानी के पास थी और साथ ही सम्भवतः परवर्ती प्रसार की धारा का प्रतिनिधित्व करती थी), जब कि अधिक पूर्वी विभाषा मूल भेद को सुरक्षित रखे थी। यही वह परवर्ती प्रदेश था जहाँ शास्त्रीय संस्कृत का विस्तार हुआ, किन्तु यह वेद की भाषा से भिन्न बिलकुल अलग साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित नहीं हुई थी, बल्कि वैदिक मन्त्रों की प्राचीन धार्मिक भाषा के प्रतिसंस्कार के रूप में ही विकसित हुई थी। परवर्ती भाषा सदा साहित्यिक भाषा का मूलाधार थी, किन्तु प्राचीन-

तम युग (और इस युग में ऋग्वेद के दशम मण्डल के परवर्ती भाग का अधिकांश नहीं आता) के बाद से साहित्यिक सर्जना का केन्द्र पूर्व की ओर मध्यदेश में खिसक आया और अपने परवर्ती विकास में साहित्यिक भाषा इस प्रदेश के बोली–रूपों से निरन्तर प्रभावित होती रही। इस प्रकार र् और ल् के विभाजन के प्रसंग में शब्द-भाण्डार के अनेक मूल शब्द सदा वैदिक साहित्य के द्वारा निर्धारित रूपों को सुरक्षित रखते हैं, किन्तु अन्य स्थलों में मध्यदेश की बोली के आधार बने ल् वाले रूप उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे स्थलों में जहाँ वैदिक संहिता में प्रस्तुत शब्द नहीं मिलता और इसलिये जहाँ सुस्थिर साहित्यिक परम्परा नहीं पायी जाती, मूल ल् वाला पूर्वी रूप सभी जगह सदा मिलता है।

भा० यू० र् का विकास इस बात में उपर्युक्त विकास से भिन्न है कि अधिकांश स्थलों में यह भाषाविकास के सभी युगों में र् ही बना रहता है, उदा० रुधिर 'लाल, खून', ग्रीक ऐरुथ्रोस् (eruthrós); जरन्त्- 'प्राचीन, वृद्ध' ग्रीक गेरोन् (gérōn) 'वृद्ध आदमी'; रै- 'सम्पत्ति' लैटिन रेस्- (rēs); परि 'चारों तरफ', ग्रीक पेरि (perí); वर्त्तते 'घूमता है', लैटिन वेर्तितुर् (vertitur), पर्दते 'हवा करता है' पेर्देतइ (pérdetai); पार्ष्णि 'एड़ी', ग्रीक प्तेर्न (ptérna) गॉथिक फइर्ज़्न (fairzna); स्रु 'बहना', ग्रीक हेओ (hréō); नरः प्रथमा बहुवचन 'बहुत से मनुष्य' ग्रीक अनेरेस् (anéres); अन्द्रेस् (ándres); सर्पति 'रेंगता है', ग्रीक हेर्पो (hérpō), लैटिन सेर्पो (serpō); राज्-, राजन्-; 'राजा', लैटिन रेक्स् (rēx); रथ- 'रथ', लिथु० रॅतस् (rãtas) 'पहिया', लैटिन रोत (rota) 'वही'; वीर- 'मनुष्य, बहादुर', लिथु० वीरस् (výras), लैटिन विर (vir) आदि।

दूसरी ओर भा० यू० र् के स्थान पर ल् का प्रयोग तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम मिलता है : लोहित 'लाल' (रोहित- भी, अवे० रओइद्वित- (raoiδita) तुल० रुधिर-); लुप्- 'फाड़ना', साथ-साथ रुप् , लैटिन रुम्पो (rumpō), अलम् 'ठीक, पर्याप्त', वैदिक अरम् , तुल० ग्रीक अररिस्को (arariskō); लज्जते 'लज्जित होता है' (रज्यते 'लाल रँगा जाता है', ग्रीक हेज़ो (hrézō) 'रंगना')। इन रूपों का मूल उद्गम दूर पूर्व की विभाषाओं में है, जहाँ र् हमेशा ल् के द्वारा हटा दिया जाता है। यह प्रक्रिया वैदिक विभाषा और ईरानी के बिलकुल विपरीत है और उससे स्वतन्त्र है। इस स्रोत से भी संस्कृत ने कुछ रूपों का आदान किया है, किन्तु बहुत कम, इसलिये कि सामान्य बोलियाँ वैदिक साहित्य जितना सम्मान नहीं रखती थीं, और परिनिष्ठित भाषा के विकास में उन्होंने बहुत कम प्रभाव डाला था।

१३. भारत-यूरोपीय ? (H)

पिछले दिनों हित्ती की खोज के परिमाणस्वरूप भारत-यूरोपीय विवरण में एक नये ध्वन्यात्मक तत्त्व का प्रवेश हो गया है। इस भाषा में एक विशेष ध्वनि ह् (ḫ) का अस्तित्व मालूम पड़ता है, जो भा० यू० ध्वनिविचार की सामान्यतः प्रचलित परिकल्पना में अपरिज्ञात था। यह मूल भा० यू० शब्दों में मिलता है और इसलिये इसे भारत-यूरोपीय के साथ सम्बद्ध होना चाहिए। चूँकि यह अन्य सभी भाषाओं के सम्बद्ध शब्दों में अनुपलब्ध है, इस बात की कल्पना की जा सकती है कि उन भाषाओं ने एक ऐसे परिवर्तन को समान रूप से ग्रहण किया है जिसके कारण यह ध्वनि लुप्त हो गयी है और वे इस दृष्टि से भारत-यूरोपीय की उस स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है जो हित्ती में सुरक्षित स्थिति से और अधिक आगे बढ़ी हुई है। ह् (ḫ) के साधारण उदाहरण ये हैं: हित्ती एश्हर् (eš̱ḫar) 'खून' : संस्कृत असृक्, लैटिन असेर् (aser), ग्रीक एअर् (éar), तोखारी ईसर् (ysar); हस्तइ (ḫaštai) 'हड्डी' : संस्कृत अस्थि, ग्रीक ओस्तेओन् (ostéon), लैटिन ओस् (os); हन्त्- (ḫant-), 'सामने' : संस्कृत अन्ति (किसी के सामने), नजदीक', ग्रीक अन्ति (antí); लैटिन अन्ते (ante); हर्कि - (ḫarki-) 'सफेद' : तोखारी आर्कि (ārki), ग्रीक अर्गोस् argós), संस्कृत अर्जुन-, आदि; पह्हुर् (paḫḫur) 'अग्नि' : ग्रीक पुर (pûr); पह्श्- (paḫš) 'रक्षा करना' : तुल० संस्कृत पा 'वही', आदि; इश्हइ- (išḫai-), इश्हिय- (išḫiya-) 'बाँधना' : संस्कृत स्यति 'बाँधता है'; नेवह्ह्- (newaḫḫ-) 'पुनर्नवीन बनाना' : लैटिन नोवारे (novāre), पल्हिश् (palḫiš) 'चौड़ा, विशाल' : तुल० लैटिन प्लानुस् (plānus), आदि। भारत-यूरोपीय के लिये एच० पेडरसन के द्वारा प्रयुक्त प्रतीक ?(H) सबसे अधिक सुविधाजनक है (भा० यू० *पेल् ?-, *palH-, आदि)।

कुछ स्थितियों में ? (H) ध्वनि विना किसी अवशेष (असृक् 'खून') के लुप्त हो जाती है, किन्तु अन्यत्र इसका प्रभाव बचा रहता है। यह स्पष्ट है कि लैटिन नोवारे (novāre) में दीर्घ स्वरध्वनि, ह्रस्व स्वरध्वनि + ? के संयोग का परिमाण है, जो हित्ती में विद्यमान है, और ठीक यही कल्पना लैटिन प्लानुस् (plānus) के सम्बन्ध में की जा सकती है (प्ल ?-, plaH-, हित्ती पल्ह् palḫ- से अपश्रुति में भिन्न होते हुए)। हित्ती के सादृय पर संस्कृत स्यति 'बाँधता है' *स् ? यति (*sHyáti) के लिये है, जिसमें स् ?- अपनी दुर्बल कोटि में मूल रूप है, और य चतुर्थ गण का विकरण है। गुण से युक्त साधारण धातुरूप अ ? (aH) का आ के रूप में ठीक ऐसा ही विकास प्रदर्शित करते हुए, लुङ् लकार के रूप में (असात्) मिलता है। हित्ती पह्श्- (paḫš-) 'रक्षा

करना' स्- विकरण के द्वारा विस्तारित कर दिया गया है, और जव इसे हटा दिया जाता है, तव हमें इसमें और संस्कृत पा- में ठीक वही अह् (ah) : आ वाली समानता दिखाई देती है। चूँकि नामिक और धातुक आ प्रत्यय अभिन्न हैं, स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय आ के सम्बन्ध में (लैटिन नोव, nova, ग्रीक नेआ, néā, संस्कृत नवा) ठीक वैसे ही विकास अ ? > आ, aH > ā (जैसा नोवारे navāre में) की कल्पना करनी पड़ेगी, और ठीक ऐसा ही विकास नामिक तथा धातुज उत्पादित रूपों में दीर्घ स्वर ई, ऊ के सम्बन्ध में होगा, चूँकि या और वा जैसे संयुक्त प्रत्यय ठीक उसी तरह इ + अ ? (i + aH) और उ + अ ? (u + aH) से विकसित होने चाहिए और इनकी सम्बद्ध दुर्बल कोटियाँ इ ? (i-H) और उ-? (uH) हैं।

संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में देखा गया ? का अन्य प्रभाव, ? के द्वारा परिवर्तित स्वर का अनुरञ्जन (coloration) है, जिससे खास तौर पर ऐ, अ में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिये संस्कृत में क्री- 'खरीदना' के रूप में मिलने वाला धातु भारत-यूरोपीय में क्रि ? (k^wriH-) के रूप में स्थापित करना होगा और इसका मूल लुङ् रूप एक्रि ?-एतो (ek^{w}riH-eto) ग्रीक में एप्रिअतो (epríato) के रूप में मिलता है, जहाँ तिङन्त रूप में ऐ के स्थान पर अ के द्वारा ? का मूल अस्तित्व संकेतित किया गया है। इसी तरह क्रु- (kru H-) धातु (संस्कृत क्रूर में क्रू-, आदि) से एक मूल ऐस् / ओस् प्रातिपदिक *क्रेउ ? ओस् (kreúHos) ग्रीक में-अस्- प्रातिपदिक के रूप में मिलता है, क्रेअस् (kréas)। संस्कृत में स्वरों की विविध गुणात्मक प्रकृतियों के घालमेल ने इस प्रकार के परिवर्तन को हटा दिया, किन्तु यहाँ भी कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनसे ? के अस्तित्व का पता लगाया जा सकता है, जैसे :

(१) ग्रीक वरुस् (barús) 'भारी', संस्कृत गुरु-, गॉथिक कउरुस् (kaúrus) 'वही' जैसे समानान्तर रूपों को स्पष्ट करने के लिये कतिपय स्थलों पर परवर्ती स्वरध्वनि के पूर्व एक स्वरीभूत र् और ल् (ऋर्, लृल् , $\underset{\circ}{r}^r$, $\underset{\circ}{l}^l$ के रूप में अथवा अन्य प्रकार से लिखित) की कल्पना प्राचीन सिद्धान्त ने की थी। किन्तु इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं है कि इस सम्बन्ध में भी वही नियम क्यों न उचित माना जाय, जिसके अनुसार ये ध्वनियाँ व्यञ्जन-मध्यग स्थिति में स्वर के रूप में मिलती हैं, किन्तु स्वरों के पूर्व और वाद में व्यञ्जनों के रूप में ग्वृर्हु-(g$^w\underset{\circ}{r}$hú-) की पुनःस्थापना, जो इस वात का संकेत करती है कि ऋ मूलतः व्यञ्जन-मध्यग स्थिति में था, इन सब स्थितियों को स्पष्ट कर देती है। अधिकांश भा० यू० भाषाओं में, जहाँ ऋ का विकास स्वर (एक भाषा से दूसरी भाषा में भिन्न रूप में) + र् होता है, यह संयोग स्वरध्वनि के पूर्व तब बना रहता है, जब ? लुप्त हो जाता है, और ठीक यही बात ल् के सम्बन्ध में भी है।

संस्कृत में कुछ भिन्न प्रक्रिया है, चूंकि यहाँ स्वरीभूत ऋ सामान्यतः बचा रहता है, किन्तु स्वरध्वनि के पूर्व जब ? का लोप इसे छोड़ता है तो इसका स्थान इर्, उर् जैसे संयोगों द्वारा ले लिया जाता है। ईरानी, जो कि प्रायः भारतीय आर्य के इतने अधिक निकट है, खास तौर पर इस विन्दु पर भिन्न प्रक्रिया का वहन करती है, कि जहाँ संस्कृत में इर् अथवा उर् हैं, उस स्थान पर वहाँ अर् दिखाई पड़ता है। इस तरह के शब्दों के ये उदाहरण हैं: संस्कृत तिरः 'पार': अवे० तरो (tarō); शिरः 'मस्तक', अवे० सरह् (sarah-) तुल० ग्रीक करा (kárā), करेनान् (kárēnon); पुरः 'आगे, सामने', अवे० परो (parō), ग्रीक परोस् (páros); पुरः प्रथमा व० व० 'अनेक नगर', तु० लिथु० पिलिस् (pilis) 'किला' (ग्रीक पोलिस् pólis में गुण); पुरु- 'बहुत', अवे० पोउरु- (pouru-); (ईरानी परु-, paru-); हिरण्य 'सोना', अवे० ज़रन्य- (zaranya-); गिरि-, 'पर्वत', अवे० गइरि- (gairi)-, तुल० लिथु० गिरिअ (gíria) 'जंगल' (प्रा० स्लावी गोर, gora 'पर्वत में गुण); गिरति, गिलति 'निगलता है', तिरति 'पार करता है, अतिक्रमण करता है'; किरति 'छिन्न-भिन्न करता है', आदि। इन स्थितियों में इ और उ के बीच का परिवर्तन पूर्ववर्ती व्यञ्जन पर आधृत है; ओष्ठ्य व्यञ्जन के पूर्ववर्त्ती होने पर अथवा कुछ स्थितियों में प्राचीन कण्ठोष्ठ्य व्यञ्जन के पूर्ववर्ती होने पर उ मिलता है, अन्यत्र सामान्यतः इ रहता है।

(२) ऋ ? (r̥H) के संयोग ने बाद में व्यञ्जन आने पर एक विशेष विकास को भी उत्पन्न किया है। इस स्थिति में संस्कृत में ईर्, ऊर् मिलता है, किन्तु ईरानी में मुख्यतया अर्। इस तरह के उदाहरण हमें ये मिलते हैं: शिरः (क्यृऋ?सन्- k̂r̥Hsen-: क्यृऋ?एस्-, k̂r̥Hes-) के साथ-साथ शीर्षन्- 'मस्तक', तिरति, किरति के साथ-साथ तीर्ण- और कीर्ण-, आदि, तथा ऊ के साथ पूर्ण- 'पूरा' (ओष्ठ्य के बाद) इस मूल के ईर्, ऊर् से युक्त अन्य शब्द ये हैं: ईर्म- 'भुजा, पैर का आगे का हिस्सा', अवे० अरॅम- (arəma-), प्रा० प्रशियन इर्मो (irmo), लैटिन अर्मुस् (armus), अंग्रेजी आर्म (arm); ऊर्ध्व- 'ऊपर की ओर, ऊँचा', अवे० अॅरॅद्व ərəδwa-), लैटिन अर्दूस् (arduus); ऊर्णा 'ऊन', अवे० वरॅना (varənā), लिथु० विल्न (vilna); ऊर्मि- 'तरंग', अवे० वरॅमि- (varəmi), एंग्लो-सेक्सन विएॅल्म् (wielm); उर्वरा-/ऊर्वरा 'उपजाऊ भूमि', अवे० उर्वरा (urvarā) 'उगाया हुआ पौधा' <*ऋ?वरा, (<*r̥Hvarā), तुल० लैटिन अरारे (arāre) 'बोना', ग्रीक अरोउर (aroura) 'बोया हुआ खेत', आदि; दीर्घ- 'लम्बा', अवे० दरॅग़- (darəγa), प्रा० स्लावी दूलुगु (dlŭgŭ); पूर्व- 'पहला', अवे० पउर्व-

(paurva–), प्रा० स्ला० प्रुवु (prŭvŭ); भूर्ज- 'भूर्जपत्र' (लिथु० बर्ज़स् bèržas), आदि, (भिन्न कोटि के साथ)। इन विकासों को स्पष्ट करने के लिये मूल दीर्घ द्रवित (liquid) ध्वनियों की स्थापना की गयी थी (ॠ, ॡ), और ये मध्यवर्ती स्थिति (ऋ ?> ॠ > ईर्, ऊर्) में मौजूद रहे होंगे, और यह विकास इ ?, उ ? के ई, ऊ के रूप में हुए विकासों के समानान्तर है।

ठीक इसी ढंग पर पूर्वकल्पित दीर्घस्वरीभूत अनुनासिक व्यञ्जनों की स्थापना न् ?, म् ? (n̥H, m̥H) के द्वारा की जा सकती है। धातु सन् (?), san(H) 'जीतना' से संस्कृत निष्ठारूप सात- स्नृ?तो- (sn̥Htó–) से *स?तो (*saH?tó) के द्वारा धातु के नियत दुर्बल रूप के साथ नियमित रूप से विकसित हुआ है। मृ ? (m̥h) की स्थिति में नासिक्य तत्त्व सुरक्षित है (अथवा फिर से प्रयुक्त कर दिया गया है), किन्तु ? का मूल अस्तित्व दीर्घ स्वर ध्वनि के द्वारा स्पष्टतः पर्याप्त रूप में संकेतित किया गया है : दम् (?)- शम् (?)- से दान्त- 'नम्र', शान्त- 'समझाया-बुझाया हुआ'।

(३) वैदिक भाषा में लघु अक्षर के बाद -य- एक ही अक्षर के रूप में उच्चरित होता है, यदि यह केवल य्+अ का संयोग है : अव्य- 'भेड़ से सम्बन्ध रखने वाला', कव्य- 'बुद्धिमान्', वन्य- 'वन का', हव्य- 'हवन करने योग्य'। जब कि दूसरी ओर यह -य-, -इ ? अ (-इर, इष, आदि के समानान्तर प्रत्यय) तक पीछे जाता है तो इय- उच्चरित होता है : दमिय- 'घर सम्बन्धी', रथिय- 'रथ सम्बन्धी', जनिय- 'जन सम्बन्धी, उदनिय- 'जल सम्बन्धी'। इन दोनों कोटियों को वस्तुतः परवर्ती भाषा में गड़बड़ा दिया गया है और वैदिक छन्द के द्वारा स्पष्ट किए गए भेद को केवल तभी विश्लेषण का विषय बनाया जा सकता है, जब यह मान लिया जाता है कि ये दो भिन्न प्रत्यय हैं (१) इ + अ (i+a) (२) इ+?+अ (i+H+a)। ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दों के रूप, (<इ ?, उ ?) जहाँ स्वरान्त शब्द के पूर्व प्रत्यय हमेशा अपनी अक्षरात्मक स्थिति को सुरक्षित रखता है (षष्ठी ए० व० वृकियः, तनुवः < ˚इ ? अस् (˚iHas), ˚उ ? अस् (˚uHas)) इसे और अधिक पुष्ट करते हैं, क्योंकि अवि- 'भेड़' और मधु 'शहद' (अव्यः, मध्वः) के समानान्तर षष्ठी रूप सदा य् और व् की व्यञ्जनात्मक स्थिति को प्रदर्शित करते हैं।

(४) सभी प्रकार के ? (H) के अवशिष्ट चिह्नों में से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, मूल ? (H) की मूल प्रकृति के अवशेष उन स्थलों पर सुरक्षित हैं, जहाँ इसके ठीक पूर्व में स्पर्श व्यंजन ध्वनि थी। यहाँ स्पर्श व्यंजन + ? का संयोग महाप्राण स्पर्श ध्वनि को उत्पन्न कर सकता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इसी ढंग से अघोष महाप्राण ध्वनियों का समस्त वर्ग परवर्ती भारत-यूरोपीय में उदित हुआ है।

इसके उदाहरण पहले ही दिए जा चुके हैं। इस प्रकार से उदित सघोष महाप्राण ध्वनियों के उदाहरण वहाँ दिखाई देते हैं, जहाँ संस्कृत की महाप्राण ध्वनि अन्य भाषाओं में महाप्राणेतर (non-aspirate) ध्वनि के साथ मेल खाती है, अथवा जहाँ धातु का पदान्त महाप्राणेतर स्पर्श व्यंजन व्युत्पन्न शब्द में महाप्राणता से युक्त मिलता है। इन स्थलों में महाप्राणता के लिये मूल प्रत्यय से सम्बद्ध ? (H) उत्तरदायी है; उदा० मह्ऽा– 'बड़ा' : ग्रीक मेगस् (mégas)। यहाँ धातु के बाद प्रत्यय अ ? (aH) (< आ) आता है, जो षष्ठी ए० व० में अपने दुर्बल रूप (?,H) में मिलता है, और यह ? पूर्ववर्ती ग् के ठीक संयोग में आने पर महाप्राणता का कारण बनता है (मेग्य्-?-ऍस् > मेघ्येस् > मह्हः, (meĝ–H–és > meĝhés > mahás), और इस प्रकार के रूपों से महाप्राणता समग्र रूपों तक विस्तारित कर दी गई है। ठीक यही बात दुहितर्– 'पुत्री' (धुग्-? इतर्–): ग्रीक थुगतेर् (thugátēr), अहम् 'मैं' (ऍग् ?–ऍम्) : ग्रीक ऍगो (egṓ) (ऍगो ?, egóH), सधस्थ– 'आसन, निवास-स्थान' (सेद्–? –ऍस्–, sed–H–es–) : सद्– 'बैठना', सिन्धु–'नदी' : स्यन्द्– 'बहना' के साथ हुई है।

हित्ती भाषा की खोज के पूर्व भारत-यूरोपीय अध्ययन में 'कण्ठनालिक सिद्धान्त' (Laryngeal Theory) प्रचलित था, जो इधर कुछ बरसों में सामान्यतः स्वीकार कर लिया गया है, क्योंकि नये हित्ती प्रमाणों से इसे अंशतः पुष्टि प्राप्त हुई है। अत्यधिक प्रचलित रूप में संक्षेप में उपस्थित करने पर इस सिद्धान्त की यह स्थापना है कि (मूल भाषा में) तीन कण्ठनालिक ध्वनियाँ थीं, जो इस सांकेतिक लिपि में $?_1$, $?_2$, $?_3$ (H_1, H_2, H_3,) के द्वारा अभिव्यक्त की जाएँगी। भारत-यूरोपीय की मूल दीर्घ स्वर ध्वनियाँ (वृद्धिजनित दीर्घ स्वर ध्वनियों के विपरीत) एकाकी गुण स्वर ध्वनि ऍ के साथ कतिपय कण्ठनालिक ध्वनियों के संयोग से परिणत हुई हैं, जिससे ऍ$?_1$, ऍ$?_2$, और ऍ$?_3$, (eH_1, eH_2, eH_3,) से क्रमशः ए, (उदा० धे– 'रखना'), आ (उदा० स्ता 'ठहरना') और ओ (उदा० दो 'देना') विकसित हुए हैं (अर्थात् धातु मूलतः धे$?_1$, स्ते$?_2$, दे$?_3$ हैं)। यह सिद्धान्त आगे चल कर यह भी मान्यता उपस्थित करता है कि इन तीन कण्ठनालिक ध्वनियों का पहले प्रयोग होने पर यही गुण स्वर ध्वनियाँ ऍ, अ, ओ, का रूप लेती हैं। (ऍस्– 'होना : $?_1$ ऍस् (H_1es); अन्ति 'सामने' : $?_2$ऍन्ति, (H_2 enti); ओस्ति (ओस्थि) ost(h)i– 'अस्थि' $?_3$ ऍस्ति, H_3 esti)।

इस सिद्धान्त की पुष्टि में कतिपय विधिमूलक प्रमाण हित्ती उपस्थित करती है, किन्तु ये अपूर्ण हैं, और कुछ स्थितियों में परस्पर विरोधी। गुण स्वर + ? के आ के रूप में विकास के, और ऍ के पूर्व ? आने पर अ के रूप में परिवर्तन

के निदर्शक उदाहरण हम पहले ही दे चुके हैं। दूसरी ओर इस सम्बन्ध में कुछ कठिनाइयाँ हैं : हन्त्- (ḫant); ग्रीक अन्ति (anti) में सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि ह् (ḫ), मिलता है, तथापि यह अप्प : ग्रीक अपो (apó) में अनुपलब्ध है, जहाँ सिद्धान्त समान रूप से इसकी आकांक्षा करता है। हित्ती में केवल एक ह् है, और इससे सिद्धान्त के द्वारा आकांक्षित तीन या यहाँ तक कि चार (कण्ठ-नालिक ध्वनियों) की स्थापना काफी दूर की बात है। इसलिये यह आश्चर्यजनक नहीं है कि सैद्धान्तिक विद्वान् अपने विश्लेषण के विस्तृत विवरण में एक-दूसरे से काफी भिन्नता रखते हैं। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से ? (H) की अनेकता का प्रश्न सौभाग्यतः वहुत कम महत्त्व का है, क्योंकि स्वरध्वनि की गुणात्मक प्रकृति का परिवर्तन (अ, ए, ओ) जिसके साथ यह बँधा हुआ है, संस्कृत में रुक गया है। सभी व्यावहारिक दृष्टियों से केवल एक अविभक्त ? (H) के द्वारा काम चल सकता है, और यह सामान्यतः पर्याप्त सिद्ध होगा।

कण्ठनालिक सिद्धान्त का अन्य पहलू संक्षेप में संकेतित कर दिया जाना चाहिए। आरम्भ से ही यह भारोपीय 'श्वा' (ə) के सिद्धान्त में उपस्थित है। कण्ठनालिक सिद्धान्त में यह कण्ठनालिकों के स्वरजनित परिवर्तन (तीन तरह के ?) के द्वारा हटा दिया गया है। इसके परिणामस्वरूप ये कण्ठनालिक ध्वनियाँ सामान्यतः ॲ$_1$, ॲ$_2$, ॲ$_3$ ($ə_1$, $ə_2$, $ə_3$) के सांकेतिक चिह्नों को ग्रहण करती हैं। इसका संकेत नीचे किया जाएगा कि भारोपीय ॲ (ə) की परिकल्पना कण्ठनालिक सिद्धान्त अथवा अन्य किसी सिद्धान्त के ढाँचे में विना किसी औचित्य के है। भारोपीय ? स्वरात्मक प्रक्रिया के लिये अनुपयुक्त, है, और व्यंजन–मध्यग स्थिति में सम्बद्ध गुण स्वर के लोप के द्वारा छोड़ दिए जाने पर यह संस्कृत में लुप्त कर दिया जाता है : उदा० संस्कृत दा, धा से दुद्मः, दुध्मः।

१४. स्पर्श ध्वनियों के संयोग

संयुक्त ध्वनियों में निम्नलिखित परिवर्तन भारत-यूरोपीय से आए हैं :

(१) सघोष स्पर्श व्यंजन-ध्वनि के ठीक बाद में अघोष स्पर्श व्यंजन आने पर वह अघोष स्पर्श व्यंजन के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है : युक्त– 'जोड़ा हुआ' : युज्– 'जोड़ना', युगम् 'जूआ', तुल० ग्रीक ज़ेउक्तोस् (zeuktós) ज़ेउग्नुमि (zeúgnumi); पुत्सु, पद्– 'पैर' का सप्तमी बहु० व०, तुल० ग्रीक पोस्सि (possí), पोसि (posí)। इसके ठीक विपरीत अघोष स्पर्श व्यंजन के बाद सघोष स्पर्श व्यंजन आने पर वह सघोष बन जाता है : उपब्द– 'कुचलते जाना' : पद्– 'पैर', तुल० अवे० फ़्रब्द (frabda) 'पैर का अगला

हिस्सा', ग्रीक एपिब्दइ (epíbdai) 'उत्सव के बाद का दिन', दुद्भिः, दन्त्, दत्- 'दाँत' का तृतीया व० व०; अब्जित् 'पानी को जीतने वाला' अप्- 'पानी'।

(२) सघोष महाप्राण + अघोष ध्वनि के संयोग की स्थिति में सम्पूर्ण व्यंजन ध्वनि को सघोषीकृत कर दिया जाता है और प्राणता द्वितीय व्यंजन के साथ जोड़ दी जाती है; इस प्रकार दह्- 'जलाना' (द्वितीय तालव्यीभाव के द्वारा दघ्- से), बुध्- 'समझना' और लभ्- 'प्राप्त करना' से –त प्रत्ययवाले निष्ठारूप दुग्ध–, बुद्ध–, लब्ध– हैं। प्राचीन अवेस्ता में भी ठीक इसी तरह का विकास देखा गया है, यद्यपि ईरानी में हमेशा की तरह प्राणता लुप्त हो गयी है : अओग्दा (aogdā) 'कहा गया, कहा हुआ' *अउग्ध (augdha) से, अर्थात् आर्य अउघ् (augh) (अवे० अओग् –) + त, तुल० ग्रीक एउखोमइ (eúkhomai); उब्दएन– (ubdaēna)– 'बुना हुआ', आर्य वभ्–से। परवर्ती अवेस्ता में उपर्युक्त कोटि (१) के संयुक्त व्यंजन मूल सघोष महाप्राण ध्वनियों के स्थान में भी रख दिए जाते हैं। अओख़्त (aoxta) 'कहा गया' द्रुख़्त (druxta) 'द्रोह किया हुआ' (द्रओग्– draog– : तुल० संस्कृत द्रुह्–), दप्त– 'धोखा दिया हुआ' (दब्– : संस्कृत दभ्–)। ठीक इसी तरह संस्कृत में *दद्धे (= अवे० दज़्दे dazdē) के लिये संस्कृत धत्ते– 'धारण करता है' का आदेश कर दिया गया है, जब कि रूप दध् + ते का नियमित संयोग होना चाहिए। अन्यत्र भारत-यूरोपीय में प्राचीन संयुक्त ध्वनियों का स्थान इस प्रकार के नवीन रूपों ने पूरी तरह ले लिया है : उदा० हेक्तोस् (hektós) : एखो (ékhō); पुस्तिस् (pústis), तुल० अवे० अपइतिबुस्ति (apaitibusti) 'ध्यान न देते हुए', जो संस्कृत रूप बुद्धि– के विपरीत है।

संस्कृत में संयुक्त दन्त्य ध्वनियाँ सामान्यतः उपर्युक्त नियमों का पालन करती हैं : वेत्ति 'वह जानता है' विद्– से; रुद्ध– 'रोका गया', रुध् + त से, आदि। दूसरी ओर ईरानी इन स्थितियों में सोष्म (घर्ष) व्यञ्जन स् अथवा ज़् का प्रयोग करती है : वोइस्ता (vōistā) 'तू जानता है' : संस्कृत वेत्थ; हस्त्र– 'सत्र', संस्कृत सत्र–; नि–उरुज़्द– (ni–uruzda) 'ताले में बन्द'। संस्कृत रुद्ध–। ग्रीक का विकास ईरानी से मिलता है : ओइस्थ (oîstha) 'तू जानता है', पुस्तिस् (pústis) 'जानकारी, ज्ञान', तुल० अवे० अपइतिबुस्ति (apaitibusti) : संस्कृत बुद्धि। पश्चिमी भारत-यूरोपीय भाषा में इस संयोग से –स्स्– का विकास होता है : लैटिन ओब्– सेस्सुस् (ob–sessus), सेदेओ (sedeo), प्रा० आइसलैंडिक सेस्स् (sess) 'आसन'। इस प्रकार दन्त्य संयुक्त ध्वनियों को परिवर्तित करने की प्रवृत्ति काफी फैली हुई है। यह कल्पना की जाती है कि इन स्थितियों में भारत-यूरोपीय में एक घर्षध्वनि

बीच में जोड़ दी जाती थी (त्स्त्, त्स्थ्, द्ज़्द्, द्ज़्ध्; tˢt, tˢth, dᶻd, ddᶻh)। चूँकि संस्कृत में सभी व्यञ्जन-मध्यग घर्ष ध्वनियाँ लुप्त कर दी जाती हैं, भारत-यूरोपीय वोइत्स्थ (voit tha) से संस्कृत वेत्थ उत्पन्न होगा, और इसके साथ ही यह रूप ईरानी और ग्रीक रूपों को स्पष्ट करता है। सघोष संयुक्त ध्वनियों के सम्बन्ध में हमें संस्कृत में दुहरा विकास मिलता है, एक ओर सामान्य कोटि के रुद्ध–, वृद्ध– आदि रूप, दूसरी ओर कुछ प्राचीन रूप जो ईरानी की तरह द् के स्थान पर ज़् के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं: दद्धि के साथ-साथ लोट् देहि 'दो', तुल० अवे० दज़्दि (dazdi) और धेहि 'रखो, धारण करो', दोनों आगे वर्णित नियम के अनुसार प्राचीन अज़् (az) से विकसित ए से युक्त हैं। या तो यह वैभाषिक विकास का उदाहरण है अथवा देहि रूप (< दज़्धि dazdhí) एक नियमित ध्वन्यात्मक विकास का प्रतिनिधि है, जिसे नये सादृश्यजनित रूपों के द्वारा अधिकांश स्थलों में रख दिया गया है।

१५. तालव्य वर्ग से सम्बद्ध व्यञ्जन-संयोग

संयुक्त व्यंजनों के विकास की दृष्टि से द्वितीय तालव्य वर्ग सरल है, क्योंकि इसमें व्यंजन के पूर्व मूल कण्ठ्य ध्वनि को सुरक्षित रखा जाता है और उसे बाद में उपर्युक्त नियमों के अनुसार संयुक्त कर दिया जाता है: वच्– 'कहना' : उक्त–; युज्– 'जोड़ना' : युक्त–, योक्ष्यामि; दह्– 'जलाना' : दग्ध–।

प्राचीन तालव्य वर्ग के संयोग काफी अधिक जटिल हैं। प्राचीन भारत-ईरानी युग में श्, ज़्́ (ź) और ज़्́ह् (źh) दन्त्य स्पर्श ध्वनियों के पूर्व (दग्ध–, आदि के लिये ऊपर संकेतित नियम के अनुसार ज़्́ह् (źh) के सम्बन्ध में स्पर्श ध्वनि के महाप्राणीकरण तथा सघोषीकरण के साथ) श्, ज़्́ के रूप में परिवर्तित कर दिए जाते थे: इस प्रकार विकसित घर्ष ध्वनियाँ उन ध्वनियों से अभिन्न थीं, जो इ, उ आदि के बाद भा० यू० स्, ज़् से उदित हुई, और उनका परवर्ती विकास ठीक वैसा ही है। संस्कृत में श् प्रतिवेष्टित ष् बन गया और उसने परवर्ती दन्त्य ध्वनि को प्रतिवेष्टित बना दिया और ज़् उसी प्रक्रिया से गुजरने के बाद ड् को छोड़कर लुप्त हो गया: उदा० वष्टि 'वह चाहता है' (वश्–), अवे० वश्त (vašti), हित्ती वेक्ज़ि (vekzi), तुल० ग्रीक हेकोन् (hekṓn), आदि 'इच्छा', अष्टौ '८' (तुल० अशीति '८०'), अवे० अश्त (ašta), लैटिन ओक्तो (octo), आदि; संस्कृत मृडीक– 'क्षमा', अवे० मॅरॅज़्दीक– (mərəzdīka) (मृग्य्– द् (mrĝ– d), तुल० संस्कृत मृज्– 'पोंछना' और फारसी आमुर्ज़ीदन् (āmurzīdan) 'क्षमा करना'), संस्कृत ऊढ 'ले जाया गया', *उज़्ढ–< उज़्́ध– (वह्– 'ले जाना, ढोना'

वझ्हू-<भा० यू० वेघ्-से) के लिये; अवे गॅरॅज़्दा (gərəždā) 'शिकायत की', लुङ् प्रथम पुरुष , आत्मनेपदी गरॅज्=संस्कृत गर्ह् से; संस्कृत लेढि 'चाटता है' (लिह्), आदि।

ठीक इसी प्रकार का परिवर्तन अन्य व्यंजनों के सम्बन्ध में भी हो सकता था : तुल० अवे० फ़्शुमन्त्- (fšumant-) 'पशुओं का झुण्ड रखने वाला' (पसु-, संस्कृत पशु-); अवे० फ्रश्न- (frašna-) 'प्रश्न', संस्कृत प्रश्न-; अवे० वीज़िब्यो (vižibyō), संस्कृत विड्भ्यः (विश्-) । इन संयोगों में भारतीय आर्य तथा ईरानी के बीच पूरी समानता है, किन्तु परवर्ती उदाहरणों के सम्बन्ध में आर्य *विज़्भ्यः (vižbhyas) प्रमाणित होता है। संस्कृत विकास विज़्भ्यः (vizbhyas) से विड्भ्यः ठीक वैसा ही है, जैसा ज़् (ज़्) का भारत-यूरोपीय स् से है, उदा० *विप्रुज़्भ्यः (vipruzbhyas) (विप्रुष्- 'बूँदें') के लिये विप्रुड्भ्यः में ।

ठीक बाद में स् के आने पर ये तालव्य ध्वनियाँ संस्कृत में स्वरमध्यग स्थिति में क् के रूप में मिलती हैं, और इनका विकास ठीक वैसा ही है, जैसा दूसरी तालव्य वर्ग की ध्वनियों का : वक्षि 'तुम चाहते हो' (वश्-), वक्ष्यामि 'मैं कहूँगा' (वच्) की तरह। यह स्थल भारत-यूरोपीय क्य् (तुल० हित्ती वेक्- (wek-) 'इच्छा करना') को सुरक्षित रखने का नहीं है, बल्कि इसके पुनःसंस्थापन का है। यह हमें निम्नलिखित कारणों से ज्ञात है ।

(१) ईरानी भारत-यूरोपीय कण्ठ्य + स् से और भारत-यूरोपीय तालव्य + स् से विकसित दो भिन्न कोटि के व्यंजन-संयोगों का स्पष्ट भेद करती आ रही है :

(अ) वक्ष्यामि, अवे० वख़्श्या (vaxšya) (वेक्व्-wekʷ-); क्षत्र- 'प्रभुसत्ता' : अवे ख़्शथ्र-(xšaθra); क्षप्-'रात' : अवे० ख़्शप्-(xšap-), तुल० ग्रीक प्सेफस् (pséphas); भक्ष्-'हिस्सा लेना, खाना' : अवे० बख़्श्- (baxš-) 'बाँट लेना' : त्वक्ष्-'क्रियाशील होना' : अवे० थ्वख़्श्-(θwaxš-) ।

(ब) कक्ष-'काँख' : अवे० कश (kaša); ऋक्ष-'भालू' : अवे० अरॅश- (arəša-); दक्षिण-'दाहिना' : अवे० दशिन-(dašina-); तुल० ग्रीक देज़िओस् (deziós), आदि; मक्षू-'त्वरित' : अवे० मोशु (mošu), तुल० लैटिन मोक्स् (mox); रक्षः-'हानि, चोट' : अवे० रशह्-(rašah-); तक्ष्- 'बढ़ईगिरी करना' : अवे० तश्-(taš-), तुल० हित्ती तक्श्-(takš-) 'जोड़ना', आदि; क्षुध्-'भूख' : अवे० शुद्-(šuδa-); क्षि-'रहना', क्षेत्र-'खेत, मैदान'; अवे० शि-(ši-), शोइथ्र-(šōiθra-) 'पड़ाव' ।

(२) ईरानी से इस बात का प्रमाण संस्कृत के द्वारा ही उपस्थापित प्रमाण से पुनः परिपुष्ट होता है कि प्राचीन भारत-ईरानी में ऐसे दो व्यंजन-संयोग थे

जिन दोनों का प्रतिनिधित्व संस्कृत में च्‌ के द्वारा किया जाता है, उन स्थितियों में जहाँ इस प्रकार के संयुक्त व्यञ्जन के बाद त्‌ आता है, वह अपने उद्भव के अनुसार क्‌ अथवा ष्‌ को विकसित कर देता है : (अ) अभक्त, भज्‌–का आत्मनेपदी स्‌–लुङ्‌ प्रथम पुरुष ए० व०, तुल० उत्तम पुरुष ए० व० अभक्षि (अभच्‌–इ); तुल० भक्त–'भोजन'; भच्‌-'खाना' भी; (ब) तच्‌-, चच्‌ से प्रथम पुरुष ए० व० रूप ताष्टि, चष्टे; निरच्‌– से निरष्ट–'बधिया बनाया हुआ' आदि। जब यह व्यञ्जन–संयोग पदान्त में होता है तो सामान्य नियम के अनुसार घर्ष ध्वनि का लोप कर दिया जाता है। जब क्‌ प्राचीन कण्ठ्य वर्ग से सम्बद्ध होता है, तो यह नियत रूप में सुरक्षित रहता है : वाक्‌ प्रथमा ए० व० *वाच्‌ से, तुल० अवे० वाङ्श्‌ (vāxš)। जब कि दूसरी ओर प्राचीन तालव्य वर्ग का विषय मिलता है, यद्यपि यहाँ भी कुछ क्‌ के उदाहरण हैं (°दृश्‌–, °स्पृश्‌– के प्रथमा ए० व० °दृक्‌, °स्पृक्‌), सामान्य तथा नियत विकास ट्‌ है : विट्‌ 'बस्ती' : विश्‌–; विपाट्‌ 'व्यास नदी' : विपाश्‌–; स्पट्‌ 'जासूस' : स्पश्‌; राट्‌ 'राजा' : राज्‌–; तुल० लैटिन रेक्स्‌ (rēx); °वाट्‌ 'ले जाने वाला' : वह्‌– 'ले जाना', आदि। यहाँ क्‌ रूपों की गड़बड़ी को समीपवर्ती ऋ के असावर्ण्य-जनित प्रभाव के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

इस प्रमाण से यह स्पष्ट है कि जहाँ संस्कृत में केवल एक व्यञ्जन-संयोग च्‌ है, वहाँ मूलतः दो भिन्न प्रकार के व्यंजन-संयोग थे। भारतीय आर्य के प्राक्‌–ऐतिहासिक युग में तालव्य वर्ग के सम्बन्ध में च्‌ के ठीक पूर्व क्या था, यह ऊपर उदाहृत प्रथमा ए० व० के रूपों से स्पष्ट कर दिया गया है। जिस तरह प्रथमा ए० व० वाक्‌ पदान्त घर्ष ध्वनि के नियत लोप के द्वारा प्राचीन *वाच्‌ से विकसित हुआ है, ठीक उसी तरह विट्‌, *विट्ष्‌ से विकसित हुआ है। सम्भवतः अभिलिखित परम्परा के आरम्भ के कुछ ही पहले के युग में यह ट्ष्‌, च्‌ के रूप में परिवर्तित हो गया था और इस तरह मूल च्‌ के साथ घुल-मिल गया था। यह परिवर्तन सप्तमी ब० व० विक्षु (जो बाद में सादृश्यजनित रूप विट्सु के द्वारा हटा दिया गया है) में दिखाई देता है, जो प्रथमा रूप विट्‌ (ष्‌) के विरुद्ध है। चूँकि पदान्त व्यंजन-संयोगों का सरलीकरण इस परिवर्तन के पहले हो चुका था, प्रतिवेष्टित ध्वनि अर्थात्‌ मूल व्यंजन-संयोग का आधा अंश, प्रथमा ए० व० में सुरक्षित है।

इस ट्ष्‌ के और पीछे जाना भी आवश्यक है, क्योंकि संस्कृत के दृष्टिकोण से भी यह चष्टे आदि को स्पष्ट नहीं कर पाएगा (*चट्टे का विकास होना चाहिए)। इस सम्बन्ध में दो घर्ष ध्वनियों की सन्धि की तुलना करनी होगी। स्‌ + स्‌ के के त्स्‌ बनने के उदाहरण मिलते हैं : वस्‌–'निवास करना' से वत्स्यामि,

अवात्सीत्, और ष्+स् के क्ष् होने के : द्विष्-से द्वेक्षि 'तुम द्वेष करते हो'। यहाँ भी प्रथमा ए० व० के रूप द्विट्-, विप्रुट्— इस बात का संकेत करते हैं कि बीच में एक मध्यवर्त्तिनी स्थिति ट्ष् थी (जो स्पष्टतः ठीक वही है, जिसकी आकांक्षा इस प्रकार के व्यंजन-संयोग के सम्बन्ध में की जा सकती है)।

इन दोनों स्थितियों में ट्ष् (<क्ष्), ष्ष् (आर्य श्श्) से विकसित हो सकता है। तालव्य ध्वनियों का विकास स् के पूर्व ठीक उसी पद्धति पर है, जो विकास दन्त्य स्पर्श ध्वनियों के पूर्व पाया जाता है। जिस तरह तालव्य श्+दन्त्य त् प्रतिवेष्टित वर्ग ष्ट् को उत्पन्न करते हैं, ठीक इसी तरह तालव्य श्+दन्त्य स्, ष्ष् को उत्पन्न करते हैं, जो ठीक मूल घर्ष-संयुक्त व्यंजन की तरह ही ट्ष् और अन्त में क्ष् बन गया।

ईरानी में कुछ भिन्न विकास हुआ। यहाँ आर्य श्+स् से विकसित श्+श् केवल एक श् के रूप में परिणत हुआ है, यह विकास घर्ष व्यंजनों की सन्धि के अन्य नियम के अनुसार है, जहाँ दो घर्ष व्यंजनों के एक साथ आने पर केवल एक रह सकता है : तुल० संस्कृत अस्+सि के लिए असि।

जब तालव्य च् के पूर्व स् आता है तो यह तालव्य घर्ष श् के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है : उदा० सच्- 'संयुक्त होना' का अभ्यास-जनित लट् प्रथम पुरुष वहुवचन सश्चति। जब स् के बाद श् आता है, तो दोनों अपने स्वरूप को खो देते हैं और च्छ् के रूप में घुल-मिल जाते हैं : दुच्छुना 'विपत्ति', दुस्+शुना- 'सौभाग्य'। चूँकि ठीक ऐसी ही सन्धि वहाँ होती है, जहाँ श् के पूर्व दन्त्य होता है (पुच्छः, पद्- 'पैर'+शस् प्रत्यय से), हम यहाँ पर भी ठीक वही स्पर्शीकरण की प्रवृत्ति देख सकते हैं, जो ऊपर अन्य घर्ष व्यंजन ध्वनियों के संयोगों के सम्बन्ध में संकेतित की जा चुकी है। तुच्छ- 'खाली' (*तुश्य- के लिये, तुल० खोतानी तुश्श-<*तुस्य) और कच्छप-'कछुआ' (तुल० व्यक्तिवाचक नाम कश्यप-) में हमें -श्श्- का ठीक वैसा ही विकास मिलता है, जो एक प्राचीन 'प्राकृतीकृत' सावर्ण्य-प्रक्रिया से विकसित हुआ है।

भारत-यूरोपीय की दृष्टि से संस्कृत छ् (च्छ्) मूल व्यंजन-संयोग स्क्य् (स्खय्) से विकसित हुआ है; इन स्थलों पर ईरानी में स् है : छिद्- 'काटना', अवे० सएद्- (saēd), ग्रीक स्खिज़ो (skhizŏ), लैटिन स्किन्दो (scindo); छाया 'छाया', पारसी सायाह् (sāyah), ग्रीक स्किअ (skía); गच्छति 'जाता है', अवे० जसइति (jaśaiti), ग्रीक बस्को (baskō); पृच्छति 'पूछता है', अवे० पॅरॅसइति (pərəsaiti), लैटिन पोस्कित् (poscit)। हमें यह कल्पना करनी चाहिए कि इन स्थलों पर आर्य स् और श्, श्श् के रूप में सावर्ण्य के आधार पर विकसित हो गए थे, और बाद में उपर्युक्त पद्धति पर इसका विकास हुआ।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि संस्कृत छ् अन्य व्यंजनों से जिनमें यह वर्गीकृत किया गया है, इस बात में भिन्न है कि यह हमेशा दीर्घ अथवा द्वित्व व्यंजन है। यह विशेष महत्त्व की बात नहीं है कि इसे छ लिखा जाता है अथवा च्छ्; यद्यपि पद के आदि में प्रथम रूप और पदमध्य में परवर्ती रूप का प्रयोग करने की परम्परा रही है।

१६. घर्ष ध्वनियों से सम्बद्ध व्यंजन-संयोग

भारत-यूरोपीय स् बाद में सघोष स्पर्श ध्वनि आने पर ज़् हो जाता था। यह ज़् आदिम भारत-ईरानी में ठीक उन्हीं परिस्थिति में ज़़् (ž) होता था, जिन परिस्थितियों में स्, श् (संस्कृत ष्) हो जाता था। ईरानी में ज़् (z), ज़़् (ž) सुरक्षित हैं : अवे० हज़्द्यॉत् (hazdyāt) 'बैठना चाहिए' (सद्- ईरानी हद्-); मिज़़्द (mižda)- 'पारितोषिक', गॉथिक मिज़्दो (mizdō) संस्कृत में इन ध्वनियों को निम्नलिखित पद्धति से लुप्त कर दिया जाता है :

(अ) असदृश व्यंजनों के पूर्व ज़् और ज़़् (ẓ) (आर्य ज़़्) क्रमशः द् और ड् के द्वारा हटा दिए जाते हैं : अद्ग- : 'शाखा' पहलवी अज़्ग् (azg); मद्गु- 'एक प्रकार का जलपक्षी', मज्ज्-'डुबकी लगाना' (< *मद्ज्- < *मज़्ज्-, < *madj- < *mazj-) : लियु० मज़्गोति (mazgóti) 'डुबकी लगाना'; उषस्-'सवेरा', मास्-'महीना' से तृतीया ब० व० उषद्भिः, माद्भिः; विप्रुष्-'बिन्दु' का तृतीया ब० व० विप्रुड्भिः।

(ब) पर में दन्त्य द्, ध् आने पर ज़् लुप्त कर दिया जाता है और उससे पूर्ववर्ती अ स्वर ध्वनि ए के रूप में परिवर्तित कर दी जाती है : एधि, लोट् मध्यम पुरुष 'हो' : अवे० ज़्दी (zdī) (अस्-); सद्-'बैठना' के लिट् लकार प्रथम पुरुष के *सज़्दुर् (sazdur) के लिये सेदुः, तुल० अवे० हज़्द्यात् (hazdyāt); नेदिष्ठ-'अत्यन्त नजदीक' : अवे० नज़़्दिश्त (nazdišta)-; मेधा 'बुद्धि' : तुल० अवे० मज़्दाँ (mazdå) 'बुद्धिमान्', मियेध-'देवताओं का नैवेद्य' : अवे० म्यज़्द (myazda-); आस्- धातु से लोट् लकार मध्यम पुरुष ब० व० आध्वम् 'आप लोग बैठें'; शास्- से शशाधि आदि। यह बात उन स्थलों के साथ भी लागू होती है, जहाँ ज़् मूल द् से विकसित हुआ है : तुल० ऊपर लिखित देहि, धेहि। इस सामान्य नियम का अपवाद क्रियाविशेषण अद्धा : 'निश्चित रूप से', अवे० प्राचीन फारसी अज़्दा (azdā) मालूम होता है।

(स) द्, ध् के पूर्व ज़़् (ẓ) (जो भा० यू० स् से अथवा प्राचीन तालव्यों से विकसित माना जा सकता है, § १५) परवर्ती व्यंजन-ध्वनि के प्रतिवेष्टिती-

करण (नतिभाव) और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण के साथ लुप्त कर दिया जाता है : नीड- 'घोंसला', लैटिन नीडुस् (nidus), अंग्रेजी नेस्ट् (nest), (नि + सेद्- से *निज़्दो- (nizdo), मीढ- 'पारितोषिक', अवे० मिझ्द- (mižda)-, प्रा० स्ला० मिज़्द (mizda), ग्रीक मिस्थोस् (misthós), गॉथिक मिज़्दो (mizdō), दूळभ- 'दुर्लभ' (दुस् + दभ् , ढ् के लिए वैदिक, ळ्); पीड्- 'दबाना' (तुल० पिष्- 'पीसना'), हीड्- 'हानि पहुँचाना' (तुल० हिंस्- 'वही') क्रीड्- 'खेलना' (तुल० प्रा० नोर्स हिस्त 'हिलाना'), पिज़्ड् (pizd), हिज़्ड् (hizd), क्रिज़्ड् के लिये; स्तु- 'प्रार्थना करना' का स्- लुङ् मध्यम पुरुष ब० व० अस्तोढ्वम्; मृडीक- 'दया' (पहला अक्षर वेद में छन्द के कारण गुरु है) : अवे० मॅरॅझ्दीक (mərəždika); ऊढ- 'ले जाया गया' : वह् (< उज़्ढ-, अर्थात् उज़्ह् + त), लेढि 'चाटता है' (< लेज़्ढि (< lezdhi), अर्थात् लेज़्ह् + त)। पूर्ववर्ती ह्रस्व अ को या तो दीर्घ बनाया जा सकता है (ताढि, < तज़्ढि, तच् + धि के लिये, अषाढ- : सह्-), ओ के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है (वोढुम् 'ले जाने के लिये' : वह्- ; षोढा 'छह पर्तों वाला' : षष्), अथवा ए के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है : तृह्- धातु के वर्तमानजनित मूल रूप तृणह्- से तृणेढि 'छिन्न-भिन्न करता है।'

प्रायः इस स्थिति में भी ज़् (z) का प्रतिनिधित्व ड् करता है : दिश्- 'निर्देश करना,' मिह्- 'पेशाब करना', रिह्- 'चाटना' से दिदिड्ढि, मिमिड्ढि, रिरिड्ढि; षोढा के साथ-साथ षड्ढा। ठीक यही वैकल्पिक रूप पालि निड्ड-, किड्डा में दिखाई पड़ता है, जो प्राचीन भारतीय आर्य में एक भिन्न वैभाषिक विकास को प्रतिबिम्बित करते हैं।

व्यंजन ध्वनियों के बीच ज़् बिना किसी चिह्न के लुप्त हो जाता है : जग्ध- 'खाया हुआ' < *जग्ज़्ध- (ज- घस्- त-), ठीक वैसे ही जैसे स् लुप्त हो गया था (तुल० ऊपर अभक्त)।

सघोष महाप्राण + स् का संयोग भारत-ईरानी युग में ठीक उसी तरह विकसित हुआ था, जैसे उपरिसंकेतित सघोष महाप्राण + त् का संयोग। कहने का मतलब यह है कि स्वरमध्यग स्थिति में घ् + स् ने ग्ज़्ह् (gžh) को उत्पन्न किया था, और इसी क्रम से अवेस्ता ने इस प्रकार के सघोष व्यंजन-संयोगों को सुरक्षित रख रखा है, यद्यपि अन्यत्र की तरह प्राणता लुप्त कर दी गयी है : अओग्ज़ा (aogžā) 'तुमने कहा' (< अउग्ज़्ह augžha, अर्थात् अउघ् + स, augh + sa), दिब्ज़िद्याइ (diwžaidyāi) 'हानि पहुँचाना' (< दिब्ज़्ह- < dibžha, अर्थात् दि (द्) भ् + स, di (d) bh + sa)। इन स्थितियों में

संस्कृत में क्ष्, त्स्, प्स् अघोष व्यंजन-संयोग मिलते हैं, किन्तु इन्होंने मूल ग्ज़्ह् (gžh), द्ज़्ह् (džh), ब्ज़्ह् (bžh) का स्थान ले लिया है। वैदिक अधुक्षत् 'दुहा', दिप्सति 'हानि पहुँचाना चाहता है', में प्राणता का अनस्तित्व, जो महाप्राण ध्वनियों के असावर्ण्य वाले सामान्य नियम (§ २.) के अन्दर आता है, धुग्ज़्ह- (dhugžha-), धि (द्) ब्ज़्ह (dhi (d) bžha) जैसे रूपों की प्राक्कल्पना करता है, जहाँ यह नियम लागू हो सकता है। दूसरी ओर पदान्त स्थिति में जहाँ ये संयोग आरम्भ से ही अघोष और निष्प्राणीभूत (de-aspirated) थे (आर्य °धुक्श् प्रथमा ए० व०), वहाँ संस्कृत में प्राणता का कोई लोप कभी नहीं है।

इनके अलावा संस्कृत में कुछ ऐसे स्थल हैं, जहाँ इस प्रकार के सघोष व्यंजन-संयोगों से सम्बद्ध स्थलों पर क्ष् के बजाय झ्, ज्झ् मिलते हैं : जज्झत्- 'हँसता हुआ', (हस्- से अभ्यासजनित रूप), निर्झर 'झरना', जिसमें सामान्यत: उपलब्ध क्षर् (=अवे० ग्ज़र् (gžar-) धातु है। ये प्राकृत रूप हैं और कुछ और उदाहरण मध्य भारतीय आर्य से दिए जा सकते हैं : पालि-प्राकृत झाम- 'दुबला-पतला'; संस्कृत क्षाम-; झाय्- 'जलाना' : संस्कृत क्षाय्-; झीन- 'थका हुआ' : संस्कृत क्षीण-। पालि में अत्यधिक प्रचलित विकास-ज्झ्- के बजाय ग्घ् से युक्त जग्घति भी मिलता है। इन सभी स्थलों में अवेस्ता ग्ज़र्- (gžar-), आदि में सुरक्षित ढंग के सघोष व्यंजन-संयोगों की परिकल्पना करनी होगी और इन रूपों तथा सामान्य संस्कृत क्ष् का परस्पर भेद प्राचीन भारतीय आर्य के वैभाषिक परिवर्तन का संकेत करता है।

घर्ष + घर्ष के व्यंजन-संयोग के बारे में थोड़ा बहुत पहले ही कह दिया गया है। इस तरह के तीन वर्ग हैं, जो प्रक्रिया की तिथि की दृष्टि से परस्पर भिन्न हैं।

(१) प्राचीन भा० यू० नियम के अनुसार स् + स् का प्रतिनिधित्व केवल एक स् के द्वारा किया जा सकता था : असि 'तुम हो,' अवे० अहि (ahi), ग्रीक एइ (eí) (भा० यू० एसि, एस् + सि से विकसित); अंहसु, सप्तमी ब० व०, अवे० अँज़हु (ązahu) (अंहः 'विपत्ति' + सु)।

(२) भारतीय-आर्य के विशिष्ट नियम के अनुसार, जिसकी प्रक्रिया खास तौर पर प्रागैतिहासिक युग से सम्बद्ध है, स् + स् का विकास त्स् और ष् + स् का विकास क्ष् (*ट्ष् के द्वारा) हो गया : वस्- 'निवास करना' से वत्स्यति, अवात्सीत्; घस्- 'खाना' से जिघत्सु- 'भूखा'; द्विष्- 'द्वेष करना' से द्वेक्षि 'तुम द्वेष करते हो'। जब ये संयोग पदान्त में होते हैं तो केवल प्रथम तत्त्व बचा रहता है, और प्रतिवेष्टित व्यंजन-संयोगों के स्थल में यह ट् के रूप में मिलता है, क्योंकि पदान्त घर्ष ध्वनि का लोप *ट्ष् वाली स्थिति के समय ही हो गया था : प्रथमा ए० व० उखास्रत् 'वर्तन से गिरता हुआ' (स्रंस्-), पर्णध्वत् 'पत्ते

गिराता हुआ' (ध्व (ध्वं) स् dhva(ṃ)s-); °द्विट् 'द्वेष करता हुआ', विप्रुट् 'विन्दु'।

(३) –अस्, –इस्, उस् से अन्त होने वाले नपुंसक संज्ञा शब्द अपने सप्तमी व० वचनान्त रूपोंको –अःसु, –इःसु, –उःसु (विकल्प से –अस्सु, –इष्षु, –उष्षु) बनाते हैं। यह बिलकुल परिवर्त्तित रूप है, और इसे पूरी तरह प्रथमा ए० व० की सन्धि के आधार पर ले लिया गया है, जैसा कि भ्– वाले विभक्ति-रूपों के साथ भी हुआ है (मनोभिः, हविर्भिः, आदि)।

१७. प्रतिवेष्टित (मूर्धन्य) ध्वनियाँ

शेष भारत-ईरानी के विपरीत भारतीय आर्य भाषा प्रतिवेष्टित वर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ष्) के रूप में नवीन ध्वनियों को उपस्थित करती है। यह नाम (Cerebral), संस्कृत मूर्धन्य का गलत अनुवाद भारतीय आर्य-भाषाशास्त्र के बड़े पुराने दिनों से सम्वद्ध है, जो लम्बी परम्परा और अभ्यास के कारण बना रहा। ध्वनिवैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिवेष्टित शब्द (retroflex, या retroverted) अधिक ठीक रूप में इन ध्वनियों का विवरण देता है, जो दन्त्य ध्वनियों से इस बात में भिन्न मानी जाती हैं कि इनमें जिह्वाग्र मूर्धा की छत (कठोर तालु) की ओर उलट दिया जाता है। ये प्रकृत्या भारतीय ध्वनियाँ थीं, और निश्चित रूप से भारतीय आर्य भाषा ने भारत में आने के बाद इनको अपनाया था। उन्हीं दिनों इनका प्रयोग अधिक पूर्वी ईरानी भाषाओं, भारतीय आर्य क्षेत्र की सीमावर्ती भाषाओं (पश्तो, खोतानी आदि) तक फैल गया। प्रतिवेष्टित ध्वनियाँ बहुतायत से द्रविड़ परिवार में भी मिलती हैं और उस परिवार में ये निश्चित रूप से प्राचीन हैं। ये ध्वनियाँ मुण्डा भाषाओं में भी प्रचलित हैं, किन्तु चूँकि बाहरी प्रभावों से अन्य की अपेक्षा कम प्रभावित इस परिवार की एक भाषा सवर में ये ध्वनियाँ अनुपलब्ध जान पड़ती हैं, इसलिये ये इस परिवार में मूल ध्वनियाँ नहीं रही होंगी। चूँकि केवल भारत और अत्यधिक समीपवर्ती प्रदेश में ही भारतीय आर्य भाषा में इस प्रकार की ध्वनियाँ विकसित हुई हैं, और चूँकि यह कल्पना मजे से की जा सकती है कि इस तरह की ध्वनियों से युक्त प्राचीन द्रविड़ भाषा आर्यों के आगमन के पूर्व भारत के विशाल भाग में बोली जाती थी, इन ध्वनियों के उद्गम के लिये कुछ हद तक द्रविड़ प्रभाव को उत्तरदायी माना जा सकता है। इसके साथ ही मूल भारतीय आर्य शब्दों में इन ध्वनियों का विकास पूर्णरूप से उन संयोगजनित परिवर्तनों के कारण बताया जा सकता है, जिन्होंने कतिपय संयुक्त व्यंजनों को प्रभावित किया था।

इनमें से कई ध्वनियों का जिक्र किया जा चुका है और उन्हें वड़ी सरलता से वर्गीकृत किया जा सकता है :

(१) मूल दन्त्य त्, थ्; पूर्व में ष् (आर्य श्) आने पर, जो इस स्थिति में या तो भा० यू० स् (§ ९) का प्रतिनिधित्व करता है, अथवा आर्य तालव्य ध्वनियों श्, ज़् (ś, ź) (>संस्कृत ज्-: भारोपीय क्य्, ग्य्) का परिवर्तित रूप है, प्रतिवेष्टित हो गए थे : वृष्टि– 'वर्षा' (वृष्– : तुल० ग्रीक ऍर्से (érsē), एऍर्से (eérsē) 'ओस', आयरिश फ्रास (frass) 'वर्षा की बौछार'), वष्टि 'चाहता है' (वश्, तुल० हित्ती वॅक्ज़ि (vekzi), अष्ट्रा 'अंकुश' (अज्– 'चलाना' : लैटिन अगो (ago), आदि);

(२) मूल दन्त्य द्, ध् पूर्व में ज़् (ẓ) (आर्य ज़् (ž) जो कि ठीक श् की तरह ही दुहरे उद्भव का है) होने पर प्रतिवेष्टित हो जाते थे; चूँकि इस स्थिति में घर्ष ध्वनि लुप्त कर दी जाती थी, इसलिये उत्पन्न प्रतिवेष्टित ड, ढ (ऋग्वेद में ळ्, ळ्ह) स्वरमध्यग स्थिति में केवल अकेले रह गये · उदा० नीड–, ऊढ–, आदि; ऊपर देखें;

(३) संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ ष्ष् (जो ष्+स् अथवा श्+स् के लिये हो सकती हैं) के प्रथम अंश का स्पर्शीभाव (occlusion) ट्ष् को उत्पन्न करता था; पदान्त स्थिति में केवल ट् ही बचा रहा, जो इस स्थिति में संयुक्त व्यंजन-ध्वनियों का सरलीकरण था (द्विट्, विट्; ऊपर देखें), जबकि स्वरमध्यग स्थिति में यह ध्वनि-संयोग और आगे क्ष् के रूप में विकसित हो गया;

(४) मूल दन्त्य न् कई विस्तृत परिस्थितियों में प्रतिवेष्टित ण् हो गया था, जैसे उसी शब्द में ष्, र् अथवा ऋ आदि के पूर्ववर्ती होने पर, जब कि कोई तालव्य और दन्त्य ध्वनि बीच में नहीं आती थी : कारण–, आदि।

ऊपर सङ्केतित पद्धतियाँ ही वे थीं, जिनके द्वारा संस्कृत में प्रतिवेष्टित ध्वनि नियमतः उपस्थित हो सकती थी। ये उनके क्षेत्र को इस दृष्टि से नियत कर देती थीं कि प्रतिवेष्टित ध्वनि पदादि में नहीं आ सकती और ट्, ठ् स्वरमध्यग स्थिति में अकेले उपस्थित नहीं हो सकते। प्रारम्भिक भाषा में ये ध्वनियाँ कम मिलती हैं, किन्तु उपर्युक्त दोनों प्रकारों की ध्वनियों के उदाहरण परवर्ती भाषा में अप्रचलित नहीं हैं। इस प्रकार की प्रतिवेष्टित ध्वनियों का उद्भव दुहरा है :

(१) मध्य भारतीय आर्य भाषा में पूर्ववर्ती र् या ऋ परवर्ती दन्त्य ध्वनि का नतिभाव (प्रतिवेष्टितीकरण) कर देता था। इनमें से कुछ रूप संस्कृत

में अपना लिए गए हैं और कभी-कभी प्राचीन भाषा में भी । इस तरह के उदाहरण हैं : हाटक- 'स्वर्ण' (तुल० रूसी ज़ोलोतो (zolotó) और भिन्न प्रत्यय से युक्त हिरण्य-), अटनि- 'धनुष का किनारा (अग्र भाग) (प्राचीन भाषा के आर्त्नी के विरुद्ध), नट- 'अभिनेता', तुल० नृत्- 'नाचना', अवट- 'झरना' (*अवृत- के लिए) तुल० अवृत- 'वही' (*अव्नृत- (avṇta-) विकट 'बड़ा', विकृत- के लिये; भट 'योद्धा, भृत के लिये; भट्टारक 'स्वामी', तुल० भर्तृ-, जठर- 'पेट', तुल० जर्तु- और गॉथिक किल्थेइ (kilthei) 'गर्भ', आढ्य- 'धनी', तुल० ऋध् 'फलना-फूलना', भण्ड्- 'झगड़ना', तुल० वाखी वारन्द्- (vārand) 'गाली देना, घुड़कना', अणु- 'सुन्दर', तुल० ग्रीक अलेओ (alẽō) 'पीसना', और ठीक संस्कृत जैसे ही विकास के साथ पश्तो अणॉल् (aṇəl) 'वही' । पाण्य-, पाषाण- 'पत्थर', तुल० जर्मन फ़ेल्स् (fels), और भाष्- 'कहना', तुल० लिथु० बल्सस् (balsas) 'ध्वनि, आवाज' में ठीक वैसा ही विकास स् के साथ हुआ है ।

बाद में र् आने पर कभी-कभी समीकरण और नतिभाव हो जाता है (यह परवर्ती भारतीय आर्य भाषा में भी कम मिलता है), उदा० अण्ड 'अण्डा', तुल० कालाश आन्द्रक 'वही', प्रा० स्ला० ज़ेन्द्रो (zęndro) 'अण्डकोश', और परवर्ती प्राकृत रूप खेट- 'गाँव, गाँव का बाजार', तु० क्षेत्र- 'खेत, स्थान', अवे० शोइथ्र (šōithra) 'निवास स्थान' ।

आपाततः स्वतःप्रतिवेष्टितीकरण (Spontaneous cerebralisation) के कुछ स्थल भी हैं : स्थूणा 'थूणी', अवे० स्तूना (stūnā), अट्-'घूमना', प्राचीन अत्- (इसी से अतिथि- 'मेहमान' : अवे० अस्ति- (asti-) ।

(२) प्रतिवेष्टित ध्वनियों से युक्त कई शब्द ऐसे है, जो द्रविड़ स्रोत के हैं । ऐसे शब्द हैं : कुटिल- 'टेढ़ा', तुल० तमिल कोट्टु-, कुट- आदि, 'वही'; कुटि- 'कुटिया, झोंपड़ी', तमिल कुटि; कठिन- 'कठोर', तेलुगु गट्टि, कट्टीडि, आदि ।

इनमें से कई शब्दों को भारत-यूरोपीय के साथ जोड़ने का असफल प्रयास किया गया है । दूसरी ओर पदादि में प्रतिवेष्टित ध्वनि वाले शब्दों को, जिनमें बहुत कम संस्कृत में मिलते हैं (टीका 'व्याख्या', डमर- 'होहल्ला', ढक्का- 'ढोल', आदि), सामान्य पद्धति में भारतीय-आर्य या द्रविड़ स्रोत से आया हुआ नहीं बताया जा सकता क्योंकि परवर्ती भाषा प्रतिवेष्टित ध्वनियों के प्रयोग को पदादि स्थिति में नहीं अपनाती । इस प्रकार के शब्द भारतीय-आर्य की और अधिक आधुनिक स्थितियों में बढ़ते गए हैं, और परवर्ती शब्दभाण्डार के काफी अंश की तरह उद्भव की दृष्टि से रहस्यात्मक बने हैं ।

१८. फुटकर परिवर्तन

किसी भाषा के द्वारा प्राप्त ध्वन्यात्मक परिवर्तन ज्यादातर सामान्य नियमों से आवद्ध होते हैं, किन्तु इन परिवर्तनों की व्याख्या कर लेने के बाद भी कुछ अपवाद बचे रहेंगे। उदाहरण के लिये इस विषय में सन्देह करना कठिन है कि संस्कृत केश- 'बाल', अवे० गएस्- 'वही' के समान है, चूँकि इनसे सम्बद्ध उ- वाले मूल रूप दोनों स्थितियों में मिलते हैं (अवे० गएसव्- : तुल० संस्कृत केशव्-अ- (केशव))। इस परिवर्तन को केसर- 'अयाल' (तुल० लैटिन कएसरीस् caesaries) के साथ सम्पर्क से स्पष्ट किया जा सकता है। इस तरह के छिटपुट परिवर्तन कतिपय व्यंजन-संयोगों में काफी मिलते हैं। ल् व्यंजन-संयोग सामान्यतः वहाँ सुरक्षित रहता है, जहाँ ल्, र् नहीं होता (प्लु- 'तैरना', बहना'), किन्तु यह ग्रीक प्लेउमोन् (pleúmōn), लैटिन पुल्मो (pulmō) 'फेफड़े' (मूल अर्थ 'तैरनेवाला', 'बहनेवाला' था) के विपरीत क्लोमन् 'वही' में क्ल् के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है और ठीक इसी तरह विप्लव-, विप्लुत- के विपरीत विक्लव- 'दुखी'। तृप्- 'चुराना' में भा० यू० क्लेप् (klep) (ग्रीक क्लेप्तो (klépto, गॉथिक ह्लिफन् hlifan, आदि) के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है : क्ल् और त्ल् वर्गों का घालमेल सब जगह सामान्य है। ठीक इसी तरह का स्पर्श ध्वनि का अनियत परिवर्तन त्न् (tn) वर्ग के सम्बन्ध में मिलता है। यह सामान्यतः सुरक्षित रहता है (रत्न, पत्नी), किन्तु इत् प्रत्ययवाले कतिपय विशेषणों के स्त्रीलिङ्ग रूपों में यह क्न्- के रूप में परिवर्तित मिलता है : असिक्नी, पलिक्नी (असित 'काला', पलित 'सफेद बालों वाला')। इस प्रवृत्ति के परवर्ती उदाहरण प्राकृत सवक्की (सवत्ती के साथ-साथ) 'सौत', पंजाबी सौक्कन् में और पंजाबी अरक् 'हत्था' (अरत्नि) में मिलते हैं।

एक-दूसरे के निकट होने पर श्, ष्, स्, कतिपय परिवर्तनों से गुजर सकते थे। पदादि स् संस्कृत में परवर्ती अक्षर में श् आने पर श् के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता था : श्वशुर- 'ससुर' : अवे० ह्वसुर- (hvasura-), ग्रीक हेकुरोस् (hekuros), लैटिन सोकेर् (socer); श्मश्रु 'दाढ़ी'; तुल० लिथु० स्मक्र (smakra), आयरिश स्मेख़ (smech) 'ठुड्डी'। ठीक इसी तरह का समीकरण प्रतिवर्ती ढंग से *शश- 'खरगोश' के लिए शस- में दिखाई पड़ता है : तुल० खोतानी सह-, (saha-), जर्मन हाज़ (hase), अँग० हेयर् (hare)। दूसरी ओर शास्- तथा श्वस्- धातुओं में स् सुरक्षित है, क्योंकि शास्ति, श्वस्त जैसे रूपों में यह परिवर्तन असम्भाव्य था (किन्तु तुल०

उत्तर-पश्चिमी प्राकृत में शासन- के लिये शाशन)। परवर्ती अक्षर में ष् आने पर भी स् का श् के रूप में परिवर्तन है : शुष्क- 'सूखा' : अवे० हुश्क (huška) श्लक्ष्ण 'चिकना', फ़ारसी लशिन् (lašin), तुल० ग्रीक लग्नोस् (lagnós) लगरोस् (lagarós), लैटिन लक्सुस् (laxus), अंग्रेजी स्लैक् (slack); श्लिष्- 'चिपकना', श्लेष्मन्- 'कफ', तुल० अंग्रेजी स्लिम (slime), आदि।

चूँकि उन स्थलों पर, जहाँ पदान्त ष् लुप्त हो गया है, पदादि स् के स्थान पर ष् का आदेश कर दिया जाता है, उदा० षट् 'छह' (*षट्ष् < *सट्ष्) और विरा-षाट् 'आक्रामक (वीर) लोग'; इसलिये यह सम्भव है कि शुष्क- आदि मध्यवर्त्ती रूप *षुष्क- के गौण विषमीकरण के परिणाम हैं। यह नियम वहाँ लागू नहीं होता, जहाँ सम्बद्ध रूपों की प्रक्रिया इस परिवर्तन को रोकने के लिए काफी सबल है, उदा० वसु, वसीयस्-, वसिष्ठ-' यद्यपि यहाँ भी श् से युक्त छिटपुट रूप आए हैं।

वैदिक क्षुमन्त्=अवे० फ़्शुमन्त् (fšumant) (: पशु) में हमें एक परिवर्तन का एकाकी उदाहरण मिलता है, जिसके समानान्तर रूप ईरानी में हैं (तुल० खोतानी क्षर्म-(kṣarma) 'शर्म' = फ़्शरॅम (fšarəma)।

संस्कृत में तीन व्यंजनों के संयोग को संकुचित करने के कम-ज्यादा छिटपुट स्थल, हैं : स्तन- 'स्तन' : अवे० फ़्श्तान- (fšāna-), फ़ारसी पिस्तान् (pistān); ह्रद- 'झील' : तुल० अवेस्ता ग्ज़्राद् (gzrād)- 'बहना', और त्वष्टर् 'देवताओं के शिल्पी का नाम' = अवे० थ्वोरॅश्तर्- (θwōrəštar-)।

भारत-यूरोपीय युग से पदान्त संयुक्त व्यंजनों की द्वितीय ध्वनि के रूप में र्, व्, य् के सम्बन्ध में कुछ अस्थिरता थी। यह संस्कृत भञ्ज्- 'तोड़ना', आयरिश बोन्गइम् (bongaim), संस्कृत भुज्- 'भोग करना', एक ओर लैटिन फुन्गोर्- (fungor) और दूसरी ओर लैटिन फ़्रन्गो- (frango), फ्रुओर् जैसे समान उदाहरणों को स्पष्ट करता है। ठीक इसी तरह व् के सम्बन्ध में संस्कृत षष्, लैटिन सेक्स् (sex) आदि अवे० ख़्श्वश् (xšvaš), आदि के और संस्कृत क्षिप् 'फेंकना' अवे० ख़्श्वएव्- (xšvaēw-) के विरुद्ध है।

१९. पदान्त व्यञ्जन

पदान्त व्यंजन और संयुक्त व्यंजन कई स्थितियों में विशेष विकास का ग्रहण करते हैं। यह स्थिति प्रागैतिहासिक युग में भी थी; उदाहरण के लिये प्रथमा ए० व० °धुक् में प्राणता का अस्तित्व, जो कि अदुग्धत में उसके अनस्तित्व के विरुद्ध है, इस तथ्य के कारण है कि आरम्भिक युग में घ् + स् का संयोग पदान्त

में –क्श् हो जाता था, जब कि स्वरमध्यग स्थिति में ग्झ् होता था। पदान्त स्थिति में विशिष्ट विकास की यह प्रवृत्ति ऐतिहासिक युग में अधिक बलवती हो गई है और इसके लक्षण कुछ स्थितियों में भारतीय आर्य में परवर्ती प्राकृत-कालीन विकास का पूर्वाभास देते हैं।

स्पर्श ध्वनियों में अघोष प्, त्, ट्, क् ही परिपूर्ण पदान्त स्थिति में स्थित रहने दिए जाते हैं और सघोष व्यंजनों तथा स्वरों के पूर्व उनके स्थान पर सवर्गीय सघोष ब्, द्, ड्, ग् का आदेश कर दिया जाता है। पदादि स्वर के पूर्व अघोष स्पर्श व्यंजन का सघोषीकरण संस्कृत की खास विशेषता है और यह परवर्ती काल में सभी पदमध्यग अघोष व्यंजनों के सघोषीकरण का पूर्वाभास उपस्थित करता है।

ऐतिहासिक आलेख के ठीक पूर्ववर्त्ती युग में संयुक्त व्यंजन बड़ी तेजी से संकुचित हुए और यह स्थिति प्राचीन ईरानी से वैदिक भाषा के स्पष्ट भेद को उपस्थित करती है। यहाँ भी ठीक वही सामान्य प्रवृत्ति क्रियाशील थी, जो आगे चलकर सभी संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के रूप में परिणत हो गयी। कुछ अपवादों (उदा० ऊर्ज्– 'बल' से प्रथमा एक० व० ऊर्क्) के साथ एक से अधिक संयुक्त व्यंजन पद के अन्त में नहीं हो सकते, वैसे आरम्भ में ऐसे अनेक थे। इस विकास ने पदरचना की कई स्थितियों में गम्भीर परिवर्तन उपस्थित किया और कतिपय व्याकरणिक नवीन रूपों को जन्म दिया। इस प्रकार धातु तथा स् वाले लुङ् के प्रथम तथा मध्यम पुरुष ए० व० में तिङ् विभक्ति चिह्न लुप्त हो जाते हैं, और पूर्व में व्यंजन होने पर इन पुरुषों में स् वाले लुङ् के स् का भी ठीक यही हाल होता है, अर्थात् व्युत्पन्न पद अपनी व्याकरणिक स्पष्टता को खो देता है। इसी कारण शास्त्रीय संस्कृत में दीर्घ आ– अन्त वाले धातुओं के अतिरिक्त अन्यत्र धातु के मूल रूप पर बने लुङ्–रूप छोड़ दिए गए हैं, और स्– वाले लुङ् रूपों में नये विस्तृत रूप चल पड़े हैं (अनैः के लिये अनैषीत्)।

पदान्त व्यंजनों में दुर्बलतम स् था। पदान्त स्थिति में यह केवल श्वासरूप (विसर्ग के रूप) में दुर्बल बना दिया जाता था। सन्धि में क्, प् और श्, ष्, स् के पूर्व ठीक यही परिवर्तन मिलता है। आ के बाद और सघोष व्यंजनों और स्वरध्वनियों के पूर्व यह लुप्त कर दिया जाता है। ठीक यही स्थिति वहाँ पायी जाती है, जहाँ इसके पूर्व अ होता है, किन्तु यहाँ कई प्रकरणों में अस् के स्थान पर ओ रख दिया जाता है। प्राचीन भारतीय आर्य की संस्कृतेतर बोलियों में अस् का एक वैकल्पिक विकास ए था। इसका एक उदाहरण ऋग्वेद में भी

मिलता है (सूरे दुहिता 'सूर्य की पुत्री'); परवर्ती काल में यह पूर्वी (मागधी) प्राकृत की विशेषता है, और इस तरह के उदाहरण उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के खरोष्ठी अभिलेखों में मिलते हैं। पदान्त -अस् के ये विकास भारत-ईरानी युग में ही शुरू हो गए थे और अवेस्ता में इसी तरह पदान्त -अस् का प्रचलित प्रतिनिधि -ओ है, जिसके साथ-साथ मागधी आदि के ए से मिलता-जुलता वैभाषिक रूप -ऑ (-ō) है। पदान्त स् केवल त्, थ् के पूर्व सुरक्षित रहता है, जबकि च्, छ् के पूर्व यह श् के रूप में परिवर्तित मिलता है।

पूर्व में इ, उ, होने पर स् मूलतः श् हो जाता था, जो सामान्यतः संस्कृत में मूर्धन्य ष् हो जाता है। इस ष् के स्थान पर सघोष व्यंजनों तथा स्वरों के पूर्व र् रख दिया जाता है। सम्भवतः मध्यवर्ती स्थिति ज़् (ẓ) था, और इस स्थिति में एक ध्वनि का पद के अन्त में उस विकास से बिलकुल भिन्न विकास मिलता है, जो पद के मध्य में है। यह बहिःसन्धि समासों की सन्धि में विस्तृत कर दी गयी (दुर्दम- आदि), किन्तु दूळभ- (दूड्- <दुज़्ड्-) और करूळती जैसे प्राचीन रूप यह सङ्केत करते हैं कि यह मूल रूप न होकर सादृश्यजनित है। इसी तरह सकारान्त नपुंसक शब्दों के रूपों में सन्धि (हविर्भिः, हविःषु, मनोभिः, मनःसु) बहिःसन्धि के सादृश्य पर है।

पदान्त र् ठीक वैसे ही दुर्बल बना दिया जाता था, जैसे स्। पदान्त में विसर्ग (पुनः) इसका प्रतिनिधित्व करता है, किन्तु इसके पूर्व अ होने पर और पर में स्वर होने पर यह सुरक्षित रह जाता है (पुनरागच्छति)। अन्यत्र सन्धि में यह बिलकुल स् की तरह आचरण करता है। यहाँ तक कि त् के पूर्व यह स् हो जाता है (पुनस्तम्), और ऐसा विकास ध्वन्यात्मक की अपेक्षा निश्चित रूप में सादृश्यजनित है। पदान्त र् के पूर्व इ अथवा उ वाले निर्विभक्तिक रूपों के स्थलों में किसी भी सन्धिप्रकरण से यह कहना अशक्य है कि शब्द मूलतः स् से अन्त होता था या र् से; इस प्रकार यद्यपि हम यह निर्णय कर लें कि 'बाहर' अर्थवाले क्रियाविशेषण का मूल रूप बहिर् था, क्योंकि पालि-प्राकृत बाहिर- 'बाहरी' (: संस्कृत बाह्य-) इससे बनाया गया है, तथापि स्वयं संस्कृत से इसके रूप को ध्वन्यात्मक दृष्टि से निर्णीत नहीं किया जा सकता और प्रायः इसका मूलरूप बहिः (बहिस्) दिया जाता था। यह पदान्त र् का दुर्बलीकरण निःसन्देह र् अन्तवाले बहुसंख्यक प्राचीन नपुंसक शब्दों के परित्याग से सम्बन्ध रखता है। ये शब्द स्वयं ही ह्रासोन्मुख थे, किन्तु पदान्त र् की ध्वन्यात्मक दुर्बलता ने इस प्रक्रिया को निःसन्देह और द्रुत बना दिया था (ऊधर् के साथ-साथ ऊधस् 'थन' शब्द पदान्त स्थिति में स् और र् के घालमेल की प्रवृत्ति के कारण है)।

स्वरध्वनियाँ

२०. समानतायें

संस्कृत तथा अन्य भारत-यूरोपीय स्वरध्वनियों के बीच परस्पर समानता तथा सम्बन्ध निम्नलिखित तालिका से प्राप्त किए जा सकते हैं, जिसमें उदाहरण कल्पित मूल भारत-यूरोपीय स्वर ध्वनि के अनुसार दिए गए हैं :

अ : संस्कृत अज्र- 'सादा', ग्रीक अग्रोस् (agrós) 'मैदान', लैटिन अगॅर् (ager), अंग्रेजी एकर् (acre); अप- 'दूर, से', ग्रीक अपो (ápo), लैटिन अब् (ab); अन्ति 'विरुद्ध, नजदीक', ग्रीक अन्ति (antí), लैटिन अन्ते (ante) 'पहले'; अनिति 'साँस लेता है' तुल० ग्रीक अनॅमॉस् (ánemos) 'हवा', लैटिन अनिमुस् (animus); अयः 'धातु, लोहा', लैटिन अएस् (aes); नस्- 'नाक' (तृतीया नसा, आदि), प्रा० हाइ जर्मन नस, प्रा० स्ला० नॉसु (nosŭ); हंस- 'हंसपक्षी', ग्रीक खान् (khā́n), खेन् (khḗn), लैटिन अन्सॅर् (anser), जर्मन गन्स् (gans); यज्- 'याग करना, पूजा करना', यज्ञ- 'यज्ञ', ग्रीक हगिओस् (hágios), हग्नॉस् (hagnós) 'पवित्र'; शद्- 'गिरना', लैटिन कदित् (cadit)।

ऍ : संस्कृत भरति 'धारण करता है', ग्रीक फॅरेइ (phérei), लैटिन फ़र्त् (fert), प्रा० आयरिश बॅरिद् (berid); अस्ति 'है', ग्रीक ऍस्ति (ésti), लैटिन ऍस्त् (est); अश्व- 'घोड़ा', लैटिन ऍक्वुस् (equus); सन- 'पुराना', लैटिन सॅनॅक्स् (senex), प्रा० आयरिश सॅन् (sen); सदस् 'आसन', ग्रीक हॅदॉस् (hédos); पशु- 'पालतू जानवर', लैटिन पॅकु (pecu), प्रा० प्रशियन पॅक्कु (pecku), लिथु० पॅकुस् (pekus), गॉथिक फइहु (faíhu); मधु 'शहद, मद्य', ग्रीक मॅथु (méthu), एँग्लो-सेक्सन मॅदु (medu); मध्य- 'बीच', लैटिन मॅदिउस् (medius), ग्रीक मॅसोस् (mésos)

ऑ : संस्कृत अवि- 'भेड़', ग्रीक ऑइस् (óis), लैटिन ऑविस् (ovis); पति- 'पति, स्वामी', ग्रीक पॉसिस् (pósis), लैटिन पॉतिस् (potis) 'योग्य'; अपस्- 'कार्य', लैटिन ऑपुस् (opus); अनस्- 'गाड़ी', लैटिन ऑनुस् (onus) 'बोझ'; अस्थि 'हड्डी', ग्रीक ऑस्तॅऑन् (ósteon), लैटिन ऑस् (os); दम- 'मकान', ग्रीक दॉमॉस् (domos), लैटिन दॉमुस् (domus), प्रा० स्ला० दॉमु (domŭ); ददर्श 'देखा', ग्रीक दॅदोर्कॅ (dédorke), वृकः प्रथमा ए० व० 'भेड़िया', ग्रीक लुकॉस् (lúkos)।

आ : मातर्- 'माँ', लैटिन मातॅर् (māter); भ्रातर् 'भाई', लैटिन

फ्रतेर् (frater); स्वादु- 'मीठा', ग्रीक ह्रादुस् (hădús), हेदुस् (hēdús) लैटिन सुआविस् (suāvis); अस्थात् 'ठहरा', ग्रीक एस्ता (éstā); एस्ते (éstē); बाहु- 'बाजू', ग्रीक पेखुस् (pēkhus); स्ना- 'स्नान करना', लैटिन नारे (nāre); अश्वा 'घोड़ी', लैटिन एक्वा (equa) ।

ए : संस्कृत राज्-, राजन्- 'राजा', लैटिन रेक्स् (rēx); मास्- 'महीना' ग्रीक मेन् (mḗn), लैटिन मेन्सिस (mensis); सामि- 'आधा', ग्रीक हेमि- (hēmi-), लैटिन सेमि (sēmi); मा- 'नहीं, मत, (निषेधार्थक), ग्रीक मे (mḗ), आर्मीनियन मि (mi); पिता 'पिता', ग्रीक पतेर् (patḗr) ।

ओ : आस्- 'मुख', लैटिन ओस् (ōs); वाक् प्रथमा ए० व० 'वाणी' अवे० वाख़्श् (vāxš), लैटिन वोक्स् (vōx); आशु- 'शीघ्र', ग्रीक ओकुस् (ōkús), लैटिन ओकिओर (ōcior) 'बहुत जल्दी'; पा- 'पीना', ग्रीक पोनो (pṓnō), लैटिन पोतुस् (pōtus), नपात् 'पौत्र', लैटिन नेपोस् (nepōs) पात् प्रथमा ए० व० 'पैर' ग्रीक, (दोरिक) पोस् (pṓs); वृकाः प्रथमा बहु० वचन 'भेड़िये', गॉथिक वुल्फोस् (wulfōs) ।

इ : संस्कृत इमः 'हम लोग जाते हैं', ग्रीक इमेन् (ímen); विद्म 'हम लोग जानें', ग्रीक इद्मेन् (ídmen); तुल० लैटिन विदेओ (video); तिष्ठामि 'मैं ठहरता हूँ' ग्रीक हिस्तेमि (hístēmi); दिवि 'आकाश में' ग्रीक दिवि (diví); रिञ्चन्ति 'वे छोड़ते हैं', लैटिन लिन्क्वुन्त् (linquunt) ।

ई : संस्कृत जीव 'प्राणी', लैटिन वीवुस् (vēvus), वीर- 'मनुष्य, वीर', लिथु० वूरस् (výras), पीवन्- 'मोटा', ग्रीक पीओन् (pīōn) ।

उ : संस्कृत श्रुत- 'सुना हुआ', ग्रीक क्लुतोस् (klutós); रुधिर- 'रक्त', ग्रीक एरुथ्रोस् (eruthrós), लैटिन रुबेर् (ruber); स्नुषा 'पुत्रवधू', प्रा० स्ला० स्नुख (snucha), ग्रीक नुओस् (nuós) लैटिन नुरुस् (nurus); उदन्- 'पानी', ग्रीक हुदोर् (hū́dōr), *अतोस् (*atos), लैटिन उन्द (unda) 'लहर' ।

ऊ : संस्कृत धूम- 'धुआँ', प्रा० स्ला० दूमु (dýmŭ), लैटिन फूमुस् (fūmus); भ्रू- 'भौंह', ग्रीक ओफ्रुस् (ophrūs), ऐंग्लो-सेक्सन ब्रू (brū); पू- 'सड़ जाना', पूति- 'दुर्गन्ध', ग्रीक पूथो (pū́thō), लैटिन पूस् (pūs), पूतेओ (pūteo), गॉथिक फूल्स (fūls) ।

अइ : संस्कृत एधः 'इन्धन', अवे० अएस्म- (aēsma), ग्रीक अइथो (aíthō), 'जलाना', देवर- 'देवर', ग्रीक दाएर् (daḗr) (<दइवेर् <daiwḗr), आर्मीनियन तइगर् (taigr), लैटिन लेविर् (lēvir) ।

एइ : संस्कृत एति 'वह जाता है', लिथु० एइति (eīti), ग्रीक एइसि (eísi),

हेमंन् 'जाड़े में', हेमन्त– 'जाड़ा', ग्रीक खेइमोन् (kheímōn), अल्बेनियन दिमेंन् (dímen); देव– 'देवता', लिथु० देवस् (dẽvas), लैटिन दीवुस् (dīvus), ऑस्कन देइवइ (deivai) 'देव' देही 'बाँध, दीवार', ग्रीक तेइखोस् (teíxos), ऑस्कन फेइहुइस् (feihúís)।

ओइ : संस्कृत वेद 'मैं जानता हूँ', अवे० वएद (vaēda), ग्रीक ओइद (oēda), गॉथिक वइत् (wait); ते– 'वे लोग', ग्रीक तोइ (toí); भरेः 'तुम्हें धारण (सहन) करना चाहिए', ग्रीक फेइरोइस (pheírois)।

अउ : संस्कृत ओजः– 'बल' अवे० अओगर॑ (aogarə) 'वही', तुल० लैटिन अउगुस्तुस् (augustuś); शोष- 'शोषण', लिथु० सउसस् (saũsas) 'सूखना', ग्रीक अउओस् (aúos) 'वही', ऐंग्लो-सेक्सन सेअर् (sēar)।

एउ : संस्कृत बोधामि 'मैं जानता (जागता) हूँ', ग्रीक पेउथोमइ (peúthomai) 'खोज निकालना, सीखना', ओषति 'जलाता है', ग्रीक हेउओ (heúō), 'जलना, जलाना', लैटिन ऊरो (ūro); जोषति 'आनन्द लेता है', ग्रीक गेउओमइ (geúomai) 'स्वाद लेना', गॉथिक कियुसन् (kiusan) 'चुन लेना'।

ओउ : संस्कृत लोक– 'स्थान, कमरा, संसार', लिथु० लउकस् (laũkas) 'सादा', लैटिन लूकुस् (lūkus) 'झाड़ी'; बोधयति 'वह जगाता है' (सकर्मक), लिथु० प–सि–बउदूति (pa–si–baudỵti) 'स्वयं जगना', प्रा० स्ला० बुदिति 'जागना, जगाना'; सूनु– 'पुत्र' का षष्ठी ए० व० सूनोः, गॉथिक सुनउस् (sunaus), लिथु० सूनउस् (sūnaũs)।

आइ : संस्कृत स्त्रीलिङ्ग चतुर्थी ए० व० सेनायै, देव्यै, ग्रीक खोरइ (khorai); लैटिन एक्वए (equae), आदि।

एइ : संस्कृत अरैक्षम्, रिच्– 'छोड़ना' का स्–लुङन्त रूप, तुल० ग्रीक एलेइप्स (éleipsa)।

ओइ : संस्कृत तृतीया ब० व० वृकैः, आदि, अवे० दएवइश् (daēvaiš), ग्रीक लुकोइस् (lúkois); चतुर्थी ए० व० तस्मै 'उसके लिये, उसे', अवे० अएतह्मइ (aētahmai), तुल० ग्रीक हिप्पोइ (híppōi) आदि।

आउ : संस्कृत नौः 'जहाज, नाव', ग्रीक नउस् (naũs), तुल० लैटिन नाविस् (nāvis)।

एउ : संस्कृत द्यौः 'आकाश'. ग्रीक ज़ेउस् (zeús); अयुक्षम् 'मैंने जोड़ा', तुल० ग्रीक एज़ेउज़ (ezeuza)।

ओउ : गौः 'गाय', ग्रीक बोउस् (boûs); अष्टौ 'द', गॉथिक अहतौ (ahtau)।

स्वरीभूत द्रवित तथा अनुनासिक

ऋ : संस्कृत पृच्छति 'पूछता है', लैटिन पोस्किन्त् (pōscit) (< *पोर्स्किन्त् porscit), प्रा० हाइ जर्मन फोर्स्कोन् (forscōn); पितृ 'पिता' का सप्तमी व० व० रूप पितृषु, ग्रीक पत्रसि (patrási); वृत्त– 'घूमा हुआ'. लैटिन वेर्सुस् (versus), वोर्सुस् (vorsus); मृत– 'मरा हुआ', तुल० लैटिन मोर्त्वुस् (mortuus), मोर्स् (mors), लिथु० मिर्ति (mir̃ti) 'मरना', प्रा० स्ला० सुम्रिति (sŭmrĭtĭ) 'मृत्यु'।

ऌ : संस्कृत मृदु– 'कोमल', लैटिन मोल्लिस् (mollis), तुल० ग्रीक अमल्दुनो (amaldúnō) 'कोमल बनाना, कमजोर बना देना'; पृथु– 'चौड़ा', ग्रीक प्लतुस् (platús) 'समतल'; वृक- 'भेड़िया', अवे० वॅह्र्क– (vəhrka–), लिथु० विल्कस् (vilkas), गॉथिक वुल्फ्स् (wulfs)।

(अ–) न् : संस्कृत मत– 'विचार, समझा हुआ', मति– 'बुद्धि, सिद्धान्त', (मन्–), ग्रीक अउतोमतोस् (autómatos) 'अपनी बुद्धि से', लैटिन कोम्मेन्तुस् (commentus), मेन्स् (mens), मेन्तिओ (mentio), आदि, हत– 'मारा गया' (हन्–), ग्रीक फतोस् (phatós) (: फोनोस् phónos, आदि); असि– 'तलवार', लैटिन एन्सिस् (ensis); नाम– 'नाम', ग्रीक अनोम (ánoma), लैटिन नोमेन् (nōmen), हित्ताइत लामन् (lāman); अ- 'नहीं' अज्ञात– 'न जाना हुआ' में, ग्रीक अग्नोतोस् (ágnōtos), लैटिन इग्नोतुस् (ignōtus) प्रा० आयरिश इन्ग्नद् (ingnad)।

(अ–) म् : संस्कृत शतम्– 'सौ', ग्रीक हेकतोन् (hekatón), लैटिन केन्तुम् (centum), गॉथिक हुन्द् (hund), वेल्श कन्त् (cant), लिथु० शिम्तस् (šimtas); गति– 'चाल', ग्रीक बसिस् (básis), लैटिन इन्-वेन्तिओ (in–ventiō), गॉथिक गक्वुम्प्स् (gaqumps); अभ्र– 'बादल', अवे० अव्र– (awra), लैटिन इम्बेर् (imber); सप्त 'सात', ग्रीक हेप्त (heptá), लैटिन सेप्तेम् (septem)।

२१. स्वरध्वनियों पर टिप्पणी

शेष भारत-यूरोपीय भाषाओं के विपरीत भारत-ईरानी की प्रमुख भेदक विशेषता अन्यत्र प्राप्त तीन स्वरध्वनियों अ, ऍ, ऑ के समानान्तर केवल एक स्वरध्वनि अ और ठीक इसी तरह दीर्घ स्वरध्वनियों के सम्बन्ध में आ, ए, ओ, के समानान्तर केवल आ का पाया जाना है। यह स्पष्ट है कि यह समानरूपता भारत-ईरानी का विशेष विकास है, चूँकि अन्य भाषायें अ, ऍ, ऑ स्वरध्वनियों के विभाजन में एक दूसरे से पूरी तरह मेल खाती हैं। साथ ही भारत-ईरानी

में अ के पूर्व कण्ठ्य ध्वनियों का तालव्यीभाव; केवल उस स्थिति में जब कि यह अ दूसरी भाषाओं के ऍ के समानान्तर है (च = लैटिन क्वॅ, आदि); भारत-ईरानी के प्रागैतिहासिक युग में इन स्थितियों के अस्तित्व की पुष्टि करता है। अ और ऑ की परस्पर गड़बड़ी भारत-ईरानी से बाहर जर्मन, स्लावी और हित्ती में भी पायी जाती है। यह निश्चित रूप से कहना सम्भव नहीं है कि इन विभिन्न भाषावर्गों में यह स्वतन्त्र समानान्तर विकास है, अथवा यह ऑ और अ का घालमेल भारत-यूरोपीय की प्राचीन विभाषागत विशेषता है। निश्चय ही भारत-ईरानी और स्लावी के सम्बन्ध में, जिनमें विशिष्ट सम्बन्ध के अन्य चिह्न हैं, प्राचीन समान परिवर्तन की सम्भावना विचारणीय है। ऍ का अ के रूप में परिवर्तन भारत-ईरानी में ही मिलता है और यह उन प्रमुख विशेषताओं में से एक है, जो इस परिवार को शेष भारत-यूरोपीय से अलग करता है।

अक्षर-संघटनाकारी अनुनासिक ध्वनियों का (अ के रूप में) भारत-ईरानी विकास ठीक वैसा ही है जैसा ग्रीक में, और यह उन कतिपय विशेषताओं में हैं, जो इन शाखाओं को एक-दूसरे से जोड़ती हैं। इस प्रकार की अक्षरसंघटना-कारी अनुनासिक ध्वनियाँ अन्यत्र कहीं नहीं मिलतीं, किन्तु सैद्धान्तिक आधार पर भारत-यूरोपीय के लिये इनका पुनर्निर्माण किया गया है। अक्षर-संघटनाकारी द्रवित ध्वनियाँ ठीक इसी तरह कई भाषाओं में स्वर + र् अथवा ल् का मिश्रण बन गई हैं। केवल भारत-ईरानी में ही ऋ स्वर-ध्वनि सुरक्षित है, जो मूल ऌ स्वरध्वनि का भी प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृत में ऌ स्वरध्वनि का केवल एक ही उदाहरण विद्यमान है : क्लृप्– धातु 'सँजोना, कल्पित करना'। वैदिक कृप्- अवे० कॅह्रप् (kəhrp) 'आकार, शरीर' के कारण, जो प्रायः लैटिन कॉर्पुस् (corpus) के साथ तुलना के लिये लिया जाता है, सामान्यतः यह समझा जाता है कि यह ऌ गौण उद्भव का है, किन्तु यह पूरी तरह निश्चित नहीं है। वैसे संस्कृत सामान्य नियम के अनुसार स्वरीभूत रूपों में ऌ को ऋ के रूप में परिवर्तित करने में इनके व्यञ्जन रूपों की अपेक्षा अधिक सक्रिय है। स्वर रूप ऋ (जो भारत-ईरानी में प्रमाणित है) तथा ऌ के आधार पर स्वररूप अनुनासिक ध्वनियाँ मजे से पुनर्निर्मित की जा सकती हैं। ये भी ठीक उन्हीं परिस्थितियों में मिलती हैं, अर्थात् सम्बद्ध गुण-प्रकृति के स्वर के लोप के कारण, जो इन्हें स्वर का कार्य करने के लिये छोड़ देता है, और इनका विकास विविध भाषाओं में एक-सा है। इस प्रकार ऋ के लिये हमें ग्रीक में अर् (र), वाल्तो-स्लावी में इर्, जर्मन में उर् तथा इसी तरह अन् के लिए ग्रीक अ, बाल्तो-स्लावी इन् और जर्मन उन् मिलता है। यह स्पष्ट है कि मूल स्वररूप अनुनासिक ध्वनियों की परिकल्पना विभिन्न भाषाओं में सम्बद्ध स्वर-परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिये

ठीक उतनी ही आवश्यक है, जितना मात्रात्मक अपश्रुति का सिद्धान्त, जो नीचे संक्षेप में संकेतित है।

आदिम भारत-यूरोपीय स्वर-ध्वनियों में तथाकथित श्वा (shwa) (ə) की परिकल्पना करने की परिपाटी हो गयी है। यह परिकल्पना संस्कृत पितर् (पितृ–) 'पिता' : ग्रीक पतेर् (patḗr), आदि, संस्कृत स्थित 'ठहरा हुआ' : ग्रीक स्ततोस् (statós), आदि जैसे तुलनात्मक शब्दों के आधार पर की गयी है। इन स्थितियों में अ॑ (ə) मूल दीर्घ स्वर-ध्वनियों के समाहृत वर्ग का प्रतिनिधित्व करता माना गया था, जो ह्रस्व स्वरध्वनि ए॑, अ, आ॑, के शून्य रूप के समानान्तर है। यह 'श्वा' भारत-ईरानी में इ तथा अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में अ के रूप में विकसित माना जाता था। मैंने अन्यत्र[1] बताया है कि यह पुनर्निर्माण निराधार है, और यह सम्बद्ध संस्कृत शब्दों की गलत व्युत्पत्ति के कारण था। इन शब्दों में इ भारत-यूरोपीय इ है और यह प्रत्यय का अंश है, प्रकृति का नहीं, संस्कृत स्थित को स्थ्-इत के रूप में विश्लिष्ट किया जाना चाहिए और इसकी रचना इसलिये अन्य सम्बद्ध शब्दों से भिन्न है, जिससे इस तरह की तुलना पर ध्वन्यात्मक पुनर्निर्माण व्यर्थ हो जाता है। ठीक ऐसा ही विश्लेषण सभी प्राकरणिक रूपों का किया जा सकता है : स्थ्–इति –'खड़ा होना' (तुल० स्रीढ्–इति–) स्थ्–इर 'स्थिर' (तुल० स्थेयान्, स्थेमन्, पालि थेत–), प्रथम पुरुष ए० व० लुङ् रूप अस्थ्–इत 'खड़ा हुआ' (तुल० अव्राद्–इ–रन् आदि) उत्तम पुरुष ब० व० लिट् रूप दद्–इम (ठीक विरुद्ध रूप देखें दद्मः), स्तन्–इ–हि 'गर्जना करो' (तुल० स्तनयित्नु, आदि), स्–इत– 'सीया हुआ' (तुल० सिनाति, सिपाय, आदि), श्–इत– 'तेज' (तुल० वैदिक शिशय– अवे० सएनि (saēni) आदि), क्रव्–इष्– 'कच्चा मांस' (तुल० रोच्–इष्–, आदि, और लिथुआनी क्रउयस् (kraūjas) आदि। यह भी स्पष्ट है और संस्कृत में कई उदाहरणों के द्वारा स्थिर हो चुका है कि मूल दीर्घ स्वर-ध्वनियाँ शून्य कोटि में पूरी तरह लुप्त कर दी जाती हैं : उदा० दा और धा धातु के वर्तमानकाल में, दद्महे, दद्मः, दत्ते, दत्से, दध्वः, दध्मः, धत्से, धत्स्व, आदि (ठीक इसी तरह ईरानी में भी अवे० दद॑महि, दस्त, दस्ते॑, दज़्दे॑, दद॑मइदे, आदि); ठीक वही लोप निष्ठारूप दत्त 'दिया हुआ' और °त्त (देवत्त– 'देवताओं द्वारा दिया हुआ', आदि) तथा प्–इतर् (पितर्–) के अतिरिक्त अवे० प्तर्– 'पिता' में पाया जाता है।

---

१. टी० पी० एस० (Transactions of Philological Society of G. B.) १९४९, पृष्ठ २२–६१।

यदि यह ॲ केवल उन्हीं थोड़े शब्दों तक सीमित रहता, जिनमें संस्कृत का इ अन्य भाषाओं के अ के समानान्तर प्रतीत होता था, तो यह भारत-यूरोपीय सिद्धान्त में अत्यधिक महत्ता कभी नहीं प्राप्त करता। अपश्रुति के प्राचीन सिद्धान्तों में मूलतत्त्व होनेके कारण इसने भारत-यूरोपीय की पारम्परिक सिद्धान्त-सरणि में महत्त्व प्राप्त किया। तुलनात्मक कोशों में अत्यधिक असुरक्षित रूप में प्राप्त यह ॲ भा० यू० पुनर्निर्मित शब्दों में, खास तौर पर तथाकथित द्वयक्षर प्रकृति (disyllabic roots) के सम्बन्ध में काफी बहुतायत से मिलता है। इस प्रकार के मूल शब्दों या धातुओं के बाद प्रयुक्त होने पर संस्कृत इ भी प्रत्यय का अंश है और इसमें धातु या मूल शब्द के पदान्त तत्त्व के रूप में प्रयुक्त ? (H) लुप्त कर दिया जाता है (तरितुम् <* तर् ?-इतुम्) : अपश्रुति का सिद्धान्त आगे चलकर मूल दीर्घ स्वर ध्वनियुग्मों की कल्पना से, जो एक दुर्बल कोटि ॲइ (ɘi) से, जो ई (कभी-कभी -अय्-) के रूपमें विकसित मानी गयी थी, और अधिक जटिल हो गया, किन्तु इस प्रकार के दीर्घ स्वर ध्वनियुग्मों और उनसे विकसित दुर्बल कोटि ॲइ की परिकल्पना को पुष्ट करने के कोई तथ्य नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अधिकारी विद्वानों ने ह्रस्व स्वरों की दुर्बल कोटि के रूप में एक दूसरे 'श्वा' की कल्पना की है। इसके फलस्वरूप अपश्रुति सिद्धान्त, जो वस्तुतः बड़ा सरल है, जैसा कि नीचे देखा जायगा, काफी जटिल बन गया है। हित्ताइत ह़् (ḫ) की खोज तथा कण्ठनालिक सिद्धान्त (लैरिंजियल थियरी) के बढ़ते प्रचार के साथ-साथ प्राचीन सिद्धान्त की प्रमुख विशेषतायें नये सिद्धान्त में मिला दी गयीं। भा० यू० ? (H) प्राचीन श्वा (ɘ) के साथ अभिन्न कर दिया गया और यह माना जाने लगा कि इसके सभी प्रकार द्रवित तथा अनुनासिक ध्वनियों की तरह स्वर और व्यञ्जन दोनों का काम कर सकते थे। भा० यू० ? (H) को उसकी व्यञ्जन प्रक्रिया ($ɘ_1$, $ɘ_2$, $ɘ_3$) में श्वा (ɘ) के चिह्न द्वारा सङ्केतित करने का प्रचलन तक है और इस तरह कण्ठनालिक सिद्धान्त का उपन्यास श्वा (ɘ) की खोज की मूल गलती के कारण गड़बड़ाया जा रहा है। यह कहने की जरूरत नहीं है कि श्वा के सम्बन्ध में जो आपत्तियाँ सिद्धान्त के प्राचीन रूप में थीं, वे उतने ही बल के साथ नये रूप के साथ भी लागू होती हैं। इसका सन्तोषजनक प्रमाण नहीं है कि ? (H) अपने किसी भी प्रकार में स्वर का काम कर सकता था और यह निश्चित है कि संस्कृत में इ के द्वारा इसका प्रतिनिधित्व कभी नहीं किया गया है।

स्वरध्वनियों पर भा० यू० ? (H) के प्रभाव का जिक्र पहले किया जा

चुका है। ? (H) के पुनःसंस्थापन से स्वरप्रक्रिया की अत्यधिक सरलता प्राप्त हो जाती है।

१. दीर्घ स्वरध्वनियाँ आ, ए, ओ, (> संस्कृत आ) वृद्धि के द्वारा दीर्घ हो सकती थीं, इस स्थिति में वे ह्रस्व स्वरध्वनियाँ अ, ए, ओ से विकसित हुई हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त ऐसी भी दीर्घ स्वरध्वनियों की कोटि है, जो प्रकृत्या दीर्घ है, उदा० स्ता–'ठहरना', धे, 'रखना' तथा दो– 'देना' (संस्कृत स्था–, धा–, दा–) में आ, ए, ओ। इन स्थितियों में कण्ठनालिक सिद्धान्त दीर्घ स्वरध्वनि को ह्रस्व स्वर + ? के विविध प्रकारों (धे?$_1$, स्ते ?$_3$, दे ?$_3$ dheH$_1$, steH$_2$, deH$_3$) के रूप में विश्लिष्ट करता है, जिसमें स्वरध्वनि की गुणात्मक प्रकृति परवर्ती कण्ठनालिक ध्वनि के द्वारा नियमित होती है। इस प्रकार सभी स्थितियों में दीर्घ स्वरध्वनियाँ गौण उत्पत्तिवाली है।

२. गुणरूप स्वर के प्रकार अंशतः भारतयूरोपीय में गुणात्मक परिवर्तन के कारण है। यह स्थिति खास तौर पर ए/ओ (फेरो, phérō : फोरोस् phórōs) के परिवर्तन के सम्वन्ध में है, किन्तु ओ के कुछ स्थल छोड़ दिए गए हैं, जिन्हें मूल रूप (ओस्तेओन् ostéon 'अस्थि') माना गया है और अ का स्वरध्वनिवाला परिवर्तन वहुत कम पाया जा सकता है (लैटिन क्वतेर quater, आदि)। मूल अ और ओ के निदर्शन कण्ठनालिक सिद्धान्त के अनुसार ?$_2$ (H$_2$) और ?$_3$ (H$_3$) तक पीछे जाते हैं, जिनके वाद ऐसा गुणरूप स्वर था, जो स्वयं अविशिष्ट था ?$_2$ ऐन्त् , h$_2$ent 'सामने', हित्ती ह्न्त्– ḫant–, ग्रीक अन्ति anti, आदि ?$_3$ ऐस्त् H$_3$est 'अस्थि, हित्ती ह्स्तइ ḫaštai, ग्रीक ओस्तेओन् óstéon, आदि)। इस प्रकार हम केवल एक मूल गुण स्वर तक पहुंच जाते हैं, जो परम्परा के अनुसार ए लिखा जाता है, जो एक ऐसी स्थिति है जिसके प्रति अपने विशिष्ट विकास के परिणामस्वरूप परवर्ती युग में भारत–ईरानी फिर से लौट आयी।

इस तथ्य के उदाहरण के सम्वन्ध में कुछ चेतावनी जरूर जोड़ दी जाय कि कण्ठनालिक सिद्धान्त ने अवतक परिपूर्ण सन्तोषजनक रूप धारण नहीं किया है। उदाहरण के लिये, यह निश्चित करना कभी सम्भव नहीं है कि ओ स्वरध्वनि मूलरूप है, क्योंक हो सकता है कि वैकल्पिक ए रूप किसी कारणवश अनुपलब्ध रहे हों। इसके साथ ही कुछ ओ/अ परिवर्तन हैं, जिनके विषय में यह सिद्धान्त विलकुल संकेत नहीं करता। जहाँ तक मूल अ का सम्वन्ध है, हित्ती अप्प 'दूर' जैसे रूपों में किसी भी ह् (ḫ) का अनस्तित्व इस सिद्धान्त को अत्यधिक जटिल बनाकर ही समझाया जा सकता है। यह मानना होगा कि

इस तरह की स्थिति में वास्तविक प्रमाण हमें भारतयूरोपीय अपो (apo) से अधिक आगे जाने की छूट नहीं देते।

३. भारतयूरोपीय ई, ऊ सभी स्थितियों में इ?, (iH) उ? (uH) से विकसित हुए। ऋ, लृ, अन् (नृ), अम् (मृ) के बाद ? (H) आने पर उनके विशिष्ट विकास की रूपरेखा दी जा चुकी है। इस प्रकार दीर्घ स्वररूप द्रवित और अनुनासिक ध्वनियों के प्राचीन पुनर्निर्मित रूपों से छुटकारा मिल सकता है।

इन सरलताओं के होने तक भारतयूरोपीय स्वरप्रक्रिया बहुत कम आदिम तत्त्वों के रूप में संकुचित हो जाती है। आरम्भ में केवल एक शुद्ध स्वर ध्वनि तत्त्व है, जिसे एं लिखा जा सकता है। तीन प्रकारों (एं, अ, ओं) और तत्-सम्बद्ध दीर्घ स्वरों का विकास कण्ठनालिक ध्वनियों के प्रभाव के आधार पर और स्वर-परिवर्तन के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। इनके साथ छह तत्त्व ऐसे हैं जो कुछ विशेष परिस्थितियों में (दो व्यंजनों के बीच, पदादि में व्यंजन के पूर्व और पदान्त में व्यंजन के बाद) स्वर का काम करते हैं—इ, उ, ऋ (r̥), लृ (l̥), अन् (नृ n̥), अम् (मृ m̥)—किन्तु अन्यत्र (स्वर आदि के बीच में) व्यंजन का काम करते हैं— य्, व्, र्, ल्, न्, म्। संध्यक्षर स्वरध्वनियों के सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिए कि इनका द्वितीय तत्त्व व्यंजन रूप है और भारतयूरोपीय की दृष्टि से एंय्ति (éyti) 'जाता है', गेव्स्- 'स्वाद', आदि लिखना अधिक संगत होगा।

२२. मात्रात्मक परिवर्तन : अपश्रुति

शुद्ध स्वरध्वनि तत्त्व (संस्कृत अ, भारतयूरोपीय अ, एं, ओं) निम्नलिखित ढंग के मात्रात्मक परिवर्तन से प्रभावित था। इसे मूल प्रकृति रूप अथवा प्रत्यय रूप किसी भी अक्षर में लुप्त किया जा सकता था, अथवा विकल्प से इसे दीर्घ बनाया जा सकता था। दूसरे शब्दों में कोई भी अक्षर सामान्य कोटि (अ), सबल कोटि (आ), अथवा शून्य कोटि में मिल सकता है। यह कोटि निर्धारण संस्कृत व्याकरण में मौलिक महत्त्व का है और इसका महत्त्व संस्कृत वैयाकरणों ने पूरी तरह स्वीकार किया है। उन्होंने सबल कोटि को वृद्धि और सामान्य कोटि को गुण नाम दिया है। दुर्बल अथवा शून्य कोटि का उन्होंने नामकरण नहीं किया है, क्योंकि उन्होंने अपनी व्याकरणिक प्रक्रिया को इस ढंग से निबद्ध किया है कि वे शून्य कोटि को मूल कोटि मानकर चलते थे, और इससे वे सबलीकरण की दो भिन्न प्रक्रियाओं से गुण और वृद्धि कोटियों को सिद्ध करते थे। तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक इस दृष्टि में भारतीय वैयाकरणों से भिन्न हैं कि वे गुण को मूल कोटि या सामान्य कोटि मानते हैं और इससे सबलीकरण और दुर्बली-

करण की दो विरोधी प्रक्रियाओं के द्वारा वृद्धि और शून्य कोटियों को सिद्ध करते हैं।

इस कोटि-निर्धारण की क्रियाशीलता कतिपय उदाहरणों से निर्दिष्ट की जा सकती हैं:

(१) सामान्य कोटि : सदस् 'आसन', सचते 'संयुक्त होता है', पद्–'पैर' का षष्ठी ए० व०, पदः, घस्–'खाना', दभ्नोति 'हानि पहुंचाता है', हसति 'हँसता है'।

(२) विस्तारित रूप : सादयति 'बैठाता है', रातिषाचः प्रथमा ब० व० 'उदारता से संयुक्त', पादम् द्वितीया ए० व० 'पैर', घास–'चारा', अदाभ्य–'जिसे हानि नहीं पहुंचायी जा सकती', हास– 'हँसी'।

(३) शून्यकोटि : सेदुः (सेदुर्) 'वे बैठे' < * सज़्दुर् (*sazdur), तुल० अवे० हज़्द्यात् (hazdyāt) 'बैठे', सश्चति प्रथम पुरुष ब० व० 'वे संयुक्त होते हैं', उपब्द 'पैरों से कुचलना', अ–द्भ्–उत– (अद्भुत) 'आश्चर्यजनक' (सामान्य अर्थ 'जिसे नुकसान नहीं पहुंचाया जा सकता, अनाक्रमणीय, दैवी') जक्षिति 'खाता है' (अर्थात् ज– घ्स– इ– ति), जक्षति हँसता है' (ज– ह्स्–अति, तुल० वैदिक जज्झती और पालि जग्घति, ह्+स् के विभिन्न प्रकार के विकास के लिये)।

यही तीनों कोटियाँ सभी प्रत्ययात्मक तत्त्वों के साथ लागू होती हैं। इस तरह न्– प्रत्यय के सम्बन्ध में हमें राजन् 'राजा' शब्द से सामान्य कोटि (गुण कोटि) में सम्बोधन राजन्, सप्तमी राजनि, शून्य कोटि में षष्ठी ए० व० राज्ञः, वृद्धिकोटि में कर्म ए० व० राजानम् मिलता है। ठीक यही कोटियाँ सभी प्रत्ययात्मक तत्त्वों के साथ लागू होती हैं।

मूलतः अ/आ/ शून्य का यह परिवर्तन मात्रात्मक अपश्रुति की प्रक्रिया में सब कुछ है। अन्तःस्थ आदि के साथ अ के संयोग और कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के कारण कुछ जटिलतायें उत्पन्न हो गयी हैं। इन्हें संक्षेप में निम्नलिखित ढंग से उपस्थित किया जा सकता है:

(१) उपयुक्त ध्वन्यात्मक प्रकरण में अ का लोप होने पर अन्तःस्थ (य्, व्) अपने स्वरात्मक रूप को ग्रहण कर लेते हैं। यजति 'वह यज्ञ करता है'; इज्या 'यज्ञ'; वपति 'बोता है', उप्त 'बोया हुआ'। जब अन्तःस्थ तत्त्व ध्वनियुग्मों में द्वितीय तत्त्व के रूप में आता है तो मूल भारत-ईरानी परिवर्तन आइ, अइ, इ, ; आउ, अउ, उ, संस्कृत में ऐ, ए, इ; औ, ओ, उ के रूप में बदल दिया जाता है, जिनमें ए–ओ उच्चारण में ध्वनियुग्म नहीं रहे। गुण और वृद्धि-कोटियाँ व्यञ्जन और स्वर के परवर्त्ती ध्वनि के रूप में आने पर विकल्प से ऐ, औ, ए, ओ/आय्, आव्, अय्, अव् रूप ग्रहण करती हैं।

उदा० सामान्य कोटि : जे॑तुम् 'जीतने के लिये', जय॑ति 'वह जीतता है', श्रो॑तुम् 'सुनने के लिये, श्रव॑ण 'सुनना' ।

सबल कोटि : अजै॑षम् 'मैंने जीत लिया' (लुङन्त रूप), जिगाय॑ 'उसने जीता' (लिट् रूप), अश्रौ॑षम् 'मैंने सुना', शुश्राव॑ 'उसने सुना' ।

शून्य कोटि : जित॑ 'जीता हुआ', श्रुत॑ 'सुना हुआ' ।

(२) ठीक इन्हीं परिस्थितियों में द्रवित ध्वनियाँ र् ल् भी स्वर बना दी जाती थीं। यद्यपि ऌ ज्यादातर ऋ के साथ घुल-मिल गया है, तथापि भारत-ईरानी मूल स्वररूप उच्चारण को सुरक्षित रखती है, जिसके फलस्वरूप मात्रात्मक अपश्रुति काफी सरल रह गयी है। गुण : क॑र्तुम् 'करने के लिये', वृद्धि चकार॑ 'किया'; शून्य : कृत॑ 'किया हुआ' / चक्रे॑ प्रथम पुरुष ए० व० आत्मनेपदी 'किया' ।

(३) ठीक इसी तरह अनुनासिक ध्वनियाँ भी स्वर का काम करने में समर्थ थीं, किन्तु भारत-ईरानी में ग्रीक की तरह स्वररूप अनुनासिक ध्वनियों के अ के रूप में परिवर्तित होने के कारण स्थिति जटिल हो गयी हैं। इसलिये कोटि यह है:— (१) अन्, अम्, (२) आन्, आम्, (३) अ/न्, अ/म्; उदा० (१) गम॑न 'जाना', ह॑न्ति 'मारता है', (२) जगाम॑ 'गया', जघान॑ 'उसने मारा', (३) (अ) हत॑ 'मारा हुआ', गत॑ 'गया हुआ', (ब) घ्न॑न्ति 'वे मारते हैं', जग्मुः 'वे गए' ।

(४) कभी-कभी दीर्घ आ मूल-रूप होता है, अर्थात् यह गुणरूप में मिलता है, उदा० धा, 'रखना, धारण करना', दा 'देना', स्था 'ठहरना' धातुओं में। यह सामान्य गुण स्वर की तरह शून्य कोटि में लुप्त हो जाता है, उदा० दध्मः, दद्मः। हम देख चुके हैं कि यह आ, अ? (aH) के लिये है (अथवा भारतयूरोपीय प्रक्रिया में ए, आ, ओ क्रमशः ए॑?$_1$, ए॑?$_2$, ए॑?$_3$ के लिये है)। इस प्रकार हम इस मात्रात्मक अपश्रुति में सामान्य गुणस्वर और ? ((H) के विषय में; जो स्वर का काम नहीं कर सकता, किन्तु इन परिस्थितियों में लुप्त कर दिया जाता है; विचार कर रहे हैं।

(५) इ? (iH), उ? (uH) के संयोग ई, ऊ के रूप में परिणत हुए हैं, जबकि तत्सम्बद्ध ध्वनियुग्मों वाले संयुक्त रूपों (–ए॑इ?–, ए॑उ?–, –eiH–, euH–) में ?(H) बिना किसी अवशेष के लुप्त हो गया है। इस प्रकार सामान्य ध्वनियुग्मीय अपश्रुति के अलावा ए/ई, ओ/ऊ आदि वाली अपश्रुति भी उत्पन्न हो गयी है (१) ने॑तुम् 'ले जाने के लिये' / नय॑ति 'ले जाता है'; हो॑मन्– 'हवन' / हव॑न– 'वही'। (२) अनैषम् 'मैं ले गया'/नायक– 'ले

जाने वाला'; जुहाव 'उसने आह्वान किया'। (३) नीत- 'ले जाया गया', हूत 'आह्वान किया हुआ'।

(६) स्वररूप ऋ के बाद ? (H) आने पर वह ईर्, ऊर् के रूप में परिणत हो गया, जब कि सम्बद्ध गुणकोटियों में वह लुप्त हो गया है। इन स्थितियों में हमें अर्, आर् के साथ मात्रात्मक अपश्रुति में ईर्, ऊर् दुर्बल कोटि मिलती है। (१) तर्तुम् 'पार करने के लिये', पिपर्ति 'भरता है'; (२) तारयति 'पार करवाता है'; (३) तीर्ण 'पार किया हुआ', पूर्ण- 'भरा हुआ'।

(७) जब अन् (न्, n̥) अन् (म्, m̥) के बाद ? (H) आता है, तो संस्कृत में पहली स्थिति में आ, दूसरी स्थिति में आन्- (उदाहरण केवल त् के पहले मिलते हैं) के रूप में परिणत होते हैं। इसलिये अपश्रुतिगत रूप हैं— सनोति : सात; दाम्यति, दमयति, दान्त-।

(८) कुछ ऐसे भी भ्रामक स्थल हैं, जहाँ कोई वास्तविक अपश्रुति नहीं है। एक उदाहरण पा-तुम् 'पीने के लिये' : प्- ईत- (पीत) 'पीया हुआ' है। यहाँ द्वितीय रूप का ई प्रत्ययात्मक है और प्रथम रूप के मूल आ के साथ उसका अपश्रुत्यात्मक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

(९) दो से अधिक व्यञ्जन-ध्वनियों वाले धातुओं में दो प्रकार की गुण कोटियाँ होती हैं : (१) वर्तते 'मुड़ता है', आदि, (२) त्रसति 'डरता है', आदि। सामान्यतः धातु किसी एक अथवा दूसरे वर्ग से सम्बद्ध होते हैं और इसे वे गुणकोटि में (और वृद्धिकोटि में, जो इस दृष्टि से गुणकोटि के अनुसार है) सुरक्षित रखते हैं, किन्तु कुछ स्थितियों में दुहरे रूप मिलते हैं, उदा० दृश्- 'देखना' से हमें ये कोटियाँ मिलती हैं : दुर्बल कोटि दृष्ट-, गुण १ दर्शयति, गुण २ द्रक्ष्यामि, वृद्धि १ दार्शनिक-, वृद्धि २ अद्राक्षम्।

(१०) पदान्त वृद्धिजनित रूप, जो अन्तःस्थ, द्रवित अथवा अनुनासिक व्यञ्जन के रूप में परिवर्तित होते हैं, अपने पदान्त तत्त्व का लोप कर सकते हैं : सखा 'मित्र' (द्वितीया सखायम्, मूल शब्द सखि-), अश्मा 'पत्थर' (द्वितीया अश्मानम्, मूल शब्द अश्मन्), दाता 'देनेवाला' (द्वितीया दातारम्, सम्बोधन दातः, चतुर्थी दात्रे, आदि)। यह प्रवृत्ति अन्यत्र भारत-यूरोपीय (लैटिन सेर्मो (sermō) आदि) में मिलती है, किन्तु संस्कृत की तरह इतनी नियतता से कहीं नहीं (उदा० संस्कृत पिता के साथ-साथ ग्रीक पतेर् (patḗr), लैटिन पतेर् (pater)।

यह स्वर-परिवर्तन भारत-यूरोपीय स्वरपात (accent) से सम्बद्ध था। संस्कृत में कोटि-परिवर्तन और उदात्त स्वरपरिवर्तन का सम्बन्ध कई उदाहरणों

से स्पष्ट है : एमि 'मैं जाता हूँ', इमः 'हम जाते हैं', श्रोतुम् 'सुनने के लिये' : श्रुत 'सुना हुआ'; अस्ति 'है' : सन्ति 'हैं' (लैटिन एस्त् est, सुन्त् sunt) हन्ति 'मारता है', घ्नन्ति 'वे मारते हैं' (हित्ती कुएन्ज़ि kuenzi : कुनन्ज़ि kunanzi); अत्ति 'खाता है' (अद्-तिं) : दन्त्- 'दाँत' ('खाने वाला')। इस प्रकार के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि शून्यकोटि अक्षर की स्वरपातरहित स्थिति के कारण है और गुणकोटि वस्तुतः स्वरपातयुक्त अक्षर की कोटि है। ठीक दूसरी भाषाओं की तरह, संस्कृत में कई उदाहरण ऐसे हैं, जहाँ स्वरपात और मात्रात्मक अपश्रुति का मेल नहीं बैठता : उदा० संस्कृत वृर्क- 'भेड़िया', ऋर्च- 'भालू', तृर्ण- 'घास', विप्र- 'ब्राह्मण, साधु'। वैसे ये स्थल कोई कठिनता उपस्थित नहीं करते, क्योंकि यह ज्ञात है कि कई स्थानों में स्वरों का स्थान बदल गया है। ठीक यही स्थिति स्पष्ट रूप में ऊपर निर्दिष्ट उदाहरणों में है, क्योंकि वे सब मूलतः विशेषणरूप (उदा० तृर्ण (< * तृण-) 'जो काटता है', तुल० तृणत्ति) हैं और यह नियम था कि इस प्रकार के व्युत्पादित शब्द प्रत्ययांश पर उदात्त का वहन करते थे। संस्कृत में नामिक शब्दों (संज्ञा) से बने विशेषणों के लिये उदात्त स्वर को प्रथम अक्षर पर पीछे ले जाने की प्रवृत्ति भी काफी प्रचलित है।

उक्त स्वरसम्बन्धी नियम के पूरी तरह लागू होने पर किसी भी शब्द में केवल एक ही गुणरूप अक्षर हो सकता है। ऊपर उदाहृत शब्द इसी कोटि के हैं, किन्तु किसी भी भाषा में अधिकांश भारत-यूरोपीय शब्द इस तरह के नहीं हैं। यह मुख्यतः दो कारणों से है। पहले तो असुविधाजनक और व्याकरण की दृष्टि से कम स्पष्ट शब्दों के व्युत्पन्न होने पर, उदात्तरहित गुण स्वरध्वनि के लोप का विरोध किया जाता था, अथवा अगर लोप कर दिया जाता था तो इसे फिर से तेजी से वापस संस्थापित कर दिया जाता था। इस प्रकार पद्- 'पैर' के षष्ठी ए० व० में हमें नियमतः व्युत्पन्न *ब्दः न मिलकर स्वरपातरहित स्थिति में गुण स्वर ध्वनियुक्त पदः मिलता है। अदन्त्- 'खाता हुआ' के साथ-साथ दन्त्- 'दाँत' ('खाने वाला', तुल० सन्त्-होने वाला' : अस्-) का अस्तित्व हमें एक स्पष्ट स्थल देता है, जहाँ उदात्तरहित स्थिति में गुणस्वर सादृश्य के आधार पर पुनः संस्थापित कर दिया गया है। दूसरे भारत-यूरोपीय स्वरपात की प्रकृति परवर्ती भारतयूरोपीय युग में एक परिवर्तन से गुजरी है। यह समीपवर्ती उदात्त-रहित अक्षरों को कुछ समय के लिये दुर्बल कर देने की शक्ति से युक्त थी और फिर परवर्ती भारतयूरोपीय में इसका यह प्रभाव समाप्त हो गया। परिणामतः उपर्युद्धृत रूपों जैसे स्थल, जिनमें मात्रात्मक अपश्रुति का परिपूर्ण प्रभाव दिखाई पड़ता है, भारत-यूरोपीय के अत्यधिक प्राचीन स्तर से सम्बद्ध माने जाने चाहिएँ।

किन्तु इसके वाद कि उदात्त स्वर का आघात समीपवर्ती अक्षरों को दुर्बल बनाने के प्रभाव को खो बैठा, भारतयूरोपीय भाषा प्रचुरता से नये शब्द बना रही थी; जिस प्रक्रिया को खास तौर पर अपनी आरम्भिक स्थितियों में प्रत्येक भाषा ने सुरक्षित रखा था। यज़त– 'सजाने योग्य', दृर्शत– 'देखने योग्य', देवस्य 'देवता सम्वन्धी', आदि-आदि के ढंग के अनेक व्युत्पादित रूप इसी परवर्ती युग में अपना उद्‌भव रखते हैं, जवकि उदात्त का आघात इर्द-गिर्द के अक्षरों की स्वर-ध्वनियों को प्रभावित करने की शक्ति खो बैठा था।

२३. गुणात्मक परिवर्तन : गुणात्मक अपश्रुति

भारतयूरोपीय में गुणस्वर का गुणात्मक परिवर्तन भी था, और यह इस परिवार की कई शाखाओं में अच्छी तरह सुरक्षित है। उदा० ग्रीक लेगो (légō) 'मैं कहता हूँ' : लोगोस् (lógos) 'शब्द', लैटिन तेगो (tego) 'मैं ढँकता हूँ' : तोग (toga) 'चोंगा'; रूसी वेज़ु (vezu) 'मैं ले जाता हूँ' : वोज़् (voz) 'गाड़ी, भार'; अंग्रेजी सिङ् (sing) : सेङ् (sang)। यह परिवर्तन उपर्युद्धृत उदाहरणों की तरह गुणस्वर तथा उसके वृद्धिरूप विस्तार (ग्रीक दोतेर् dotér : दोतोर् dótōr देनेवाला') को प्रभावित करता है। भारत-ईरानी में यह परिवर्तन अ, ए, ओ स्वरों की गुणरूप प्रकृति के अ के रूप में घालमेल के कारण बिलकुल लुप्त हो गया है। परिणामतः यह भारतयूरोपीय परिवर्तन संस्कृत व्याकरण के लिये किसी महत्व का नहीं है और इसका संक्षिप्त संकेत केवल इसलिये जरूरी है कि संस्कृत के तुलनात्मक व्याकरण के विद्यार्थी को सम्बद्ध भाषाओं से उदाहृत सामग्री में इस तरह का परिवर्तन मिलेगा।

यह परिवर्तन मात्रात्मक परिवर्तन की तरह स्पष्ट रूप में भारतयूरोपीय स्वरपात से सम्वद्ध है। यह एक ओर ग्रीक दइमोन् (daímōn), दइमोनेस् (daímonś) और दूसरी ओर पोइमेन् (poimén), पोइमेनोस् (pōiménos) जैसे रूपों को साथ-साथ रखने से स्पष्ट है। इसका नियम स्पष्ट है कि उदात्त स्वर-संपन्न अक्षर की सामान्य कोटि सदा ए है और उस पर हमेशा उदात्त स्वर रहा है, (ग्रीक एस्ति ésti, एपोस् épos, नेओस् néoś, आदि)। स्वरपातसम्बन्धी परिवर्तन और सादृश्यप्रक्रिया ने स्थिति को किसी हद तक गडवड़ा दिया है, किन्तु यह मूल तथ्य निःसन्देह मौजूद है। सादृश्यप्रक्रिया का एक उदाहरण संकेतित किया जा सकता है; षष्ठी ए० व० का विभक्ति-चिह्न कुछ भाषाओं में एक ऐसे रूप में मिलता है, जो भारतयूरोपीय –एस् (–es) का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरी भाषाओं में एक ऐसे रूप में मिलता है, जो भारत-यूरोपीय ओस् का प्रतिनिधित्व करता है। चूँकि यह विभक्ति-चिह्न कभी

स्वरपातयुक्त तथा कभी स्वरपातहीन था, हम ठीक तौर पर यह कल्पना कर सकते हैं कि ये दोनों रूप मूलतः स्वरपात के आधार पर अलग-अलग किए गए थे। आगे चलकर अलग-अलग भाषाओं ने किसी एक रूप को सामान्य बना लिया, कभी–एॅस् रूप और कभी–ओॅस् रूप चुन लिया गया।

यह तथ्य कि भारत-यूरोपीय स्वरपात दो भिन्न प्रकार के स्वरपात से युक्त होना चाहिए, उस बात से सम्बद्ध है, जो ऊपर स्वरपात के सम्बन्ध में कही जा चुकी है। गुण स्वर के लोप का पदरचनात्मक कारणों से प्रायः विरोध किया जाता था और यदि यह लुप्त हो भी जाता था तो पुनः संस्थापित कर दिया जाता था। इस प्रकार की सुरक्षित या संस्थापित गुण स्वरध्वनियाँ सम्भवतः परवर्त्ती युग में स्वरपात के द्वारा भिन्न ढंग से प्रभावित होती थी, जिससे एॅ के स्थान पर ओॅ मिलता है। अथवा शब्द का मुख्य स्वरपात फिर से बदल गया हो, जिससे उस अक्षर की स्वरध्वनि जिसका स्वरपात लुप्त हो गया था, परिवर्तित कर दी गयी। उदा० ग्रीक दइमोन् (daímōn) के द्वारा प्रतिनिहित कोटि के अनेक शब्द एक ऐसे वर्ग (कर्त्रर्थक संज्ञाशब्द) से सम्बद्ध थे, जिनमें मूलतः प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर था, प्राचीन रूप–तेर्– (tér), मेन् (mén) के साथ-साथ –तोर् (tōr), –मोन् (mōn), आदि रूप इसी तरह के स्वरपात के परिवर्तन के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आए जान पड़ते हैं।

२४. संस्कृत तथा भारत-यूरोपीय स्वरप्रक्रिया

अन्तिम दो अनुच्छेद भारत-यूरोपीय में स्वरप्रक्रिया के द्वारा किए गए महत्त्वपूर्ण कार्य को उदाहृत करते हैं। पदरचना का विचार करते समय स्वरप्रक्रिया एक अनिवार्य तत्त्व है, जिसके बिना ठीक-ठीक व्याकरणिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इसी कारण आगामी परिच्छेदों में स्वरप्रक्रिया निरन्तर विवेचन का विषय रही हैं। यहाँ कुछ सामान्य संकेत पर्याप्त हैं।

संस्कृत की वैदिक तथा प्राचीन शास्त्रीय स्वरप्रक्रिया का परिपूर्ण विवरण और उनको संकेतित करने में प्रयुक्त विभिन्न पद्धतियों का विवरण कुछ जटिल है, किन्तु मूल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं। प्रत्येक शब्द में सामान्यतः एक उदात्त स्वर होता है, जिसकी स्थिति एक शब्द से दूसरे शब्द में भिन्न होती है। शब्द में पहले से अन्तिम तक कोई भी अक्षर उदात्त स्वर सम्पन्न हो सकता है (उदा० अपचिति 'प्रायश्चित', धारयति 'धारण करता है' नमस्यति 'प्रणाम करता है' और अपराह्ण– 'तीसरा पहर'; क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ शब्द पट उदात्त

स्वरयुक्त हैं)। इसके कोई सीधे-सादे नियम नहीं दिये जा सकते कि शब्द के किस अक्षर पर उदात्त स्वर होगा।

कतिपय शब्द प्रकृतया उदात्त-स्वररहित थे, और उन पर उदात्त स्वर कहीं नहीं पड़ता था। ये इस प्रकार के निपात और सार्वनामिक रूप है, जैसे च 'और', मा 'मुझे', मे 'मेरा', आदि। अन्यत्र उदात्त स्वर को कुछ खास परिस्थितियों में हटा दिया जा सकता है। (१) वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त न होने पर सम्बोधन में संज्ञा शब्द अपने उदात्त स्वर को खो देता है, और जब वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त होता है तो उसके वास्तविक उदात्त स्वर का ध्यान न रखते हुए सदा प्रथम अक्षर ही उदात्त स्वर सम्पन्न होता है। (२) वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त न होने पर वाक्य के प्रधान उपवाक्य की समापिका क्रिया अपना उदात्त स्वर खो देती है, अन्यथा वह अपने वास्तविक उदात्त स्वर को सुरक्षित रखती है। आश्रित उपवाक्यों में वह अपना वास्तविक उदात्त स्वर किसी भी परिस्थिति में सुरक्षित रखती है। इस स्थिति में अधिकांशतः उपसर्ग क्रिया के साथ संयुक्त कर दिया जाता है, और वह अपना उदात्त स्वर खो बैठता है, उदा० प्र गच्छति 'वह आगे जाता है', यदि प्रगच्छति 'यदि वह आगे जाता है'।

इस प्रकार संकेतित स्वर को पाणिनि के द्वारा उदात्त 'उठाया हुआ' संज्ञा दी गयी है, और यह उठान स्वर अथवा संगीतात्मक सुर का था। मूलस्वर परवर्ती अक्षरों के उच्चारणों को प्रभावित करता था, क्योंकि इस अक्षर के उच्चारण के समय आवाज का अपने सामान्य स्तर पर फिर से आना प्रभावित होता था। उदात्त के ठीक बाद में आनेवाले अक्षर का स्वर स्वरित- परिभाषित किया गया है, और पाणिनि ने इसे उदात्त और अनुदात्त का संयोग (समाहार) बताया है। कहने का मतलब यह है कि यह अक्षर उदात्त के आरोहयुक्त सुर से आरम्भ होता है और उच्चारण की प्रक्रिया में उतरता जाता है। इसके अतिरिक्त एक स्वतन्त्र स्वरित भी होता है, जो गौणतः इ्य- के य के रूप में संकोच से उत्पन्न होता है और इस स्थिति में शब्द का मुख्य स्वर स्वरित होता है। यह वैदिकोत्तर विकास है, चूँकि प्राचीन संहिता भाग का छन्द इस बात का संकेत करता है कि तब तक यह संकोच नहीं हुआ।

मुख्य स्वर पूर्ववर्ती स्वर के उच्चारण को भी प्रभावित करता था। इसका उच्चारण सामान्य से कुछ नीचे होता था और इसे पाणिनि ने सन्नतर- संज्ञा दी है। इस तरह शब्द के एक प्रमुख स्वर से ही ४ प्रकार के विभिन्न सुरभेदों का विकास हुआ : उदात्त-, अनुदात्त-, स्वरित-, सन्नतर-। चूँकि ये सभी भेद पूरी तौर पर मुख्य स्वर पर आश्रित हैं, इसलिये केवल उसी का संकेत किया जाना जरूरी है, जैसा कि ऊपर किया गया है। स्वतन्त्र स्वरित के लिये भिन्न

प्रकार का संकेत जरूरी है (वृक्यं:, तन्वं:, आदि), लेकिन इसे भी वेद में छोड़ा जा सकता है, यदि शब्दों को उच्चारण के अनुसार वर्तनी दी जाय (वृकियं, तनुवं:) ।

ऊपर संकेतित स्वराघात की जटिलता वैदिक शाखाओं के द्वारा अपनाए गए चिह्नों की अनावश्यक जटिल प्रक्रिया के लिए उत्तरदायी है। सामान्य प्रक्रिया के अनुसार, जो उदाहरण के लिये ऋग्वेद में अपनायी गई है, उदात्त से ठीक पहले के अक्षर सन्नतर को नीचे पड़ी रेखा से और उदात्त के ठीक बाद आने वाले आश्रित स्वरित को उसके ऊपर खड़ी रेखा से चिह्नित करने का नियम है। उदात्त अपने आप अचिह्नित छोड़ दिया जाता है। यह प्रक्रिया आज के विद्वानों द्वारा और कुछ वैदिक शाखाओं द्वारा अपनायी गयी प्रक्रिया की अपेक्षा कम सरलता से ठीक उसी लक्ष्य को प्राप्त करती है। ऋग्वेद का आधुनिक उच्चारण संगीतात्मक दृष्टि से सन्नतर को अत्यधिक अवरोहयुक्त और स्वरित को अत्यधिक आरोहयुक्त उच्चरित करने और उदात्त की बिलकुल अवहेलना करने की सीमा तक इस चिह्न-प्रक्रिया का अनुगमन करता है। चाहे पुराना हो, पर यह गौण विकास है और पाणिनि के उन सिद्धान्तों के विरुद्ध है, जो तुलनात्मक भाषाविज्ञान की उपलब्धियों से मेल खाते हैं।

ऊपर संकेतित स्वरप्रक्रिया कई शताब्दियों से कथ्य संस्कृत में बिलकुल लुप्त रही है; जैसी कि यह उससे उत्पन्न सभी भारतीय आर्यरूपों में है। सामान्य कथ्य प्रयोग में स्वरप्रक्रिया कब लुप्त हुई, यह निश्चित रूप से कहना असम्भव है। यह निश्चित रूप में पतंजलि के समय में जीवित वस्तु थी और यहाँ तक कि पतंजलि के बाद भी शान्तनव ने अपने फिट् सूत्रों में इस विषय का विवेचन किया है। काशिकावृत्ति के रचयिता (७०० ई० ल०) के अनुसार स्वरप्रक्रिया का प्रयोग कथ्य भाषा में वैकल्पिक था, जिसका तात्पर्य सम्भवतः यह है कि व्यवहार में इसका प्रयोग नहीं रहा था। समग्र रूप में यह असम्भव है कि स्वरप्रक्रिया का प्रयोग ईसवी सदी के बाद अधिक समय तक सुरक्षित रहा हो। मध्य-भारतीय आर्यभाषा के विषय में हम यह मान सकते हैं कि यह परिवर्तन बहुत पहले हो चुका था, उसके बहुत आरम्भ में ही, जिसे हम मध्य-भारतीय आर्यभाषा कह सकते हैं।

प्राचीन भारतयूरोपीय स्वर किसी न किसी समय में अधिकांश भारतयूरोपीय भाषाओं में ठीक उसी तरह लुप्त हो गया, जैसे भारतीय आर्यभाषा में। भारत-यूरोपीय से साक्षात् रूप में विकसित स्वरप्रक्रिया केवल ग्रीक और बाल्तो-स्लावी में मिलती है। उसे जर्मन शाखा की प्राचीन स्थिति के सम्बन्ध में वर्नर के नियम के अनुसार वर्गीकृत ध्वन्यात्मक विकासों से भी अनुमानित किया जा सकता है।

इस परिवार के दो प्राचीनतम सदस्य संस्कृत और ग्रीक की स्वरप्रक्रिया के विषय में ठीक-ठीक जानकारी का अस्तित्व भारत-यूरोपीय को समझने के लिये काफी मूल्यवान् है। उन भाषाओं में जिनमें यह स्वरप्रक्रिया सुरक्षित है, उसका तुलनात्मक अध्ययन कुछ मौलिक समानताओं को उद्घाटित करता है, यद्यपि कमोवेश सभी भाषाओं ने विस्तार से नवीनता का समावेश कर लिया है। भारत-यूरोपीय में उदात्त स्वर की स्थिति प्रायः संस्कृत और ग्रीक के मिलान के आधार पर स्थिर की जाती है : उदा० भरति 'धारण करता है' : ग्रीक फ़रेइ (phérei); श्रुत- 'सुना हुआ' : ग्रीक क्लुतॉस् (klutós); गुरु- 'भारी' : ग्रीक वरुस्- (barús); वचस् 'वचन' : ग्रीक ऍपॉस् (épos) आदि। अन्य स्थलों में वे एक अथवा दूसरी ओर नवीनता का संकेत करने के कारण परस्पर भिन्न हैं : मातर्- (मातृ-) 'माता' : ग्रीक मेतॅर् (mḗtēr); बाहु- 'भुजा' : ग्रीक पेखुस् (pē̂xus), आदि। नये रूप बनाने की प्रवृति स्वर और अपश्रुति के परस्पर विरोध से भी स्पष्ट है, जो या तो किसी विशिष्ट भाषाओं में (संस्कृत विद्म के अत्यधिक मूल रूप स्वराघात के विपरीत ग्रीक इद्मॅन् (ídmen) 'हम जाने') अथवा सभी भाषाओं में (संस्कृत वृक-, ग्रीक लुकॉस् (lúkos), आदि)। परवर्त्ती स्थिति में नवीनीकरण भारतयूरोपीय युग का है। अलग-अलग भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से, स्वरप्रक्रिया के साथ निकटतया सम्बद्ध अपश्रुति के अध्ययन से और पदरचना में स्वरप्रक्रिया के कार्य के ठीक-ठीक ज्ञान से भारत-यूरोपीय स्वरप्रक्रिया का स्पष्ट और समुचित परिज्ञान सम्भव है। अधिक विवरण पदरचना का अंग है और सम्बद्ध परिच्छेदों में मिलेगा।

संस्कृत और ग्रीक में प्राचीन स्वरप्रक्रिया की प्रकृति हमें परम्परा से मिले शास्त्रीय विवरणों से और अंशतः संस्कृत के विषय में वेद के परम्परागत पाठ से ज्ञात है। इन दोनों भाषाओं में यह स्वरप्रक्रिया मुख्यतः संगीतात्मक थी, बलाघात का विषय नहीं। यह इस तथ्य से परिपुष्ट होता है कि दोनों भाषाओं में छन्द स्वर-प्रक्रिया से सर्वथा स्वतन्त्र है और एकमात्र अक्षरों की मात्रा पर आश्रित है। इस समानता के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि ठीक इसी प्रकारकी स्वरप्रक्रिया परवर्ती भारतयूरोपीय में रही है। किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, आरम्भिक और परवर्ती भारतयूरोपीय के बीच इस दृष्टि से परिवर्तन अवश्य हुआ होगा। आरम्भ में स्वरप्रक्रिया सबल स्वराघात सम्बन्धी तत्त्व का संकेत करते हुए समीपवर्त्ती अक्षरों को दुर्बल बनाने की शक्ति से सम्पन्न थी। परवर्ती युग में यह शक्ति निश्चित रूप में लुप्त हो गयी और संस्कृत तथा ग्रीक की स्वरप्रक्रिया के सम्बन्ध में जो कुछ भी जानकारी है, उससे यह तथ्य मेल खाता है।

सामान्य आरोही स्वर (acute accent) के साथ-साथ भारतयूरोपीय में कुछ खास परिस्थितियों में एक आरोहावरोहयुक्त स्वर (circumflex accent) भी था। यह ग्रीक और लिथुआनी की परस्पर समानता से स्पष्ट है, उदा० षष्ठी ए० व० स्त्रीलिङ्ग ग्रीक थेअस् (theâs); लिथु० गॅरोस् (gerõs), षष्ठी ब० व० पुंल्लिङ्ग ग्रीक थेओन् theôn), लिथु० गेरुँ (gerũ), तृतीया ब० व० पुल्लिङ्ग ग्रीक थेओइस् (theoîs), लिथु० विल्कइस् (vilkaĩs) में आरोहावरोहयुक्त स्वर हैं, जो प्रथमा ए० व० स्त्रीलिङ्ग ग्रीक थेआ (theá), लिथु० गेरो- जि (geró-ji) (गेर gerá) में उपलब्ध आरोही स्वर के विरुद्ध है। इन स्थितियों में संस्कृत में अन्यत्र की तरह सामान्य उदात्त स्वर ही मिलता है और यह भाषा दो प्रकार के स्वरों में कोई भेद नहीं करती जैसा कि भारतयूरोपीय भाषा करती थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, संस्कृत में मुख्य स्वर की भिन्न कोटि के रूप में अस्तित्व में आनेवाला स्वतन्त्र स्वरित वैदिकोत्तर उत्पत्ति है, और उसका भारत-यूरोपीय में विविध स्वरकोटियों के परस्पर भेद से कोई संबंध नहीं है।

वैसे प्राचीन आरोहावरोहयुक्त स्वर के चिह्न छन्द के अध्ययन से वेद में भी उद्घाटित होते हैं। कुछ स्थलों में छन्द इसे स्पष्ट करता है कि दीर्घ आ को द्वयक्षर रूप में उच्चरित करना होगा, उदा० गाम्, द्याम्, को गअम्, द्यअम् और षष्ठी ब० व० के विभक्ति चिह्न आम् को अअम्। ऐसे स्थलों पर सम्बद्ध ग्रीक रूप प्रायः आरोहावरोहयुक्त स्वर का वहन करते हैं और यह इस बात को मानने का कारण है कि वेद की छन्दःशास्त्रीय विशेषता भारत-यूरोपीय आरोहावरोहयुक्त स्वर का प्रभाव है।

परिच्छेद ४

नामिक शब्दों की रचना

१ सामान्य सङ्केत

संस्कृत नामिक प्रातिपदिक, जैसा कि अल्पसंख्यक स्थितियों में पाया जाता है, मूल धातु से मेल खाता है, किन्तु प्रायः यह उसके साथ एक प्रत्यय जोड़कर वनाया जाता है। यह प्रत्यय अनेकसंख्यक हैं और भारतयूरोपीय से आए हैं। जैसा कि कुछ भाषाओं में मिलता है (उदा० अंग्रेजी मैन्-ली man-ly, मैन-हुड man-hood), ये प्रातिपदिक मूलतः स्वतन्त्र शब्दों से व्युत्पन्न नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक स्थिति में अपने सम्वद्ध अंशों के रूप में विश्लिष्ट किए जा सकते हैं, अर्थात् अलग-अलग व्यञ्जनों अथवा अन्तःस्थ ध्वनियों के रूप में, जिनसे इनकी रचना हुई है। ये प्राथमिक तत्त्व लगभग सभी तरह की उपलब्ध ध्वनियों को समाहित करते हैं, किन्तु अत्यधिक प्रयुक्त ध्वनियाँ र्, न्, स्, त्, य्/इ, व्/उ, म्, ? (H) और क् हैं। ये या तो गुणरूप के साथ मिल सकते हैं अर्थात् इनके पूर्व थिमैटिक स्वर मिलता है (–अर्, –अन्, –अस्, भारतयूरोपीय एर्– (er–), एन्– (en–), एस्– (es–), आदि), अथवा अपने दुर्बल रूप में (–र्, –न्, –स्)। थिमैटिक स्वर स्वयं भी प्रत्यय के रूप में मिल सकता है, किन्तु सामान्यतः केवल पदान्त स्थिति में ही (भवन, भव्– अन्– अ–, उद्र, udr-á, आदि), चूँकि अन्यत्र यह व्यञ्जनरूप प्रत्यय की गुणकोटि से सदा सम्वद्ध है। भारतयूरोपीय मुख्य प्रत्यय या तो मूल धातु के साथ जोड़े जा सकते हैं अथवा उन शब्दों के साथ, जो किसी अन्य प्रत्यय से पहले से ही युक्त हैं: उदा०,– अस् प्रत्यय, वर्चस् 'वाणी' में धातु के साथ जोड़ा गया है, रेक्नस् 'दाय, सम्पत्ति' में न् प्रत्यय से युक्त मूल के साथ, स्रोतस् 'झरना' में त् प्रत्यय से युक्त मूल के साथ, और पीवस्– 'मोटा' में व् प्रत्यय से युक्त मूल के साथ। चूँकि मूल धातु स्वयं भी मूलतः नामिक शब्द का स्वतन्त्रता से काम कर सकता था, अर्थात् पूरे अर्थ में एक शब्द था, इस प्रकार के प्राथमिक और गौण व्युत्पादित रूपों के बीच सिद्धान्त की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। किसी भी शब्द के साथ प्रत्यय जोड़ा जा सकता है, चाहे उसके

साथ पहले से ही कोई प्रत्यय हो या न हो, और इसकी प्रक्रिया की प्रकृति ठीक वही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राथमिक तत्त्वों के सम्भाव्य संयोगों की अत्यधिक संख्या के कारण भारतयूरोपीय भाषा में इन संयुक्त प्रत्ययों की संख्या वहुत अधिक है, और संस्कृत तथा सम्वद्ध भाषाओं में नामिक प्रातिपदिकों की रचना की जटिलता पूरी तरह वहुत थोड़े से प्राथमिक तत्त्वों के वहुसंख्यक संयोगों का विषय है।

संस्कृत के विवरणात्मक तथा एकप्रणालिक (Synchronistic) व्याकरण में विविध प्रत्यय-संयोगों (संयुक्त प्रत्ययों) को इकाइयों के रूप में माना जाता है, जो वस्तुतः भाषा के विकास की स्थिति में वन गए हैं। विषय के ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन के लिये अधिक मौलिक पद्धति आवश्यक है। यह अपेक्षित है, जैसा कि परवर्ती पृष्ठों में किया गया है कि एकाकी आदिम तत्त्वों से आरम्भ कर उनसे उस ढंग से समग्र प्रत्यय-प्रक्रिया को निर्मित किया जाय, जो भाषा के प्राचीन इतिहास में विकसित हुई थी।

मूल एकाकी प्रत्ययों के बीच अर्थ और प्रक्रिया की दृष्टि से कोई स्पष्ट भेदक विशेषता नहीं दिखाई पड़ती। कुछ स्थितियों में वे अपने आप में किसी अर्थ-विशेष से युक्त नहीं होते। जैसे एक प्रा० भा० यू० शब्द *वेत् (wet) 'वर्ष' हित्ती में इसी रूप में मिलता है (संस्कृत में भी –उत् के रूप में समाहृत, परुत् 'गत वर्ष'); ग्रीक में यह–ओस् (os) प्रत्यय से युक्त मिलता है, जैसे ऍतास् (वॅतास्) (w)étos) में; अर्थ में बिना कुछ जोड़े हुए। इसी तरह प्रत्यय (अस् आदि) से युक्त नपुंसक कर्मबोधक नामिक अर्थ की दृष्टि से ठीक उसी अर्थ में प्रयुक्त मूल धातुरूपों से मूलतः भिन्न नहीं हैं : द्विष् = 'द्वेष' : द्वेषः 'वही', आदि। वस्तुतः जब एक ही धातु से विविध प्रत्ययों को जोड़कर बने अनेक शब्द साथ-साथ मिलते हैं, तो प्रायः इन शब्दों में अर्थ का भेद विकसित हो जाता है, किन्तु यह केवल भाषागत व्यवहार या मुहावरे का विषय है, और इसका प्रत्ययों की अपनी तात्त्विक प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो बात एकाकी प्रत्ययों के साथ लागू होती है, ठीक वही संयुक्त प्रत्ययों के साथ भी है। ऊपर उद्धृत उदाहरणों में –तस्, –नस् और –वस् प्रत्यय ठीक उसी ढंग से प्रयुक्त होते हैं, जैसे एकाकी प्रत्यय –अस्। हित्ती में –सर्, –तर्, –मर्, –वर् (न्– अन्त वाले वैकल्पिक प्रातिपदिकों के साथ) प्रत्ययों की माला मिलती है, जो ठीक उसी तरह के नपुंसक कर्मबोधक नामिक शब्द बनाते हैं और यह ठीक भारतयूरोपीय प्रयोग को प्रतिबिम्बित करते हैं। समय की गति के साथ सभी भाषाओं में विविध प्रत्ययों के प्रयोग में विशेषीकरण की प्रवृत्ति विकसित हो गयी है, किन्तु यह गौण है और कुछ स्थितियों में यह निर्देश करना

संभव है कि यह विकास हुआ है[1]। प्राचीन भारतयूरोपीय में नामिक व्युत्पत्तियों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर एकाकी और संयुक्त जैसे विविध प्रत्ययों के बीच नहीं था, किन्तु स्वर-प्रक्रिया के अन्तर में था, जिसके अनुसार एक ही प्रत्यय से बना हुआ शब्द कर्मबोधक संज्ञाशब्द के रूप में अथवा कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द, विशेषण के रूप में काम करता था। धातु पर उदात्त स्वर होने पर यह कर्मबोधक संज्ञाशब्द और नपुंसकलिङ्ग था, प्रत्यय पर उदात्त स्वर होने पर यह कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द अथवा विशेषण था, और मूलतः तथाकथित 'सामान्य लिङ्ग' का शब्द था। यह प्रक्रिया किसी हद तक संस्कृत में सुरक्षित है, और यह इस तरह के शब्दयुगलों से उदाहृत की जाती है, जैसे ब्रह्म नपुं० 'स्तुति' : ब्रह्मा पुं० 'पुरोहित', यशः नपुं० 'कीर्ति' : यशः–पुं० 'कीर्तिवाला'। संस्कृत उदाहरण बहुसंख्यक नहीं है, और केवल कुछ ही प्रत्ययों के सम्बन्ध में मिलते हैं; वस्तुतः वे म्रियमाण प्रक्रिया के बचे-खुचे अंश हैं। दूसरी ओर प्राचीन भारतयूरोपीय में यह प्रक्रिया काफी विस्तार और महत्त्व की थी और यह नामिक शब्दों की रचना के समझने के लिये ही नहीं, किन्तु उनके शब्दरूपों को समझने के लिये भी महत्त्वपूर्ण मूलाधार है।

थिमैटिक स्वर कई बातों में अन्य प्रत्ययों से बिलकुल अलग है। इसकी वास्तविक प्रक्रिया विविध आदिम नपुं० संज्ञाशब्दों से कर्मबोधक संज्ञाशब्द अथवा विशेषणों को बनाना जान पड़ता है, उदा० उद्र्–अ (उद्र) 'उदबिलाव': ग्रीक हुदोर् (húdōr), 'पानी'। वस्तुतः इस प्रकार के नामिक शब्दों की रचना में उपर्युक्त पद्धति की यह एक वैकल्पिक प्रक्रिया थी। हित्ती में इसका सामान्य प्रयोग है, जो वस्तुतः ऊपर संकेतित पद्धति की अवहेलना करता है। अनेक नपुंसक थिमैटिक प्रातिपदिक, जो केवल व्यञ्जनान्त प्रातिपदिकों के विस्तारित रूप हैं (संस्कृत अञ्जन्–अ (अञ्जन) नपुं० : लैटिन उन्गुएन् (unguen), आदि), परवर्ती विकास जान पड़ते हैं और इनकी हित्ती के द्वारा अवहेलना की गयी है।

संस्कृत के विवरणात्मक व्याकरण में नामिक प्रत्ययों को दो बड़े वर्गों में विभक्त किया जाता है, मुख्य और गौण, भारतीय वैयाकरणों की पारिभाषिक शब्दावलि में कृत् और तद्धित। प्रथम कोटि में वे सारे रूप आते हैं, जो सीधे धातु के साथ कोई प्रत्यय जोड़कर बनाए गए हैं (जैसे, वच्–से वचस् 'वाणी') और द्वितीय कोटि में वे जो पहले से ही बने नामिक शब्दों के आधार पर बनाये गये हैं (उदा० अश्व–'घोड़ा' से अश्वन्त्– 'घोड़े वाला')। संस्कृत की अपनी

---

१. उदा० तुलनाबोधक प्रत्यय –तर के सम्बन्ध में देखें २, § १० (vi)

दृष्टि से यह दुहरा वर्गीकरण सुविधाजनक है, किन्तु भारतयूरोपीय की दृष्टि से यह कोई मौलिक और प्राचीन महत्त्व नहीं रखता। एक ही वस्तु के लिये ठीक वही प्रत्यय दोनों ढंग से काम करता मिलता है, और जब कोई प्रत्यय खास तौर पर अथवा केवल गौण प्रत्यय के रूप में काम करता मिलता है तो यह ऐतिहासिक दृष्टि से गौण विशेषीकरण का स्थल है। संस्कृत में –वन्त् प्रत्यय सामान्यतः गौण प्रत्यय है, किन्तु यह इस तरह के उदाहरणों में मुख्य प्रत्यय है, जैसे अर्वन्त् 'घोड़ा', युह्वन्त् 'जवान', साथ ही अवे० बॅज़्वन्त्– (bəzvant) 'विपुल', ॲरॅज़्वन्त् (ərəzvant) 'सीधा' में, और हित्ती दश्शुवन्त्– (daššu-vant–) 'बलवान्' में। यह मुख्य प्रत्यय था, जो संस्कृत में दूसरे प्रत्ययों की तरह; जो विशेषतः गौण प्रत्यय बन गए हैं, पहले विकास में आया है। इसलिये नामिक प्रातिपदिकों की व्युत्पत्ति का ऐतिहासिक विवरण केवल सम्बद्ध प्रत्ययों के बाह्य आकार के आधार पर उपस्थित करना चाहिए।

दूसरी ओर कई ऐसे व्युत्पन्न शब्द, जो संस्कृत की दृष्टि से मुख्य प्रत्ययों से युक्त हैं, मूलतः गौण प्रत्ययवाले हैं। इस प्रकार उद्र– 'उदबिलाव', जिसे कृदन्त रूप (उद् + र–) माना जाता है, स्पष्टतः अपने मूल उद्भव में तद्धित रूप है, जिसका अर्थ 'जल से सम्बद्ध जलजन्तु' है (उद्र्– अ–, तुल० ग्रीक हुदोर (húdōr) नपुं० 'जल', आदि)। इस प्रकार के सभी थिमैटिक विशेषण रूप शब्द अपने मूल में गौण प्रत्यययुक्त हैं, किन्तु प्राचीन नपुंसक कर्मबोधक संज्ञाशब्दों के लुप्त होने के कारण जिन पर वे आधृत थे, इन्होंने मुख्य प्रत्ययवाले शब्दों की प्रकृति को ग्रहण कर लिया। जहाँ तक इस तरह के प्रत्यय जीवन्त प्रत्यय बने रहे, वे परवर्ती युग में मुख्य प्रत्यय के रूप में इकाई की तरह प्रयुक्त होते थे। –र् प्रत्ययवाले सभी व्युत्पन्न शब्दों का ठीक वही इतिहास नहीं है, जैसा उद्र्– अ– आदि का, किन्तु इस प्रकार के शब्दों की व्युत्पत्ति इस ढंग से अस्तित्व में आयी थी।

ब्रह्म : ब्रह्मा कोटि के प्राचीन भारतयूरोपीय शब्दयुग्मों में भी, इस युग्म के द्वितीय शब्द में हमें गौण प्रत्यय की कोटि मिलती है। तर्क की दृष्टि से और सम्भवतः ऐतिहासिक दृष्टि से भी नपुं० कर्मबोधक संज्ञा शब्द का विकास कर्त्रर्थक संज्ञाशब्द से पहले होता है। ब्रह्मा 'ब्रह्मसे सम्बद्ध' शब्द अपने अर्थके द्वारा अधिक आदिम नपुंसक शब्द के अस्तित्व की परिकल्पना करता है। संस्कृत प्रक्रिया में इस प्रकार के कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द मुख्य प्रत्ययवाले माने जाते हैं, और अधिकांश शब्द अपनी समानान्तर नपुंसक कोटियों के लोप के कारण इस तरह के बन गए हैं। इसे तर्– प्रत्ययवाले (दातर् (दातृ)– 'देनेवाला', आदि) कर्त्रर्थ

संज्ञाशब्दों के द्वारा भली प्रकार उदाहृत किया जाता है। हित्ती में -तर् अन्तवाले शब्द मिलते हैं, परन्तु केवल नपुंसक कर्म बोधक संज्ञाशब्द। यह स्पष्ट है कि इन दो कोटियों का परस्पर सम्बन्ध ठीक वही है, जो ब्रह्म और ब्रह्मा के बीच, और दातर्- (दातृ-) मूलतः 'देने की क्रिया से सम्बद्ध व्यक्ति' था, जो एक लुप्त शब्द *दातर् (दातृ-) नपुं० 'देने की क्रिया' के समानान्तर है। जब नपुंसक कोटि व्यवहार से लुप्त हो गयी तो यह मूल धातु से साक्षात् सम्बद्ध मुख्य प्रत्ययवाला रूप बन गया।

प्रागैतिहासिक युग में नामिक प्रातिपदिकों की व्युत्पत्ति की प्रक्रिया के विकास में कतिपय सामान्य प्रवृत्तियाँ देखी जायँगी, खास तौर पर :

(१) नपुंसक शब्दों का ह्रास। हित्ती को छोड़कर अधिकांश भा० यू० भाषाओं में -ऍर् और -ऍल् जैसे प्राचीन भा० यू० प्रत्ययों से युक्त नपुंसक संज्ञाशब्दों की समग्र कोटियाँ प्रायः पूरी तरह लुप्त हो गयी हैं; किन्तु र् और ल् ध्वनियाँ भा० यू० नामिक शब्दरचना में बहुत बड़ा हाथ बँटाती हैं, जिससे यद्यपि उनकी मूल कोटियाँ लुप्त हो गयी हैं, किन्तु वे ऐसे और व्युत्पन्न रूपों की अधिकाधिक संख्या को छोड़ गयी हैं, जिन्हें उनके बिना स्पष्ट नहीं किया जा सकता। अन्य स्थितियों में प्राचीन नपुंसक संज्ञाशब्द लुप्त नहीं हुए हैं, किन्तु उनका आकार पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग कोटियों के रूप में बदल दिया गया है। यह स्थिति खास तौर पर इकारान्त तथा उकारान्त प्रातिपदिकों के साथ और आकारान्त कर्मबोधक संज्ञाशब्दों के साथ है, किन्तु प्रायः यह अन्यत्र भी मिलती है।

(२) व्याकरणिक लिङ्ग का विकास। प्राचीनतम युग में तिहरे वर्गीकरण का अस्तित्व नहीं था। वहाँ स्त्रीलिङ्ग शब्द नहीं थे और संज्ञाशब्द दो कोटियों में विभक्त थे, 'नपुंसक' और 'सामान्यलिङ्ग', परवर्ती कोटि को यह नाम इसलिये दिया गया है, क्योंकि पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग इसीसे विकसित हुआ है। हित्ती में ठीक यही स्थिति मिलती है, और आगे चलकर इसकी पुष्टि अन्य भाषाओं के कई अवशिष्ट रूपों से होती है (लैटिन फॅरॅन्स् ferens, पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग; सुवार्साः प्रथमा ए० व० पुंल्लिग तथा स्त्रीलिङ्ग, आदि, आदि)। स्त्रीलिङ्ग का उदय भा० यू० के परवर्ती युग में हुआ है और ठीक तौर पर इस पारिभाषिक शब्द का उचित अर्थ में लिङ्ग के लिये प्रयोग तभी किया जाना सम्भव है।

(३) आदिम प्रत्ययसम्बन्धी तत्त्वों के विविध संयोगों के आधार पर बने सम्भावित प्रत्ययों की अनेकरूपता ने चयनप्रक्रिया (process of selection) की अपेक्षा की, जिससे ऐसे कई प्रत्यय-संयोग जो प्राचीन युग

में रहे जान पड़ते हैं, वैदिक युग तक नहीं बच रहे। इस प्रकार नपुंसक संज्ञा शब्दों को बनाने वाले प्रत्ययों और आदिम प्रत्यय ऍर् और ऍन् के आधार पर बने प्रत्ययों की सरणि में से अर्थात् भारोपीय –ऍर्/र्, –मेर्/मृ, –वॅर्/उर्, –यॅर्/इर्, –तॅर्/तृ, सॅर्/सृ और ऍन्/न्, मॅन्/मन्, वॅन्/उन्, –यॅन्/इन्, –तॅन्/त्न्, –सॅन्/स्न् में से केवल मॅन्/म्न् ही नपुंसक संज्ञा शब्दों में वैदिक भाषा में जीवन्त प्रत्यय के रूप में बचा रहा है। अन्य कर्त्रर्थ संज्ञा और विशेषण रूप शब्दों में अच्छी तरह प्रतिष्ठापित हैं, जो ऊपर नपुंसक शब्दों की रचना के ह्रास के विषय में जो कुछ कहा गया है, उसके अनुसार है।

(४) अत्यधिक महत्त्व की अन्य विशेषता पदान्त प्रत्यय के रूप में थिमैटिक स्वर (संस्कृत अ, भारोपीय ऍ/ऑ) का विस्तार और बढ़ता हुआ प्रयोग है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि प्रत्यय के रूप में इस स्वर का मूल प्रयोग सम्भवतः विशेषणरूपों को बनाने के लिये किया जाता था, जिस स्थिति में यह उदात्त-स्वरयुक्त होता था। आगे चलकर इसका प्रयोग व्यञ्जनान्त प्रातिपदिकों के विस्तार के रूप में फैल गया। यह प्रवृत्ति भारतीय आर्य के अगले विकास में काफी प्रसिद्ध है (पाद्–/पद् आदि के स्थान पर शास्त्रीय संस्कृत पाद– 'पैर'), किन्तु यह प्रक्रिया प्राक्–ऐतिहासिक युग में बहुत पहले से ही सक्रिय रही है। इस प्रकार संस्कृत अञ्जन– नपुं० 'काजल' एक प्राचीन व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक के स्थान पर आ गया है, जो लैटिन उन्ग्वॅन् (unguen) में सुरक्षित है। इस विकास के परिणामस्वरूप संस्कृत[1] में और परवर्ती भारत-यूरोपीय स्थिति को प्रतिबिंबित करने वाली अन्य भाषाओं में थिमैटिक प्रातिपदिक अत्यधिक हो चले। दूसरी ओर हित्ती में जो भारतयूरोपीय की अधिक प्राचीन स्थिति को स्पष्ट करती है, अकारान्त प्रातिपदिकों की इस तरह बहुतायत नहीं है।

२. धातुरूप संज्ञाशब्द

धातुरूप संज्ञाशब्द ऐसी प्राचीन कोटि है, जो प्राचीनतम भारतयूरोपीय भाषाओं में अधिकतर ह्रास की प्रवृत्ति से युक्त है। संस्कृत में अन्यत्र की अपेक्षा समास रूप में वे भली भाँति सुरक्षित हैं। इस प्रकार के शब्द पाद्/पद्– 'पैर' : लैटिन पेस् (pēs), पेदिस् (pedis), वाच्– 'वाणी' : लैटिन वोक्स (vox), राज्– 'राजा' : लैटिन रेक्स् (rēx) हैं। ये शब्द प्रायः या तो पुंल्लिङ्ग हैं या स्त्रीलिङ्ग, किन्तु धातुओं के कर्मबोधक संज्ञा शब्दों के रूप में काम करने पर ये

१. ऋग्वेद के सभी नामिक प्रातिपदिकों में से ४५ प्रतिशत –अ से अन्त होते हैं।

सामान्यतः स्त्रीलिङ्ग हैं (द्युत्- स्त्री० 'प्रकाश', आदि)। धातुरूप संज्ञाशब्दों की प्राचीन नपुंसक कोटि (तुल० लैटिन मेल् (mel), फेल् (fel), आदि) व्यवहारतः लुप्त है। कतिपय उदाहरणों में से शम् 'कल्याण' जो अव्यय है, वन्- 'जंगल, वृक्ष' जो सम्भवतः नपुंसक है (इसके विस्तृत रूप वन- नपुं० की तरह) और आस् 'मुँह' : लैटिन ओस् (ōs) का सङ्केत किया जा सकता है।

इस प्रकार का प्रातिपदिक मूलतः अपश्रुति के नियमों से प्रभावित है : प्रथमा ए० व० में वृद्धि अथवा गुण, द्वितीया ए० व० तथा प्रथमा ब० व० में गुण और अन्य विभक्तियों में धातु का दुर्बल रूप। यह प्रक्रिया कुछ सामान्य शब्दों के सम्बन्ध में अंशतः सुरक्षित है (प्रथमा ए० व० पात्, षष्ठी ए० व० पदः), किन्तु इसे समान रूप दे देने की सामान्य प्रवृत्ति रही है। इस समान रूप की प्रक्रिया में समस्त शब्दरूपों में तीनों में से कोई भी एक कोटि पायी जाने लगी, जिसमें संज्ञा के रूप में प्रयुक्त धातुरूपों की स्थिति में प्रातिपदिक का दुर्बल रूप सामान्यतः पाया जाता है : (१) वाच्- 'वाणी', षष्ठी ए० व० वाचः, (२) स्पश्- 'जासूस', प्रथमा ए० व० स्पट्, (३) ऋच्- 'स्तोत्र', प्रथमा ए० व० ऋक्, षष्ठी ए० व० ऋचः।

संज्ञाशब्दों का काम करने वाले धातुरूप या तो कर्मबोधक अथवा कर्त्रर्थक संज्ञाओं के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं (परवर्ती स्थिति में वे स्त्रीलिङ्ग हैं): द्रुह्- (१) 'द्रोह', द्रोह करने वाला, 'द्रोह करता हुआ'; (२) द्विष् (१) 'द्वेष', (२) 'शत्रु'; भुज् (१) 'भोग', (२) 'भोगने वाला'। समासान्त पद के उत्तर पद के रूप में प्रयुक्त होने पर ये शब्द केवल द्वितीय प्रक्रिया से युक्त होते हैं।

यह कोटि जो वैदिक भाषा में साधारण विस्तार से युक्त है, पुरानी प्रवृत्ति के अनुसार परवर्ती काल में अधिक सीमित हो गयी है ; अर्थात् एक अपवाद के साथ—जबकि ये प्रातिपदिक समासान्त पद के उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इस स्थिति में वैदिक और शास्त्रीय दोनों भाषाओं में धातुरूप नामिक प्रातिपदिकों के रूप में स्वतन्त्रता से प्रयुक्त हो सकते हैं। वैदिक भाषा में अन्यत्र स्वतन्त्र रूपों की अपेक्षा ये और अधिक विस्तार से भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे दृशे 'देखने के लिये' कोटि के तुमन्त रूप। अन्यत्र जैसा कि हम देखेंगे, वैदिक तुमन्त रूप प्राचीन नामिक प्रातिपदिकों को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति से युक्त है, जो अन्यत्र लुप्त हो गए हैं।

ह्रस्व -उ, -इ, -ऋ अन्तवाले धातु नामिक प्रातिपदिकों के रूप में काम नहीं करते। जिन स्थितियों में दूसरे धातु इस तरह का कार्य करते हैं, ये धातु

–त् प्रत्यय का प्रयोग करते हैं : *जित्– 'जीतता हुआ', मित्– 'खंभा' स्तुत्– 'प्रार्थना', *भृत् 'धारण करता हुआ', आदि ।

३. धातु पर आधृत थिमैटिक प्रातिपदिक

थिमैटिक प्रत्यय –अ से युक्त प्रातिपदिक अन्य सभी प्रत्ययों से अन्त होने वाले प्रातिपदिकों के आधार पर बनाए जा सकते हैं और इनका विवेचन ठीक तरह से उन विविध कोटि के प्रातिपदिकों के सम्बन्ध में होता है, जिनके साथ थिमैटिक प्रत्यय जोड़ा गया है। थिमैटिक प्रातिपदिकों की सरलतम कोटि वह है, जो सीधे धातु के आधार पर बनी है। सामान्य तालिका की दृष्टि से इन प्रातिपदिकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : धात्वंश पर उदात्त स्वर वाले कर्मबोधक संज्ञाशब्द और इसी तरह के प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर वाले कर्त्रर्थं संज्ञाशब्द आदि जहाँ पदान्त उदात्त-स्वरसम्पन्न –अ अन्यत्र की तरह विशेषण का काम करता है। एक ही धातु से सम्बद्ध दोनों कोटि के शब्दयुग्मों को उदाहृत किया जा सकता है : चोद॑– 'अङ्कुश' : चो॒द– 'प्रेरक'; एष॑– 'गति' : ए॒ष– 'गतिमान्'; वर॑– 'चुनाव' : व॒र– 'चुननेवाला'; शोक॑– 'चमक' : शो॒क– 'चमकनेवाला। ठीक इसी प्रकार का परिवर्तन ग्रीक तो́मोस् (tómos) 'काट' : तोमो́स् (tomós) 'काटनेवाला' आदि में परिचित हैं।

ग्रीक और दूसरी भाषाओं में, जिनमें ओ और ए स्वरध्वनियों में भेद पाया जाता है, धातु तथा प्रत्यय दोनों की स्वरध्वनि ओ है। संस्कृत के द्वारा कतिपय स्थलों में मूल ओ की पुष्टि होती है, जहाँ कण्ठ्य ध्वनि को तालव्य नहीं बनाया गया है : क्रत॑– 'इच्छा', गय॑– 'सम्पत्ति', घ॒न– 'हथौड़ा, ठोस'। इस प्रकार की व्यवस्था निश्चित रूप में मूल रूप नहीं हो सकती, क्योंकि सामान्यतः उदात्त-स्वर सम्पन्न अक्षर में ए और उदात्त-स्वररहित अक्षर में –ओ की अपेक्षा होगी। इसलिये यह सम्भव है कि हमें संज्ञा तथा विशेषण रूप कोटियों के बीच ध्वन्यात्मक समझौता मिलता है। संस्कृत में मूलतः कण्ठ्यध्वनि से अन्त होने वाले धातुओं के सम्बन्ध में प्रत्ययांश की स्वरध्वनि में इन दोनों कोटियों के बीच ओ/ए परिवर्तन के स्पष्ट चिह्न मौजूद हैं। इन स्थलों पर कर्मबोधक संज्ञाशब्दों में धात्वंश पर उदात्त स्वर के साथ प्रायः पदान्त कण्ठ्यध्वनि सुरक्षित रहती है और दूसरी कोटि में तालव्य बना दी जाती है : उदा० भोग॑– 'भोग' : भो॒ज– 'परिपूर्ण'; रोग॑– 'बीमारी' : रु॒ज– 'तोड़ता हुआ, खत्म करता हुआ'; शोक॑– 'चमक, उष्णता, दुःख' : शु॒च– 'चमकदार'; योग॑– 'संयोग, मेल' : अ– युज– 'बिना साथी वाला', अर्घ॑– 'कीमत' : अर्ह॑– 'कीमती, योग्य' (स्वरचिह्न

संकेतिक नहीं है)। कतिपय स्थलों पर यह भेद वहाँ भी मिलता है, जहाँ उदात्त स्वर दोनों कोटियों में प्रत्ययांश पर है : अर्क- 'किरण' : अर्च- 'प्रकाशवाला'; शोक- 'ज्योति' शोच- 'ज्योतिष्मान्'। यहाँ कर्मबोधक संज्ञा शब्दों का उदात्त स्वर गौण रूप से परिवर्तित कर दिया गया है। तालव्यीकृत और अतालव्यीकृत रूपों का परस्पर परिवर्तन उदात्त स्वर की स्थिति के अनुसार प्रत्ययांश की स्वरध्वनि की प्रकृति में मूल परिवर्तन का सङ्केत करता है।

कर्मबोधक संज्ञा शब्दों में धात्वंश वाला अक्षर सामान्यतः गुणरूप होता है, जो सम्बद्ध भाषाओं से मेल खाता है : दम- 'मकान', ग्रीक दोमोस् (dómos), लैटिन दोमुस् (domus), रूसी दोम् (dom), (भारतयूरोपीय देम् (dem) 'मकान बनाना')। इस कोटि के संज्ञाशब्द अर्थ- 'जाना, गति', हव-'आमन्त्रण', तर- 'पार करना', वेद- 'ज्ञान', जोप- 'आनन्द', आदि हैं। एक दूसरी कोटि भी, धात्वंश के वृद्धिरूप से युक्त और प्रायः प्रत्ययांश पर उदात्त स्वरवाली है, जिसके समानान्तर रूप भारत-ईरानी से वाहर पाना कठिन है। ये धातुरूप संज्ञाशब्दों में वृद्धिरूप प्रथमा एकवचन के आधार पर वनाए जान पड़ते हैं, जैसे परवर्ती वैदिक भाषा में पात् प्रथमा ए० व० 'पैर' को पाद- के रूप में विस्तृत कर दिया गया है। इस कोटि के उदाहरण हैं : भार- 'बोझा' (तुल० ग्रीक फोर् (phór) 'चोर' में वृद्धिरूप), दाव- 'आग', तार- 'पार करना', साद- 'बैठना', साव- 'पान', वास-'निवास'; धात्वंश पर उदात्त स्वर से युक्त वार- 'चुनाव', मान- 'मत'।

उन संज्ञाशब्दों की समस्त कोटि में अनियमित उदात्त स्वर मिलता है, जो उपसर्ग से युक्त धातुओं से बनाए जाते हैं : संगम- 'साथ आना, मेल', अभिद्रोह- 'हानि', आदि; और कुछ कम स्थलों पर अन्यत्र भी : भोग- 'झुकाव' जय- 'विजय', जव- 'वेग'। ये अनियमिततायें इस बात का संकेत करती हैं कि दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का घालमेल करने की प्रवृत्ति शुरू हो रही थी; उदाहरण के लिये जय- और जव- का अर्थ क्रमशः 'जयवाला' और 'वेगवाला' भी है, जो उनका वास्तविक प्रतिपाद्य है, किन्तु जव प्राचीन भेद का महत्त्व कम होने लगा, तो ये रूप दोनों प्रक्रियाओं में बिना किसी अन्तर के प्रयुक्त होने लगे। यहाँ भी संज्ञाशब्दों की व्युत्पत्ति में अन्यत्र की तरह वैदिक उदात्त स्वर मूल रूप में ही है, किन्तु ऐसे अपवादों के वावजूद प्राचीन प्रक्रिया इसके नियमों को स्पष्ट रूप में देखने के लिये काफी महत्त्वपूर्ण है।

इस वर्ग के कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द / विशेषणों में अपश्रुति की प्राचीनतम कोटि वह है, जिसमें उदात्त-स्वरसम्पन्न प्रत्यय के कारण धातु का दुर्बल रूप मिलता है : वृध- 'बढ़ानेवाला' (: वर्ध- 'बढ़ाव'), बुध- 'ज्ञानी' (: बोध- 'ज्ञान'),

शुच– 'चमकदार' (शोक– 'चमक'), तुर– 'विजयशील' (तर्–, तार्– 'पार करना'), प्रिय– 'प्यारा', कृश– 'दुबला', रुच– 'चमकदार', आदि। ज्यादातर फिर से अपनाई गई गुणस्वरध्वनि मिलती है : अर्च– 'चमकता हुआ', द्रव– 'दौड़ता हुआ', योध– 'योद्धा', नद–'गर्जन करनेवाला', वध– 'हत्या करनेवाला', आदि। कर्मबोधक संज्ञाशब्दों की तरह ये वृद्धियुक्त भी मिल सकते हैं और ये रूप सम्बद्ध धातुज प्रातिपदिकों के प्रथमा एकवचन के वृद्धिरूप से सम्बद्ध हैं : वाह– 'बोझा ढोने वाला जानवर' (तुल० मूल शब्द °वाह्–, प्रथमा ए० व० °वाट्, द्वितीया ए० व० °वाहम्–) साह– 'विजयी' (तुल० °साह्–), नाय– 'नेता', ग्राभ– 'छीनने वाला', आदि।

इस प्रकार के कर्मबोधक संज्ञाशब्द ह्रास की ओर हैं, और जैसा कि इन स्थितियों में अन्यत्र हुआ है, इस प्रकार के अनेक प्रातिपदिक स्वतन्त्र संज्ञाशब्दों के रूप में बिलकुल प्रयुक्त नहीं होते, बल्कि केवल समासान्त पद के उत्तर पद के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं : उदा० °अद– 'खानेवाला' (अन्नाद- 'अन्न को खानेवाला'), °गम– 'जाता हुआ' (दूरंगम– 'दूर जाता हुआ'), गर– 'निगलनेवाला' (अजगर– 'बकरी को निगलने वाला', अर्थात् अजगर सर्प), °घ्न– 'मारता हुआ' (गोघ्न– 'गाय मारनेवाला')। यह इसलिये है कि सामान्यतः कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों को बनाने के लिये तर्- प्रत्यय का प्रयोग होने लगा, और इसने सामान्य स्वतन्त्र प्रयोगमें आनेवाले दूसरे रूपों को निकाल दिया। इसके विपरीत –तर् प्रत्यय वाले रूप समासान्त पदों में प्रयुक्त नहीं हो पाते थे, इसलिये अन्नस्य अत्ता : अन्नाद– 'अन्न खानेवाला' जैसे दुहरे रूप मिलते हैं। इस कोटि के बहुत कम संज्ञाशब्दों में उदात्त स्वर गौणतः धात्वंश पर हटा दिया गया है। इस तरह के शब्द वृक– 'भेड़िया', विप– 'सेवा करने वाला, लाभदायक' है। इस तरह का परिवर्तन समस्त प्रक्रिया में विशेषणरूप संज्ञाशब्दों में सामान्यतः पाया जाता है।

सन– 'प्राचीन' और नव– 'नया' दोनों विशेषण उपर्युक्त कोटियों में से किसी में भी नहीं खप सकते। दूसरी भाषाओं में उपलब्ध मिलते-जुलते रूपों ग्रीक नेओस् (néos) 'नया', लिथु० सेनस् (sẽnas) 'प्राचीन' आदि) से यह देखा जा सकता है कि ये दूसरे थिमैटिक प्रातिपदिकों से इस बात में भिन्न रखे गए हैं कि इनमें धात्वंश में ऐ- कोटि पायी जाती है, और विशेषण शब्दों की कोटि से इस बात में भिन्न है कि इनमें उदात्त स्वर धात्वंश पर है। यह इसलिये है कि ये प्राचीन मूल प्रातिपदिक नेव्–, सेन्– पर आधृत हैं, जो आरम्भ से ही अर्थ की दृष्टि से विशेषण थे, और परिणामस्वरूप यहाँ थिमैटिक स्वरध्वनि कर्मबोधक संज्ञाशब्दों की तरह केवल प्रातिपदिक का विस्तारमात्र है, और पद के अन्तिम

अक्षर में उदात्त स्वर वाले (oxytone) सामान्य थिमैटिक कोटि की तरह सार्थक नहीं है। लैटिन में सॅन्- धातुरूप प्रातिपदिक कर्ता एकवचन के बाहर अभी भी प्रयुक्त होता है (सॅनॅक्स् senex, सॅनॅम् senem, सॅनिस् senis)।

उपर्युक्त दोनों कोटि के संज्ञाशब्द पुँल्लिङ्ग हैं। ग्रीक में उपलब्ध स्त्रीलिङ्ग संज्ञाशब्दों (हे होदोस् (hē hodós), 'मार्ग', हे त्रोफोस् (hē trophós) 'परिचारिका') की तरह के स्त्रीलिङ्ग कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द संस्कृत में नहीं हैं; जो इस दृष्टि से ग्रीक की अपेक्षा कम आर्ष है। इन कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों का पुँल्लिङ्गत्व आगे वक्ष्यमाण विविध नपुंसक प्रत्ययों से विस्तार के द्वारा व्युत्पादित विविध थिमैटिक कर्मवोधक संज्ञाशब्दों के नपुंसकलिङ्ग से भेद के कारण है। यह इसलिये है कि कम से कम वे धातुरूप संज्ञाशब्द, जिनके अन्त में स्पर्श व्यञ्जन ध्वनियाँ थीं, प्रथमा तथा द्वितीया के बीच आरम्भ में ही एक भेद विकसित कर वैठे, और प्रथमा ए० व० में –स् का प्रयोग कर बैठे। कहने का मतलब यह है कि वे 'सामान्य लिङ्ग' थे और उनके आधार पर बने थिमैटिक रूपों ने भी अपने आप उसी लिङ्ग को अपना लिया। आगे चलकर अपने बाह्य रूप के कारण वे पुँल्लिङ्ग के रूप में विशेषीकृत हो गए। इनके विपरीत दो-एक नपुंसक शब्द वर्न- 'जंगल' और तर्न- 'उत्पत्ति' हैं, जो धातुज प्रत्ययों (वन्-, तन्-) का विस्तार हैं, और जिन्होंने अपने नपुंसकलिङ्ग को सुरक्षित रखा है।

प्राचीन नपुंसक रूप युगम् 'जुआँ' (: ग्रीक जुगोन्- (zugón), लैटिन युगुम् (iugum)) और पदम् 'पैंड, डग', (: ग्रीक पॅदोन् (pédon), हित्ती पॅदन् (pedan)) में मिलते हैं। ये अत्यधिक सरल कतिपय थिमैटिक नपुंसकों में से प्राचीन रूप हैं, जो भारत-यूरोपीय तक ढूँढ़े जा सकते हैं। इनका विवेचन म् प्रत्यय के सन्दर्भ में किया जायगा (अनुच्छेद § १५)।

४. र्/न् प्रत्यय के वैकल्पिक नपुंसक शब्द

र् (जो संस्कृत में भारत-यूरोपीय ल् का भी प्रतिनिधित्व कर सकता है) और न् प्रत्यय का अध्ययन साथ-साथ किया जाना चाहिए। चूँकि आरम्भ से ही ये एक ऐसे सामान्य शब्दरूपों में सम्बद्ध हो गए थे, जिसमें प्रथमा-द्वितीया के रूप र् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से बनाए जाते थे, जबकि तिर्यक् विभक्ति रूप –न्– प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों के आधार पर बनाए जाते थे। प्राचीनतम संस्कृत में इस प्राचीन कोटि के नपुंसक संज्ञाशब्द लुप्त होने की प्रवृत्ति में हैं, जैसा कि ग्रीक और अधिकांश दूसरी भाषाओं में भी है। दूसरी ओर हित्ती में, जो प्रायः भारतयूरोपीय की अधिक प्राचीन स्थिति को उपस्थित करती है, यह प्रक्रिया अखण्डित है। हित्ती में उपलब्ध प्रक्रिया में इस परिवर्तन से युक्त केलव

र्/न् प्रातिपदिक हैं, उदा० ऍश्हर् (eš̱har) 'खून', षष्ठी ए० व० ऍश्नश् (ešnaš), इसके साथ ही इन प्रत्ययों को उ, म्, स्, त् अन्त वाले प्रातिपदिकों के साथ जोड़कर बनाए गए संयुक्त प्रत्ययों की तालिका भी है, जैसे –वर्, –मर्, –सर्, तर्। उदाहरण ये हैं: पर्तवर् (partawar) 'पंख' षष्ठी ए० व० पर्तउनश् (partaunaš), तर्नुम्मर् (tarnummar) 'जाने देना, जाने देते हुए', षष्ठी ए० व० तर्नुम्मश् (tarnummaš) (म्म्<म्न्, mm<mn), ह्न्नॆश्शर् (ḫannešš̌ar), 'कानून, मुकदमा', षष्ठी ए० व० ह्न्नॆश्नश् (ḫannešnaš), पप्रातर् (paprātar) 'गन्दगी', षष्ठी ए० व० पप्रन्नश् (paprannaš) (न्न्<त्न्, nn<tn)। अन्य भारतयूरोपीय भाषाओं में नपुंसक संज्ञाशब्दों की यह प्राचीन प्रक्रिया केवल टुकड़ों में मिलती है, किन्तु र् और न् से युक्त प्रत्ययों में से अधिकांश अपने अन्तिम स्रोत के रूप में इन्हीं आदिक नपुंसक कोटियों से सम्बद्ध हैं।

संस्कृत में न् प्रातिपदिक के रूप में विकल्प से परिवर्तित होनेवाले कुछ र्–अंत वाले नपुंसक प्रातिपदिक हैं, ये हैं अहर् 'दिन', षष्ठी ए० व० अह्नः (अवे० अज़न्– azan 'वही'), ऊधर् 'थन', षष्ठी ए० व० ऊध्नः (ग्रीक ओउथर् oûthar, ओउथतॉस् oúthatos, अंग्रेजी अडर् (udder), आदि; वेद में एक दूसरा ऊधर् 'ठंडा' = अवे० अओदर्– 'वही' भी मिलता है।)। इनमें प्रत्यय की गुणकोटि है, किन्तु वह दुर्बल कोटि में भी मिल सकता है, जहाँ उसे अन्य प्रत्यय के द्वारा सबल बना दिया जाता है। यह प्रायः त् है: यकृत् 'जिगर', षष्ठी ए० व० यक्नः (अवे० याकर्–, लैटिन येकुर् (iecur), ग्रीक हेपर् (hépar), सभी किसी त् से रहित हैं), शकृत् 'विष्ठा' षष्ठी ए० व० शक्नः, एक अन्य परिवर्तित प्रत्यय थ् से युक्त कपृथ्– 'मेढ़्र'। इस अधिक जोड़े गए त् की तुलना उस त् से की जा सकती है, जो इन संज्ञाशब्दों में वैकल्पिक न् प्रत्यय को ग्रीक में सबल बनाता है: संस्कृत ऊध्नः आदि से तुलनीय ओउथतॉस् (oúthatos)। हम इस तथ्य की भी तुलना कर सकते हैं कि धात्वंश वाला पदान्त ऋ प्रायः प्रातिपदिक के अन्त में प्रयुक्त नहीं होता और लोककृत्, आदि में –त् जोड़ा जाता है। असृक् 'खून' (प्रथमा ए० व०, प्रातिपदिक असृज्–), षष्ठी ए० व० अस्नः (: हित्ती ऍश्हर् (eš̱har), ऍश्नश् (ešnaš), तोखारी इसार् (ysār), ग्रीक ऍअर् (é'ar), लैटिन अस्सिर् (assir) में ज् (<ग्) प्रत्यय पाया जाता है। यह ग् लैटिन सन्ग्विस् (san-g-vis) 'खून' में भी मिलता है, जो सनिएस् (saniēs) 'जमा हुआ खून' की तरह इस शब्द के न्– प्रातिपादिक से अपश्रुति के द्वारा पदादि स्वरध्वनि के लोप के साथ व्युत्पन्न हुआ है।

चूँकि यह कोटि लुप्त हो रही है, हमें प्रायः वध्रर् 'शस्त्र' (अवे० वदर्– vadar–) जैसे सदोष संज्ञारूप मिलते हैं, जो प्रथमा-द्वितीया ए० व० के बाहर प्रयुक्त नहीं होते। इसके विस्तृत रूप वधर्ना स्त्रीलिङ्ग 'वही' में एक प्राचीन वैकल्पिक न्– प्रातिपदिक मिलता है। और अधिक लुप्त कुछ प्रातिपदिक केवल समासान्तपद के पूर्वपद के रूप में ही मिलते हैं: उषर् (उषर्बुध्– 'तड़के जगनेवाला'), अनर् (अनर्विश्– 'रथ पर बैठा हुआ'), वसर्–, (वसर्हन्– 'प्रातःकाल पीटता हुआ') वनर्– (वनर्गु– 'जंगलों में जाता हुआ', तुल० उससे व्युत्पन्न शब्द वानर– 'बन्दर'; वनन्–वत् में न्– प्रातिपदिक), सवर्– (सवर्धुक्ः सवर्– के लिए, तुल० सवन 'सोम के पत्थर पर निकाला हुआ रस')। महर् 'महत्ता', और भुवर् 'प्रचुरता' प्रातिपदिक केवल धार्मिक सूत्रों में और महर्लोक– तथा भुवर्लोक– जैसे समस्त पदों में मिलते हैं, किन्तु ऋग्वेद में मह्ना (तुल० अवे० मज़न्– mazan कर्ताकारक) और भुना जैसे सम्बद्ध न्– प्रातिपदिक के तृतीयान्त रूप प्रचलित हैं। नकारान्त प्रातिपदिक गम्भन्– 'गहराई' केवल निर्विभक्तिक सप्तमी ए० व० में मिलता है, किन्तु इससे सम्बद्ध र्–अन्तवाले प्रातिपदिक *गम्भर् को विस्तृत रूप गम्भर्– नपुंसक के द्वारा कल्पित किया जा सकता है। वैदिक सप्तमी ए० व० राजनि 'निदेश में' से सम्बद्ध रूप अवेस्ता में प्रथमा–द्वितीया ए० व० राज़रॅ (rāzarə) 'शासन, नियम' है। तृतीयान्त रूप दाना एक प्राचीन प्रथमा ए० व० *दार् 'दान' का सङ्केत करता है और इन वैकल्पिक प्रातिपदिकों से दो विस्तृत रूप ग्रीक दोरान् (dōron), प्रा० स्ला० दरु (darŭ) और लैटिन दोनुम् (dōnum), संस्कृत दानम् व्युत्पन्न हुए हैं। ये तृतीयान्त रूप और साथ ही अश्ना 'पत्थर से' (अवे० असन्–) और प्रेणा 'प्रेम से' बिलकुल अलग-अलग होने के कारण सम्बद्ध मन्– प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों के तृतीयान्त रूपों का काम करने लगे हैं।

क्रियाविशेषण अवर 'नीचे, नीचे की ओर' का ठीक वही रूप है, जो उपर्युक्त नपुंसक संज्ञाशब्दों का, किन्तु यह उदात्त स्वर की दृष्टि से भिन्न है, जो निर्विभक्तिक सप्तमी ए० व० रूपों से मेल खाता है। ठीक यही क्रियाविशेषणवाली स्वरप्रक्रिया नीचे सङ्केतित प्रातर् आदि में पायी जाती है। ये क्रियाविशेषण इस दृष्टि से भी निर्विभक्तिक सप्तम्यन्त रूपों के समान हैं कि इनमें विकल्प से –इ विभक्तिचिह्न जोड़ा जा सकता है: जैसे हमें अह्नन् के साथ-साथ अह्नि मिलता है, ठीक वैसे ही ग्रीक हुपेर् (hùper) के साथ-साथ संस्कृत उपरि और क्रियाविशेषण *अधर् के साथ-साथ अवेस्ता अद्इरि (aδairi) 'नीचे' में, जो विशेषणीभूत रूप अधर– 'निचला' के रूप में संकेतित है।

अन्यथा असुरक्षित –अर् प्रत्ययवाले नपुंसक प्रातिपदिक वैदिक भाषा में नामधातुओं के छोटे से वर्ग का आधार बनते हैं : रथर्यति 'रथ पर चढता है', श्रथर्यति 'ढीला होता है', जो *रथर् नपुं० 'रथ पर चढ़ना' और *श्रथर् नपुं० 'ढीलापन' का सङ्केत करते हैं ; तुल० वधर् के साथ-साथ वधर्यति 'शस्त्र से काटता है'। न्– प्रत्ययवाले प्रातिपदिकों से बने समानान्तर नामधातु भी हैं : त्रिपन्य– 'बुद्धिमान् होना, प्रतिभायुक्त होना' (तुल० साथ ही त्रिपन्या, त्रिपन्यु और –र्– प्रत्यय से युक्त विप्र– 'प्रतिभावान्, बुद्धिमान्'), भुरण्य– 'उन्मथित होना, क्रुद्ध' (लैटिन फुरोर् furor में र्– प्रत्यय से युक्त प्रातिपदिक), आदि। प्राचीन नपुंसक र्– प्रातिपदिकों को प्रमाणित करने वाले अनेक गौण प्रत्ययान्त रूप हैं। धौरित– नपुं० 'घोड़े की कुदान' और आधोरण– पुं० 'महावत' जैसी विचित्र व्युत्पत्तियाँ, जो परवर्ती संस्कृत में आ गयी हैं, एक प्राचीन नपुंसक संज्ञाशब्द *धावर् 'दौड़ना' के आधार पर बना हुआ नामधातु-जनित रूप बताया जा सकता है। वैदिक वृद्धियुक्त व्युत्पत्ति जार्मर्य 'भूमिसम्बन्धी' *जमर् 'पृथ्वी' पर आधृत है, जो अवे० ज़ॅमर– (zəmar) 'वही' (ज्– जैसे ज्मा jmā́, ज्मस् jmás, आदि में) से मिलता-जुलता है। श्वेतरी '(मंगल-सूचक) श्वेतचिह्न वाली (गाय)' और श्वेत्र– नपुं० 'सफेद कोढ़' जैसी व्युत्पत्तियों के द्वारा एक नपुंसक शब्द *श्वेतर् 'सफेदी, सफेद चिह्न' अन्तर्भावित है, और श्वेतना स्त्रीलिङ्ग 'ऊषा' जैसे विस्तृत रूप में वैकल्पिक न्– प्रातिपदिक मिलता है।

चूँकि संस्कृत र् भारतयूरोपीय र् और ल् दोनों का प्रतिनिधित्व करता है –ल् प्रत्यय वाले भारतयूरोपीय प्रातिपदिकों को, जो ठीक र्– प्रातिपदिकों की तरह काम करते थे, संस्कृत में अन्य भाषाओं के साथ तुलना के अलावा –र् प्रातिपदिकों से भिन्न नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का एक प्रातिपदिक स्वर् (सुवर्) 'सूर्य', षष्ठी ए० व० सूरः (तुल० लैटिन सोल् sol, गॉथिक सउइल् sauil, आदि) में मिलता है। अनियमित विभक्तिज रूप, जो संस्कृत में अनुपलब्ध है, अन्य भाषाओं में पाया जाता है (अवे० ख्वॉन्ग् < *स्वन्स् x ᵛəng < *svans, षष्ठी ए० व०, आदि)। ऊपर संकेतित र्– प्रातिपदिकों में कुछ अन्य भाषाओं के साथ तुलना के द्वारा मूलतः ल्–प्रातिपदिक रहे जान पड़ते हैं : महर्– : ग्रीक मेगलो– (megalo); अवे० ज़ॅमर्– (zəmar) : तुल० ग्रीक[1] ख्थमलोस् (xthamalós), लैटिन ह्युमिलिस् (humilis), आदि; अवे० राज़ॅर (rāzarə) : लैटिन

---

१. पुस्तक के प्रथम संस्करण में ग्रीक उदाहरण न देकर लेखक ने रूसी उदाहरण ज़ेम्ल्य (zémlja) दिया है।

रेगुल (rēgula), नामधातु रूप सपर्यति 'सेवा करता है, आदर करता है, पूजा करता है' लैटिन सेपेलिओ (sepelio) '(मुर्दे को) गाड़ना' ('मृत संस्कृत के साथ सम्मान देना') के समान है, जो मूल धातु सेप्- (sep-), संस्कृत सप्- 'आदर करना, सेवा करना' से व्युत्पन्न एक प्राचीन भारतयूरोपीय नपुंसक रूप *सेपेल (sepel) 'सम्मान, पूजा' से बना है।

न्- प्रत्यय के साथ त्- का विस्तार, जो ग्रीक (ओउथतोस् oúthatos) आदि में मिलता है, संस्कृत (ऊध्नः, आदि) में अनुपलब्ध है, किन्तु कुछ व्युत्पन्न रूपों में अतिरिक्त त्- प्रत्यय मिलता है, जिसे ग्रीक नपुंसकों के विस्तारित त्- से जोड़ा जा सकता है: वसन्त- 'वसन्त ऋतु' तुल० वसर् (vasar), वेशन्त- 'पोखरा' (√ = विश्-), भुवन्ति 'प्रचुरता उत्पन्न करना' तुल० भुर्वर्, भूना। अवट- तथा अवत- 'जल-प्रपात' ये दो रूप वैकल्पिक र्/न् प्रातिपदिक को अन्तर्भावित करते हैं *अवृत्-अ, (*avr̥t-á), *अवन्त्-अ (*avn̥t-á) और देश नाम अवन्ति- उसी मूल के सबल रूप से बनाया जा सकता है (तुल० लैटिन अवेन्तीनुस् (aventinus) । त्- विस्तारित रूप नियमतः -अन्त् प्रत्ययवाले कृदन्तों में मिलता है, जिसका विवेचन आगे किया जायगा।

५. र् तथा न् अन्तवाले संयुक्त नपुंसक प्रत्यय

उ, म्, स् और त् अन्तवाले प्रातिपदिकों के साथ र् और न् प्रत्यय जोड़कर -वर्/वन्, मर्/मन्, आदि प्रत्यय बनाए गए थे, जो हित्ती में नपुंसक संज्ञाशब्दों की व्युत्पत्ति में विशेष उत्पादक थे। इसके अतिरिक्त ये इकारान्त प्रातिपदिकों के साथ भी जोड़े जा सकते थे, और इस प्रकार की प्राचीन नपुंसक कोटि लैटिन कर्मवाच्य तुमन्त रूपों में सुरक्षित है, ऊतिएर् (ūtier), स्क्रीब्रिएर् (scrībier), आदि। हित्ती के बाहर संयुक्त नपुं० र्- प्रातिपदिक तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम हो गए हैं, वहाँ सम्बद्ध न्- प्रातिपदिक इनका प्रतिनिधित्व करते हैं, और प्रथमा-द्वितीया ए० व० में र्- प्रत्ययान्त रूपों का स्थान ग्रहण करने लगे हैं।

हित्ती के बाहर -वेर्, -वर् नपुं० प्रत्यय ग्रीक एइदर् (eîdar) 'भोजन' (*एद्वर् édvar), देलअर् (délear), 'मछली आदि को पकड़ने का चारा, शर्त' लैटिन कदावेर् (cadāver) 'शव', तोखारी बी० मल्क्वेर् (malkwer) 'दूध' इन उदाहरणों में तथा ऐसे ही अन्य उदाहरणों में पाया जाता है। ये रूप अवेस्ता में अप्रचलित नहीं हैं: स्नावर् (snāvar) 'स्नायु', थ्न्वर्- (θanvar) 'धनुष, भौंह', कर्श्वर्- (karšvar) 'पृथ्वी मण्डल',

दस्वर्– (dasvar)– 'स्वास्थ्य', साक्ष्वर्– (sāx ᵛar–) 'डिजाइन, योजना', वज़्द्वर्– (vazdvar–) 'दृढ़ता'। ईरानी साक्ष्य इस बात का संकेत करता है कि ये रूप काफी प्रचुरता में भारत-ईरानी युग तक जीवित थे, किन्तु भारतीय आर्य में प्राचीनतम युग में ही लुप्त हो गए थे। इसका कारण यह था कि सभी स्थितियों में न्–प्रातिपदिक साधारणीकृत हो गए थे : स्नावं 'स्नायु', आदि। केवल क्रियाविशेषण सुस्वर् 'चुपचाप, चोरी छुपे' इस प्रत्यय को इस रूप में जिसमें सामान्यतः प्रचलित क्रियाविशेषणसम्वन्धी (=अधिकरणसम्वन्धी) उदात्त स्वर-परिवर्तन के साथ सुरक्षित रखे है। इस शब्द में एक नपुंसक संज्ञाशब्द *सस्वर् अन्तर्भावित है, जिसकी तुलना हम हित्ती शेशुवर् (šešuvar) 'नींद' के साथ कर सकते हैं (शेश्ज़ि šešzi 'सोता है', संस्कृत सस्ति), जिसका वास्तविक अर्थ है 'जब लोग सो रहे हों'। अपने दुर्वल रूप में यह प्रत्यय क्रियाविशेषण मुहुः 'एकाएक, क्षणभर में' सुरक्षित है (जिससे मुहूर्त– 'क्षण'; साथ ही केवल उ– प्रत्यय वाला मुहु भी, *म्रहु– के लिये, तुल० अवे० मॅरॅज़ु– mərəzu) 'कम जीवनवाला', ग्रीक ब्रखुस् (brakhús)। –वन् प्रत्ययान्तवाले नपुंसक संज्ञाशब्द ये हैं : १. धन्वन् 'धनुष', २. धन्वन् 'मरुस्थल', स्नावन्– 'स्नायु', पर्वन्– 'जोड, पोर', (तुल० अवे० पओउर्वैन्य– paourvainya–) 'जुड़ा हुआ', सृक्वन् 'ओठों के किनारे', और ऋग्वेद में कतिपय छिटपुट उपलब्धियाँ पत्वन्– 'उडान', सनित्वन्– 'आदान', और विवस्वन्– 'प्रकाश'। इसके अतिरिक्त सम्प्रदानवोधक तुमन्त प्रत्ययों में से अल्पसंख्यक इस प्रत्यय से वनाये गए हैं : दावने 'देने के लिये' (ग्रीक दोवेनइ dovenai), दोव्नइ (dovenai), तुर्वणे 'आक्रमण करने के लिये', धूर्वणे 'हानि पहुंचाने के लिये'; ठीक इसी तरह अवेस्ता विद्वनोइ (vidvanōi) 'जानने के लिये' में।

इ और र् का एक संयुक्त प्रत्यय केवल क्रियाविशेषण बहिर् 'बाहर' में मिलता है। कतिपय सदोष इन्–अन्त वाले प्रातिपदिक ऋग्वेद में तृतीया ए० व० में मिलते हैं, उदाहरण के लिये प्रथिना, महिना, वरिना। ये रूप मूलतः प्राचीन नपुंसक –इन् अन्तवाले प्रातिपदिक हैं जो पुल्लिङ्ग –मन् अन्त वाले प्रातिपदिकों की सारिणी में आकृष्ट हो गए हैं प्रथिमन्– 'चौड़ाई', महिमन्– 'महत्ता' और वरिमन् 'विशालता, चौड़ाई' इसलिये सुरक्षित हैं। नपुंसक प्रत्यय इन्–, व् के साथ पुनः संयुक्त रूप में सृक्विन् नपुं० 'ओठों का किनारा' में मिलता है।

म्–एर्, म्–एन् संयुक्त प्रत्यय ठीक इसी तरह परिवर्तित होते थे, किन्तु हित्ती से वाहर मेर् (मृ) कम उपलब्ध तथा लुप्त है। वैसे कुछ उदाहरण ग्रीक से चुने जा सकते हैं (लुमर् (lúmar) लुमरोस् (lúmaros) 'अपवित्रता' आदि), किन्तु वे केवल अवशेषों के रूपमें विद्यमान हैं। संस्कृत में कोई उदाहरण

नहीं मिलते, किन्तु भारत-ईरानी में एक समय उनका अस्तित्व प्राचीन *अद्मर् (*ádmar) 'खाना, भोजन' पर आधृत अ॒द्म॒र्–अ 'भुक्खड' जैसे विशेषण रूपों द्वारा निर्दशित है। इस प्रकार के रूप पूरी तरह प्रथमा-द्वितीया एकवचन के मन्- प्रातिपदिक के विस्तार के द्वारा हटा दिए गए हैं।

नपुंसक प्रत्यय—मन्, र् और न् प्रत्ययों में से अकेला ऐसा है, जो हित्ती के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में परिपूर्ण उत्पादक रहा है। उदाहरण ये हैं : (प्रथमा द्वितीया ए० व०) अज्म॑ 'जीवन-चर्या, प्रगति' (: लैटिन अग्मेन् agmen), कर्म॑- 'कार्य', चर्म॑ 'चमड़ा', पक्ष्म॑ 'पलक', पत्म॑ 'उड़ान', ब्रह्म॑ 'स्तुति', भर्म॑ 'पालन-पोषण, सहायता; बोझ' (: प्रा० स्ला० ब्रेमे (bremę), 'बोझ', ग्रीक फेर्म (phérma)), वस्म॑ 'पोशाक' (ग्रीक एइम (eîma) 'वही', लेस्बियन वेम्म (vémma), रोम॑ 'बाल' (प्रा० आयरिश रुअम्नए (ruamnae)), मन्म॑ 'विचार' (: प्रा० आयरिश मेन्मे (menme) 'दिमाग, समझ') वर्म॑ 'सुरक्षा-कवच', वर्त्म॑ 'धारा, मार्ग' (प्रा० स्ला० व्रेमे (vremę) 'समय') सद्म॑ 'बैठक', स्यूम॑ 'चाबुक; लगाम' स्वाद्म॑ 'माधुर्य'।

सम्प्रदानबोधक तुमन्तों की एक स्वल्प संख्या इस प्रत्यय के आधार पर बनायी गयी है : त्राम॑णे 'रक्षण के लिये' दाम॑ने 'देने के लिये', धर्म॑णे 'समर्थन के लिये', भर्म॑णे 'सुरक्षा करने के लिये', वि॒द्मने॑ 'जानने के लिये'। ग्रीक में भी तुमन्त रूप इसी प्रत्यय से बहुतायत से बनाए जाते हैं, जो बिना किसी विभक्तिचिह्न से युक्त आर्ष कोटि को भी अन्तर्भावित करते हैं; इमेन् (ímen) 'जाने के लिये', दोमेन् (dómen) 'देने के लिये', एद्मेनइ (édmenai) 'खाने के लिये', इमेनइ (ímenai) 'जाने के लिये', दोमेनइ (domenai) 'देने के लिये' आदि।

इस वर्ग के संज्ञाशब्द मुख्यत: धातुज भाववाचक (कर्मबोधक) संज्ञायें हैं, किन्तु जैसा कि अन्य नपुंसक भाववाचक संज्ञाओं के साथ होता है, ये निश्चित द्रव्यबोधक अर्थों का ग्रहण करने की बलवती प्रवृत्ति को निर्दिष्ट करते हैं : उदा० हन्म॑ 'शस्त्र', साथ ही साथ 'चोट', तद्म॑ 'छिद्र', मर्म॑ 'मर्मस्थान, महत्त्वपूर्ण अंग', चर्म॑ 'चमड़ा', वस्म॑ 'पोशाक' आदि। –न् अन्तवाले अन्य नपुंसक प्रत्ययों की तरह ग्रीक में यह प्रत्यय भी –त् के द्वारा विस्तारित कर दिया जाता है (सम्बन्ध ए० व० सोमतोस् (sómatos), आदि)। इस प्रकार के विस्तृत रूप का एक उदाहरण संस्कृत व॒रि॒मत्- 'चौड़ाई' में मिलता है (तृतीया ए० व० व॒रि॒मता॑ ऋग्वेद १।१०८।२)।

नपुंसक प्रत्यय त्–एर् (t–er) जो त्–एन (t–en) के साथ परिवर्तित होता है, और जो हित्ती में अत्यधिक उपलब्ध है, अन्य भारतयूरोपीय भाषाओं में बहुत कम मिलने लगा है। केवल छिटपुट उदाहरण जैसे लैटिन

इतॅर् (iter), तोखारी इत़ार् (ytār) 'रास्ता' दिए जा सकते हैं। संस्कृत में इस तरह का केवल एक उदाहरण ऋग्वेद ६।४९।६ में सुरक्षित रखा जान पड़ता है : जगतः स्थातुर्जगदा कृणुध्वम् 'इस चल संसार को आप स्थिरता प्रदान करें'। अभिलेखकों के द्वारा गलत समझे जाने के कारण यह रूप उदात्त स्वररहित प्राप्त हुआ है, जैसे यह स्थातर्- 'ठहरनेवाला' का सम्बोधन रूप हो, और यह वाक्यांश इससे अस्पष्ट हो गया है। इसके स्थान पर स्थातॅर् नपुं० 'स्थिरता' पाठ का ग्रहण पंक्ति का अर्थ दे देता है। इसके अतिरिक्त नपुं० प्रत्यय -तर्- अधिकरणबोधक तुमन्तों की अल्प संख्या में मिलता है, उदा० धर्तरि 'धारण करने के लिये', विधर्तरि 'विधान करने के लिये'। अवेस्ता में कतिपय संप्रदानवोधक रूप इसी प्रत्यय से बनाए जाते हैं : विदोइथ्रे (vidōiθre) 'देखने के लिये', बरॅथ्रे (barəθre) 'धारण करने के लिये'। ये व्युत्पत्तियाँ अत्यधिक मनोरंजक हैं, क्योंकि ये इस बात का संकेत करती हैं कि नपुंसक र्- प्रातिपदिक किसी हद तक न्- प्रातिपदिक के द्वारा हटाए जाने के बजाय समस्त कारक विभक्तियों में विभक्ति-चिह्नों का प्रयोग करते थे। यह मूलतः किन ठीक-ठीक परिस्थितियों में हुआ होगा, यह कहना अब सम्भव नहीं है।

इस प्रत्यय से युक्त कुछ क्रियाविशेषण मिलते हैं, जिनमें उदात्त स्वर का सामान्य परिवर्तन है : अन्तर् 'अन्दर' (: लैटिन इन्तॅर् (inter)), प्रातर् 'तड़के' (: ऑस्कन प्रुतॅर् pruter), सनुतर् 'एक ओर', (तुल० अंग्रेजी ए-सन्डर a-sunder)। ये उदाहरण प्राचीन नपुंसक संज्ञाशब्द *अन्तॅर् 'अभ्यन्तर', आदि को अन्तर्भावित करते हैं। इस तरह के क्रियाविशेषण लैटिन में अत्यधिक उत्पादक हो गए हैं, अलितॅर् (aliter) 'अन्यथा' (तुल० अन्यत्र्-अ), ब्रॅवितॅर् (breviter), लॅवितॅर् (leviter), आदि। और अधिक प्रत्यय -आ के साथ हमें -त्रा क्रियाविशेषण मिलता है, उदा० शयुत्रा 'शयन पर', और यह प्रत्यय ह्रस्व स्वरध्वनि के साथ मिल सकता है, और सामान्यतः परवर्ती काल में मिलता है, अन्यत्र 'अन्यत्र', अत्र 'यहाँ', आदि। क्रियाविशेषणों में वेद में कुछ मनोरंजक समूहार्थक व्युत्पत्तियाँ हैं : देवत्रा 'देवताओं के बीच', पुरुषत्रा 'पुरुषों के बीच'। इन्हें अन्तुह्शतर् (antuḫšatar) 'आबादी, मनुष्य जाति' (अन्तुह्शश् antuḫšaš 'आदमी') जैसे हित्ती रूपों के साथ तुलना के द्वारा विश्लिष्ट किया जा सकता है। इन क्रियाविशेषण रूपों के पीछे ठीक इसी तरह के नपुंसक समूहबोधक *देवतर्, आदि हैं।

नपुंसक प्रत्यय -तन् केवल नक्तन् 'रात्रि' (तृतीया ब० व० नक्तभिः) में मिलता है। वैकल्पिक -र् ग्रीक नुक्तोर् (nuktōr) 'रात में' और लैटिन

नोक्तुर्नुस् (nokturnus) में मिलता है। यह नपुंसक प्रत्यय छिटपुट रूप में अन्यत्र भी मिलता है (लैटिन ग्लूतेन् (glūten) 'गोंद, सरेस', आदि) और प्रा० फारसी में यह सम्प्रदानबोधक तुमन्तों को बनाने के लिये प्रयुक्त होता है (चर्तनइय् 'करने के लिये', आदि)।

संयुक्त प्रत्यय सर्/स्न् जो हित्ती में बहुत प्रचलित है, अन्यत्र कमोवेश लुप्त हो गया है, यह नपुंसक स्- प्रातिपदिक का विस्तार है, और हित्ती में अर् और अन् इतनी बहुतायत से जोड़े गए हैं कि केवल स्- प्रातिपदिक व्यवहारतः लुप्त हो गए हैं। अन्य भाषाओं में केवल -स् प्रातिपदिक इतने अच्छे सुरक्षित हैं कि यह असम्भव है कि यहाँ भी हित्ती में उपलब्ध रूपों की तरह सर्/स्न् रूप उसी तरह का विस्तार रखते थे। फिर भी इसके काफी चिह्न विद्यमान हैं। मत्सर (मत्सर् + अ) 'मदमत्त' इसी तरह के रूपों पर आधृत है और इसके साथ मन्दसान 'वही' का सह-अस्तित्व बताता है कि यहाँ भी प्राचीन र्/न् का परिवर्तन था। इसी तरह पूर्य- 'अच्छी तरह परिपुष्ट' में *पूर्षर् नपुं० 'परिपुष्टता, समृद्धि' अन्तर्भावित है, जो ग्रीक पुअर् (púar) 'गाय भैंस के ब्याने के बाद पहला दुहा दूध' के समानान्तर है, और इसकी पुँल्लिङ्ग व्युत्पत्ति पूषन्[1]- 'पोषण करने वाला (एक देवता का नाम)' में वैकल्पिक न्- प्रातिपदिक प्रयुक्त किया गया है।

-स्न्-अन्तवाले कतिपय नपुंसक प्रातिपदिक उन संज्ञाशब्दों के तिर्यक् विभक्तिरूपों में सुरक्षित हैं, जिनके प्रथमा एकवचन में केवल स्- प्रातिपदिक मिलते हैं : उदा०, षष्ठी एकवचन शीर्ष्णः, दोष्णः, प्रथमा- द्वितीया एकवचन शिरः 'सिर', दोस् 'भुजा' -सन् अन्तवाले नपुंसक प्रातिपदिकों के आधार पर अधिकरणबोधक तुमन्तों का एक छोटा सा वर्ग बनाया जाता है : नेषणि 'ले जाने के लिये', पर्षणि 'गुजरने के लिये', गृणीषणि 'गाने के लिये', इषणि 'भेजने के लिये' (प्राचीन सन्धि वाले इष्-पनि के लिए, पृष्ठ ९५)। ग्रीक में भी यह प्रत्यय तुमन्तों की रचना करता है। इसकी प्रचलित कोटि फेरेइन् (phérein) को इस ढंग से भलीभाँति विश्लेषित किया जाता है (*फेरेसेन् (*pheresen),

---

१. मूल रूप *प्यू-ऊसर् है, (√-पी) जैसा कि पुअर् (pûar) और संस्कृत पीयूष- के साथ तुलना करने पर दिखाई पड़ता है। इसी तरह पुष्- 'प्रगति करने की इच्छा रखना, समृद्धि प्राप्त करने की इच्छा रखना' *प्युष्- (pyuṣ) के लिये है, जो मूलतः उरुष्यति आदि (*प्युष्यति) की तरह नामधातुज व्युत्पत्ति है।

*भेरेसेन् (bheresen), जिसमें निर्विभक्तिक प्रातिपदिक मात्र उसी तरह प्रयुक्त होता है, जैसे इद्मेन् (idmen). आदि में) ।

६. पुँल्लिङ्ग के रूप में स्थानान्तरित कर्मबोधक संज्ञाशब्द

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि भारतयूरोपीय में सबसे बड़ा भेद धात्वंश पर उदात्त स्वरवाले नपुं० कर्मबोधक संज्ञाशब्दों और प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर वाले पुंल्लिङ्ग, मूलतः सामान्य लिङ्ग कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों में था। किन्तु अन्य भाषाओं की तरह संस्कृत में सभी संज्ञाशब्द इस सरल वर्गीकरण के साँचे में नहीं बैठ पाते; उदाहरण के लिए न्- प्रातिपदिकों में, जिनका विवेचन हम कर रहे हैं, ऐसे अनेक पुंल्लिङ्ग रूप हैं, जिन्हें कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता, और जो अपने अर्थ की दृष्टि से उपर्युक्त नपुंसक कर्मबोधक संज्ञाशब्दों के साथ अधिक सम्बद्ध हैं। इस तरह के शब्द ये हैं: (अन्-) मूर्धन्- 'मस्तक' (एँग्लो-सेक्सन मोल्द (molda)), प्लीहन्- 'तिल्ली' (अवे० स्पॅरॅज़न् - (spərəzan-)) पुंल्लिङ्ग, ग्रीक स्प्लेन (splḗn पुंल्लिङ्ग)[1] मज्जन्- 'अस्थि-रस' (तुल० प्रा० प्रशियन मुस्गेनो (musgeno)); (-वन्-) अध्वन्- 'रास्ता' (अवे० अद्वन् = (advan-)), ग्रावन् 'रस निकालने का पत्थर' (प्रा० आयरिश ब्रो (brō) वेल्श ब्रेउअन् (breuan)); (-मन्-) ऊष्मन्- 'गर्मी, कोहरा', ओज्मन्- 'बल' (लिथु० अउग्मुँ augmů) ओमन् 'सहायता, पक्ष', तक्मन्- 'एक खास बीमारी', आत्मन्- 'आत्मा, स्वयं', पाप्मन्- 'पाप' (साथ ही विशेषण 'पापी'), पामन्- 'खुजली', प्रेमन्- 'प्रेम', भूमन्- 'प्रचुरता', रश्मन्- 'लगाम', रेष्मन्- 'अंधड़', सीमन्- 'केशों की माँग', स्वाद्मन्- 'स्वाद, माधुर्य'; (इमन्) जरिमन्- 'बुढ़ापा', महिमन्- 'महत्ता', हरिमन्- 'पीलारंग', आदि। स्वभावतः यह प्रश्न उठता

१. यह शब्द प्रत्येक स्थिति में प्रत्ययों की विविध योजना के साथ विभिन्न भाषाओं में मिलता है : संस्कृत प्लीहन् : (स्) प्ल्-इ-?-घ्-एन् ((s) pl-i-h-ĝh-én-); अवे० स्पॅरॅज़न्- (spərəzan-) : स्प्ल्-घ्-ऍन्- (spl-ĝh-en-); प्रा० स्ला० स्लॅज़ेन (slězena) : स् (प्) ऍल्-घ्-ऍन्-आ (s (p) el-ĝh-en-ā); ग्रीक स्प्लेन् (splēn) : स्प्ल्-एन् (spl-én) तुल० स्प्लग्ख़ुनोन् (splgxunon); स्प्ल्-न्-घ्-नो (spl-n-ĝh-no); लैटिन लिएन् (liēn) : (स्प्) ल्-इ-एन् ((sp) l-i-ēn) अथवा (स्प्) ल्-इ-?-एन् ((sp) l-i-h-ēn), प्रा० आयरिश सेल्ग् (selg) : स् (प्) ऍल-घ्-आ (s (p) el-ĝh-ā) ।

है कि इन शब्दों की ऐसी रूपरचना क्यों है, जो वस्तुतः कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों की विशेषता है। इसमें कोई स्पष्ट तर्क नहीं जान पड़ता कि 'जिगर' और 'थन' अर्थवाले शब्द नपुंसक क्यों होने चाहिएँ, और 'अस्थिरस' और 'तिल्ली' अर्थवाले शब्द पुँल्लिङ्ग; साथ ही इसका कोई तात्कालिक स्पष्ट कारण नहीं है कि ओमन्– 'सहायता' जैसी धातुज भाववाचक संज्ञायें रचना में –मन् प्रत्यय वाले साधारण नपुंसक शब्दों से भिन्न होनी चाहिएँ।

इस तरह के कतिपय शब्दों के विषय में हो सकता है कि हम छिपे हुए कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों का विवेचन कर रहे हों। इस प्रकार का एक समुचित उदाहरण संस्कृत क्लोमन्– ग्रीक प्लेउमोन् (pleúmōn) 'फेफड़ा' में दिखाई देता है; इसको यह नाम इसलिये दिया गया है कि यह जल पर तैरता है ('तैरनेवाला', √प्लेउ (pleu–))। इसी तरह रश्मन्– 'जो बाँधता है, बाँधने वाला' और रेष्मन्– 'नष्ट करने वाला' को इस रूप में विश्लेषित किया जा सकता है।

इन उदाहरणों की व्याख्या कर लेने के बाद भी कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों के ढंग पर बनाए गए कतिपय शुद्ध कर्मबोधक संज्ञाशब्द अथवा भाववाचक संज्ञाशब्द बचे रहते हैं। इन स्थलों पर हमें कर्मबोधक संज्ञाशब्दों का नपुंसक वर्ग से पुँल्लिङ्ग वर्ग में स्थानान्तरण मानना होगा। निम्नलिखित तथ्य इसे स्पष्ट करते हैं : (१) कुछ शब्द संस्कृत में दोनों वर्गों में मिलते हैं, वर्ष्मन्– नपुं०, वर्ष्मन्– पुं० 'ऊँचाई, चोटी, सतह', स्वाद्मन् नपुं०, स्वाद्मन्– पुं० 'मधुरता, स्वाद', दामन्– नपुं० 'देना' (तुमन्त), दामन्–पुं० 'दान, औदार्य'। यहाँ नपुंसक को प्राचीन नियमों की पाबन्दी करने के कारण पुराना रूप माना जा सकता है। धन्वन्– नपुं० और धन्वन्– पुं० 'मरुभूमि' के संबंध में परवर्ती रूप प्राचीन भाषा में अज्ञात है। (२) ठीक ऐसा ही परिवर्तन विभिन्न भाषाओं के बीच उपलब्ध परिवर्तन की तरह मिलता है। : संस्कृत : ओज्मन्–, लिथु० अउग्मुओ (augmuõ): लैटिन अउग्मन् (augmen) नपुं० (अउग्मेन्तुम् (augmentum) विस्तार के साथ); संस्कृत स्यूमन्– नपुं० 'गाँठ, सीवन' : ग्रीक हुमेन् (humén)। (३) पामर्–अ (पामर) और पामन्–अ (पामन) 'खुजली से पीड़ित' जैसे दो विशेषण रूप इस बात का संकेत करते हैं कि एक प्राचीन नपुं० र्/न् प्रातिपदिक था, जिसने पुं० पामन्– को विकसित किया है, और अश्मरी 'पथरी' एक प्राचीन नपुं० *अश्मर् को प्रमाणित करता है, जो उस पुँल्लिङ्ग न्– प्रातिपदिक के विरुद्ध है, जो अन्यत्र हमेशा मिलता है (संस्कृत अश्मन्–, लिथु० अक्मुओ akmuõ; ग्रीक अक्मोन् (ákmōn) 'निहाई') ठीक यही सम्बन्ध ग्रीक विशेषण हेमेरोस् (hémeros) 'नम्र, पालतू' और संस्कृत साम्न– 'शान्ति' के बीच है।

नपुंसक के ह्रास की सामान्य प्रवृत्ति और उसके साथ ही कर्मबोधक संज्ञाशब्द और कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों के बीच उदात्त स्वर तथा लिङ्गभेद के द्वारा संकेतित प्राचीन अन्तर के ह्रास ने पुं० (तथा स्त्री०) संज्ञाशब्दों की कोटि को विकसित होने के लिये काफी सहूलियत दे दी। कुछ हद तक लिङ्ग के लिये मूर्तीकरण (मानवीकरण) भी उत्तरदायी है। वैदिक मन्त्रों में दामन्–'उदारता' प्रेमन् '(देवताओं की) कृपा' और भूमन्– 'प्रचुरता' शब्द अपने आप में दैवी शक्तियों के रूप में माने जाते रहे हैं। रोग (तुक्मन्) और पाप (ध्वस्मन्–, और पाप्मन्–) ठीक इसी तरह सक्रिय अपशक्तियाँ मानी जाती रही हैं। इनके साथ ही कुछ औपचारिक परिवर्तन हैं। –इमन् (प्रथिमन्– 'चौड़ाई' वरिमन् 'वही' आदि) अन्तवाले भाववाचक शब्द समग्र वर्ग के रूप में पुं० को ग्रहण करते हैं और इसके पीछे सम्भवतः एक लयात्मक कारण (rhythmical reason) है, क्योंकि –मन्– अन्तवाले शब्द इसके पूर्व दीर्घ ई होने पर नपुंसक बने रहते हैं (वरीमन् 'चौड़ाई', हवीमन्– 'आवाहन', आदि)।

इस कोटि के पुं० कर्मबोधक संज्ञाशब्द ग्रीक में प्रचलित हैं : तेर्मोन् (térmōn) 'सीमा', साथ-साथ तेर्म (térma) नपुं० 'वही' (लैटिन तेर्मेन् (termen), खेइमोन् (kheimṓn) 'जाडा'; साथ-साथ खेइम (kheîma) नपुं०, थेमोन् (thēmṓn) 'देर', साथ-साथ थेम (thêma) नपुं० (संस्कृत धामन्– नपुं०– विविध स्थिति वाला), लेइमोन् (leimṓn) 'चरागाह' लिमेन् (limḗn) 'बन्दरगाह', लैटिन में अदेन् (adḗn) 'नाड़ी' (लैटिन इन्गुएन् (inguen) नपुं०)। इस कोटि के न्– प्रातिपदिक लैटिन में पुं० (ओर्दो (ordō), सेर्मो (sermō)) तथा स्त्री० (मर्गो (margo), लेगिओ (legio), कुपिदो (cupido).) दोनों तरह के हैं।

इस प्राचीन लोप के कारण नपुं० र्– प्रातिपदिक केवल एक उदाहरण के अपवाद के सिवाय इस परिवर्तन से नहीं गुजरे। एक सदोष प्रातिपदिक उषर्– (उस्–) 'उषःकाल' स्त्री० (द्वितीया ब० व० उस्रः) है; किन्तु यह मूलतः एक नपुं० प्रातिपदिक (तुल० उषर्बुध् § ४) था।

७. र्– और न् अन्तवाले नपुंसक प्रातिपदिकों का थिमैटिक विस्तार

थिमैटिक प्रत्यय की मूल प्रक्रिया विशेषणपरक थी, और इस स्थिति में वह उदात्त स्वरयुक्त था : करण– (करण्-अ) 'करना', आदि। यह निष्कर्ष हित्ती के द्वारा संकेतित है, जिसमें इस तरह के प्रातिपदिक हैं (वेश्तरश् (veštaraš) 'पशुपालक', आदि), किन्तु अन्य भाषाओं की तरह कोई नपुंसक

शब्द नहीं मिलते। जब हम संस्कृत सनर्- 'ग्रहण', कर्वर्- 'कार्य' की तुलना ऊपर उदाहृत -अर् -वर् आदि अन्तवाले अथिमैटिक प्रातिपदिकों से करते हैं, तो यह स्पष्ट है कि यहाँ थिमैटिक प्रत्यय की कोई व्याकरणिक प्रक्रिया नहीं है। यह तथ्य हित्ती में इस प्रकार के रूपों के अनस्तित्व के साथ मिलकर इस कोटि के शब्दों के गौण उद्भव के लिये एक तर्क है; स्पष्टतः लैटिन उन्गुएन् (unguen) और संस्कृत अञ्जन- जैसे शब्दों में पूर्ववर्ती शब्द प्राचीन रूप है। यह देखना कठिन नहीं है कि इस तरह के रूप कैसे उदित हुए। ब्रह्मन्- कोटि के कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों के साथ-साथ ब्रह्मन्- नपुं० मौजूद थे, किन्तु प्राचीनतम युग से ही उदात्त स्वरयुक्त थिमैटिक स्वर को जोड़कर बनाए गए अन्य कोटि के कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द / विशेषण भी थे (ग्रीक इअतेर् (iatér) के साथ-साथ इअत्रोस् (iatròs), अवे० वास्तर्- (vāstar-) के साथ-साथ हित्ती वेश्तरश्- (veštaraš)। इसके बाद अब थिमैटिक विशेषणकोटि के वजन पर नपुंसक थिमैटिक कोटि की रचना स्वाभाविक और सरल हो गयी (कृरण- आदि के ढंग पर करण- नपुं०)।

ऊपर संकेतित विविध र्/न् प्रातिपदिकों से सम्बद्ध थिमैटिक नपुं० प्रातिपदिक इस प्रत्यय के गुण से युक्त (कर्वर्- 'कार्य') अथवा समाहृत कोटि से युक्त (धर्त्र- 'सहारा') मिल सकते हैं। केवल र् प्रातिपदिकों से बनी दोनों कोटियाँ मिलती हैं: (१) सनर- 'प्राप्त करना', तसर- 'shuttle कपड़ा बुनने का डंडा', पञ्जर- 'पिंजड़ा' अस्थिपंजर (तुल० पुज्र- विशेषण 'निश्चित, दृढ़', लैटिन पन्गो (pango), आदि), गुम्भर- 'गहराई', उदर- 'पेट'। यह यहाँ भी और नीचे भी, संकेतित किया जायगा कि त्र्यक्षर शब्दों के उदात्त स्वर में कुछ परिवर्तन हो गया है। विशेषणों की वास्तविक विशेषता, पदान्त अक्षर पर उदात्त का प्रयोग, यहाँ हटा दी गयी है, किन्तु उदात्त स्वर धात्वंश के बजाय उपधा अक्षर (penultimate syllable) पर हो सकता है। (२) अग्र- 'नोक', रन्ध्र- 'छेद', श्वभ्र- 'गड्ढा'। पदान्त अक्षर पर उदात्त स्वर वाले कुछ नामिक शब्द मिलते हैं, किन्तु वे मूलतः विशेषण हैं, उदा० कृच्छ्र- नपुं० 'कष्ट', किन्तु विशेषण कृच्छ्र- 'कष्टदायक' भी, रिप्र- नपुं० 'अपवित्रता' किन्तु साथ ही तुल० ग्रीक लिपरोस्- (liparós-) 'चिकना', अभ्र नपुं० 'बादल', तुल० ग्रीक अफ्रोस्- (aphrós) 'फेन' पुं० (नपुं० अम्भस्- 'नमी', जिसके अलावा *अम्भर्, तुल० लैटिन इम्बर् (imber) भी रहा होगा), क्षीर- नपुं० 'दूध', जो अनिश्चित व्युत्पत्ति के हैं, किन्तु अपने उदात्त स्वर की दृष्टि से विशेषणपरक उद्भव के हैं।

स्थल– (स्थ्–अल–) 'स्थान, जमीन' में ल्– प्रत्यय से सम्बद्ध एक थिमैटिक नपुं० रूप है।

–वर् अन्त वाले कतिपय प्राचीन नपुंसक थिमैटिक स्वर के द्वारा विस्तारित कर दिए गए हैं : प्राचीन *कर्वर् के स्थान पर कर्वर– 'कार्य', गह्वर– 'छिपने की जगह, गुफा', फर्वर– 'बीज बोना, बोया हुआ खेत' (* (स्) फर्– : ग्रीक स्तेइरो (steírō), चत्वर–'चौकोर जगह, चौमुहानी' (नपुंसक रूप *चत्वर् से, जिस पर विशेषण रूप चत्वारः 'चार' आधृत है।) तर्– प्रत्यय से युक्त –तर अन्तवाले नपुंसक शब्दों में हमें स्तरतर– 'घास का बिछौना' (√स्तंस्–) तथा –त्र अन्त वाले नपुंसकों की अत्यधिक तालिका मिलती है : अत्र– 'भोजन' (: अत्र– पुं० 'खानेवाला'), कत्र– 'जादू', क्षेत्र 'खेत' (: अवे० शोइथ्र– (šoithra) 'निवासस्थान'), वस्त्र 'कपड़ा', श्रोत्र– 'सुनना, कान' (: एँग्लो सेक्सन ह्लेओथोर् (hleopor) 'शोरगुल', सूत्र– 'धागा' (तुल० लैटिन कर्त्रर्थ संज्ञा सूतोर् (sūtor))। ऐसे शब्दों के अतिरिक्त जिन्हें सीधे प्राचीन नपुंसक –तर् प्रातिपदिकों से विकसित विश्लेषित किया जा सकता है, –त्र प्रत्यय वाले नपुंसकों की एक ऐसी कोटि भी थी, जो पदान्त अक्षर पर विरुद्ध उदात्त स्वर के कारण मीमांसित करने में कम सरल है। इस तरह के शब्द हैं : अन्त्र–, आन्त्र– (: ग्रीक ऐन्तेर (entera) ब० व०), अस्त्र–, देष्ट्र– 'दिशा', नेत्र– 'निर्देशन', राष्ट्र– 'शासन, राज्य', शस्त्र– 'आवाहन', सत्र–'यज्ञ का समय', शास्त्र 'आदेश' स्तोत्र–'स्तुति, स्तुतिमन्त्र', स्थात्र– 'ठहराव', होत्र 'होतर् का कार्य, आहुति', पोत्र– 'पोतर् का कार्य', नेष्ट्र 'नेष्टर् का कार्य या पात्र'। इनमें से कतिपय रूप मूलतः विशेषणरूप स्पष्ट किए जा सकते हैं, उदा० अन्त्र 'जो अन्दर है', अस्त्र– 'जो फेंका जाता है', किन्तु अधिकांश रूपों को इस तरह स्पष्ट नहीं किया जा सकता। उन्हें भिन्न दृष्टि से स्पष्ट किया जाना चाहिए। –तर् अन्तवाले कर्त्रर्थ संज्ञा शब्दों की एक कोटि ऐसी है, जो कार्य अथवा पौरोहित्य को करने वाले लोगों को संकेतित करती है, उदा० शंस्तर्– (शंस्तृ)– 'शंसन करने वाला' होतर् (होतृ–) 'यज्ञ करने वाला पुरोहित', पोतर् (पोतृ–) 'शुद्धि करने वाला' और इन्हीं से घनिष्ठतया सम्बद्ध नेष्टर् (नेष्टृ–) संभवतः 'काटने वाला', तुल० ग्रीक नेइकेतेर् लिक्मेतेर् (neikētér likmētér) हेस्विअन)। इस प्रकार के संज्ञाशब्द समग्र वर्ग के रूप में नामिक उदात्त स्वर अर्थात् धात्वंश पर उदात्त स्वर का वहन करते हैं। उपर्युक्त नपुंसक होत्र–'होतर् का कार्य' आदि, जहाँ तक इनके अर्थ का सम्बन्ध है, इन कर्त्रर्थ संज्ञा शब्दों से उत्पन्न गौण रूप बन गए हैं और इस तरह नपुं० और कर्त्रर्थ संज्ञा शब्दों के बीच विद्यमान मूल स्थिति बदल गयी है। सामान्य तद्धित रूपों में संस्कृत में एक विशिष्ट नियम है, जिसके अनुसार

तद्धित रूप पदान्त –अ पर उदात्त स्वरसम्पन्न होते हैं, यदि वह मुख्य रूप, जिससे वे व्युत्पन्न हुए हैं, किसी पहले अक्षर पर उदात्त स्वर से युक्त होता है : नैर्हस्त 'हस्तहीनता', आतिथ्य 'अतिथि-सत्कार', सौमनस- 'सौहार्द'; निर्हस्त–, अतिथि–, सुमनस्- से विकसित (और इसके विपरीत पुलित 'भूरे वालों वाला' से पालित्य)। साथ ही वृद्धिरहित रूपों के भी उदाहरण हैं, जैसे सखि– से सख्य– 'मित्रता। व्युत्पन्न रूपों में उदात्त स्वर के प्रयोग का यह एक नया ढंग है, जिसे संस्कृत ने विकसित किया है, और यही वह प्रक्रिया है, जो होत्र– आदि में पदान्त अक्षर पर उदात्त स्वर के अस्तित्व का कारण है। ये रूप वस्तुतः आरंभ से ही तद्धित नहीं हैं, वल्कि –त्र अन्त वाले प्राचीन सामान्य नपुंसक का एक उपवर्ग है, जो विशेष अर्थ के लिये इस रूप में अपना लिए गए हैं और फलतः इनका उदात्त स्वर परिवर्तित कर दिया गया है।

–अत्र कोटिवाले अनेक नपुंसक शब्द हैं, उदा० नक्षत्र– 'चन्द्रमण्डल' (नक्– 'पहुँचना'), पत्त्र– 'पंख', वधत्र- 'शस्त्र'; उपधा अक्षर पर उदात्त स्वर के साथ कृन्तत्र– कटा हुआ टुकड़ा', दत्र (द्–अत्र) 'दान'; तद्धित स्वरप्रक्रिया से युक्त क्षत्र–'सार्वभौमिकता'; वैदिकोत्तर कलत्र–'पत्नी'।

एक प्राचीन नपुंसक –सर् प्रातिपदिक का थिमैटिक विस्तार तमिस्र– 'अन्धकार' (तुल० अवे० तंथ्र (taθra) में मिलता है; ल् से युक्त पत्सल 'रास्ता' उणादि।

हित्ती में मुख्य धातुज भाववाचक संज्ञाओं को बनाने वाला –अन् अन्त वाला (–अर् के साथ परिवर्तित न होने वाला) एक नपुं० प्रत्यय है, हेन्कन् (henkan) 'मृत्यु', आदि। ठीक यही प्रत्यय –एन् अन्तवाले ग्रीक तुमन्तों में और अन्यत्र भी छिटपुट रूप से मिलता है (लैटिन उन्गुएन् (unguen))। संस्कृत में इस प्रत्यय का थिमैटिक विस्तार धातु से बने नपुं० कर्मबोधक संज्ञा शब्दों की रचना में अत्यधिक उत्पादक बन गया है। ये निरन्तर ठीक इसी प्रत्यय वाले किन्तु अन्तिम अक्षर पर उदात्त स्वरवाले कर्त्रर्थ संज्ञा शब्दों के सदा विपरीत हैं : करण– नपुं० 'कार्य', करण– पुं० 'करना'। धात्वंश पर उदात्त स्वरवाले उदाहरण ये हैं : अञ्जन–'अंजनक्रिया, अञ्जन', चयन–'एकत्र करना', दर्शन–'दर्शन', पतन– 'गिरना', भोजन– 'भोग', सदन- 'आसन', आदि-आदि, अधातुज मूल से बना रूप, समन– 'गोष्ठी'। ऐसे शब्द कभी-कभी धातु के दुर्बल रूप के साथ मिलते हैं, उदा० भुवन– 'लोक', और जब धात्वंश में अ स्वर होता है, तब कभी-कभी वृद्धिवाले रूप भी पाए जाते हैं : भाजन–'पात्र'। परवर्ती भाषा में इन परवर्ती रूपों को प्रेरणार्थक क्रिया के साथ संयुक्त करने की प्रवृत्ति पायी जाती है, उदा० तरण– 'पार करना', तारण– '(किसी को) पार लगाना, छुटकारा दिलाना'।

कभी-कभी उपधांश पर उदात्त स्वर पाया जाता है: वृजनं- 'तम्बू, घेरा' (वृजन- भी) कृपणं- 'कंजूस' (: कृपण- दुखी') दुसनं- 'आश्चर्यजनक कार्य', वेषणं- 'सेवा' धनं- (ध्-अनं-) 'धन', रणं-(र्-अणं-) 'युद्ध' (तुल० अवे० अरॅनु (arənu-) 'वही')।

ठीक ऐसे ही नपुंसक रूप यदा-कदा संयुक्त न्- प्रातिपदिकों में पाए जाते हैं: वयुनं 'सीमा-निर्धारण, निर्धारित समय', (: वेतां 'सीमा, समय' आदि), करुणं- 'कृति'; द्रविणं- 'सम्पत्ति', वाजिन- 'दौड़, स्पर्धा'; वेतन- 'पगार' (√-वी), रत्नं- (र्-अत्नं-) 'खजाना' (रा- 'अनुग्रह करना'), मतस्न- 'फेफड़ा'।

: नपुंसक प्रत्यय मॅन्/म्न् को -त् प्रत्यय के द्वारा विस्तारित किया जा सकता है (ग्रीक सोमतोस् (sómatos) सम्बन्ध, ए० व०, आदि, तुल० मन्ज़ि (-manzi), वन्ज़ि- (wanzi) अन्तवाले हित्ती तुमन्त रूप)। यह संयुक्त प्रत्यय थिमैटिक विस्तार को भी ग्रहण कर सकता है, लैटिन अउग्मॅन्तुम् (augmentum), स्त्रामॅन्तुम् (strāmentum), आदि। संस्कृत में ऐसा एक उदाहरण है श्रोमत- नपुं० 'यश' (-मत् < *म्नृत् -mat < *mn̥t), तुल० प्रा० हाई जर्मन ह्लिउमुन्त् (hliumunt), ज़र्मन लॅउमुन्द् (leumund)।

९. ब्रह्मन्- कोटि के र्- और न्- प्रातिपदिकों से बने पुँल्लिङ्ग रूप

इस कोटि का तात्त्विक लक्षण नपुंसक शब्दों के धात्वंश पर उदात्त स्वर के विरुद्ध प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर तथा प्रथमा ए० व० में वृद्धिरूप है। इस बात के कुछ प्रमाण हैं कि मूलत: ये शब्द अपने आप में बिना किसी विशेषण के प्रयुक्त किए जाने में समर्थ थे। इसके तथ्य के उदाहरण कई भाषाओं में मिलते हैं। उदा० ग्रीक मकर्- (mákar) 'भाग्यशाली', मर्तुर्- (mártur) 'साक्षी', लैटिन ऊबेर्- (ūber), 'धनवान्' के अर्थ में, हित्ती कुरुर्- (kurur), जिसका अर्थ 'शत्रुता' और 'शत्रु' दोनों है। संस्कृत में दो रूप ऐसे हैं, जिनकी तुलना ग्रीक मर्तुर्- (mártur) से की जा सकती है, यद्यपि ये प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर रखते हैं, अप्तुर्- 'पवित्र ग्रन्थों में क्रियाशील' और यन्तुर्- 'निग्रहकर्ता' -उष् प्रत्यय से युक्त रूप, जैसे नहुष्- 'पड़ोसी' और मनुष्- 'मनुष्य' जैसे रूप हमें मिलते हैं, जो किसी भी तरह सम्बद्ध नपुंसक कोटियों से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार के रूप वस्तुत: संख्या में बहुत कम हैं, क्योंकि भारतयूरोपीय ने बहुत पहले ही उदात्त स्वर का परिवर्तन कर प्रातिपदिक की विशेषणगत प्रक्रिया को संकेतित करने की यह पद्धति विकसित कर ली थी।

कुछ स्थितियों में संस्कृत में दोनों कोटियाँ साथ-साथ विद्यमान हैं, खास

तौर पर –मन् और –अस् प्रत्ययों के सम्बन्ध में; किन्तु अधिकतर प्राचीन प्रक्रिया खण्डित कर दी गयी है। यह प्रमुखतः प्राचीन नपुं० रूपों के लोप के कारण है, जिन्होंने पुँल्लिङ्ग कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों के महत्त्वपूर्ण वर्गों को अलग-अलग रूप में छोड़ दिया है। संस्कृत में –तर् (–तृ) अन्तवाले कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों का एक परिपूर्ण वर्ग है कृतर्– 'करनेवाला', आदि। इस रूप की प्रकृति हित्ती में –तर् अन्तवाले नपुंसकों के एक प्राचीन वर्ग की खोज के साथ ही स्पष्ट हो पायी है। हम ऊपर देख चुके हैं कि ऐसे ही रूपों के समान इस प्रत्यय ने अन्य भाषाओं में कई चिह्न छोड़े हैं, और इसलिये एक समय यह अत्यधिक प्रचलित रहा होगा। इसका अर्थ यह है कि *कर्तर्– नपुं० 'करना, कार्य', और कर्तर्– पुँल्लिङ्ग 'करनेवाला, कर्ता' दोनों कोटियाँ एक समय साथ-साथ विद्यमान रही होंगी, और ऐसा होने पर यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों कोटियों का सम्बन्ध ठीक वही है, जो ब्रह्मन्– और ब्रह्मन्– के बीच है। संस्कृत कर्तर्– 'करनेवाला' *क्रर्तर्– 'कार्य' से सम्बद्ध है और ठीक इसी तरह स्थातर्– (स्थातृ–) 'ठहरनेवाला' उस स्थातर्– नपुं० से सम्बद्ध है, जो, जैसा कि हम देख चुके हैं, कुछ छिपे रूप में ऋग्वेद के एक उद्धरण में सुरक्षित है।

चूँकि संस्कृत में यह सबसे अधिक प्रचलित रूपों में से एक है, इसके अधिक उदाहरण देना छोड़ा जा सकता है। कुछ शब्द स्वरप्रक्रिया की दृष्टि से आवश्यक हैं। इस कोटि के शब्दों में प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर वास्तविक है और संस्कृत में अधिकतर मिलता है, किन्तु एक ऐसी भी परिवर्तित उदात्त स्वर वाली कोटि है, जो विचित्र वाक्यरचनागत भेद से सम्बद्ध है: दाता वसूनाम्, किन्तु, दाता वसूनि। यह ऊपर देखा जा चुका है कि इस प्रत्यय से युक्त विशिष्ट शब्द (होतर्–, आदि) नियमतः धात्वंश पर उदात्त स्वर का वहन करते हैं। ग्रीक में भी इस तरह के रूपों की दो कोटियाँ हैं, प्रत्ययांश पर उदात्त स्वरयुक्त दोतेर् (dotér) 'देनेवाला', बतेर् (batér) 'जानेवाला', थेतेर् (thetér) 'ठहरने वाला', और धात्वंश पर उदात्त स्वरवाले दोतोर् (dṓtōr) 'देनेवाला' आदि। इनमें से प्रथम प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर के परिणामस्वरूप धातु के दुर्बलीकरण के साथ अत्यधिक प्राचीन रूप को सुरक्षित रखता है। संस्कृत में प्रत्ययांश वाला उदात्त स्वर काफी हद तक सुरक्षित है, किन्तु बहुत कम अपवादों के अतिरिक्त, उदा० दृंहितर्– 'मजबूत बनाने वाला', कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों में गुणरूप सार्वत्रिक है। अपश्रुति के मूल नियम के बावजूद इसका संरक्षण और पुनः प्रयोग सम्बद्ध नपुंसक शब्दों के प्रभाव के कारण माना जा सकता है।

यह प्रत्यय कौटुम्बिक सम्बन्धों के नामिक शब्दों की रचना में प्रमुख है: पितरि (पितृ–) 'पिता' (तुल० लैटिन पतेर् (pater), आदि), दुहितर्–

(दुहितृ–) 'पुत्री' (तुल० ग्रीक थुगतेर्– (thugátēr), आदि), मातर्– (मातृ–) 'माता' (ग्रीक मेतेर् (mḗtēr), दोरिक मातेर् (mắtér), प्रा० हा० जर्मन मुओतेर् (muoter), आदि); भ्रातर् (भ्रातृ–) 'भाई' (ग्रीक फ्रातोर् (phrátōr), फ्रातेर् (phrátēr), फ्रातेर् (phrātḗr) 'बांधव', गॉथिक ब्रोथ्र् (brōpar), प्रा० हा० जर्मन ब्रुओदेर् (bruoder), आदि), जामातर्– (जामातृ–) 'दामाद' (अवे० ज़ामातर (zāmātar–), अल्बेनी द़ेन्देर (δender), यातर्– (यातृ–) 'पति के भाई की पत्नी (देवरानी-जेठानी)' (ग्रीक एइनतेरेस् (einatéres), लैटिन यनित्रीकेस् (ianitrices) ब० व०, प्रा० स्ला० यँत्रु (jętry), लिथुआनी येन्ते (jéntė); नप्तर्– (नप्तृ–) 'पौत्र' (नपात् = लैटिन नेपोस (nepōs) के लिये गौण आदेश)। यह सम्भव है कि इनमें से 'पिता' के लिये प्रयुक्त शब्द प्राचीन कर्त्रर्थ संज्ञा शब्द (प्–इ्–तर् 'पालनकर्ता', पा– (य)– 'पालन करना' से व्युत्पन्न) है, किन्तु अधिकांश स्थितियों में व्युत्पत्ति इतनी अधिक अस्पष्ट है कि निश्चित रूप से अधिक कहना सम्भव नहीं है। इसका कोटि–निर्धारण प्राचीन (तुल० ग्रीक दोतेर् (dotḗr), आदि) है, जैसा कि इस तरह के शब्द में अपेक्षित है। केवल दुहितर्– (दुहितृ–) स्वरप्रक्रिया और अपश्रुति की दृष्टि से पितर् (पितृ–) से मिलता है; अन्य शब्द केवल मातर् (मातृ–) के अलावा प्रकृत्यंश में उदात्त स्वर और गुणीभाव से युक्त है, और यहाँ भी ग्रीक में प्रकृत्यंश पर उदात्त स्वर है, जो संस्कृत तथा जर्मन शाखाओं की परस्पर समानता के बावजूद सरलता से मूल स्वरप्रक्रिया हो सकती है। यह असम्भव नहीं है कि इनमें कतिपय प्राचीन नपुंसक शब्द हैं (*मातर्– (*mắter), आदि : लैटिन मातेरिएस् (māteriēs) इस प्रकार के नपुंसक शब्द का विस्तृत रूप होगा), जो उस समय अपना लिए गए थे, जब कि लिङ्ग-प्रक्रिया का विकास हुआ। यहाँ प्रत्यय के सादृश्यजनित विस्तार की भी सम्भावना है। यही स्थिति निश्चित रूप से संस्कृत नप्तर्– में है, और सम्भवतः असामान्य रूप में व्युत्पन्न जामातर्– (तुल० ग्रीक गम्ब्रोस् (gambrós) 'दामाद') में भी, जो भिन्न प्रकार से बना है।

स्तर्– (तृ० ब० व० स्तृभिः), तर् (प्र० ब० व० तारः) = ग्रीक अस्तेर् (astḗr) जैसे नियमविरुद्ध संज्ञा शब्द इस पुँल्लिङ्ग प्रत्यय से बनाए गए हैं; यह शब्द इतना अधिक समाहृत हो गया है कि परवर्ती रूप में केवल प्रत्यय बचा रहा।

र्– प्रत्ययों में से केवल –तर् प्रत्यय ही अकेला ऐसा है, जो कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों की रचना में अत्यधिक प्रयुक्त हुआ है। किन्तु केवल र्– प्रत्यय और

उससे बने विविध संयुक्त प्रत्यय, जिनका विवरण दिया जा चुका है, दोनों ही इस प्रकार प्रयुक्त हो सकते थे, और इस तरह के कुछ उदाहरण अवशिष्ट हैं।

केवल र्- प्रत्यय वाला एक उदाहरण नर्- (नृ-) 'मनुष्य, योद्धा' (ग्रीक अनेर्- (anḗr), उम्ब्रियन नेर्- (ner-), आदि) में दिखाई पड़ता है। एक सम्बद्ध नपुंसक शब्द *आनेर्- (*āner) की कल्पना कतिपय व्युत्पत्तियों से की जाती है (ग्रीक एनोरेए (ēnoréē), एउएनोर् (euḗnōr), आदि)।

-त्वर् प्रत्यय इसी तरह पुंल्लिङ्ग ब० व० चत्वारः 'चार' में प्रयुक्त है। सम्बद्ध नपुंसक *चत्वर् 'चतुरस्र' सुरक्षित नहीं है, किन्तु चत्वर- नपुं० 'चतुष्कोण, चौमुहानी' में इसका थिमैटिक विस्तार मिलता है। दूसरा उदाहरण देवर्- 'पति का भाई' तुल० ग्रीक दाएर्- (dāḗr) (दइवेर् daivḗr, के लिये), लैटिन लेविर् (lēvir), आदि हैं। मर्- प्रत्यय से युक्त ऐसा कोई उदाहरण नहीं है, किन्तु नीचे यह संकेत किया जायगा कि कर्मार- 'लोहार' एक प्राचीन रूप कर्मा (र्) का सङ्केत करता है।

-सर् प्रत्यय इस वर्ग के स्वसर्- (स्वसृ-) 'बहन' (स्व 'अपना') में पिछले अक्षर पर प्रयुक्त उदात्त स्वर से युक्त शब्द में मिलता है, और संख्यावाचक शब्द तिस्रः, चतस्रः 'तीन, चार' (स्त्री०) में। यहाँ प्रथमा में द्वितीया के रूप प्रयुक्त होने लगे हैं; प्राचीन कर्ताकारक वाले रूप *तिसोरस् (tisores), क्वेतेसोरस् (kwetesores) का प्रतिनिधित्व कैल्टिक में मिलता है (प्रा० आयरिश तेओइर् (teoir), केथेओइर् (cetheoir)। लैटिन उक्सोर् (uxōr) 'पत्नी' इसी वर्ग का संज्ञा शब्द है, जो स्- अन्तवाले प्रातिपदिक के र्- प्रत्यययुक्त विस्तार पर आधृत है, जो संस्कृत ओकस् 'घर' में मिलता है। विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने पर इस प्रत्यय के लिये स्त्री० संज्ञा शब्दों की रचना में विशेषीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, और इसके साथ हम हित्ती में थिमैटिक व्युत्पत्ति इशहश्शरश् (išḫaššaraš) 'महिला' (इशहश् 'पति') की तुलना कर सकते हैं।

ठीक इसी तरह कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द और विशेषण, उदात्त स्वरयुक्त न्- प्रत्यय से बनाए जाते हैं, जो ठीक उसी ढंग से नकारान्त प्रातिपदिकों से सम्बद्ध हैं; तक्षन्- 'बढ़ई' (: हित्ती तक्शन् (takšan) नपुं० 'जोड़ना'), राजन्- 'राजा' (: राजनि नपुं० 'किसी के शासन में', अवे० राज़र् (rāzar-) नपुं० में वैकल्पिक रेफान्त प्रातिपदिक), प्रतिदीवन्- खेल में प्रतिद्वन्द्वी', विभ्वन्-, 'शक्तिशाली'। इस तरह के कुछ ऐसे प्राचीन पुंल्लिङ्ग रूप हैं, जो किन्हीं धातुओं से अब सम्बद्ध नहीं किए जा सकते, जैसे युवन्-'युवक' (तुल० लैटिन

युवेनिस् (iuvenis), आदि; यो– ष्– इत् (योषित्) 'युवती, स्त्री'), श्वन्– 'कुत्ता' (ग्रीक कुओन् (kuōn) । अन्य भाषाओं से लिए गए उदाहरण अवे० स्पसन्– (spasan) 'चर, गुप्तचर', विन्दन्–'खोज करने वाला', ग्रीक पेउथेन् (peuthēn) 'गुप्तचर', अरेगोन् (arēgón) 'सहायक', लैटिन एदो (edō) 'जिसको खाना दिया गया है', आदि हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रत्यय ने ग्रीक में थिमैटिक कोटि के कर्तृवाच्य कृदन्तज रूपों के प्रथमा ए० व० को निष्पन्न किया है (जो दिदोउस् (didoús) आदि के विरुद्ध अन्य कारक रूपों में –ओन्त् (–ont–) के साथ विकल्प से परिवर्तित होने वाले शब्द फेरोन् (phérōn), लिपोन् (lipón), आदि हैं), और जर्मन शाखा में यह विशेषण शब्द रूपों का आधार बनता है। संस्कृत में उदात्त स्वर सामान्यतः पीछे हट गया है। यह पहले ही संकेत किया जा चुका है कि यह प्रवृत्ति उन विशेषणीभूत उद्भव के शब्दों में सामान्यतः मिलती है, जो पूरी तरह संज्ञा शब्द बना दिए गए हैं (उदा० राजन्–)।

इसी तरह उदात्त स्वर –वन् अन्त वाले विशेषणीभूत शब्दों में भी पीछे हटा दिया गया है, किन्तु यहाँ प्रकृत्यंश की दुर्बल कोटि इस बात का संकेत करती है कि यह मूल रूप नहीं है। उदाहरण ये हैं : ऋक्वन् 'पूजा करता हुआ, स्तुति करता हुआ (हित्ती अर्कुवर् (arkuwar) नपुं० 'प्रार्थना'), द्रुह्वन्–'द्रोह करने वाला, हानि पहुँचाने वाला', युध्वन्– 'लड़ता हुआ', शुभ्वन् 'सुन्दर', स्तुभ्वन्– 'स्तुति करता हुआ', पत्वन्– 'उड़ता हुआ' (: नपुं० पत्वन्– 'उड़ान'), मद्वन्– 'मत्त होता हुआ, मत्त', जस्वन्–'खिन्न, बुभुक्षित'। प्रत्ययांश पर उदात्त केवल मुषीवन्– 'चोर' में मिलता है। इ, उ तथा ऋ अन्तवाले धातु इस प्रत्यय के पूर्व एक अतिरिक्त प्रत्यय –त् अपनाते हैं। कृत्वन्– 'क्रियाशील', सुत्वन्– 'दबाकर (सोमरस) निकालता हुआ', सृत्वन्– 'घूमता हुआ'। ये शब्द र्, न् अन्तवाले वैकल्पिक प्रातिपदिकों से बने प्राचीन नपुंसक शब्दों पर आधृत हैं, इसका निदर्शन स्त्रीलिङ्ग शब्दों से हो जाता है। ये स्त्रीलिङ्ग शब्द नपुंसकों के रेफान्त प्रातिपदिक पर आधृत हैं, उदाहरण के लिये पीवरी– स्त्री० 'मोटी' सीधा नपुं० प्रातिपदिक से व्युत्पन्न है, जो पिअर् (piar) जैसे ग्रीक रूपों में मिलता है, जब कि पुंल्लिङ्ग शब्द सम्बद्ध नकारान्त प्रातिपदिक से व्युत्पन्न है। पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग के बीच ठीक ऐसा ही भेद ग्रीक में मिलता है : पीओन्– (píōn) पुं० पिएइर (pieîra) स्त्री० 'मोटी'। ऐसे ही स्त्रीलिङ्ग रूप संस्कृत में यज्वरी– 'पवित्र', शर्वरी 'रात' *शीवरी 'लेटी हुई', *यावरी 'जाती हुई', *दावरी 'देती हुई' (उदा० गोदावरी– 'गाय देती हुई, एक नदी का नाम') हैं। यह प्रत्यय उपर्युक्त मुख्य प्रत्ययजनित (कृदन्त) रूप और गौण प्रत्यय-

जनित (तद्धित) रूप दोनों को व्युत्पादित करता है। इस तरह के शब्द ऋतावन्– 'पुण्यशाली', सत्यावन्– 'सत्यनिष्ठ', मघवन्– 'समृद्धिशाली, दानी' और स्वधावन्– 'शक्तिशाली' है। गौण प्रत्ययजनित (तद्धित) रूपों में अनेक, विशेषणवाले उदात्त स्वर को सुरक्षित रखे हैं : अमतीवन्– 'निर्धन', अरातीवन्– 'शत्रु', ऋणावन्– 'ऋणी', श्रुष्टीवन्– 'आज्ञापालक'। इनके स्त्री० शब्द भी ठीक उसी तरह –वरी अन्तवाले (ऋतावरी, आदि) होते हैं, जो इस बात का संकेत करते हैं कि एक समय *ऋतावर्– 'पुण्यशालिता' कोटि के वर् न् अन्तवाले तद्धित नपुंसक रूपों का अस्तित्व था।

–मन् प्रत्यय के सम्बन्ध में वैदिक भाषा में कुछ ऐसे भिन्न उदात्त स्वर और अर्थवाले शब्दयुगल मिलते हैं, जो भा० यू० में संज्ञाशब्दों की व्युत्पत्ति के सामान्य नियम को उदाहृत करते हैं : ब्रह्मन्- : ब्रह्मन्-; सद्मन्– 'बैठता हुआ, आसन' : सद्मन्– 'बैठने वाला'; धर्मन्– 'धार्मिक नियम' : धर्मन्– 'धार्मिक नियम बनाने वाला'; दामन्– 'दान' : दामन्– 'देनेवाला'। इस तरह के अन्य पुँल्लिङ्ग कर्त्रर्थ संज्ञा शब्द हैं : दर्मन्- 'तोड़ने वाला' भुज्मन्– 'उपजाऊ', सोमन्– 'सोमरस निकालने वाला'। –मन् प्रत्ययजनित तद्धित रूप केवल एक पाया जाता है; अर्यमन्– 'मित्रतापूर्ण, सपक्ष'। अवेस्ता में चिन्मन्– (cinman)– नपुं० 'सावधानी:' चिन्मन् (činman)– पुँल्लिङ्ग 'किसी के लिए सतर्क होते हुए'; ज़एमन्– (zaēman–) नपुं० 'जागृति' : ज़एमन्– (zaēman)– पुँल्लिङ्ग 'जागृत' में नपुंसक तथा पुँल्लिङ्ग मन्– अन्तवाले प्रातिपदिकों के बीच ठीक वही परस्पर विरोधिता है। इस प्रकार के पुंल्लिङ्ग शब्दरूप ग्रीक में ये हैं : इद्मोन् (idmōn) 'जाननेवाला' (: इद्मेन्– अइ (idmen–ai) सम्प्रदान), त्लेमोन् (tlḗmōn) 'सहन करता हुआ', हेगेमोन् (hēgemṓn) 'नेता', आदि; लैटिन में एक शब्दरूप अलिमोनेस् (alimōnes) कर्त्ता ब० व० (>अलिमोनिअ (alimōnia) उद्धृत किया गया है।

–सन् प्रत्यय से युक्त पुँल्लिङ्ग शब्द बहुत कम हैं : पूषन्–, 'एक देवता का नाम' (तुल० पूषर्य– ऊपर अनुच्छेद ५), वृषन्– 'पुरुष', उक्षन्– 'बैल' (अंग्रेजी ऑक्स (ox), ऑक्सेन (oxen), वेल्श् उख् (ych), ब० व० उखेन् (ychen), तोखारी ओक्सो (okso); इनमें पिछले दोनों शब्दों में स्– प्रत्यय से युक्त (वक्ष्–, वृष्–) विस्तारित प्रकृति पायी जाती है, और इस दृष्टि से इन्हें –अन् अन्तवाले प्रातिपदिकों में वर्गीकृत किया जा सकता है। एक स्त्री० –सन् अन्तवाला प्रातिपदिक योषन्– 'स्त्री' में मिलता है।

–तन् प्रत्ययवाले पुं० प्रातिपदिक संस्कृत में नहीं मिलते, किन्तु कभी-कभी दूसरी भाषाओं में मिलते हैं : अवे० मरॅतन्– (marətan–) 'मर्त्य', अइवि-

क्सूशएतन् (aivixšaētan) 'निवासी, कब्जा करने वाला', ग्रीक तेक्तोन् (téktōn), गेइतोन् (geitōn) 'पड़ोसी' ।

संयुक्त प्रत्यय –इन्– इस भाषा में अत्यधिक व्युत्पादक विशेषणीभूत प्रत्ययों में से एक है। यह प्रत्यय मुख्य (कृदन्त) रूपों में मिल सकता है, अर्चिन्– 'चमकता हुआ', किन्तु सम्बन्धबोधक गौण (तद्धित) रूपों में वहुतायत से प्रयुक्त होता है, अश्विन्– 'घोड़ेवाला', धनिन्– 'धनवाला', पक्षिन्– 'पंखवाला', आदि, आदि। इस प्रकार के विशेषणरूप अकारान्त तथा आकारान्त प्रातिपदिकों से कितनी ही संख्या में बनाए जा सकते हैं, जिस स्थिति में मूल प्रकृति की पदान्त स्वरध्वनि के स्थान पर –इन् रख दिया जाता है, और बहुत कम संख्या में अन्य प्रातिपदिकों से भी बनाए जाते हैं, उदा० श्वनिन्– 'कुत्तेवाला', शवशिन्– 'वलवान'। इन शब्दों में प्रत्ययांश पर नियत रूप से उदात्त स्वर पाया जाता है, जो इस तरह की विशेषण कोटियों के अनुरूप है, किन्तु यह नियत रूप से अपश्रुति की दुर्वल कोटि में मिलता है, जो मूल रूप नहीं हो सकता, और इसे ई– वाले प्रथमा ए० व० के नये सादृश्य-जनित रूप के घटक के साथ जोड़ दिया गया है। मूलतः इन शब्दों के प्रथमा ए० व० में वृद्धि रही होगी, और इसके वृद्धिरूप अन्य भाषाओं में मिलते हैं (ग्रीक औउरनिओनेस् (ouraníōnes), आदि)। लैटिन में कुछ ऐसे स्त्री० कर्मबोधक संज्ञाशब्द हैं, जो इसी तरह के रूप का प्रयोग करते हैं (जैसे भूमन्– 'प्रचुरता', आदि ने कर्मवोधक संज्ञाशब्दों के समुचित रूप को ग्रहण कर लिया है. देखिये ऊपर § ६) लेगिओ (legiō), लेगिओनिस् (legeōnis); आदि। इसी तरह इन्होंने सवल रूप को सामान्य बना दिया है। कर्त्ता ए० व० में सवल रूप तथा संवंध ए० व० आदि में दुर्वल रूप के परिवर्तन की मूल प्रक्रिया आॅस्कन में सुरक्षित है, जो तिर्यक् कारकरूपों में प्रातिपदिक के दुर्वल रूप का प्रयोग करती है : संप्रदान ए० व० लेगिनेइ (leginei), आदि। इस प्रत्यय का प्रयोग विशिष्ट सम्बन्धवोधक अर्थ में ईरानी में भी मिलता है: अवे० परॅनिन्– (parənin–) 'पंखोंवाला', किन्तु इसके उदाहरण अपेक्षाकृत कम हैं।

बहुसंख्यक विशेषण शब्द उदात्त स्वरयुक्त –विन् प्रत्यय के द्वारा बनाए जाते हैं : स्रग्विन्– 'माला धारण करनेवाला', तपस्विन्– 'तपोयुक्त', तेजस्विन्– 'तेजवाला', आदि। यह जटिल प्रत्यय जो भारतीय आर्य शाखा से बाहर अज्ञात है,–वन्– तथा –इन्– प्रत्ययों का मिश्रण जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त एक वहुत कम मिलने वाला प्रत्यय –मिन् (–वन्त् के साथ-साथ –मन्त् की तरह), है, उदा० वाग्मिन्– 'वोलनेवाला', गामिन्– 'गायवाला', स्वामिन्– 'अधिकारी, मालिक' (स्व– 'अपना')।

९. –न्त्– प्रत्ययवाले विशेषणरूप

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि नपुंसक प्रत्यय के रूप में –न् भा० यू० में –त् का विस्तार ग्रहण करता है। ग्रीक में यह नियत रूप से मिलता है (उदोर् (údōr), उदतास् (údatos) आदि), और अन्यत्र इसके अवशिष्ट चिह्न हैं, यद्यपि ये अधिक नहीं है (संस्कृत वरीमत्–, आदि)। –त् का समायोग विशेषणीभूत –न् प्रत्यय के साथ भी किया जा सकता है, और तरह उत्पन्न संयुक्त प्रत्यय नपुंसक –न्त्– प्रत्यय की अपेक्षा अधिक व्युत्पादक सिद्ध हुआ है। संस्कृत में यह –अन्त्, –वन्त्, और –मन्त् प्रत्ययों में मिलता है, जो सभी अधिक उत्पादक हैं।

–अन्त्– प्रत्यय अल्पसंख्यक विशेषण शब्दों में मिलता है, जैसे बृहन्त्– 'बड़ा', महन्त्– 'बड़ा', ऋहन्त्– 'छोटा', पृषन्त्– 'बिन्दुयुक्त' और रुषन्त्– 'चमकीला', जिनके साथ सार्वनामिक विशेषण इयन्त्– 'इतना' और कियन्त्– 'कितना' जोड़े जा सकते हैं। इनमें प्रथम तीन शब्दों में समुचित विशेषण सम्बन्धी स्वराघात मिलता है, किन्तु पृषन्त्–, रुषन्त्– में अपश्रुति इस बात का संकेत करती है कि प्रकृत्यंश में उदात्त मूल रूप नहीं है। इस तरह के विशेषण बॅरॅज़न्त्– (bərəzant–) 'ऊँचा' और मज़न्त्– 'बड़ा' में ईरानी में देखे जाते हैं। ये शब्द सामान्य कोटि में नपुंसकों (अवे० बरॅज़न् (barəzan–) 'ऊँचाई', मज़न् (mazan) 'महत्ता') से सम्बद्ध हैं, किन्तु इस स्थिति में विशेषण रूपों ने त्– का विस्तार ग्रहण कर लिया है, जबकि नपुंसकों ने इसे ग्रहण नहीं किया है।

इन विशेषणों को कभी-कभी वर्तमानकालिक कृदन्त रूपों के उद्भव के रूप में संकेतित किया जाता है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, क्योंकि इस प्रत्यय का वर्तमानकालिक कृदन्तज प्रयोग के रूप में विशेषीकरण प्राचीन होते हुए भी निश्चित रूप में गौण विकास है। हित्ती भाषा के विघटन के समय तक इस प्रत्यय का कर्तृवाच्य वर्तमानकालिक कृदन्त के रूप में सामान्य प्रयोग स्थिर नहीं हुआ था, क्योंकि वहाँ –अन्त्– वाले कृदन्तज रूप शेष भा० यू० में उपलब्ध कर्तृवाच्य अर्थ के विरुद्ध कर्मवाच्य अर्थ का वहन करते हैं : कुनन्त्– (kunant–) 'मारा हुआ', जो संस्कृत घ्नन्त्– 'मारता हुआ' के विरुद्ध है। दोनों ही एक अधिक सामान्य अर्थ 'मारने की क्रिया से सम्बद्ध व्यक्ति' के भिन्न-भिन्न विशेषीकरण हैं। इस प्रकार का सामान्य अर्थ ही वह सब कुछ है, जो किसी विशेषण रूप में आरम्भ में अन्तर्भावित रहता है, और बाद में विशेषीकरण के ग्रहण के द्वारा विविध प्रत्ययों की विशिष्ट प्रक्रियाओं का उदय होता है।

अथिमैटिक वर्तमानकालिक कृदन्त और उन थिमैटिक धातुओं से बने वर्त्तमानकालिक कृदन्तज रूप, जिन पर स्वराघात प्रत्ययांश पर है, प्रत्यय पर उदात्त स्वर का वहन करते हैं : अदन्त्– 'खाता हुआ', तुदन्त्– 'ढकेलता हुआ, प्रेरित करता हुआ', आदि। अन्यत्र यह रूप धातु के नियमित स्वराघात का पालन करते हैं : भरन्त्– 'ले जाता हुआ' जिघांसन्त्– 'मारने की इच्छा करता हुआ', आदि। दुर्बलतम सुवन्त रूपों (विभक्तियों) में उदात्त स्वर प्रत्यय पर परिवर्तित कर दिया जाता है, जिस प्राचीन प्रवृत्ति का सङ्केत प्रायः किया जा चुका है, और ठीक यही बात प्रत्ययांश पर उदात्त स्वरवाले विशेषणों के साथ लागू होती : षष्ठी ए० व० अदतः, बृहतः। प्रथमा ए० व० में –अन्त् अन्तवाले प्रातिपदिक केवल –न् अन्तवाले विशेषणशब्दों से इस बात में भिन्न हैं कि इस विभक्ति रूप का संकेत –स् विभक्तिचिह्न द्वारा किया जाता है, नकि वृद्धि के द्वारा। हित्ती में भी यही बात है, और यह जान पड़ता है कि भारतयूरोपीय के प्राचीनतम युग से ही प्रथमा (कर्त्ता) ए० व० सामान्यतः स्पर्श व्यञ्जन ध्वनियों से अन्त होनेवाले प्रातिपदिकों के विषय में इसी पद्धति से अभिव्यक्त किया जाता था।

–वन्त् प्रत्यय कई कृदन्त रूपों में मिलता है, जो इस उद्भव को अधिक सरल प्रत्ययों के संयोग से निर्दिष्ट करते हैं। कृदन्तज रूप ये हैं : विवस्वन्त्– 'बुद्धिमान्' के साथ ही विवस्वन्त्– भी (: नपुं० विवस्वन्– 'प्रकाश' तथा अवेस्ता संप्रदान रूप वीवङ्हन– (vīvaŋhana–) में साधारण न्–प्रातिपदिक), शश्वन्त्– 'अनेक, सब' (तुल० शशीयः– 'अनेकतर' और शशय– 'प्रचुर', अर्वन्त्– 'तेज, घोड़ा' (: अर्वन्– 'वही'), ऋक्वन्त्– 'स्तोत्र पाठ करता हुआ, पूजा करता हुआ' (: ऋक्वन्– 'वही'), सृत्वन्त्– 'योद्धाओं के एक कबीले का नाम' (: सत्वन्– 'योद्धा'), यह्वन्त् 'युवा, सबसे छोटा' (: यह्व– 'वही',) विवक्वन्त्– 'बोलने वाला, वाग्मी'। ऋक्वन्– ऋक्वन्त्; अर्वन्–, अर्वन्त् का अस्तित्व इस बात का संकेत करता है कि यह प्रत्यय अधिक सरल –मन् प्रत्यय का –त् से युक्त विस्तार है। यह्व : यह्वन्त् में यह विश्लेषण और अधिक पीछे जाता है, और केवल उकारान्त प्रातिपदिक बचा रहता है। अवेस्ता में हमें संस्कृत द्रुह्वन्– 'दुष्ट' के विरुद्ध द्रॅग्वन्त्– (drəgvant–) 'वही' मिलता है, और साथ ही ॲरॅज़ु– (ərəzu–), ॲरॅज़्वन्– (erəzvan–), ॲरॅज़्वन्त्– (ərəzvant–) 'सीधा' जैसी मनोरंजक तिहरी तालिका संकेत करती है कि यह संयुक्त प्रत्यय क्रमिक रूप में किस तरह बना है। अवे० बॅज़्वन्त् (bəzvant–) 'पुष्कल' का संस्कृत बहु– के साथ ठीक वही सम्बन्ध है, जो संस्कृत यह्वन्त्– का यह्व– के साथ। इस तरह के युग्म हित्ती में भी मिलते हैं : दश्शु (daššu)– दश्शुवन्त्– (daššuwant–) बलिष्ठ, स्वस्थ'।

संस्कृत में –वन्त् प्रत्यय का तद्धित प्रत्यय के रूप में बहुतायत से प्रयोग होता है : अश्ववन्त्– 'घोड़ेवाला', केशवन्त्– 'बालोंवाला', पुत्रवन्त्– 'पुत्रवाला' और इसी तरह यह अनियत संख्या में मिलता है। यह प्रयोग ईरानी में भी प्रचुरता से मिलता है, अवे० ज़स्तवन्त् (zastavant) 'हाथोंवाला', अमवन्त् (amavant) 'बलवाला', आदि, और भारत-ईरानी से बाहर ग्रीक में खरिएंइस् (kharíeis), खरिएन्त (kharíenta) (खरिवेंइस्, खरिवेन्त् (°veis, °venta) के लिये) 'कान्तियुक्त, कान्तिवाला', इख्थुओएंइस् (ikhthuóeis) 'मछलियों से प्रचुर', आदि।

ऋग्वेद में –वन्त् प्रत्ययवाले विशेषणेतर रूपों के उदाहरण कभी-कभी मिलते हैं; उदा० के लिये अश्ववन्त्– कभी-कभी विशेषण रूप में न मिलकर भाववाचक समूहबोधक संज्ञा के रूप में मिलता है, जैसे ऋ० १।८३।१, अश्वावति प्रथमो गोषु गच्छति 'वह पहले घोड़ों और गायों (के समूह) में जाता है', जहाँ एकवचन समूहबोधक शब्द ब० व० गोषु से मेल खाता है। ये अवशेष इसलिये बहुमूल्य हैं कि ये इस बात को सिद्ध करते हैं कि सामान्य नियमों के अनुसार सम्बद्ध –वन्त् प्रत्यय वाले नपुंसक शब्दों का प्राचीन वर्ग मूलतः विद्यमान था। हित्ती में नपुं० प्रत्ययों से युक्त गौण रूप परिज्ञात हैं (अन्तुहशश् (antuhšaš) 'मानव' से अन्तुहशतर् (antuhšatar) 'मनुष्यता', आदि), और इस तरह के रूपों को भा० यू० से सम्बद्ध किया जाना चाहिए। इस आधार पर हम एक नपुंसक *अश्ववर् 'घोड़ों का समूह, अश्वधन' का निर्माण कर सकते हैं, जो नपुंसक शब्दों के सम्बन्ध में *अश्ववन्–, अथवा विस्तृत रूप अश्ववन्त्– में सामान्य रूप से विकल्प से परिवर्तित होता रहा हो, और जिसके आधार पर *अश्ववन्त् 'घोड़ेवाला' सामान्य ढङ्ग से बना दिया जायगा। एक दूसरा प्रमाण अवे० कर्शिवन्त् (karšivant–) 'जुताई करने वाला' की तुलना संस्कृत कृषीवल– और कार्षीवण–'वही' के साथ करने से प्राप्त होता है। अन्तिम दो शब्दों के बीच प्रत्यय का परिवर्तन एक प्राचीन परिवर्तनशील नपुं० *कर्षिवर् / न् (karṣivar/n) के द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है, और इससे अवे० कर्शिवन्त् (karšivant–) उसी तरह बनाया गया है, जैसे अश्ववन्त्–।

सामान्य प्रक्रिया के अनुसार –वन्त् प्रत्ययवाले विशेषणों के मूल स्वराघात के प्रत्ययांश पर होने की आशा की जा सकती है। तद्धित रूपों में संस्कृत में यह स्वराघात नृवन्त्– 'मनुष्ययुक्त', पद्वन्त्–'पैरवाला' और नस्वन्त्–'नाकवाला', में मिलता है, जहाँ आदिम प्रातिपदिक एकाक्षर हैं, और कतिपय स्थानों पर आदिम प्रातिपदिक प्रत्यांश पर उदात्त स्वर से युक्त है (किन्तु –अ या–आ से अन्त होने वाले प्रातिपदिक में कभी नहीं), अग्निवन्त्– 'अग्नियुक्त', आसन्वन्त्–

'मुखवाला', आदि। कृदन्त रूपों में केवल बहुत कम स्थितियों में यह उदात्त स्वर को पीछे फेंक देने की प्रवृत्ति –वन् अन्तवाले विशेषणों में दिखाई पड़ी है।

–मन्त् प्रत्यय कृदन्त रूपों में बहुत कम मिलता है, जैसे विरुक्मन्त्– 'कान्तियुक्त', द्युमन्त्– 'चमकदार' (तुल० द्युम्न नपुं० 'चमक'), सुषुमन्त्– 'नम्र, दयावान्' (तुल० सुषुम्न– नपुं० 'नम्रता, दयालुता'), दुस्मन्त्– 'गौरवशाली' (क्रियाविशेषण की तरह प्रयुक्त नपुं० ए० व० केवल दुस्मत्)। आशुमन्त्– 'तेज' (आशुमत् क्रियाविशेषण) का आशु के साथ सम्बन्ध, यह्व– के साथ यह्वन्त्– आदि के सम्बन्ध की याद दिलाता है। अन्यत्र यह ठीक –वन्त् जैसे ही अर्थ में तद्धित प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त होता है। कभी-कभी ये दोनों प्रत्यय एक ही शब्द के बाद प्रयुक्त होते हैं, उदा० अग्निवन्त्– के साथ-साथ अग्निमन्त्–, किन्तु सामान्यतः दो में से केवल एक ही प्रत्यय प्रत्येक शब्द के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है। इस विषय में कोई निश्चित नियम नहीं है कि प्रत्येक प्रत्यय कब प्रयुक्त होता है, सिवाय इसके कि –मन्त् नियमतः उकारान्त प्रातिपदिकों के बाद प्रयुक्त होता है, पशुमन्त्– 'पशुवाला', आदि (प्रायः व् की पुनरुक्ति को हटाने के लिये भी, यवमन्त्– 'जौ से समृद्ध', आदि)। यह नियम मनोरंजक है, क्योंकि ठीक ऐसा ही हित्ती में इससे सम्बद्ध प्रत्ययों के विषय में एश्– (eš–) 'होना', आदि से एशुवर् (ešuwar), अशुवन्ज़ि (ašuwanzi) के विरुद्ध संप्रदान रूप अर्नुम्मर् (arnummar) 'लाने के लिये' वह्नुमन्ज़ि (vaḥnúmanzi) 'लौटाना' सकर्मक और क्रिया के उत्तम पुरुष ब० वचनान्त रूपों में एपवेनि (epweni) 'हम धारण करते हैं' के विरुद्ध अर्नुम्मेनि (arnummeni) 'हम लाते हैं', आदि) में मिलता है। मन्त् प्रत्ययवाले विशेषणों का स्वराघात उन्हीं नियमों का पालन करता है, जो –वन्त् प्रत्ययान्त रूपों में हैं।

१०. रेफान्त तथा नकारान्त प्रातिपदिकों से बने थिमैटिक विशेषणरूप

भारतयूरोपीय में आदिम नपुंसक रूपों से विशेषण तथा कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द बनाने की एक वैकल्पिक पद्धति थी, और यह सामान्यतः समान रूप से प्रयुक्त होती थी। यह स्वराघातयुक्त थिमैटिक स्वरध्वनि का समायोग था। ये व्युत्पन्न रूप उपर्युक्त रूपों के समान अर्थ का वहन करते हैं, और दोनों प्रकार के रूप प्रायः साथ-साथ विद्यमान हैं, उदा० संस्कृत अत्र– 'खानेवाला' : अत्तर– (अत्तृ–) 'वही'; हित्ती वेश्तरश् (veštaraš) 'चरवाहा' : अवे० वास्तर्– (vāstar–) 'वही'; ग्रीक इअत्रोस् (iatrós), इअतेर् (iatér) 'वैद्य'; ग्रीक ज़ेत्रोस् (zētrós) 'जल्लाद' : संस्कृत यातर्– (यातृ–) 'बदला लेने वाला, दण्ड

देनेवाला' (तुल० यातना 'दण्ड, कष्ट' प्राचीन वैकल्पिक नपुंसक को संकेतित करते हुए न् प्रत्यय से युक्त)। इन शब्दों में स्वराघात सामान्यतः प्रत्ययांश पर है, किन्तु यह कभी-कभी प्रकृत्यंश के अक्षर पर स्थानान्तरित कर दिया जाता है : दंष्ट्र- 'डाढ़'। इस प्रकार शब्दों की यह कोटि काफी विकसित हुई है, और प्राचीन नपुं० कोटि के अधिकांश शब्दों के ह्रास के साथ ही -र आदि प्रत्यय मुख्य (कृदन्त) प्रत्ययों के स्वरूप को प्राप्त करने लगे हैं। इस प्रकार के शब्द केवल नपुं० प्रत्ययों -(अ)र्, -(अ)न् तथा मिश्रित प्रत्ययों दोनों के आधार पर बनाए जाते हैं।

(१) -र प्रत्ययवाले रूपों के उदाहरण ये हैं : उग्र- ओजस्वी' (: अवे० अओगर्- (aogar) 'बल', उस्र- 'प्राभातिक, ऊषा की तरह चमकने वाला' (वस्रर्, उषर्- 'उषःकाल'), उद्र- 'जलजन्तु, उदबिलाव' (ग्रीक हुदोर् (hudōr), आदि), अ-वध्र- 'हानि न पहुँचाता हुआ' (वधर् 'चोट पहुँचाता हुआ, शस्त्र'), क्षुद्र- 'छोटा', क्षिप्र- 'तेज', वक्र- 'टेढ़ा', हस्र- 'हँसता हुआ', आदि। एक प्राचीन वैकल्पिक र्/न् नपुंसक प्रातिपदिक का संकेत प्रायः र प्रत्ययवाले इन रूपों के साथ-साथ नकारान्त प्रत्ययवाले रूपों के अस्तित्व के साथ मिलता है, उदा० विप्र- 'प्रतिभाशील' (पीछे हटे हुए स्वराघात के साथ), विपन्या, आदि; तुलनीय क्षिप्र- 'तेज' : क्षेप्नु-, क्षिप्णु-; गृध्र- 'लालची', गृध्नु- 'वही'; धस्र- 'धूसर' : धस्निं- 'छिड़काव करने वाला (बादल)'; श्वित्र-'सफेद' : श्वेतना- 'ऊषा', आदि। केवल कुछ ही उदाहरणों में स्वराघात पीछे फेंक दिया जाता है, और ये मुख्यतः संज्ञा बने विशेषण शब्द हैं : शूर- 'बलवान् व्यक्ति, वीर' (ग्रीक अकूरोस् (ákūros) 'शक्तिहीन') अज्र- 'खेत' (√- अज्-; मूल उदात्त स्वर ग्रीक अग्रोस् (agrós) में है; ग्रीक अगेइरो (ageírō) 'इकट्ठा करना, संग्रह करना' जो एक मूल नपुं० रूप *अगेर् (*ager) से बनाया गया है, तुल० दृग्धर्ति जैसे रूप), वज्र- 'गदा, बिजली की कड़क' (टुकड़े-टुकड़े करने वाला, कुचलने वाला), तु० ग्रीक अग्नूमि (agnūmi), वम्र- 'दूहा, वल्मीक' (अवे० वफ्र- (vafra-) 'बरफ'), तुम्र 'भारतीय बैल का ककुद्' (तुल० लैटिन तुमेओ (tumeō), तुमोर् (tumōr) आदि)।

इस प्राचीन कोटि में परवर्ती स्वराघात के कारण र् के पूर्व की थिमैटिक स्वरध्वनि लुप्त कर दी जाती है। कुछ विशेषण ऐसे भी हैं, जिनमें यह -अ बिना किसी ऐसे लोप के जोड़ दिया जाता है : द्रवर-'बहता हुआ, दौड़ता हुआ', पतर-'उड़ता हुआ', न्योचर- 'योग्य, समुचित', अवर- 'निम्न' (: अवर्), उपर- 'अधिक नजदीक'; वृद्धिवाले रूप वानर- 'बन्दर' (वनर् 'जंगल'), वासर- 'प्राभातिक' (वस्रर् 'तड़के')। र् के पहले पूर्ण स्वरध्वनि वाले ठीक

वही रूप अन्य भाषाओं में भी मिलते हैं, अवे० अदर्– (adara–) 'निम्नतर', उर्वीसर– 'लफंगा, भगोड़ा' उर्वएस्– (urvaēs–), ग्रीक एलेउथेरोस् (eleútheros) 'स्वतन्त्र', आदि। इस तरह के रूप उस समय उत्पन्न हुए होंगे, जब उदात्त स्वर पर संक्षिप्त अनुदात्त अक्षरों का प्रभाव पड़ना वन्द हो चुका था।

भारत-यूरोपीय में –लो अन्तवाले समानान्तर शब्दों की एक कोटि वनायी गयी थी। वैदिक भाषा में –र् प्रत्यय की तरह यह प्रत्यय भी मिलता है। –ल अन्तवाले उदाहरण संस्कृत में हैं, उदा० शुक्ल– 'सफेद' (शुक्र– भी), स्थूल– 'मोटा' (स्थूर– भी), गोपाल– 'गाय चराने वाला', लेकिन संस्कृत में ल् की उत्पत्ति की कोई निश्चित सम्भावना नहीं है।

(२) –वर् / उर् प्रत्ययवाले प्रातिपदिक से : प्रत्यय के सवल रूप से युक्त, भास्वर- 'चमकीला' (*भास्वर् नपुं० 'चमक'), ईश्वर– 'स्वामी', शाक्वर– 'वलवान्', अध्वर– 'यज्ञ' (स्वराघात की दृष्टि से विशेष भूल से सम्वद्ध; तुल० अध्वन्– 'रास्ता'), स्थावर– 'स्थिर' (प्राचीन वैकल्पिक नपुंसक का संकेत करने वाला स्थावन– भी), नश्वर- 'नष्ट होने वाला' ग्युद्वर 'काटने वाला जानवर' ग्रीक एइदर् (eidar) नपुं०), निपद्वर– 'कीचड़', वीच में प्रयुक्त त् प्रत्यय से युक्त, इत्वर– 'जाता हुआ', सृत्वर– 'वही', जित्वर 'जयशील'। वैकल्पिक रूप—वल, विद्वल 'चतुर', (तुल० ग्रीक एइदुलिस् (eidulis) 'वही'), पल्वल– 'तलैया' (तुल० लैटिन पलूस् (palūs) 'दलदल'), और कतिपय गौण (तद्धित) रूपों में, कृषीवल– 'कृषक' (: कार्षीवण- 'वही') ऊर्जस्वल– 'ओजस्वी', परिषद्वल– 'परिषद् वाला, राजा', आसुतीवल– 'सोमरस पीसनेवाला पुरोहित' में मिलता है। एक वृद्धिजनित रूप भार्वर–'भ्रमणशील' (तुल० भुर्वणी- 'वही', और लैटिन फेर्वोर् (fervor), आदि) में दिखाई पड़ता है। ये रूप प्रायः –वन् प्रत्यय से युक्त विशेषणों के साथ-साथ मिलते हैं : ईश्वर– 'स्वामी' : अवे० इस्वन्- (isvan–); इत्वर– 'जाता हुआ' : °इत्वन्–; स्थावर– 'ठहरता हुआ, 'साथ-साथ ठहरे हुए'; पीवर–'मोटा': पीवन्–'वही'। यह सम्बन्ध प्राचीन स्थिर': सुस्थावन् वैकल्पिक नपुंसकों *ईश्वर् / ईश्वन् 'अधिकार' आदि पर आधृत है।

इस प्रत्यय का दुर्वल रूप भासुर– 'चमकीला', छिदुर– 'फटनेवाला' भङ्गुर– 'टूटनेवाला', भिदुर– 'टूटनेवाला', विदुर– 'बुद्धिमान्', मेदुर– 'मोटा', अङ्कुर– 'कली, अँकुआ'; 'सूजता हुआ फोड़ा' (: ग्रीक ओङ्कुलोस् (ogkúlos) 'सूजा हुआ' गर्विष्ठ), *१ छुर– 'छुरा' (ग्रीक ज़ुगोर् (zugór) नपुं०, तुल०

*१. मूल पुस्तक के प्रथम संस्करण में तोखारी के उदाहरण 'ओङ्कोर्नो (oṅkorno)' का भी उल्लेख किया गया है, जो दूसरे संस्करण में नहीं मिलता।

प्रा० स्ला० चेसति (česati) 'बाल सँवारना', आदि) में मिलता है। संज्ञा बने हुए रूप श्वसुर– में स्वराघात सामान्यतः पीछे हटा दिया जाता है; लेकिन ग्रीक हेकुरोस्– (hekurós) का उदात्त स्वर अधिक मौलिक है। पांसुर– 'धूलि-धूसरित' और मधुर– 'मीठा' के अलावा ल् अन्तवाले रूप भी मिलते हैं, पांसुल–, मधुल–, इनके बारे में यह कह सकना सम्भव नहीं है कि कौन-सा रूप मौलिक है। श्मश्रुल– 'मूँछयुक्त' के अलावा श्मश्रुण– भी मिलता है। इस प्रत्यय का दुर्बल रूप –त्र्– के रूप में तीव्र– 'तीखा' में मिलता है।

(३) एक समानान्तर प्रत्यय –इर ; रुधिर– 'लाल' (ग्रीक एरुथ्रोस् (eruthrós), आदि में केवल –र्– प्रत्यय के विरुद्ध), बधिर– 'बहरा' (√ब (न्) ध्– 'बाँधना, बिना कारण बाधा डालना'), मदिर– 'मत्त करने वाला', इषिर– 'ओजस्वी' (: ग्रीक केवल र्– प्रातिपदिक से हिएरोस् (hierós)), शिथिर– 'ढीला', रथिर– 'रथ पर सवार', मेधिर– 'बुद्धिमान्' (पीछे हटाए गए स्वराघात वाला), स्थ्–इर (स्थिर)– 'दृढ़', स्फ–इर (स्फिर–) 'मोटा', रुचिर– 'कान्तिमान्'; अत्यधिक दुर्लभ –इल, तुदिल– 'छिद्रयुक्त', सरिर– के अतिरिक्त सलिल– 'बहता हुआ', नपुं० 'जल' शिथिर– के अतिरिक्त शिथिल–; प्रत्यय के गुणरूप से युक्त (जैसे –वर–, वल) समुष्यल– 'सम्भोग करता हुआ' (सम् + वस्) में मिलता है।

(४) नपुंसक प्रत्यय -मर् से इस प्रकार के कुछ रूप बने हैं : अद्मर– 'पेटू' (*अद्मर् नपुं० 'खाना' को अन्तर्भावित करते हुए), घस्मर 'वही', सृमर– 'तेज चलने वाला जानवर' (तुल० ग्रीक न्– प्रातिपदिक से नामधातु होर्मइनो (hormaínō), पामर– 'खुजली; खिन्न' (साथ ही न्– प्रातिपदिक से पामन्– भी), अश्मर– 'पथरीला' (तुल० अश्मन्, ऊपर § ६); प्रत्यय के दुर्बल रूप वाला शब्द धूम्र– 'भूरा'; ल्– प्रत्ययवाला पक्ष्मल– '(लम्बी) पलकों वाला' (पक्ष्मन्- नपुं० 'पलक') श्लेष्मल– श्लेष्मण– 'कफ से पीड़ित' (श्लेष्मन्– पुँल्लिङ्ग 'श्लेष्मा' वैकल्पिक रूप के साथ,) भीमल– 'भययुक्त।

केवल र् नपुंसकों का विवेचन करते हुए यह देखा गया था कि या तो ये गुणयुक्त (ऊधर्) या त् के विस्तार के द्वारा अनुगत प्रत्ययांश के दुर्बल रूप (यकृत्) में मिल सकते हैं। परवर्ती कोटि के रूप –मर् प्रातिपदिकों के आधार पर बने कुछ शब्दों से निकाले जा सकते हैं : *कर्मृथ–(*कर्मृत् (ह्)– 'काम' + अ– जैसे कपृथ्– में महाप्राणीकरण) से कर्मठ–, उसी तरह नर्मठ– 'विदूषक' और हर्मुट– 'केकड़ा' (*हर्मृत्– अ– 'हर्मृत् वाला अर्थात् 'छत या घोंघा जानवर', तुल० हर्म्य– 'छत' ।

(५) सर्– प्रत्यय वाले प्रातिपदिकों से—कुछ विशेषण रूप बनाए गए

हैं : सुप्सुर– 'किसी की सेवा करता हुआ' (√सप्–), मत्सुर– 'मस्त करता हुआ; मत्त' (तुल० सम्बद्ध सन्– प्रातिपदिक से मन्दसान–, *क्षुत्सर– 'नुकसान पहुँचाता हुआ, काँटा' (अर्शसान– 'चोट पहुँचाता हुआ' से ठीक उसी तरह सम्बद्ध जैसे मत्सर– मन्दसान– से), सम्वत्सर– 'साल', धूसर– 'भूरा', कृसर– 'तिल, चावल आदि से बनाया हुआ खाद्य पदार्थ', कृच्छ्र– 'कष्टदायक, कठिन' (*शायद कृप्स्र के लिये), उक्ष– 'बैल' (*उर्स–, अर्थात् वृषन् के सन् के साथ वैकल्पिक प्रत्यय –स– वाले *वृक्ष– के लिये)।

(६) –तर् प्रत्ययवाले प्राचीन नपुंसकों के आधार पर बने –तर और –त्र प्रत्ययवाले विशेषणरूप हैं। –तर प्रत्यय एक गौण विकास के द्वारा तुलनावोधक विशेषणों के रूप में विशेषीकृत हो गया है, किन्तु कुछ ऐसे प्राचीन रूप हैं, जहाँ यह प्रत्यय इस तरह की प्रक्रिया से युक्त नहीं है, और जहाँ मूल रूप में इस प्रत्यय की अधिक सामान्य प्रक्रिया प्रतीत होती है। उदाहरण के लिये अश्वतर– 'खच्चर' एक ऐसा पशु है, जो घोड़े का काम देता है (*अश्वतर् नपुं०) और ठीक इसी तरह ईरानी कपउतर– (kapautara–) 'कबूतर' (आधुनिक फारसी कबूतर्) एक ऐसा पक्षी है, जो नीले भूरे रंग का है (*कपउतर् (kapautar) नपुं०)। कारोतर– 'छन्नी, चलनी' में *करोतर्– 'छानना' नपुंसक क्रियावोधक संज्ञा शब्द के आधार पर वृद्धिजनित रूप है। यह धातु सामान्यतः इ– स्वरध्वनि के द्वारा विस्तारित मिलता है (ग्रीक क्रिनो (krínō), आदि; आयरिश क्रीअथर्– (kriathar) 'चालना'), किन्तु यहाँ की तरह गॉथिक अन्द्–ह्रुस्कन् (and–hruskan) : तुल० ग्रीक अनक्रिनेइन् (anakrinein)) में उ– स्वरचिह्न से युक्त विस्तृत रूप मिलता है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण वत्सतर– 'सालभर का गाय का बछड़ा' और पीछे हटे स्वराघात से युक्त सनुतर– 'गुप्त' (: सनुतर् क्रियाविशेषण) और दिवातर– 'दिवसीय, दिनसम्बन्धी' विशेषण शब्द अन्तर– 'भीतरी', अन्तर्– 'भीतर' (लैटिन इन्तेर् , आदि) से निर्मित है और यह पुनः भारत–यूरोपीय एन् (en) 'अन्दर' + नपुंसक प्रत्यय –तेर् से बना है। इसी तरह संस्कृत प्रतर– (केवल क्रियाविशेषण में प्रतरम्), अवे० फ्रतर (fratara) 'आगे रहने वाला', ग्रीक प्रोतेरोस् (próteros) 'अगला' प्रो– (pró) से एक मध्यवर्ती *प्रोतेर् (próter) 'अग्रभाग' (क्रियाविशेषण रूप *प्रोतेर् (protér) के द्वारा बना है। इस प्रकार उपसर्गों (पुरःसर्गों) के आधार पर बने विशेषणों की एक कोटि का उदय होता है, जैसे संस्कृत अवतर– 'निचला' (केवल क्रियाविशेषण रूप अवतरम्), उत्तर– 'ऊपरी', अवे० निश्तर– (ništara–) 'बाहरी', ग्रीक प्रोतेरोस् (próteros) 'अगला', हुपेर्तेरोस् (hupérteros) 'ऊँचा',

आदि। ये उपसर्गयुक्त रूप तुलनावोधक अर्थ ('ऊँचा, नीचा', आदि) का वहन करते हैं, किन्तु यह अर्थ प्रत्ययांश से न आकर उस मूल प्रकृत्यंश से आता है, जिसके साथ प्रत्यय जोड़ा गया है। इन रूपों और ऐसे ही दूसरे रूपों जैसे लैटिन देक्स्तर् (dexter), ग्रीक देज़ितेरॉस् (deziterós) 'दाहिना, दाहिनी ओर का', के आधार पर इस प्रत्यय से एक विशिष्ट तुलनावोधक अर्थ का विकास हुआ, जिसके साथ यह भारत-ईरानी तथा ग्रीक में विशेषणों के साथ गौण प्रत्ययों के रूप में जोड़ा जाता है (अन्यत्र वहुत कम उपलब्ध : प्रा० आयरिश लिब्रिथेर् (librither), लेबॅार 'लम्बा' का तुलनावोधक रूप) : आमतर- 'अधिक कच्चा', चारुतर- 'अधिक प्रिय', तवस्तर- 'अधिक वलवाला', आदि : ग्रीक ओमोतेरॉस्- (ōmóteros) 'अधिक कच्चा', कोउफोतेरॉस् (kouphóteros) 'अधिक हलका', आदि। यह तथ्य कि यह प्रत्यय भारत-यूरोपीय में अधिक विस्तृत नहीं हुआ है, इस बात का संकेत करता है कि इसका यह प्रयोग तुलनात्मक दृष्टि से परवर्ती है।

-त्र प्रत्यय में कतिपय विशेषण और विशेषण मूल वाले संज्ञा रूप मिलते हैं : अत्र- 'खाने वाला (अद्- से व्युत्पन्न रूप अत्- त्र के लिये) वृत्र- 'शत्रु; एक असुर का नाम', मित्र- 'दोस्त; किसी देवता का नाम', पुत्र- 'पुत्र' (तु० ऑस्कन पुक्लुन्- 'वचपना', पैलिग्निअन पुक्लॅाइस् (puklois), -क्ल् < त्ल् (-kl < tl-) से युक्त; केवल र्- प्रत्यय से युक्त लैटिन पुएर् (puer) पीछे हटे हुए स्वराघात वाला रूप, दंष्ट्र- 'डाढ़', तरुत्र- 'विजयशील', बिभृत्र- 'जो धारण किया गया, ले जाया गया' (अग्नि)', जोहुत्र- 'जोर से पुकारना', उष्ट्र- 'भारवाहक पशु, ऊँट' आपातत: अनियमित सन्धिवाले वह्- से, तुल० अवे० वश्तर् ; (vaštar) 'भारवारक पशु' = वोढर्-), वृद्धियुक्त, जैत्र- 'विजयशील'; -अत्र कोटि से युक्त, अमत्र- 'हिंसक', यजत्र- 'पूजार्ह'।

(७) संज्ञाओं और विशेषणों के बहुत से रूप -न- से युक्त पाए जाते हैं। उदा० स्तेन- 'चोर', यज्ञ- 'यज्ञ' (ग्रीक हग्नॉस् (hagnós) 'पवित्र, पावन'), घृण- 'उष्णता', नग्न- 'नंगा', उष्ण- 'गरम'; मूल प्रकृत्यंश पर स्वराघात से युक्त श्वित्न- 'सफेद'। इस प्रत्यय का बहुत ही सामान्य प्रयोग कतिपय (करीब सत्तर) धातुओं से निष्ठारूप बनाने के लिये होता है : भिन्न- 'टूटा हुआ' भुग्न- 'झुका हुआ' पूर्ण- 'पूरा', म्लान- 'थका हुआ', आदि।

-अन से युक्त कुछ कर्त्रर्थ संज्ञा शब्द बनाए जाते हैं : करण- 'सक्रिय', त्वरण- 'तेज', क्रोशन- 'चिल्लाने वाला', वचन- 'बोलने वाला', स्वपन- 'सोने वाला', आदि। ये शब्द सामान्य रूप में अपने स्वराघात के द्वारा नपुंसक कर्मबोधक संज्ञा शब्दों की सम्बद्ध कोटि के द्वारा भिन्न कर दिए गए हैं : तुल० करण-

'काम', वचन– 'वाक्य'। जर्मन तथा स्लावी शाखाओं में यह प्रत्यय कर्मवाच्य निष्ठारूपों को उत्पन्न करता है (प्रा० स्ला० नेसेनु– (nesenŭ) 'ले जाया गया, गॉथिक फुल्गिन्स् (fulgins) 'छिपाया हुआ')। कर्ण– नपुं० और कुरण– पुं० में स्वराघात का भेद जर्मन में भी मिलता है, जहाँ धातुज संज्ञारूप शब्द (infinitive) इस नपुंसक कोटि के समान है : गॉथिक फ़िल्हन् (filhan) 'छिपना', फुल्गिन्स् (fulgins) 'छिपा हुआ'।

यद्यपि इन विशेषणों में (जैसा कि ऊपर) स्वराघात की प्राचीन कोटि प्रायः सुरक्षित है, तथापि यह प्रक्रिया टूट रही थी, और खास तौर पर नियत प्रकृत्यंश (धात्वंश) पर उदात्त स्वरवाले प्रथम गण के धातुओं से बने प्रकृत्यंश पर स्वराघात वाले रूप मिलने लगते हैं : जवन– 'जल्दी करता हुआ' (जवति) द्योतन– 'चमकता हुआ' (द्योतते) आदि।

(८) वर– और –उर से मिलते-जुलते थिमैटिक विशेषण प्रातिपदिक नपुंसक वन्– प्रत्यय के आधार पर –वन और –उन इन दो कोटियों के साथ बनाए गए हैं। (अ) वग्वन– 'वातूनी', शुशुक्वन– 'चमकता हुआ', सत्वन– 'योद्धा'; उपसर्गवाले प्रकृत्यंश पर स्वराघातवाले प्रवण–'आगे उतरता हुआ, चढ़ाव', उद्वन– 'उठा हुआ'। (ब) मिथुन– 'जोड़ा' (वैकल्पिक र्– प्रातिपदिक से व्युत्पन्न अवे० मिथ्वर– (miθwara–)), शकुन– 'पक्षी' (√–शक् भविष्यवाणी करता हुआ), अरुण– 'लाल', दारुण– 'भयानक', प्रकृत्यंश पर स्वराघात वाला अर्जुन– 'श्वेत' (ग्रीक अर्गुरोस् (arguros) 'चाँदी' र्– प्रातिपदिक से; तुल० असंयुक्त र्– प्रातिपदिक से विकसित संस्कृत ऋज्र– भी), पिशुन– 'घातकी, धोखेबाज' (तुल० ग्रीक पिक्रोस् (pikrós) 'कड़ुआ, हानिप्रद' केवल र्– प्रातिपदिक से विकसित), तरुण– 'कोमल' (तुल० असंयुक्त न्– प्रातिपदिक वाला ग्रीक तेरेन्– (terén), तेरुस् (térus), असंयुक्त उ– प्रातिपदिक), विपुन– 'विभिन्न'; उपधांश पर स्वराघात वाले रूप धरुण– 'धारण करना', यतुन– 'शक्तिप्रद'।

छिटपुट रूपों में संपूर्ण शब्दों की कोटियाँ पायी जाती हैं : श्रवण– 'लँगड़ा' में –अवन (लैटिन वल्-अउ–दुस्, आदि), लवण– 'खारा'; नपुं० नमक' (*स्लवन (slavana) :: लैटिन सल् (sal)); श्रोण,– श्लोण– 'लँगड़ा', स्योन– 'नम्र, मुलायम, स्वीकार्य', दुरोण– 'मकान' में –ओन प्रत्यय।

(९) –उन के समानान्तर –इन प्रत्यय कुछ शब्दों में मिलता है: वृजिन– 'दुष्ट, टेढ़ा', हरिण–'पीला : हिरन', अमिन– 'अतिशय शक्तियुक्त', आशिन– 'प्राचीन' (√अश्), शाकिन– 'मजबूत'; प्रकृत्यंश पर स्वराघात से युक्त दक्षिण– 'दाहिना'। प्रथम तत्त्व के गुण से युक्त संयोग एन के रूप में केवल

स्त्री० शब्द सामिधेनी (ऋक्) 'अग्निप्रज्वालन से सम्बद्ध' में मिलता है। ईरानी में –अइन प्रत्ययसंयोग प्रचलित है : अवे० इज़एन (izaēna) 'चर्म से बना', द्रवएन (dravaēna), 'लकड़ी से बना', आदि। संस्कृत में इस प्रकार के प्रत्यय से बने कुछ और प्रत्यय हैं, जैसे –एन्य प्रत्ययवाले योग्यार्थक कर्मवाच्य कृदन्त (gerundives) वरेण्य–'इच्छा करने योग्य', ईक्षेण्य– 'देखे जाने योग्य', आदि। इस प्रत्यय की –यन कोटि (तुल० युन, आदि) संस्कृत में नहीं मिलती, किन्तु, यह अवे० अइर्यन (airyana) 'आर्य' में मिलती है। दोनों प्रत्ययों की परिपूर्ण कोटि (–अयन) नहीं मिलती, किन्तु द्विगुणित वृद्धि से युक्त कुछ गोत्रापत्यवाचक शब्द (दाक्षायग–, आदि) इस प्रकार के प्रत्ययों पर आधृत प्रतीत होते हैं। इससे सम्बद्ध रूप अवेस्ता में (उदा० वङ्हुदातयन– (vaŋhudātayana–) वृद्धि से रहित हैं।

(१०) नपुंसक मन्– प्रातिपदिकों से बने विशेषण रूप बहुत कम हैं : निम्न– 'नीच'; नपुं० 'गहराई'; नृम्ण– 'मनुष्यत्व', सुम्न– 'दया' और द्युम्न– 'चमक' जैसे शब्द अपने स्वराघात के कारण मूलतः विशेषणरूप रहे जान पड़ते हैं। इस प्रकार के रूप अन्य भाषाओं में भी प्रचलित हैं, उदा० लैटिन अलुम्नुस् (alumnus) 'धाय के द्वारा पालित छोटा बच्चा' (तुल० अलिमोनेस् (alimōnes), अलिमोनिअ (alimōnia), ग्रीक स्तेरेम्नोस् (steremnos) 'कठोर', –म्न प्रत्ययवाले अवेस्ता आत्मनेपदी (वर्तमानकालिक) कृदन्तज रूप यज़ेम्न (yazəmna–), आदि और गुण से युक्त सम्बद्ध ग्रीक (वर्तमानकालिक) कृदन्तज रूप फेरोमेनोस् (pherómenos), आदि)। ये दो कोटियाँ एक दूसरे से उसी प्रकार भिन्न हैं, जैसे –वन/–उन, –वर/–उर, आदि। वृद्धियुक्त सम्बद्ध संस्कृत कृदन्तज रूपों का विवेचन नीचे किया जायगा।

(११) –स्न् प्रत्यय पर आधृत कुछ थिमैटिक विशेषणरूप हैं; कृष्ण– 'काला' (प्राचीन प्रसियन क़िर्स्न–(kirsna–), प्रा० स्ला० च्रुनु (črunu), श्लक्ष्ण– 'चिकना', अक्ष्ण– 'तिर्यक्' (क्रियाविशेषण अक्ष्णया), तीक्ष्ण– 'तेज, तीव्र', कृत्स्न– 'सब'; विशेषण मूल के कुछ संज्ञाशब्द भी : प्युक्षण– 'धनुष की खोल', हलिक्ष्ण– 'एक प्रकार का जानवर, आँतों का एक विशेष हिस्सा', मृत्स्न– पुं० नपुं० 'धूल, चूर्ण', देष्ण नपुं० 'दान' ('जो कि दे दिया गया है')। प्रत्यय की विभिन्न कोटियों से युक्त, कक्ष्न– 'बाजू', वधस्न पुं० नपुं० 'घातक शस्त्र'; पुषन् के साथ-साथ पूषण– (तुल० सत्वन्– और सत्वन्–), दुवसन– 'दूर जाता हुआ (अथवा ऐसा ही कुछ)'।

(१२) च्यौत्न–'गड़बड़ करता हुआ', नपुं० 'शोषण' (: अवे० श्यओथ्न–

(*šyaoθna*–) के अलावा –त्न और –तन प्रत्यय कालवाचक क्रियाविशेषणों के साथ विशेषीकृत कर दिए गए हैं (तुल० द्वितन– में इसी तरह का –तन का प्रयोग) : नूतन–, नूत्न– 'अधुनातन', प्रत्न– 'प्राचीन', सनातन– 'शाश्वत' अद्यतन– 'आज का', ह्यस्तन– 'बीते कल का', आदि ।

उपर्युक्त उदाहरणों में हमें ऐसे विशेषणों की तालिका मिलती है, जो सभी एक ही प्रकार के विविध र्– और न्– प्रत्ययों के साथ उदात्त स्वर सम्पन्न थिमैटिक स्वरध्वनि के योग से बनाए जाते हैं। यह संकेत किया जा चुका है कि ये प्रत्यय –त् के विस्तार का ग्रहण करने में समर्थ थे, और इस प्रकार के विस्तृत रूप पर आधृत कुछ विशेषण शब्द मिलते हैं। र्– प्रातिपदिक का इस तरह का एक विस्तारित उदाहरण मुहुर् (: अवे० मॅरॅज़ु (mərəzu–) 'कम' समययुक्त) से बना मुहूर्त 'क्षण' है। प्राकृत प्रवृत्ति को प्रदर्शित करने वाले कुछ रूपों कर्मठ–, दुर्घट का संकेत पहले ही किया जा चुका है। त् से विस्तारित न् प्रत्यय से बने कई थिमैटिक शब्द हैं, जो अपने स्वराघात के निर्णय के आधार पर मूलतः विशेषण रूप थे, वसन्त– 'वसन्त ऋतु' (तुल० वसर् (vasar), वेशन्त– 'ताल, तलैया' (√विश् 'जहाँ बरसाती पानी इकट्ठा होता है'), और प्रत्यय की दुर्बल कोटि से युक्त अवट 'कुआँ'। नन्– प्रत्यय पर आधृत रूप हैं : हेमन्त– 'जाड़े का मौसम', सीमन्त– 'बालों की माँग' (: सीमन्– 'वही, सीमा') एवं अश्मन्त– 'अग्नि की जगह'; वन्–/ उन्– पर आधृत, शकुन– के अलावा, शकुन्त– 'पक्षी' (–इ– प्रत्यय वाले शकुनि–, शकुन्ति भी, तुल० शक्वन्–, आदि)। पर्वत– 'पहाड़' में, जिसकी तुलना हम हित्ती पेरुन (peruna–), पेरुवन्त्– (peruvant–) 'चट्टान' के साथ कर सकते हैं, इस प्रत्यय के दुर्बल रूप का एक दूसरा प्रकार (वन्– (wn̥–) मिलता है और, अन्यत्र की तरह, इसमें स्वराघात की प्रतिगामिता भी है। इस तरह के रूप बहुत प्रचलित नहीं हैं, और बहुत प्रारंभिक काल से इनमें से कुछ रूप गलत ढंग से समझे गए हैं, जैसे वे उत्तर पद के रूप में –अन्त 'आखिरी हिस्सा' से युक्त समस्त पद हों। इस कारण इस प्रकार के विभिन्न रूप मिलते हैं : वेशान्त–, सीमान्त–। यह असम्भव नहीं है कि इस तरह के कुछ अन्य आपाततः समस्त पद जो कि केवल परवर्ती रूप में मिलते हैं, उदा० कर्मान्त–'काम, व्यापार' (पालि कम्मन्त–), इस कोटि के बिगड़े रूप हों।

११. प्रत्ययांश पर वृद्धिवाले थिमैटिक शब्दरूप

हम ऊपर देख चुके हैं कि आदिम नपुंसक प्रत्ययों के आधार पर विशेषण और कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द बनाने की दो भिन्न प्रक्रियायें विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त

कुछ रूपों की कोटि ऐसी है, जिसे अपने आप में अलग वर्गीकृत किया जाना चाहिए, क्योंकि ये उपर्युक्त दोनों कोटियों की विशेषताओं से समन्वित हैं। ये रूप सामान्यतः पदान्त अक्षर पर उदात्त स्वरवाले थिमैटिक रूप हैं, किन्तु इसके साथ ही वह प्रत्यय, जिसके साथ थिमैटिक स्वर जोड़ा जाता है, ब्रह्मन्– कोटि के कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों की तरह प्रथमा ए० व० में वृद्धिरूप होता है। इस दृष्टि से ये रूप दोनों प्रक्रियाओं के मिश्रण का प्रतिनिधित्व करते हैं, और ये ब्रह्मन्– कोटि के प्रथमा ए० व० पर आधृत थिमैटिक विस्तार जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए हम वैदिक कुर्मार– 'लोहार' को निम्नलिखित पद्धति से समझ सकते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है हित्ती तथा ग्रीक के साक्ष्य में यह स्पष्ट है कि मन्– प्रत्ययवाले नपुंसक प्रातिपदिक मूलतः –मर् प्रत्यय वाले प्रातिपदिकों के प्रथमा-द्वितीया एकवचनान्त रूपों के साथ विकल्प से परिवर्तित होते थे। हम यह भी देख चुके हैं कि र् और न् अन्तवाले इस सभी नपुंसक प्रत्ययों के आधार पर ब्रह्मन्– शब्द के द्वारा निर्दिशित प्रक्रिया के द्वारा सरल तथा संश्लिष्ट विशेषण और कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द बनाए जा सकते हैं। अधिकांश प्रत्ययों के सम्बन्ध में उदाहरण दिए गए हैं। इस सादृश्य के द्वारा हम *कर्मर्– नपुं० (तिर्यक् रूप कर्मन्–) के आधार पर कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द *कुर्मार्– की कल्पना कर सकते हैं। वैदिक कुर्मार– इस प्रकार के रूप का थिमैटिक विस्तार है, और यह ऊपर बताया जा चुका है कि थिमैटीकरण की यह प्रवृत्ति जो भारतीय-आर्य के परवर्ती इतिहास से परिज्ञात है प्रागैतिहासिक युग में ही सक्रिय हो उठी थी। इस कोटि का दूसरा रूप मार्जार– 'बिलाव' जान पड़ता है, किन्तु र् प्रातिपदिक से बने ये रूप अत्यधिक न्यून हैं। दूसरी ओर न्– प्रत्यय के सम्बन्ध में इस तरह के रूप अधिक प्रचलित हैं, और खास तौर पर संस्कृत में इन्होंने आत्मनेपदी वर्तमानकालिक कृदन्तों को विकसित किया है, जिनसे ठीक मिलते-जुलते कोई रूप अन्य भाषाओं में नहीं हैं।

शुद्ध न्- प्रत्यय से हमें –आन प्रत्यय मिलता है, जो अदान- 'खाता हुआ', दुहान-- 'दुहता हुआ', आदि के ढंग के आत्मनेपदी वर्तमानकालिक कृदन्तों की रचना में प्रयुक्त होता है। संस्कृत अदान– अथिमैटिक लैटिन एंदो–ओनिस्– (edō-ōnis) से सम्बद्ध थिमैटिक रूप है। ठीक इसी तरह का एक अन्य रूप लैटिन कोलोनुस्– (colōnus) है, किन्तु इस तरह के रूप बहुत कम हैं। उपर्युक्त उदाहरणों तथा लिट् लकार के आधार पर बने वर्तमानकालिक कृदन्त रूपों जुबुधान– 'जगता हुआ', आदि—में पदान्त अक्षर पर उदात्त स्वर है, किन्तु अभ्यासजनित वर्तमानकालिक रूपों और सन्नन्त रूपों में पदादि अक्षर पर उदात्त मिलता है।

इस कोटि के अन्य रूप न्यून हैं : समान– 'सदृश, एक सा' गॉथिक सम– (sama) में उपलब्ध जैसे न्– अन्तवाले पुँल्लिङ्ग प्रातिपदिक का थिमैटिक विस्तार (जैसे सम॑न्– नपुं० सम्बद्ध नपुंसक न्– प्रातिपदिक का विस्तार है) और पुराण– 'प्राचीन'।

मन्– प्रत्यय के आधार पर –अमान अन्तवाले आत्मनेपदी वर्तमानकालिक कृदन्त हैं, यज॑मान– 'यज्ञ करता हुआ', आदि। यह मन्– प्रत्ययवाले नपुंसक प्रातिपदिक का वह रूप है, जो थिमैटिक स्वर से युक्त धातु के साथ जोड़ा जाता है : ग्रीक फेरेमेन्– (phéremen) तुमन्त रूप आदि। इस कोटि से सम्बद्ध वृद्धियुक्त पुंल्लिङ्ग शब्द इस तरह के रूपों के द्वारा प्रतिनिहित है, जैसे ग्रीक हेगेमोन्– (hēgemṓn) 'नेता', केदेमोन्– (kēdemṓn) 'ध्यान रखने वाला'। इस कोटि का थिमैटिक विस्तार संस्कृत यज॑मान– कोटि के रूपों को उत्पन्न करता है। उन थिमैटिक तिङन्त रूपों में, जिनके साथ इस तरह का कृदन्त प्रत्यय जोड़ा जाता है, स्थिर धातुज उदात्त स्वर मिलता है। इस तरह के कृदन्तज रूप संस्कृत में विचित्र हैं, क्योंकि कृदन्तों से अत्यधिक घनिष्ठतया सम्बद्ध कोटियाँ (अवे० यज़ॅम्न– (yazəmna–), ग्रीक फेरोमेनोस्– (pherómenos)) ऊपर संकेतित ढंग से भिन्न रूप में बनायी जाती हैं। जैसा कि अन्य रूपों में हुआ है, इस तरह के रूपों ने सादृश्यजनित रूपादान (adaptation) के कारण आत्मनेपदी वर्तमानकालिक कृदन्तों का स्तर ग्रहण कर लिया और यह रूपादान तुलनात्मक दृष्टि से परवर्ती जान पड़ता है, क्योंकि इस प्रकार के कृदन्तज रूप भा० यू० के केवल थोड़े से अंश से ज्ञात हैं।

–असान प्रत्ययवाले रूपों की एक समानान्तर तालिका भी है, जिसमें से अधिकांश प्रच्छन्न वर्तमानकालिक कृदन्त की प्रकृति का वहन करते हैं। इस तरह के रूप हैं : प्रयसान 'दूर तक फैला हुआ', नमसान– 'प्रणाम करता हुआ', भियसा॑न– 'डरता हुआ', मन्दसान– 'खुश होता हुआ', वृधसान– 'बढ़ाता हुआ', शवसान– 'बलवान्', अर्शसान– 'हानि पहुंचाता हुआ', सहसान– 'दबोचता हुआ, दबाता हुआ'। कई दशाओं में इन रूपों के अतिरिक्त –अस्– अन्त वाला नपुंसक प्रातिपदिक मिलता है (प्र॑यस्–, नम॑स्–, शव॑स्–, सह॑स्–)। हम देख चुके हैं कि अस्– अन्त वाले नपुंसक प्रातिपदिक र् / न् के विस्तार का ग्रहण करने में समर्थ थे। इस प्रकार के विस्तार के द्वारा उत्पन्न –सन्– प्रातिपदिक (*नम॑सन्–, आदि) के आधार पर प्रत्यय के वृद्धिरूप और स्वराघात युक्त थिमैटिक ध्वनि के योग की सम्मिलित प्रक्रिया के द्वारा ये विशेषण शब्द निर्मित किए गए हैं। यह भी देखा जायगा कि इन शब्दों का

-सॅन् अन्त वाले तुमन्त रूपों (ग्रीक फॅरॅइन (phérein), अर्थात् (* फॅरॅसॅन् (pheresen), * भॅरॅसॅन् (bheresen)) के साथ ठीक वही सम्बन्ध है, जो भर्साण- और फॅरॅमॅन् (phéremen) के बीच है। किसी हद तक इन रूपों ने वर्तमानकालिक कृदन्तों की प्रकृति को ग्रहण कर लिया है, किन्तु रूपादान की प्रक्रिया अपूर्ण है। -मान अन्त वाले कृदन्तज रूपों के असमान ये रूप किसी तिङन्त मूल से सम्वद्ध नहीं है, और इन्हें स्- लुङन्त रूपों के कृदन्तज रूपों के साथ वर्गीकृत करने की प्रक्रिया इन रूपों के विश्लेषण के सम्बन्ध में गंभीर प्रयत्न की अपेक्षा एक आकस्मिक पद्धति अधिक थी।

ऊर्ध्वसान- 'सीधा' में हम -सान को शुद्ध विशेषण प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त पाते हैं। पालि रक्खितमानसान- 'जिसका मन सुरक्षित है', में इस कोटि का एक रूप वहुव्रीहि समास के लिये एक विशेषण रूप को उपस्थित करने में प्रयुक्त हुआ है।

इसी तरह के प्रत्यय अन्य संयुक्त न्- प्रत्ययों के आधार पर बनाए जाते हैं :—'भृगवान- चमकता हुआ', वसवान- 'धनवान्' और व्यक्तिवाचक संज्ञाओं अप्नवान- एवं पृथवान- में √-अवान- प्रत्यय; तूर्वयाण- 'विजयी' और हर्याण- नपुं० में -अयान- प्रत्यय। इसीसे दशम गण तथा णिजन्त क्रिया रूपों से पुराणों की भाषा में वनाए गए -अयान- प्रत्ययवाले आत्मनेपदी वर्तमानकालिक कृदन्त रूप चिन्तयान, पालयान आदि सम्बद्ध हैं। यद्यपि ये रूप न तो वैदिक भाषा में ही मिलते हैं और न शास्त्रीय संस्कृत में ही विहित हैं, तथापि ये एक प्राचीन विभाषागत प्रकृति रहे होंगे।

१२. र् और न् प्रत्यय के विभिन्न विस्तार

ऊपर वर्गीकृत थिमैटिक विशेषणों के स्त्रीलिङ्ग रूपों को बनाने के लिये -आ प्रत्यय नियत रूप से प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त यह कई स्वतंत्र व्युत्पादित रूपों में भी मिलता है। योषणा (एक वार योषना) 'स्त्री' और कन्यना 'लड़की' में यह स्त्रीलिङ्ग न्- प्रातिपदिकों के विस्तार के रूप में मिलता है (योषन्- 'स्त्री', अवे० कइनिन्, कइनीन्- 'लड़की')। कन्यला व्युत्पादित रूप भी मिलता है, जो इस बात का संकेत करता है कि स्त्रीलिङ्ग *कन्यन्-, जिस पर कन्यना आधृत है, मूलतः एक परिवर्तनशील नपुंसक था। अन्य शब्द ऐसे भी हैं, जो विशेषण कोटि के हो सकते हैं, यद्यपि उनसे सम्बद्ध कोई पुंल्लिङ्ग रूप नहीं मिलते, उदा० अष्ट्रा 'अंकुश' (महावत)। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनमें -आ केवल प्राचीन र् तथा न् अन्त वाले नपुंसक प्रातिपदिकों का

विस्तार है, जिनमें अर्थ की दृष्टि से कुछ भी नहीं जोड़ा गया है, उदा० मात्रा 'माप' (* मात्र् + आ) अन्य शब्द सुरा 'नशीला पदार्थ, शराब' धारा '(शस्त्र आदि की) धार', उर्वरा 'उपजाऊ भूमि', (अवे० उर्वरा 'अनाज' : भारत-यूरोपीय का एक प्राचीन र् / न् नपुंसक शब्द आयरिश अर्बोर् (arbor) कर्त्ता, कर्म व० व० अर्बन्न् (arbann) के द्वारा प्रमाणित है), वागुरा 'जाल', तमिस्रा 'अन्धकार', होत्रा 'आहुति'। ठीक इसी तरह की कोटि के शब्द न्-प्रत्यय के आधार पर बनाए गए हैं : तृष्णा 'प्यास', सेना 'सेना', स्थूणा 'थूणी', धेना 'दुधारू गाय'। –अना का कोटि निर्धारण सामान्य है, ये शब्द या तो पदान्त अक्षर पर अथवा उपधा वृत्ति अक्षर पर स्वराघात से युक्त पाए जाते हैं (आकारान्त प्रातिपदिकों के स्वराघात के लिये देखिए आगे §१८) : अर्हणा 'योग्यता', वर्हणा 'ताकत', वधना 'हत्या', वनना 'इच्छा'; असना 'अस्त्र', जरणा 'वृद्धावस्था', द्योतना 'कान्ति', रशना 'लगाम', हसना। –अना प्रत्यय में इन कर्मवाचक संज्ञाओं की तुलना ग्रीक कोटि हेदोने (hēdónē) 'आनन्द' के साथ कीजिए।

–ई और –ऊ प्रत्ययों में इस तरह के शब्द रूप बहुत कम हैं : रात्री– 'रात', तन्द्री– 'सुस्त', नभनू– 'झरना'।

र् और न् प्रत्ययों के साथ इ और उ के योग के द्वारा प्रायः प्रातिपदिक बनाए गए हैं।

(अ) अङ्घ्– र्– इ– (अङ्घ्रि) पुंल्लिङ्ग 'पैर' (तुल० प्रकृत्यंश की विविध कोटियों से विकसित प्रा० स्ला० नोग (noga) 'पैर'), अभ्रि– स्त्रीलिङ्ग 'पाटा, खेत की मिट्टी ढीली करने के लिये प्रयुक्त एक तरह का औजार', अश्रि– स्त्री० 'किनारा, नोक', अङ्गुरि– स्त्री० 'अंगुलि' में –इ प्रत्यय र्– प्रातिपदिकों के विस्तार के रूप में प्रयुक्त है। विशेषण रूप ये हैं : अर्चत्रि–'स्तोत्रपाठ करता हुआ', अत्रि–'खाता हुआ, निगलता हुआ', भूरि–'प्रचुर', शुभ्रि–'सुन्दर', जसुरि–'थका हुआ', दाशुरि– 'पवित्र', सहुरि– 'बलवान्, समर्थ (तु० थिमैटिक प्रत्ययवाले ग्रीक एखुरोस् (ekhurós), ओखुरोस् (okhurós) 'दृढ़'); विशेषण मूल वाले संज्ञाशब्द, सूरि– 'संरक्षक, अभयदाता' (√सू–, जैसे यज्ञ का प्रेरक), वध्रि– 'वधिया बनाया हुआ पशु' (वधर्; ग्रीक एथ्रिस् (éthris) 'वही')।

ठीक इसी तरह –इ प्रत्यय (स्त्री०) श्रेणि– 'पंक्ति', श्रोणि– 'नितम्ब', सृणि– (सृणि–) 'हँसिया', जूर्णि– 'गरमी', ज्यानि– 'नुकसान', ग्लानि– 'मुरझाहट'; (पुं०), घृणि– 'किरण', योनि– 'स्त्री-जननेन्द्रिय' में न्– प्रत्यय के साथ जोड़ा गया है। निष्ठारूप कृदन्त में कर्मवाचक संज्ञा शब्दों की रचना में –न के साथ –नि समान विस्तार के साथ प्रयुक्त विशेषण रूप ये हैं : अग्नि–

'खाता हुआ', वह्नि- 'ले जाता हुआ' (परवर्ती 'आग'), तूर्णि- 'तेज चाल वाला', भुर्णि- 'पालता हुआ' प्रेणि- 'प्यार करता हुआ', पृश्नि- 'चितकवरा' (तुल० थिमैटिक प्रत्ययवाले; ग्रीक पेर्क्नोस्- (perknós) विशेषण मूल का रूप अग्नि- 'आग' । -अनि कोटि के साथ कुछ संज्ञाशब्द इस तरह के भी हैं, जैसे (स्त्री०) द्योतनि- 'चमक' वर्तनि- 'पद्धति', अरणि- 'अग्नियष्टि' (अर्- 'ठीक करना', अररि- 'दरवाजे का पल्ला' में र् परिवर्तनशील है) । विशेषण रूप हैं : तरणि- 'तेज', चरणि 'चलते हुए', आदि । समस्त न्- प्रत्ययों से बनाए गए ठीक वैसे ही शब्दरूप हैं : ह्रादुनि- स्त्री० 'विजली', तुविष्वनि- 'शक्तिवान्' (गौण रूप में प्रयुक्त प्रत्यय -वनि), अरत्नि पुं० 'कोहनी, आधा गज का माप', इष्टनि- 'अग्नि की उपाधि', तुर्वणि- 'जीतता हुआ', भुर्वणि- 'विवादग्रस्त', शुशुक्वनि- 'चमकता हुआ', पर्षणि- 'हटा ले जाना', सक्षणि- 'कब्जा करता हुआ', चर्षणि- 'सक्रिय'; अधिक समय तक जो स्पष्ट विकास वाले नहीं थे, ऐसे शब्द : वृष्णि- 'मेढा', पार्ष्णि- स्त्री० 'एडी' (ग्रीक प्तेर्न (ptérna), आदि) ।

(ब) उ- प्रत्यय र्- के साथ संयुक्त होने पर प्रासंगिक नपुंसक संज्ञाशब्दों को उत्पन्न करता है, अश्रु- 'आँसू' (तोखारी अ आक्रर् (ākär), व० व० आक्रुन्त्- (ākru-nt), श्मश्रु 'मूँछ', और कुछ विशेषण रूप धारु 'स्तनपान कराती हुई' (ग्रीक थेलुस्- (thēlus) 'स्त्री'), भीरु- 'डरपोक', पतरु- 'उड़ता हुआ'; न्- के साथ संयोग होने पर विशेषण मूल के कतिपय विशेषण तथा संज्ञारूप : धृष्णु- 'साहसी', गृध्नु- 'लालची', सूनु- 'पुत्र', धेनु- स्त्री० 'गाय', भानु- पुं० 'प्रकाश, किरण' । त्नु- और -स्नु संयोग विशेषण मूल की शब्द रचना में उत्पादनशील थे : कृत्नु- 'सक्रिय', दर्त्नु- 'तोड़ता हुआ', द्रवित्नु- 'दौड़ता हुआ', पीयत्नु- 'धिक्कारता हुआ', स्तनयित्नु- 'मेघगर्जना', कवत्नु- 'कृपण, कम'; वधत्नु- 'हिंसाबुद्धि वाला', जिष्णु- 'विजयशील', चरिष्णु- 'घूमता हुआ', आदि । -वनु संयोग वग्वनु- 'शोरगुल' में दिखाई पड़ता है ।

१३. स् प्रत्यय

नपुंसक प्रत्यय -अस् अन्य प्राचीन नपुंसक प्रत्ययों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित है, और इस प्रत्यय के अधिकांश शब्द अन्य भा० यू० भाषाओं में किसी अन्य प्रत्यय से बने शब्दों की अपेक्षा साक्षात् सम्बद्ध शब्द रखते हैं : इस तरह के शब्द हैं : श्रवस्- 'कीर्ति' (ग्रीक क्लेओस् (kléos), आयरिश क्लु (clú) 'वही', प्रा० स्ला० स्लोवा (slōva) 'शब्द'), जनस्- 'कुल, सन्तति', (ग्रीक गेनोस् (génos), लैटिन गेनुस् ((genus), मनस्- 'मन'

(ग्रीक मॅनोस् (ménos) 'आत्मा') हरॅस्– 'गर्मी' (ग्रीक थॅरोस् (théros) 'ग्रीष्मऋतु'), नभॅस्– 'बादल-आकाश' (प्रा० स्ला० नॅबो (nebo), हित्ती नॅपिश्– (nepiš–), अर्शॅस्– 'बवासीर' (ग्रीक हॅल्कोस् (hélkos) लैटिन उल्कुस् (ulcus) 'घाव'), वचॅस्– 'वचन' (ग्रीक वॅपोस् (vepos), एॅपोस् (épos), सदॅस्– 'आसन' (ग्रीक हॅदोस् (hédōs), पसॅस्– 'पुरुष जननेन्द्रिय' (ग्रीक पॅओस् (péos), एधॅस्– 'इन्धन' (ग्रीक अइथॅास् (aithos) 'जलता हुआ'), सहॅस्– 'बल' (गॉथिक सिगिस् (sigis) 'विजय'), अपॅस्– 'काम' (लैटिन ऑपुस् (opus), अनॅस्– 'छकड़ा' (लैटिन ऑनुस् (onus) 'बोझ'), वनॅस्– 'आनन्द, इच्छा' (लैटिन वेनुस् (venus) । प्रायः प्रयुक्त इस प्रत्यय के अन्य उदाहरण हैं : तपॅस्–'उष्णता', प्रचॅस्–'आनन्द', तेजॅस्– 'चमक, तेज', दोहॅस्– 'दुहना', करॅस्– 'कृति', हेपॅस्– 'चोट, नुकसान' (हिंस्–), आदि।

सामान्य कोटि नपुंसकों के नियत प्रकृत्यंश वाले उदात्त और साथ ही प्रत्ययांश के गुणीभाव का वहन करती है। (यकृॅत्, यक्नः की तरह का) सुबन्त रूपों में स्वराघात परिवर्तन छोड़ दिया गया है, और सभी विभक्ति रूपों में स्वराघात प्रकृत्यंश पर ही रहता है। अपश्रुति की कई कोटियाँ मिलती हैं, जैसे (१) आगॅस्– 'पाप' (ग्रीक अग्नॅास् (ágnos), आपॅस्– 'काम' (प्रायः अपॅस्–), वासॅस्– 'पोशाक', वाहॅस्–'देना', पाजॅस्– तरफ, सतह' में प्रकृत्यंश पर वृद्धि; (२) उरॅस् 'छाती', शिरॅस्– 'मस्तक', जुवॅस्– 'तेज गति' (जवॅस्– भी), मृधॅस् 'घृणा, तिरस्कार', दुवॅस् 'देना' में प्रकृत्यंश की दुर्बल कोटि; (३) योस्– 'कल्याण' (अवे० यओश् (yaoš–), लैटिन यूस् (iūs), दोॅस् (dós) 'भुजा' में प्रत्यय का समाहार। ये विविध रूप इस बात का संकेत करते हैं कि एक समय इन रूपों में अपश्रुति की प्रक्रिया सक्रिय थी, यद्यपि अधिकांश स्थलों में यह हटा दी गयी है। प्रकृत्यंश के दुर्बलीकरण वाली कोटि मनोरंजक है, क्योंकि इसकी व्याख्या तिर्यक् विभक्ति-रूपों के मूल विभक्त्यंशवाले स्वराघात से ही की जा सकती है। सुबन्त विभक्तिरूपों में स्वराघात के इस परिवर्तन के बहुत न्यून उदाहरण मिलते हैं, उदा० भियस्– 'डर' (स्त्रीलिङ्ग में परिवर्तित), तृतीया ए० व० भीषा (भियसा के अतिरिक्त)।

इस प्रत्यय से करीब पचीस चतुर्थी–तुमन्त रूप बनाए गए हैं। इनमें कभी-कभी तो प्रकृत्यंश पर स्वराघात पाया जाता है, अयॅसे– 'जाने के लिये, चक्षॅसे 'देखने के लिये', धायॅसे 'पालने के लिये'; पर अधिकतर सामान्यतः प्रत्ययांश पर ही पाया जाता है ऋचसे 'स्तुति करने के लिये', चरसे 'घूमने के लिये', जीवसे 'जीने के लिये', दोहसे 'दुहने के लिये', भोजसे 'भोगने के लिये, शोभसे

'सुशोभित होने के लिये', स्पृधसे– 'उद्यम करने लिये', आदि। (इस अनियमित स्वराघातप्रक्रिया का उद्गम, जो कि अस्– प्रातिपदिकों के सामान्य तथा नियत प्रकृत्यंश के स्वराघात एवं तिर्यक् विभक्तियों में मूल विभक्त्यंश पर स्वराघात— दोनों के विरुद्ध है, जरा भी स्पष्ट नहीं है।)

इस बात का संकेत किया जा सकता है कि यह प्रत्यय अन्य प्रकार के तुमन्त शब्दों में बार-बार प्रयुक्त है : दावने 'देने के लिये', विद्मने– 'जानने के लिये'। स्– प्रत्यय पर आधारित बहुत कम चतुर्थी तुमन्त रूपों में मूल प्रकृति और प्रत्यय दोनों के समाहार वाला विभक्त्यंशगत स्वराघात मिलता है। जिषे 'जीतने के लिये', √स्तुषे 'प्रार्थना करने के लिये।'

सप्तमी विभक्ति के सुप् प्रत्ययांश से सम्बद्ध सामान्य स्वराघात उपसि 'गोद में' (केवल इसी रूप) में उपलब्ध है, तुल० अवनि आदि। पुरः 'सामने, आगे, तिरः 'पार' और मिथः 'परस्पर'; तुल० अवर्, आदि में सम्बद्ध क्रिया-विशेषणगत स्वराघात पाया जाता है।

–अस् प्रत्यय में कर्मबोधक संज्ञाशब्दों के सम्बन्ध में लिङ्गपरिवर्तन के कुछेक उदाहरण मिलते हैं। इस तरह के उदाहरण हैं, (पुल्लिङ्ग) तवस् 'शक्ति' (साथ ही 'बलवान्' विशेषण) स्त्री० जरस् 'बुढापा', भियस् 'डर' और उषस् 'उषःकाल' (तुल० ग्रीक ऐओस् (ēōs) । ये मुख्यतः मानवीकरण के कारण मिलते हैं। यह परिवर्तन विशेषणगत स्वराघात के ग्रहण से सम्बद्ध है (जैसे ऊपर भूमन् 'प्रचुरता', आदि में)।

यह नपुंसक प्रत्यय आरम्भिक युग से ही नपुंसक र् और न् प्रत्ययों के योग के द्वारा विस्तारित किए जाने में समर्थ था। इसके उदाहरण (शीर्ष्णः, दोष्णः, षष्ठी ए० व०, आदि), इस प्रकार के प्रातिपदिकों से व्युत्पन्न रूपों (मत्सर–, मन्दसान–, आदि) के साथ ऊपर दिए जा चुके हैं। इसे अन्य प्रत्ययों के साथ भी जोड़ा जा सकता है, जिससे विविध संयुक्त प्रत्ययों का विकास होता है, उदा० : –रेतस् 'वीर्य, बीज', स्रोतस्–'झरना' (स्रवत् में केवल त्– प्रातिपदिक पाया जाता है) में तस्; रेक्नस्– 'दाय, संपत्ति', अप्नस्– 'धन', अर्णस्– 'बाढ़' में नस्, और इ और ई के द्वारा अग्रगत, द्रविणस्– 'संपत्ति', परीणस्– 'बहुलता'; दक्षस्– 'चतुरता, दक्षता' (दशस्–यति में केवल –अस्) और पक्षस्– 'पक्ष, तरफ' (पाजस् में केवल –अस्) में –सस् (प्रत्यय की आवृत्ति) ; पीवस्– 'मोटा', वरिवस्– 'विस्तार' में –वस्। यह परवर्ती संयोग सामान्यतः –उष् के दुर्बल रूप में मिलता है : अरुष्– 'चोट', आयुष्– 'उम्र', तपुष्– 'उष्णता', तरुष्– 'विजय', यजुष्– 'यज्ञसम्बन्धी वैदिक गद्य', वपुष्– 'सौन्दर्य', परुष्– '(पौधों की) गाँठ', धनुष्– 'धनुष'। एक वैकल्पिक

न्- विस्तार धन्वन्- 'धनुष्' और पर्वन्- 'पोर' में मिलता है, और केवल उकारान्त नपुंसक प्रातिपदिक आयु भी आयुष्- के साथ-साथ मिलता है (तुल० अरुन्तुद्- में अरु- भी)। इसी तरह इ- प्रत्यय के साथ संयुक्त प्रत्यय -इष् को उत्पन्न करने के लिये -स् जोड़ा जाता है। इन नपुंसक संज्ञाशब्दों में से ज्योतिष्- 'प्रकाश', आमिष्- 'कच्चा मांस' और व्यथिष्- 'क्षुब्धता' सामान्य नियम के अनुसार प्रकृत्यंश पर स्वराघात का वहन करते हैं। शेष रूपों में मूल स्वरप्रक्रिया गड़बड़ा दी गयी है और वे प्रत्ययांश पर स्वराघात से युक्त मिलते हैं : अर्चिष्- 'ज्वाला' (स्त्रीलिङ्ग में परवर्तित रूप भी), छर्दिष्- 'संरक्षण, आवरण', बर्हिष्- 'शय्या, भूसा' (अवे० बरॅज़िश् (barəziš), रोचिष्- 'प्रकाश', वर्तिष्- 'पगडण्डी, चिह्न', शोचिष्- 'ज्वाला', सर्पिष्- 'घी' (केवल स्- प्रातिपदिक वाला ग्रीक एल्पोस् (élpos),), हविष्- 'आहुति', क्रविष्- 'कच्चा मांस' (अक्रविहस्त 'जिसके हाथ रक्तमय नहीं हैं' में केवल इ- प्रातिपदिक तुल० साथ-साथ क्रव्य-, लिथु० क्रउयस् (kraũjas), आदि)।

-अस् अन्तवाले नपुंसक प्रथमा ए० व० के वृद्धिरूपों के साथ प्रत्ययांश पर स्वराघात की सामान्य प्रक्रिया के द्वारा विशेषण और कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों के रूप में परिवर्तित किए जा सकते हैं। अपस्- 'काम' : अपस्- 'क्रियाशील'; तरस्- 'तीव्रता, शक्ति' : तरस्- 'वेगवान्, तीव्र'; यशस्- 'सौन्दर्य, गौरव, कीर्ति' : यशस्- 'सौन्दर्यशाली'; त्यजस्- 'छोड़ते हुए, किसी चीज को चले जाने देना : त्यजस्- 'संतति'; महस्- 'महत्ता' : महस्- 'बड़ा, महान्', रपस्- 'चोट, हानि, नुकसान' . रक्षस्- 'राक्षस'; दुवस्- 'पूजा', दुवस्- 'पूजा करना' इन शब्दरूपों के सम्बन्ध में नपुंसक और विशेषण कोटियाँ साथ-साथ मिलती हैं। विशेषण शब्दरूपों के अन्य उदाहरण ये हैं, तवस्- 'वलवान्', तोशस्- 'प्रदान करते हुए', ध्वरस्- 'ठगना', यजस्- 'पूजा करना' और वेशस्- 'पड़ोसी'। इसी तरह के परस्पर विरोधी शब्दरूप ग्रीक में भी मिलते हैं : फ्युदोस् (pheũdos) 'मिथ्या, झूठ' : फ्युदेस् (pheudés) 'झूठा', आदि।

संयुक्त प्रत्यय -वस् से बने कुछ विशेषण रूप हैं। इन दो कोटियों की सामान्य विरोधिता एक ओर नपुं० वरिवस् 'विस्तार' और दूसरी ओर पुंल्लिङ्ग अक्रिवस्- 'आदी होना, परिचित' की तुलना से ज्ञात होती है। इस कोटि के रूप में मीढ्वस्- 'उदार' दाश्वस्- 'पूजा करता हुआ' और सह्वस्- 'जीतना' में दिखाई देते हैं, जो निष्ठा प्रत्ययों की तरह विभक्त्यंश का ग्रहण करते हैं। दूसरी ओर ऋभ्वस्- 'कुशल' और शिक्वस्- 'वही' रूप और स्वरप्रक्रिया की दृष्टि से सहजीवी -वन् प्रातिपदिकों के द्वारा प्रभावित हैं। संस्कृत में वन्- और

–वस् इन विशेषण प्रत्ययों के बीच एक विशेष सम्बन्ध है, क्योंकि परवर्ती प्रत्यय पूर्ववर्ती प्रत्यय वाले प्रातिपदिकों के सम्बोधन एकवचन को बनाने में प्रयुक्त होता है ऋतावः, विभावः, आदि; इसी तरह वन्त्– प्रातिपदिकों के : रयिवः, भगवः, शचीवः, आदि)। अवेस्ता में हमें यह प्रत्यय वन्त्– प्रातिपदिकों के प्रथमा ए० व० के बनाने में प्रयुक्त मिलता है, अमवन्त्– 'बलवान्' का प्र० ए० व० अमवाँ (amavå̊)।

उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त विशेषणात्मक –वस् प्रत्यय निष्ठारूपों की रचना में विशेषीकृत कर दिया गया है : चक्रिवस्– 'किया हुआ', जिगीवस्– 'जीता हुआ', तस्थिवस्– 'ठहरा हुआ', बभूवस्– 'हुआ', शुश्रुवस्– 'सुना हुआ', आदि। ये प्रातिपदिक विभक्तिरूपों में एक प्राचीन अपश्रुति का संकेत करते हैं, यद्यपि तिर्यक् रूपों में इसको उत्पन्न करने वाला मूल विभक्त्यंश वाला स्वराघात परित्यक्त कर दिया गया है (*तस्थुषः के लिए प० ए० व० तस्थुषः)।

विशेषण प्रत्यय –वस् –उ के विस्तार को ग्रहण में समर्थ था (तुल० ऊपर वग्वनु; –वन् का एक समानान्तर विस्तार)। उदाहरण हैं : विभावसु– 'चमकदार' और शचीवसु– 'शक्तिशाली', जो कि उपरिसंकेतित सम्बोधन रूपों में पाए जाने वाले वस्– प्रातिपदिकों पर आधृत हैं। *विद्वसु के लिये पाली विद्सु– 'विद्वान्' से तुलना कीजिये।

विशेषणात्मक –वस् प्रत्यय का इन निष्ठारूपों की रचना में विशेषीकरण सम्बद्ध संयुक्त नपुंसक प्रत्यय से बने उन रूपों से पूरी तरह अलग करने में परिणत हुआ है, जो प्रायः, जैसा कि हम देख चुके हैं, –उष् रूप का ग्रहण करते हैं। फलतः जब इन सब विशेषणों की आवश्यकता होती है, तो यह रूपपरिवर्तन के बिना ही केवल नपुंसकों के ग्रहण के द्वारा पूरी कर ली जाती हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है (§ ८), इस प्रक्रिया की समानान्तर प्रक्रिया अन्यत्र भी है और यह प्राचीन है, यद्यपि सामान्य प्रक्रिया के प्रचलन में कम उपलब्ध है, उदाहरण ये हैं : चक्षुष्– 'आँख; देखता हुआ', वपुष्– 'आश्चर्य; आश्चर्यजनक', तपुष्– 'उष्णता; देदीप्यमान, प्रखर'; सम्बद्ध नपुंसकों से रहित शब्द, नहुष्– 'पड़ोस', मनुष्–'आदमी', और प्रत्ययांश पर स्वराघात वाले, पर जिनमें सम्बद्ध कोटि-निर्धारण नहीं हैं, वनुष्– 'उत्सुक', जयुष्–'विजयशील' और दक्षुष्– 'लौ वाला'।

एक अन्य विशेषणात्मक प्रत्यय –यस् है, जिसने ठीक इसी तरह प्राचीन विशेषीकरण को ग्रहण किया है, और जो –इष् प्रत्ययवाले नपुंसकों से पूरी तरह अलग हो गया है। यह संस्कृत में तथा दूसरी भाषाओं में तुलनाबोधक विशेषणों के बनानेमें प्रयुक्त होता है। उदाहरण हैं : नव्यस्–'ज्यादा नया', पन्यस् 'अधिक

१३ सं०

आश्चर्यजनक', भूयंस्– 'ज्यादा', रभ्यंस्– 'अधिक हिंस्र', वस्यंस्– 'अधिक अच्छा', सह्यंस्– 'ज्यादा बलवान्', सन्यंस्– 'अधिक पुराना', तव्यंस्– 'अधिक मजबूत' । इसी तरह अवेस्ता में स्पन्यह्–'ज्यादा पवित्र', तँश्यह्– (tašyah) 'अधिक मजबूत', आस्यह्–'अधिक तेज', आदि रूप पाए जाते हैं । यह रूप अवेस्ता में नियमित हैं, किन्तु संस्कृत में यह रूप उस रूप की अपेक्षा बहुत कम प्रचलित है, जिसमें –यस् प्रत्यय सीधे प्रकृत्यंश में न जोड़ा जाकर प्रकृत्यंश और उसके साथ जुड़े हुए –ई प्रत्यय के बाद जोड़ा जाता है : कनीयंस्– 'छोटा' (तुल० षष्ठी ब० व० कनी–नृ–आम्) भद्रीयस्–'अधिक नया', म्रदीयस् 'अधिक मुलायम', प्रथीयस्– 'अधिक चौड़ा, विशाल', वरीयस्– 'अधिक विस्तृत' (तुल० वर्–ई–मन् 'चौड़ाई'), तरीयस्–'बहुत तेज' (तुल० तरी–षणि तुमन्त), रघीयस्– 'ज्यादा तेज', महीयस्– 'अधिक बड़ा', स्थवीयस्– 'अधिक दृढ़' (तुल० अवे० रन्ज्यह्–, मज़्यह्–, स्तओयह्–) । स्वराघात और अपश्रुति दोनों की दृष्टि से ये सभी रूप (प्रकृत्यंश की दुर्बल कोटि के भूयंस्– के अतिरिक्त) अधिकतर नपुंसक कोटियों के अवशेष हैं (तुल० वरीमन्–, वरिवस्–, वरीयस्) । इसका कारण स्पष्ट नहीं है, किन्तु इनके उद्भव के सम्बन्ध में इसका कुछ महत्त्व अवश्य होना चाहिए ।

इटैलिक और केल्टिक में सम्बद्ध तुलनाबोधक रूप विद्यमान है : लैटिन सेनिओर् (seniōr), प्रा० आयरिश सिनिउ (siniu) (भारत-यूरोपीय *सेन्योस् (senyōs) 'प्राचीनतर' । प्रकृत्यंश की ए– कोटि और प्रत्ययांश की ओ– कोटि उस स्वराघात को संकेतित करती है जो संस्कृत से अभिन्न है। ग्रीक में कई अवस्थाओं में यही प्रत्यय प्रयुक्त होता है : ऐलस्सो (elássō) (*ऐलख्स्–योस्–अ (*elakh-yos-a)) कर्म, ए० व० ऐलस्सोउस् (elsásous) ऐलख्स्–योस्–यस् (*elakh-yos-es) कर्त्ता ब० व०; परन्तु अन्य दशाओं में –यान्– प्रत्यय इसी प्रक्रिया के साथ प्रयुक्त मिलता है : ऐलस्सोन् (elássōn), ऐलस्सोनोस् (elássonos), आदि । संस्कृत की तरह ग्रीक में भी ई प्रत्यय तुलनाबोधक प्रत्ययों के पहले प्रकृत्यंश और प्रत्ययांश के बीच जोड़ा जा सकता है : हेदिओन् (hēdíōn) 'अधिक मधुर' । जर्मन शाखा में एक समस्त प्रत्यय –इस्–ओन् प्रयुक्त होता है : गॉथिक सुतित्सा (sutiza) 'बेहतर', आदि ।

प्रत्यय (–इस् –) का दुर्बल रूप तुलनाबोधक (तरबन्त अर्थ वाले) क्रिया-विशेषणों को बनाता था, उदा० लैटिन मगिस्–'अधिकतर' । यह प्रत्यय अतिशय बोधक (तमबन्त) शब्दों के आधार का भी निर्माण करता है, जो, आगे –थ् प्रत्यय (अन्यत्र –तो भी) जोड़कर बनाया जाता है : कनिष्ठ– 'सबसे छोटा, अल्पतम', जविष्ठ–'अत्यधिक वेगवान्', नेदिष्ठ– 'समीपतम' (अवे० नज़्दिश्त–

(nazdišta–), आशिष्ठ– 'अत्यन्त तेज' (अवे० आसिश्त– (āsišta–)) ओजिष्ठ– 'अत्यन्त ओजस्वी (अवे० अओजिश्त (aojišta–), गरिष्ठ– 'अत्यन्त भारी', आदि। जैसा कि तुलनात्मक (तरवन्त) शब्दों में होता है, अतिशय-बोधक शब्दों में भी स्वराघात नियत रूप से प्रकृत्यंश पर पाया जाता है और अपश्रुति भी तदनुरूप होती है। इस तरह के अतिशयबोधक शब्दरूप ग्रीक (हेदिस्तोस् (hédistos)=स्वादिष्ठ–'मधुरतम, आस्वाद युक्त') और जर्मनिक (गाँथिक फ्रुमिस्त्स् (frumists) 'पहला' आदि) में पाए जाते हैं।

अन्य नपुंसक प्रत्ययों की ही तरह नपुंसक स्- प्रत्यय के साथ स्वराघात-युक्त थिमैटिक स्वरध्वनि जोड़कर विशेषण कोटि के विशेषणशब्द और संज्ञा शब्द बनाए जा सकते हैं। ये शब्द सामान्यतः दो प्रकार के हैं: अनुगामी स्वराघात के कारण प्रत्ययांश के समाहार से युक्त –स वाली एक प्राचीन कोटि; और प्रत्ययांश पर गुण वाले नपुंसक अस्– प्रातिपदिकों से बनायी गई –अस वाली अधिक आधुनिक कोटि, इसी तरह की संघटना के कुछ अन्य प्रत्ययों के असदृश, –स प्रत्यय न तो कभी बहुत उत्पादक ही रहा और न स्वतंत्र रूप से किसी हद तक विकसित ही हुआ।

सः* रुक्ष– 'चमकता हुआ' (रोचस्–'चमक'), दृक्ष–'दमक (रुक्ष–के वजन पर* द्युत्स– के लिये; तुल० साथ-साथ अर्वास्तम् के लिए अर्वाक्तम्, आदि), पृक्ष–'पालन-पोषण' (पृच्–'पालन-पोषण', समाहृत स्– प्रातिपदिक, जो स्त्रीलिङ्ग मूल संज्ञा शब्द के रूप में ग्रहण कर लिया गया है), घ्रंस– 'सूर्य का ताप', वत्स– 'बछड़ा' (ग्रीक वेतोस् (vétos) 'वर्ष') वृक्ष– 'पेड़' (वल्श– 'पत्तों का गुच्छा') यक्ष– 'देवयोनिविशेष' (यशस्– 'सौन्दर्य'), शुष– 'मजबूत, शक्ति-वान् (शवस्– 'ताकत, मजबूती'), पक्ष–'तरफ' (पाजस्–'तरफ, सतह'), रूक्ष– 'रद्दी, सूखा' (√–रूष्–), द्रप्स– 'झंडा' (अवे० द्रफ़्श्– (drafša–); तुल० द्रापि– 'ढँकना, ओटना'), द्रप्स– 'परदा' (*द्रब्ज़्ह (*drabžha–), तुल० ग्रीक त्रेफो (tréphō), आदि), ग्रप्स– और ग्लप्स– 'गुच्छा' (*ग्रब्ज़्ह–(grabžha–), √–ग्रभ्– (grabh–), सक्ष– 'अतिसमर्थ' (सहस्– 'बल'), हंस– 'हंस' (ग्रीक खेन् (khén), आदि) (कुछ कम शब्द रूपों में, मुख्यतः भाववाचक शब्द रूपों में, स्वराघात प्रकृत्यंश पर पाया जाता है, अंस– 'कन्धा' (प्रत्ययांश पर गुण से युक्त लैटिन उमेरुस् (umerus), उत्स– 'वसन्त' (ग्रीक हुदोस् (hudos) नपुं०), ऋक्ष– 'भालू' (लैटिन उर्सुस् (ursus), आदि; रक्ष्– 'हानि पहुँचाना'), ऋक्ष– 'तारा' (अर्च्– 'चमकना'), दक्ष– 'चतुर, कुशल' (तुल० दशस्–यति), गृत्स–'पटु, योग्य'।

–अस– : वचस– 'वाग्मी', अञ्जस– 'सीधा', अर्णस– 'वहता हुआ', तमस– 'अंधकाराच्छान्न', नभस– 'मेघाच्छन्न', रजस– 'धूलिधूसरित', रभस– 'जंगली', मनस– 'बुद्धिमान्', उपानस– 'छकड़े के निकट होना', वेतस– 'वाँस, वाँसुरी', चमस– 'प्याला', पीवस– 'मोटा', दिवस– 'दिन', प्रप्युस– '(दूध से) उफनता'

नपुंसक अस्– प्रातिपदिकों के थिमैटिक विस्तार, जोकि र् और न् प्रत्ययों के सम्बन्ध में प्रचलित हैं, अगर विद्यमान हैं भी, तो वहुत कम। यह संभव है कि यवस– (पुँल्लिङ्ग और नपुंसक) इस उद्गम का हो, परन्तु अन्य इस तरह के –अस अन्त वाले जो भी संज्ञा शब्द मिलते हैं, वे पदान्त अक्षर पर स्वराघात का वहन करते हैं, और यह तथ्य ऐसा है, जो उनके विशेषण मूल को संकेतित करता है : अङ्कस– 'पार्श्व, कुक्षि' अवस– 'नाश्ता', अतस– 'झाड़ी', परीणस– 'प्रचुरता'।

वृद्धिवाले विशेषणगत विकास हैं आयस– 'धातु (लोहा) का वना हुआ', वायस– 'कौवा', मानस– 'मन सम्वन्धी' और इसी तरह।

इस्– और उस्– प्रातिपदिकों से वने इसी तरह के विशेषण शब्द रूप हैं : तविष– 'बलवान्', भरिष– 'लालची, लुटेरा', महिष– 'विशाल, भैंसा'; परुष– 'गाँठवाला (जैसे कि वाँस'); कठोर', परुष– 'भूरा, चितकवरा सफेद' (अवे० पोउरुश (pourušа); तुल० अंग्रेजी फैलो (fallow), आदि), अरुष– 'लाल'; वृद्धिवाला रूप वापुष– 'आश्चर्यजनक'। नहुष– 'पडोसी', मनुष– 'आदमी' और वपुष–'अद्भुत' का प्रकृत्यंश पर स्थित स्वराघात इस तथ्य से सम्बन्ध रखता है कि सम्वद्ध –उस् प्रातिपदिक किसी भी तरह के स्वरपरिवर्तन के विना विशेषण रूप में प्रयुक्त होते हैं। इसी तरह का स्वराघात तरुष–'जीतता हुआ' और पूरुष–, पुरुष– 'पुरुष' में (पुरु– 'आदमी' जाति का नाम से सम्वद्ध, जैसे कि मनुष– मनु– से सम्वद्ध) मिलता है।

–ईष और –ऊष (ई/ऊ + स् + अ) अन्त वाले घनिष्ठतया सम्बद्ध कुछ शब्द रूप मिलते हैं। ऋजीष– 'इन्द्र की उपाधि', आङ्गूष– 'स्तोत्र' और नपुंसक पुरीष– 'विष्ठा, मल', करीष– 'सूखा गोवर' तथा पीयूष– 'फेंवस, प्रसूति के बाद का पहला दूध' (तुल० पिप्युषी और ग्रीक पुओस् < *प्यूसोस् (pūos < *pyūsos)। स्– प्रातिपदिकों के साथ कई तरह के प्रत्ययों को जोड़कर बनाए गए विविध शब्द रूप बड़ी संख्या में मिलते हैं। इस तरह के रूप हैं : भीषा– 'डर', मनीषा 'समझ, इच्छा', सवसी 'शक्ति', तविषी 'वही' सरसी– 'झील', प्लुषि– 'पिस्सू', जूँ (√– प्लु–), धासि– 'निवास', सानसि– 'विजयशील', धर्णसि– 'शक्तिशाली', अतसि– 'भिखारी';

दह्वु-, धक्षु- 'जलाता हुआ'; भुजिष्य- 'स्वतंत्र'; तुमन्त दुर्लभ रूप अव्यथिष्यै 'कष्ट न देने के लिये' और रोहिष्यै; मस्तिष्क- 'दिमाग'; नरिष्टा- 'मजाक करता हुआ', उपस्थ- 'गोद' (तुल० उपसि), वनिष्ठु- 'अँतडियाँ' (तुल० जर्मन वन्स्त् (wanst); लैटिन वॅन्तॅर् (venter) में भिन्न प्रत्यय)। -ति प्रत्यय वाला विस्तार अधिकांश उदाहरणों में पाया जाता है : गभस्ति-'हाथ, कर', पलस्ति-'सफ़ेद बालों वाला' (तुल० पलित- 'वही'), पुलस्ति- 'सीधे बालों वाला' (तुल० पुलक- 'रोमांच'), अगस्ति- 'एक ऋषि का नाम'।

इस प्रत्ययसंयोग का विकास स्लावी में भली भाँति हुआ है, जहाँ यह किसी तरह भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण करता है (प्रा० स्ला० द्लुगोस्ति-(dlŭgostĭ) 'लम्बाई', आदि)। हित्ती में भी यह प्रत्यय इसी प्रक्रिया के साथ मिलता है : दलुगश्ति (dalugašti) 'लम्बाई'। दूसरी ओर संस्कृत की तरह लैटिन में भी यह कभी-कभी विशेषण रूप में प्रयुक्त मिलता है : अग्रेस्तिस्-(agrestis) 'ग्रामीण, देहाती' कएलॅस्तिस्- (caelestis) 'दिव्य'। इष्- और उष्- प्रातिपदिकों से भी इसी तरह के विकसित रूप पाए जाते हैं : नविष्टि- 'प्रशंसा-परक स्तोत्र' पनिष्टि- 'प्रशंसा', ततुष्टि- 'फैलाना'।

१४. त् प्रत्यय

उपर्युक्त सामान्य प्रत्ययों में जो प्रक्रियायें है, वैसी ही प्रक्रियाओं के साथ त् प्रत्यय की भी सत्ता रही है, परन्तु एक स्वतन्त्र प्रत्यय की हैसियत से यह बहुत ही दुर्लभ रहा है। इस प्रत्यय में नपुंसक शब्दरूप भी बहुत कम मिलते हैं, क्योंकि स्पर्श व्यञ्जन ध्वनि से अन्त होने वाले हलन्त प्रातिपदिकों को सामान्य लिङ्ग पद्धति में मिला देने की प्रक्रिया बहुत प्राचीन काल से रही है।

एक प्रारम्भिक नपुंसक प्रत्यय के रूप में इसकी मूल प्रक्रिया बहुत स्पष्ट रूप से मालूम पड़ जाती है, जब यह नपुंसक र्- और न्- प्रातिपदिकों के विस्तार के रूप में प्रयुक्त होता है, उदा० संस्कृत में सकृत्, यकृत् और ग्रीक में खॅइम (kheima), सम्बन्ध ए० व० खॅइमतॉस्- (kheimatos) 'जाड़ा' (परन्तु हित्ती गिम्मन्त्-(gimmant) 'जाड़ा' में सम्बद्ध -न्त्- प्रातिपदिक सामान्य लिङ्ग है)। इसी तरह आदिम प्रत्यय त् को, जिसके आधार पर -तृ-अर् प्रत्यय का निर्माण हुआ है, नपुंसक माना जा सकता है। इसके सिवाय विभिन्न भाषाओं में नपुंसक त् प्रत्यय के कुछ छिटपुट उदाहरण अवशिष्ट हैं। संस्कृत पृषत्- 'बूँदकण', उपतपत्- 'बुखार', ग्रीक मॅलि (meli) (*मॅलित् (*melit) के लिये), हित्ती मिलित्- (milit) 'शहद'; ग्रीक गल-

(gála), गलक्तोस्– (gálaktos), लैटिन लक् (lac), लक्तिस् (lactis) 'दूध', लैटिन कपुत्– (caput) 'मस्तक'।

सामान्य लिङ्ग में, कर्मवाचक और भाववाचक संज्ञा शब्द बनाने के लिये, केवल त् प्रत्यय का प्रयोग हित्ती में बहुत अच्छे ढंग से विकसित है, उदा० कर्तिम्मिअत्त्– (kartimmiatt–) 'क्रोध', दुश्करत्त्– (duškaratt–) 'आनन्द'। इस तरह के संज्ञा शब्द अन्यत्र दुर्लभ हैं, पर जहाँ उनका अस्तित्व है वहाँ सामान्यतः उन्होंने स्त्रीलिङ्ग ग्रहण कर लिया है : संस्कृत नक्त्– 'रात', लैटिन नोक्स् (nox), ग्रीक नुज़् (núz); लैटिन क्विएस् (quiēs), सलूस् (salūs), आदि, ग्रीक थेमिस् (thémis), खरिस् (kháris)।

इस तरह के शब्द रूपों के अत्यन्त दुर्लभ होने का कारण यह है कि सामान्य नियम के अनुसार वे केवल त्– प्रत्यय के विस्तारों द्वारा हटा दिए गए हैं, उदाहरणार्थ कर्मवाचक संज्ञा शब्दों के सम्बन्ध में ति के द्वारा और भाववाचक संज्ञाओं के सम्बन्ध में ता के द्वारा। संस्कृत दशति– 'दशक' के साथ-साथ दशत्– 'वही' में हमें अविस्तारित और विस्तारित रूप का उदाहरण एक साथ मिलता है। एक बिलकुल अलग रखा हुआ रूप अवीरत्– 'योद्धाओं का अभाव' (अवीरते– चतुर्थी ए० व० ऋग्वेद ७. १, १९) एक ऐसी कोटि का प्रतिनिधित्व करता है, जो अन्य प्रकार से संयुक्त प्रत्यय ता के द्वारा संपूर्ण रूप से हटा दी गयी है।

संस्कृत में बहुत कम त्–प्रत्ययान्त स्त्री० संज्ञा शब्द मिलते हैं : स्रवत्–, वहत्– दोनों का अर्थ 'झरना', सश्चत्– 'रुकावट, विघ्न', वेहत्– 'ऐसी गाय जिसका गर्भपात हो जाता हो'। इनमें से अन्तिम शब्द आपाततः विशेषण रूप है और अन्य भी हो सकते हैं। एक पुंल्लिङ्ग विशेषण रूप वाघत्– 'पूजक' में दिखाई पड़ता है। यह विशेषण प्रत्यय अन्यत्र भी मिलता है, तुल० लैटिन पेदेस् (pedes) 'पैदल', एक्वेस् (eques) 'घुड़सवार'।

नपात्– 'नाती, पौत्र' में एक वृद्धिवाला रूप मिलता है, जिसकी तुलना ऊपर विश्लेषित इसी तरह के शब्दरूपों के साथ की जा सकती है। यह प्रातिपदिक भी मनोरंजक है, क्योंकि यह विभक्तिगत अपश्रुति की एक प्राचीन कोटि को बनाए रखता है। एक समाहृत कोटि संस्कृत नद्भ्यः चतुर्थी व० व०, अवे० नप्तो– (napto) अपादान ए० व०, नफ़्शु– (nafšu) अधिकरण व० व० (तीन व्यञ्जन कोटियों के समाहार से युक्त) में उपलब्ध होती है। अन्य भाषाओं में विशेषणगत रूपों में प्रत्ययांश पर वृद्धिवाले अन्य उदाहरण भी हैं : अवे० रवस्–चरात्– (ravas-čarāt–) 'समूचे देश में घूमता हुआ', ग्रीक अर्गेस्– (argḗs) 'चमकता हुआ' (अर्गेत् (argḗt)– अथवा अर्गेत्– (argét–)

तिर्यक् विभक्तियों में, तुल० दो शब्दरूप दोतेर– (dotéra) और पोइमेन– (poiména), पेनेस्– (pénēs) 'गरीब', गुम्नेस्– (gumnés) 'हलके शस्त्रों से सुसज्जित सिपाही', लैटिन अरिएस्– (ariēs) 'भेड़' (सम्बन्ध एतिस्– (ĕtis), एँग्लो सेक्सन हेले (hœle) 'वीर, नायक' (ख़लेथ्– (xalép) । ये रूप अन्य प्रत्ययों से केवल इस बात में संयुक्त वृद्धिजनित शब्दरूपों से भिन्न हैं, कि वे प्रथमा ए० व० में –स् विभक्तिचिह्न का प्रयोग करते हैं, जो स्पर्श ध्वनियों से अन्त होने वाले हलन्त प्रातिपदिकों की सामान्य प्रक्रिया है। संस्कृत पदाति– 'पैदल सिपाही' और पत्ति– 'वही', ये दोनों त्– प्रातिपदिक के इ– के योग से विकसित विस्तृत रूप हैं; दोनों भिन्न रूप प्रारम्भिक मूल प्रातिपदिक की विभक्तिगत अपश्रुति से विकसित होते हैं।

एक विशिष्ट दशा में संस्कृत भाषा में त् प्रत्यय निर्माता के रूप में अवशिष्ट रहता है। यह संकेत ऊपर किया जा चुका है (§ २) इ, उ, और ऋ अन्तवाली मूल प्रकृति, अन्य मूलों की तरह, नामिक प्रातिपदिकों के रूप में किसी संयोग के बिना, कार्य निर्वाह नहीं कर सकती है। जहाँ अन्य मूल ऐसा करते हैं, वहाँ वह त् प्रत्ययको बिना किसी हेर-फेर के जोड़ देते हैं : स्तुत्–'प्रशंसा करना', समित्– 'युद्ध', नियुत्– 'समुदाय', वृत्– 'सेना, गण,' रित्– 'झरना', मित्– 'स्थान', हुत्– 'विश्वासघात, प्रतिज्ञाभंग, शत्रु'। ये प्रातिपदिक, मूल प्रातिपदिकों की तरह, कर्मवाचक संज्ञा रूपों (जिस अवस्था में वे स्त्रीलिङ्ग हो जाते हैं) अथवा कर्त्रर्थ संज्ञारूपों की तरह प्रयुक्त किए जा सकते हैं; परवर्ती प्रयोग में ये प्रायः अधिकतर समस्त पदों के परवर्ती अंश के रूप में प्रयुक्त मिलते हैं : देवस्तुत्– 'देवों की प्रार्थना करने वाला', विश्वजित्– 'सर्वविजयी' ज्योतिष्कृत्– 'प्रकाश करने वाला', आदि, आदि। मूल प्रातिपदिकों की तरह इन्होंने विभक्ति में दुर्बल कोटि को सामान्यीकृत कर दिया है।

इस प्रकार त् रूप मूल संज्ञा शब्दों में एक प्रक्रिया का निर्माण करने लगे हैं, क्योंकि उनका प्रयोग अभिन्न परिस्थितियों में हुआ है और अन्य मूलों के सम्बन्ध में वे बिलकुल व्यवस्थित रूप से मूल प्रातिपदिकों का कार्य-निर्वाह करते हैं। यही कारण है कि भारतीय वैयाकरणों ने त् को वर्गीकृत नहीं किया है, जो वहाँ एक सामान्य प्रत्यय– के रूप में उपलब्ध है, बल्कि इसे एक खास संयोग या आगम माना है। त् प्रत्यय अन्य अनेक शब्द रूपों में आगम की इस प्रकृति का वहन करता है, खास तौर पर –य अन्तवाले पूर्वकालिक कृदन्तों में (°दृश्य 'देखता हुआ' के विरुद्ध °जित्य 'जीतता हुआ' आदि), और –वन् अन्त वाले विशेषण रूपों में (यज्वन्– 'यज्ञ करता हुआ, पूजा करता हुआ' के विरुद्ध कृत्वन्– 'क्रियाशील')। इन स्थितियों में भी यह इ, उ और ऋ अन्त

वाले मूलों को सबल बनाने के लिये ही प्रयुक्त मिलता है। हम नीचे यह देखेंगे कि इसी तरह का इ प्रत्यय वाला विकास बहुत बड़ी हद तक हुआ है।

प्रत्यय संयोग –इत् बहुत कम उदाहरणों में मिलता है, योषित्– 'स्त्री', दि्वित्– 'चमक' (जिससे दि्वित्मन्त– 'चमकदार' विकसित हुआ है), स॒रित्– 'नदी', ह॒रित्– 'हरा, पीला', रो॒हित्– 'लाल'। इसमें स्वराघात प्रत्ययांश पर मिलता है, किन्तु यह बात अपश्रुति के अनुकूल नहीं है; तुल० शो॒चिष्– कोटि। विशेषण रूप ह॒रित्– और रो॒हित्– जो निश्चित ही मूलतः प्रकृत्यंश पर स्वराघात का वहन करते रहे होंगे, एक समय ऐसे प्रातिपदिक थे, जिनका प्रयोग समान रूप से संज्ञा और विशेषणों की तरह किया जा सकपा था। इनमें से हरि॑त–और रोहित– विशेषण थिमैटिक विस्तार हैं और ये अपने सामान्य रूपों के मौलिक स्वराघात को सुरक्षित रखते हैं, क्योंकि ये विशेषणों के उस छोटे से वर्ग के रूप हैं, जो ऐसे प्रातिपदिकों की विशेषण प्रकृति के कारण, जिन पर वे आधृत हैं; (तुल० ऊपर वपु॑ष्–,वपु॑ष–) सामान्य विशेषणगत स्वराघात का ग्रहण नहीं करते।

–उत् प्रत्यय म॒रुत्– 'पवन देवताओं के नाम' (*मर्– 'चमकना' : तुल० मरी॑चि– किरण' और ग्रीक मर्मइरो– (marmaírō), अमरुस्सो (amarússō) में मिलता है, ग॒र्मुत्– स्त्री० 'एक तरह का घास', तथा गरुत्॑– जो केवल व्युत्पादित रूप गरुत्मन्त 'पंखयुक्त' में ही उपलब्ध है, में पाया जाता है। इस प्रत्यय की गुण कोटि –वत् पूर्ण भूत (लिट्जनित) कृदन्त रूपों (वि॒द्वद्भ्यः, आदि और प्रथमा– द्वितीया ए० व० नपुंसक (विद्वत्) की मध्यवर्ती विभक्तियों में नियोजित मिलता है। ग्रीक में यह सर्वत्र पुंल्लिङ्ग की तरह प्रयुक्त मिलता है (एइदोस्– (eidṓs), एइदोतोस्– (eidótos), आदि।

इस प्रत्यय से कुछ क्रिया विशेषण बनाए गए हैं : सनत् 'प्राचीन काल का', प्र॒द॒क्षि॒णित् 'दाहिनी ओर चलता हुआ', चि॒कि॒त्वित् 'सावधानीपूर्वक'। इसी तरह अवे० पइत्यओगॅत्– (paityaogət) 'पीछे, पीछे की ओर', आदि। एक क्रियाविशेषण प्रत्यय –तस् ; त्– प्रातिपदिकों के पंचमी एकवचन से लिया गया है। द॒क्षि॒ण॒तः 'दाहिने से' मूलतः द॒क्षि॒ण॒त् –अस् (तुल० इस शब्दों से सम्बन्धित त् प्रत्यय के लिये प्र॒द॒क्षि॒णित्) के रूप में विश्लेषित किया जाना चाहिए था। त् प्रत्यय की इस बढ़ती हुई अप्रयुक्तता (प्रयोग से हटने की प्रवृत्ति) से इस कोटि के रूप द॒क्षि॒ण–तस् आदि के रूप में विश्लेषित किए जाने लगे, और इस तरह गृहीत–तस् पंचम्यर्थ वाले क्रियाविशेषणों की रचना में बहुत ही उत्पादक हो गया : मु॒ख॒तः– 'मुँह से', अ॒ग्र॒तः– 'आगे', स॒र्वतः– 'चारों तरफ', ततः– 'वहाँ से', प॒रितः 'चारों तरफ', आदि।

–त अन्त वाले विशेषण रूप सामान्य प्रचलित तरीके से त्– प्रातिपदिकों के साथ स्वराघात युक्त थिमैटिक स्वर के संयोग द्वारा उत्पन्न हुए हैं; इस तरह, पृषत्– 'चिह्न, बूँद' से पृषत– 'चितकबरा'। चूँकि त्– प्रातिपदिक अधिकतर लुप्त हो गए हैं, ऐसे विशेषण रूप सामान्यतः स्वतन्त्र शब्द रूपों की तरह मिलते हैं। कुछ रूपों में –अत में प्रत्यय दिखाई पड़ता है, उदाहरण दर्शत– 'देखने योग्य' (ग्रीक देर्केतोस्– (dérketos), यजत– 'आराधित करना', भरत– '(पालन करना), अग्नि की उपाधि, एक जाति का नाम' रजत– 'चाँदी' (तुल० अवे० अरॅजत (ərəzata–), अन्य –त के रूप में, तृष्ट– 'दुष्ट, कठोर', श्येत– 'सफेद', अनप्न– 'न भीगा हुआ' (अवे० नप्त– 'भीगा हुआ'), दूत– 'जासूस, सन्देशवाहक', सूत– 'सारथि', नापित– 'नाऊ' (*स्नापित– के लिये, तुल० पालि नहापित–); अन्य अवस्थाओं में इसके आगे कुछ दूसरे प्रत्यय (इ, उ, आदि) मिलते हैं: तिगित– 'तीव्र', पुलित– 'भूरे बालों वाला', असन्युत– 'क्रोधनिर्मुक्त', अद्भुत– 'आश्चर्यजनक', कपोत– 'नीला रंग लिये भूरा; कबूतर'। न् और र् प्रत्ययों के साथ इसके संयोग का संकेत ऊपर भली भाँति किया जा चुका है (वसन्त–, मुहूर्त–)। वर्णबोधक शब्द हरित– और रोहित–, केवल त्– प्रातिपदिकों के विशेषणों के रूप में मौलिक प्रयोग के कारण, प्रकृत्यंश पर स्वराघात का वहन करते हैं। कुछ अन्य उदाहरणों में भी प्रकृत्यंश पर स्वराघात पाया जाता है, असित– 'काला', एत–'चितकबरा' मर्त– 'मरणशील'।

वर्णबोधक विशेषण शब्द स्त्रीलिङ्ग में या तो न्– प्रातिपदिक का प्रतिनिधित्व करते हैं: एनी, श्येनी, हरिणी, अथवा न् को त् के परिवर्तित रूप क् के साथ जोड़ देते हैं: असिक्नी, पलिक्नी। इसमें स्पष्टरूप से एक प्राचीन परिवर्तन के संकेत उपलब्ध हैं, जो र्– और न्– प्रातिपदिकों के परिवर्तन से सम्बद्ध हैं।

इन विशेषणों के अतिरिक्त –त प्रत्यय भूतकालीन कर्मवाच्य कृदन्तों की रचना में विशेषीकृत कर दिया गया है, (यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में भी उपलब्ध है)। पदान्त स्वराघात युक्त अ के पहले प्रकृत्यंश और प्रत्ययांश दोनों का समाहार है (भृत–, जो कि भरत– के विपरीत है), जो अति प्राचीनतम रूपों की विशेषता रही है। इस तरह के कृदन्त रूप बहुत अधिक हैं और इनकी रचना एक ऐसी कोटि को छोड़कर बाकी सब तरह के मूलों से हुई है, जो –न् का ग्रहण करती है: श्रुत– 'सुना हुआ' (ग्रीक क्लुतोस् (klutós), लैटिन इन्–क्लुतुस् (in–clutus), आयरिश क्लोथ् (cloth), स्रुत– 'बहा हुआ' (ग्रीक हृतोस् (hrutós), तत– विस्तारित' (ग्रीक ततोस् (tatós), गत– 'गया हुआ' (ग्रीक बतोस् (batós) 'जिसे

पार किया जा सके'), निक्त– धोया हुआ' (ग्रीक अनिप्तोस् (ániptos) 'न धोया हुआ'), उष्ट– 'प्रज्वलित' (लैटिन उस्तुस् (ustus), वृत्त– 'घूमा हुआ' (लैटिन वोर्सुस् (vorsus (, वेर्सुस् (versus), दृष्ट– 'देखा हुआ' (एँग्लोसेक्सन तोह्र्त (torht) 'स्पष्ट, सफा'), मिष्ट–(भोजन की) 'रुचिकरता' < मिश्–, तुल० लैटिन मिक्स्तुस् (mixtus) ।

अन्यत्र की तरह इस प्रत्यय की विशिष्ट प्रकृति स्वयं प्रारंभ से ही स्वाभाविक नहीं है, अपितु रूपादान से इसने उसे अर्जित किया है । उदाहरणार्थ क्ल्युतो (k̂lutó) का मूल अर्थ, इस कोटि के किसी अन्य विशेषण रूप की तरह, 'ऐसा व्यक्ति जो सुनने से सम्बद्ध है' से अधिक कुछ नहीं है । ग्रीक में अर्थ का विशेषीकरण इतना विकसित नहीं हुआ है, क्योंकि कर्मवाच्य अर्थ के साथ साथ कर्तृवाच्य अर्थ भी प्रायः उपलब्ध है : दुवतोस् (duvatós) 'संभव' और 'योग्य', सुवेतोस् (suvetós) 'समझने योग्य' और 'समझदार, बुद्धिमान्', आदि । संस्कृत में सूत– 'सारथी' ('चालक' अर्थात् '*सू– त्– 'चलाना' के साथ सम्बन्धित पुरुष' सू–, सुवति से विकसित) और नापित– 'नाई' में कर्तृवाच्य अर्थ मिलता है ।

सामान्य –त् प्रत्यय के अत्यन्त दुर्लभ होने का कारण यह है कि साधारणतः ऐसे संयुक्त रूपों ने इसका स्थान ग्रहण कर लिया है, जिनमें त् के साथ एक अग्रिम प्रत्ययजनित तत्व जोड़ दिया गया है । इनमें से अत्यधिक प्रचलित ति– है, जो क्रियागत तत्वों का निर्माण करता है । क्रिया रूपों और 'कर्मवाचक संज्ञाओं को बनाने वाले प्रत्ययों में यह प्रत्यय सर्वाधिक प्रचलित है, और इस प्रत्यय से बने शब्दों में ठोस अर्थ को विकसित करने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत उससे कम पायी जाती है, जितनी वह अन्य प्रत्ययों में पायी जाती है । पूर्ववर्णित प्रत्ययों से बने कर्मबोधक संज्ञा शब्दों के विपरीत, जो कि नपुंसक हैं, ये शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं । इस दृष्टि से वे त्– प्रातिपदिकों का अनुकरण करते हैं, जोकि अधिकांश भा० यू० भाषाओं में स्त्रीलिङ्ग हैं, और हित्ती में सामान्य लिङ्ग हैं । केवल नपुंसक ति– प्रातिपदिकों के परिचायक उपलब्ध संकेत सार्वनामिक रूप हैं, कति 'कितने', तति 'इतने', यति 'जितने' जिनका रूप ऐसा है, पर वे भिन्न प्रकार से कार्य करते हैं । यह स्पष्ट है कि ये प्रातिपदिक सर्वप्रथम हैं, जिन्होंने लिङ्गप्रक्रिया के विकास के साथ ही अपनी सामान्य नपुंसक प्रकृति से कर्मवाचक संज्ञा शब्दों में प्रवेश किया है ।

–इ प्रत्यय के संयोग के द्वारा –त् प्रातिपदिकों के विस्तार की प्रक्रिया इस तरह के युग्मों में देखी जा सकती है, समित्–, समिति–'सभा'; नक्त्–, नक्ति– 'रात'; दशत्–, दशति– 'दशक' ।

इन कर्मवाचक संज्ञा शब्दों के स्वराघात के संबंध में किसी भी प्रकार का नियम नहीं है। यह प्रकृत्यंश पर मिल सकता है, जैसे ऋद्धि– 'सम्पत्ति', गति– 'गति', तुष्टि– 'सन्तोष', धृष्टि– 'दृढता, धैर्य', रति– 'उपभोग' वृद्धि– 'वढना', शक्ति– 'ताकत', शान्ति– 'शान्ति', और कुछ अधिकतर प्रत्ययांश पर : ऊति– 'सहायता', क्षिति– 'निवास', जूति– 'वेग', धीति– 'विचार', पुष्टि– 'सम्पत्ति', भक्ति– 'विभाग, हिस्सा', भृति– 'पालन-पोषण', मति–'विचार', स्तुति–'प्रशंसा'। जैसा कि आगे वताया जायगा, स्वराघातीकरण में नियम का यह अभाव ही केवल इ– प्रातिपदिकों की भी विशेषता है । ग्रीक में स्वराघात सामान्यतः प्रकृत्यंश पर पाया जाता है, किन्तु चूँकि संस्कृत की तरह ग्रीक में भी, इन रूपों में प्रकृत्यंशगत स्वर दुर्बल कोटि में पाया जाता है, इसलिये शुरू से ही यह परिवर्तित नहीं किया जा सका है। सामान्य पद्धति—कर्मवाचक संज्ञाओं में प्रकृत्यंश पर गुण और स्वराघात तथा कर्तृवाचक संज्ञाओं में इसके ठीक विपरीत—के साथ तुलना करने पर इन रूपों में एक खटकने वाली अनियमितता पायी जाती है, और अब यह कहना संभव नहीं कि प्राचीन भा० यू० में कौन से विशिष्ट विकास इस वस्तुस्थिति के उत्तरदायी थे।

इस ढंग के उदाहरण ग्रीक में वहुतायत से मिलते हैं और इनके समानान्तर वहुत से रूप उदाहृत किए जा सकते हैं : अपचिति– 'प्रतीकार, बदला' ग्रीक अपोतिसिस् (apótisis) 'वही'; क्षिति– 'निवास', अवे० शिति (šiti–), ग्रीक क्तिसिस् (ktísis) 'डेरा'; क्षिति– 'विनाश', ग्रीक फ्थिसिस् (phthísis); आ–हुति– 'आहुति', ग्रीक खुसिस् (khúsis) 'वाहर उडेलना'; स्रुति– 'प्रवाह' ग्रीक ह्रुसिस् (hrúsis); प्लुति– 'तैरना', ग्रीक प्लुसिस् (plúsis); गति– 'जाना', ग्रीक बसिस् (básis), तुल० गॉथिक ग–क्वुम्प्स् (ga– qumps); तति– 'फैलाव, पंक्ति', ग्रीक तसिस् (tásis)। लैटिन में अब तक आगे विकसित प्रत्यय –तिओन्– (–tiōn) के द्वारा ये हटा दिए गए, जो –ति के साथ वृद्धियुक्त न्– प्रत्यय जोड़कर बनाया गया है। ये रूप स्त्रीलिङ्ग हैं, क्योंकि ति– तत्व स्त्रीलिङ्ग है, जिस पर ये सब आधृत हैं : मेन्तिओ (mentiō) (संस्कृत मति–) इउन्क्तिओ (eunctiō) (संस्कृत युक्ति–) ग्रीक ज़ेउज़िस् (zeúzis), आदि ।

–अति कोटि बहुसंख्यक उदाहरणों में मिलती है : अंहति– 'दुःख, क्लेश', दृशति– 'दिखावा', मिथति– 'विरोध', वसति– 'निवास', पक्षति– 'पंख'।

–ति प्रातिपादिकों के कतिपय चतुर्थ्यन्तों को तुमन्त रूप में वर्गीकृत किया गया है : इष्टयें 'इच्छापूर्ति के लिये', पीतयें 'पीने के लिये', वीतयें 'आनन्द लेने के लिये', सातयें 'जीतने के लिये', ऊतयें 'सहायता करने के लिये'।

कर्त्रर्थ संज्ञाओं का कार्य निर्वाह करने वाले ति– प्रातिपदिकान्त कतिपय रूप भी मिलते हैं, ऐसे रूप मुख्यतः प्राचीन भाषा में मिलते हैं : ज्ञाति– 'संबंध', (: लिथु० गेन्तिस् (gentís) 'वही'), पुक्ति–, पदाति– 'पैदल सिपाही', अद्धाति– 'साधु', राति– 'उदार', धूर्ति– 'हिलाने वाला', सप्ति– 'घोड़ा' धृष्टि– 'साहसी' पूर्ति– 'पवित्र', वष्टि– 'उत्सुक'; अमति– 'गरीब', स्थपति 'पालक; बढ़ई', वृकति– 'डाकू', रमति– 'ठहरने की इच्छा करता हुआ', प्–अति– 'मालिक'।[1] जैसा कि कर्मवाचक संज्ञाओं के सम्बन्ध में है, स्वराघात की अवस्थिति किसी भी तरह के नियम के न रहने की परिचायक है, और दोनों कोटियों में हमेशा की तरह भेद नहीं दिखाया गया है।

विशेषण रूपों को कभी-कभी प्रत्ययगत न् के संयोग से विस्तारित कर दिया जाता है, अभिमातिन्– 'कपटी, छली' (अभिमाति– 'वही'), रातिन् 'उदार' (राति 'वही')। ऐसे विस्तार की तुलना लैटिन में कर्मबोधक संज्ञाओं के साथ कीजिए।

ठीक इसी तरह केवल त्– प्रत्यय के साथ उ को जोड़कर –तु प्रत्यय बनाया गया है। ति– प्रातिपदिकों की अपेक्षा ये अल्पसंख्यक हैं, और रूपविचार की दृष्टि से (morphologically) प्राचीन पद्धति से कम परिवर्तित हैं। उदाहरणार्थ बहुत से नपुंसक शब्द अब भी सुरक्षित हैं : दातु 'विभाग', वास्तु 'स्थान' (ग्रीक (व्) अस्तु, ((v) ástu) 'शहर'), वस्तु– 'चीज', मस्तु– खट्टा मक्खन' (तुल० गैलो-लैटिन मेस्ग (mesga), आयरिश मेद्ग, भिन्न प्रत्यय वाला)। क्रिया विशेषणों की तरह प्रयुक्त –तु अन्त वाला नपुंसक शब्द रूप जातु 'जरा भी, हमेशा' में मिलता है। ये नपुंसक रूप गुण के साथ संयुक्त नियमित प्रकृत्यंश पर स्वराघात का वहन करते हैं, जो नपुंसक कर्मबोधक संज्ञाओं की विशेषता है। ठीक इसी तरह का स्वराघात और गुण निम्नलिखित पुंलिङ्ग (यह वह लिङ्ग है, जिसे प्रायः –तु अन्त वाले नपुंसक भिन्न कर्मवाचक संज्ञा शब्द ग्रहण कर लेते हैं; स्त्रीलिङ्ग ति– प्रातिपदिकों का अन्तर बतलाते हैं) रूपों में भी पाया जाता है : ओतु– 'ताना', तन्तु– 'सूत, गाँठ', धातु– 'धातु', सक्तु– 'सत्तु', सेतु– 'पुल, बाँध', सोतु– 'तर्पण'। कभी-कभी प्रत्ययांश पर स्वराघात मिलता है : गातु– 'रास्ता', हेतु– (किन्तु प्रकृत्यंश पर गुणीभाव), पितु– 'पालन-पोषण'। प्रत्यय के प्रथम तत्त्व पर गुण एधतु– 'कल्याण', वहतु–

---

१. पा– 'रक्षा करना, पालन करना' से। इस शब्द में त् प्रत्यय का अंश है, यह बात ग्रीक देस्पोइन (déspoina) में इसकी अनुपलब्धि से सुस्पष्ट है। अतः पति का °प (°pá) से वही संबंध है (नृप– आदि), जो वकति– का वृक– से।

'शादी' और क्र्-अतुं- (क्रतु-) 'बुद्धि' (कृ- 'सोचना, स्मरणार्थक; उत्सव मनाना') में मिलता है। स्त्रीलिङ्ग रूप बहुत कम हैं : वास्तुं- 'सवेरा', सूतुं- 'जन्म देना', जि॒वातुं- 'जीवन'।

कर्त्रर्थं संज्ञायें और विशेषण बहुत ही कम हैं : मन्तुं- 'सभासद' और धातुं- 'खींचने या पकड़ने योग्य'; ये समुचित रूप से विशेषणांश पर स्वराघात का वहन नहीं करते, जो केवल -उ प्रत्ययान्त रूपों से अन्तर बतलाता है। नियमित प्रत्ययांशगत स्वराघात तृ॒प्यतु॒- 'चमकता हुआ' और सि॒षा॒स॒तु- 'प्राप्त करने की इच्छावाला' में पाया जाता है।

-तु प्रत्यय तुमन्त रूप बनाने के लिये एक पर्याप्त समृद्ध साधन है। ये नियमित रूप से प्रकृत्यंश पर स्वराघात का वहन करते हैं, जो सामान्यतः गुण का ग्रहण करता है। ये द्वितीया, चतुर्थी, और षष्ठी में उपलब्ध हैं।

(१) -तुम् अन्तवाला द्वितीया तुमन्त रूप शास्त्रीय भाषा में प्रयुक्त केवल एक है : कर्तुंम्- 'करने के लिये', गन्तुंम्- 'जाने के लिये', दातुंम्- 'देने के लिये', श्रोतुंम्- 'सुनने के लिये', नेतुंम्- 'ले जाने के लिये', मोक्तुंम्- 'छुड़ाने के लिये', आदि, आदि। वैदिक भाषा में, जहाँ अन्य प्रकार के तुमन्त रूप पर्याप्त रूप में विद्यमान हैं, यह रूप बहुत ही दुर्लभ है, ऋग्वेद में प्रायः पाँच और अथर्ववेद में दूसरे पाँच उदाहरणों में ही इस प्रकार का तुमन्त का प्रयोग पाया जाता है। यह रूप में लैटिन तुमन्त (supine)[1] रूप फ़ाक्तुम्- (factum), इतुम्- (itum) के समान है।

(२) इस प्रत्यय से बनाए गए करीब ३० तुमन्त चतुर्थी रूप वैदिक भाषा में मिलते हैं इनमें नियत रूप से प्रकृत्यंश पर स्वराघात है, जो गुण का ग्रहण करता है (सर्वितवे- के साथ-साथ सूर्तवे- 'प्रसव के लिये' के अतिरिक्त) : एतंवे- 'जाने के लिये', कर्तंवे- 'करने के लिये', दातंवे- 'देने के लिये', मन्तंवे- 'सोचने के लिये', यष्टंवे- 'यज्ञ करने के लिये', आदि।

(३) पञ्चम्यन्त रूप प्रायः कुछ कम हैं : हन्तोः- 'मारे जाने से', एतोः- 'जाने से', आदि। कभी-कभी षष्ठ्यर्थक रूप भी मिलता है, कर्तोः- 'कार्य' (मु॒ध्या के साथ), दातोः- 'देना' (ईशे के साथ)।

---

१. सुपाइन (supine) लैटिन व्याकरण की पारिभाषिक संज्ञा है, जो विशिष्ट वाक्यविन्यास में प्रयुक्त, लैटिन धातुओं के निष्ठा प्रातिपदिकों के आधार पर बने कर्मकारक के चिह्न उम् और अपादान कारक के चिह्न उ से संयुक्त धातुज संज्ञाओं के लिये प्रयुक्त होती है। (अनुवादक)

इन तीन कोटियों के अतिरिक्त कभी-कभी वेद में –तुवै अन्त वाला रूप भी मिलता है : एतवै– 'जाने के लिये', हन्तवै– 'मारने के लिये'। इस पर अनियमित रूप से दो प्रकार के स्वराघात पाए जाते हैं, जिसके बारे में कोई स्पष्टीकरण नहीं किया गया है, और इसके पीछे हमेशा –उ अंश रहता है। इसके बारे में ऐसा मालूम पड़ता है कि यह गुणीभूत तु– प्रत्यय (*एतव– नपुंसक) के थिमैटिक विस्तार पर आधृत है, जो चतुर्थी एकवचन के प्राचीन रूप (अवे० –आइ) से युक्त है।

नपुंसक प्रत्यय –त्व, जो कि निश्चय ही मूल में एक थिमैटिक रूप रहा होगा, अक्सर पाया जाता है, और गौण भाववाचक संज्ञाओं की रूपरचना में इसका प्रयोग बहुत ही कम मिलता है : अमृतत्व– 'अमरता', देवत्व– 'देवतापन', शुचित्व– 'पवित्रता', शत्रुत्व– 'वैर', आदि। इन गौण रूपरचनाओं के स्वराघात का प्राचीन प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि इसका उद्भव गौण नपुंसकों के लिये, जिनका संकेत ऊपर किया जा चुका है, विशेष तद्धित स्वराघात को विस्तृत करने की प्रवृत्ति से हुआ है। अवेस्ता में, प्रचुर मात्रा में तो नहीं, फिर भी इस तरह के रूप हैं (रतुथ्व– (ratθuwa–) 'रतु का कार्य', आदि), इस प्रत्यय से युक्त प्रारंभिक रूप भी उपलब्ध हैं, वँथ्व (vąθwa–) 'समुदाय', स्तओथ्व– (staoθwa–) 'प्रार्थना'। संस्कृत में प्रयोग की दृष्टि से परवर्ती रूप का किसीने प्रतिनिधित्व नहीं किया है, किन्तु पेत्वं– 'मोटा भेड़ा' (पुँल्लिङ्ग या नपुंसक) आपाततः इससे संवद्ध है। दूसरी ओर प्रपित्व– 'प्रातराश का समय (पितु–), प्रातःकाल' और अभिपित्व– 'सायंकालीन भोजन का समय' निःसन्देह मूल में विशेषण रूप हैं।

आगे विस्तारित प्रत्यय –त्वन वेद में ठीक इसी अर्थ में प्रयुक्त मिलता है : महित्वन– 'महत्ता', सखित्वन– 'मित्रता', आदि। लौकिक संस्कृत के द्वारा उपेक्षित किए जाने के बावजूद यह फिर मध्य भारतीय-आर्य (–त्तन–) में वापस आ गया है, और आधुनिक काल तक सुरक्षित रखा गया है (हिन्दी –पन्)।

–तु प्रत्यय पर आधृत कुछ थिमैटिक विशेषण रूप हैं, जो वैदिक भाषा में भविष्यत्कालिक क्रिया की तरह प्रयुक्त हुए हैं : कर्त्वं– 'किये जाने योग्य', जेत्वं– 'जीते जाने योग्य', वक्त्वं– 'कहे जाने योग्य', सनित्व– 'प्राप्त किये जाने योग्य', हन्त्वं–'मारे जाने योग्य'। इसी तरह अवेस्ता में जँथ्व– (jąθwa) 'मारे जाने योग्य'। विशेषणों के सामान्य नियम के विपरीत इनके प्रकृत्यंश पर स्वराघात पाया जाता है। –तव्य वाली शास्त्रीय कोटि (कर्तव्यं, वैकल्पिक रूप से कर्तव्य– 'किये जाने के लिये', आदि) विशेषण प्रत्यय –य के संयोग द्वारा गुणीभूत –तु

प्रत्यय से बनायी गयी है। ग्रीक में दूसरा इससे भिन्नकोटि का (तॅवॊस् (tewos)) रूप मिलता है, पॊइएतॅओस् (poiētéos), आदि।

–तु प्रत्यय के अन्य विस्तार के द्वारा –त्वा अन्त वाले पूर्वकालिक कृदन्त रूप लाए गए, जिनका प्रयोग असंयुक्त क्रियाओं के साथ होता है। इनमें साधारणतः मूल अपने दुर्बल रूप में मिलता है, और ये प्रत्ययांश पर स्वराघात का वहन करते हैं : इष्ट्वा– 'यज्ञ करके', कृत्वा– 'करके' पीत्वा– 'पीकर', ज्ञात्वा– 'ज्ञानकर', आदि, आदि।

आपाततः ये रूप –तु प्रत्ययवाले कर्मबोधक संज्ञाशब्दों के तृतीयान्त रूप प्रतीत होते हैं। ऐसा होने पर इनका रूप क्रमबद्ध होगा यदि यह मान लिया जाय कि ये प्राचीन रूप हैं; क्योंकि मूलतः स्वराघात दुर्बल रूपों के विभक्त्यंश पर था और इसके कारण मूल प्रकृत्यंश का संकोच हो गया। इस व्याख्या के विरुद्ध प्रमुख कठिनता वेद में –त्वी प्रत्ययवाले पूर्वकालिक कृदन्त का सह-अस्तित्व है। यह रूप वस्तुतः ऋग्वेद में –त्वा– प्रत्ययान्त पूर्वकालिक कृदन्त की अपेक्षा अधिक प्रचलित है : कृत्वी– 'करके' गत्वी– 'जाकर', भूत्वी– 'होकर', आदि। परवर्ती रूप को –तु प्रत्ययवाली धातुज संज्ञा के तृतीया या अन्य विभक्ति के रूप में विश्लेषित नहीं किया जा सकता। चूँकि दोनों रूपों की व्याख्या समानान्तर होनी चाहिए, यह परिणत होता है कि –त्वा प्रत्ययवाले रूप भी विभक्त्यन्त रूप नहीं हैं। संभाव्य व्याख्या केवल यही है कि यहाँ आ और ई प्रत्यय हैं, और यह तथ्य कि वे इसी ढंग से यहाँ पर क्रियाशील हैं, उनमें अन्यत्र उपलब्ध घनिष्ठ सम्बन्ध से मेल खाता है। इसलिये हमें यहाँ क्रियाविशेषण से युक्त दो संयुक्त प्रत्यय मिलते हैं, जो उस पदान्त स्वराघात से युक्त हैं, जो प्रायः नामिक प्रातिपदिकों के क्रियाविशेषण प्रयोग (प्रातर्, आदि) में मिलता है।

–ता प्रत्यय, जो कि केवल त्– प्रत्यय के आ– प्रत्यय वाला विस्तार है, विशेषणों से भाववाचक संज्ञायें बनाने के लिये विशेषीकृत है। प्रारंभिक प्रत्यय के रूप में यह बहुत ही दुर्लभ है, उदा० चिता– 'परत, चिता', ग्रीक में अधिक प्रचलित है, गॅनॅते– (genetḗ), आदि। वेद में इस तरह के उदाहरणों द्वारा इस प्रत्यय के सामान्य रूप का प्रतिनिधित्व किया गया है, जैसे देवता– 'देवत्व' पुरुषता– 'मनुष्यत्व', बन्धुता– 'भाईचारा', वसुता– 'धनसंपन्नता' आदि। लौकिक संस्कृत में इस तरह के रूप सभी विशेषण रूपों द्वारा स्वतंत्रता-पूर्वक बनाए गए हैं : कृष्णता– 'कालापन', पूर्णता– 'पूरापन', दीर्घता– 'लंबाई', आदि। अन्य भा० यू० भाषाओं में भी यह प्रत्यय अपनी इसी प्रक्रिया के साथ पाया जाता है : रूसी पॊल्नॊता (polnota) 'पूर्णता', प्रा० स्ला० श्रिनॊता

(črĭnota) 'कालापन', द्लुगोता (dlūgota) 'लम्बाई', प्रा० हाई जर्मन फुल्लिदा (fullida) 'पूर्णता', गॉथिक दिउपिप्रा (diupipra) 'गहराई', लैटिन इउवेन्ता (iuventa) 'जवानी'।

आगे प्रत्ययगत त्– को जोड़कर इस प्रत्यय को सबल बनाया जा सकता है, जिससे –तात् प्रत्यय उत्पन्न होगा। उदाहरण (केवल ऋग्वेद में उपलब्ध) ये हैं : उपरतात्– 'समीपता', देवतात्– 'देवत्व', वृकतात्– 'भेडियापन, हत्यारापन', सर्वतात्– 'पूर्णता'। यही प्रत्यय अवेस्ता (हउर्वतात्– 'परिपूर्णता', आदि), ग्रीक (बरुतेस् (barutēs) 'गुरुता' आदि) में है, जहाँ यह गौण प्रत्यय के रूप में –ता को पूर्ण रूप से हटा देता है, और लैटिन (किवितास् (civitās) आदि में मिलता है।

जिस तरह केवल त्– प्रत्यय को –इ जोड़कर विस्तारित किया जा सकता था, इसी तरह यह संयोग –ताति के रूप में विस्तारित किया जा सकता था। उदाहरण हैं : ज्येष्ठताति– 'श्रेष्ठता', देवताति–'देवत्व', सर्वताति–'सर्वता', वसुताति– 'धन', सत्यताति– 'सचाई', शन्ताति– 'सद्भाग्य'। अन्तिम दो रूप (–ति प्रत्ययान्त कतिपय रूपों की तरह) विशेषणों की तरह भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं।

१५. म् प्रत्यय

–म् प्रत्यय संस्कृत तथा अन्य भा० यू० भाषाओं में संज्ञाशब्दों की रचना में महत्त्वपूर्ण हाथ बँटाता है। यह प्रत्यय –मर्, –मन्, –मन्त्–, –मिन् जैसे वर्गों में पहले ही मिल चुका है। यह –म प्रत्ययवाले थिमैटिक विशेषणों का भी उत्पादक है और प्रायः अन्य रूपों में भी मिलता है। इस प्रत्यय के साथ, अन्य प्रत्ययों के प्रतिकूल यह समस्या है कि यह प्रत्यय केवल अमिश्रित प्रत्यय के रूप में नहीं मिलता, यद्यपि ऊपर संकेतित विविध संयुक्त प्रत्यय अन्य संयुक्त प्रत्ययों की तरह इस तरह के एकाकी प्रत्यय के साथ जोड़कर बनाए गए होने चाहिएँ। अवशिष्ट उदाहरण केवल सप्त और दश, लैटिन सेप्तेम् (septem) देकेम् (decem), भा० यू०, *सप्त्म्̥ (*septm̥) (अपश्रुति के कारण प्राचीन रूप सेप्त्म्̥ (séptm̥)) और देक्म्̥ (dékm̥) आदि संख्यावाचक प्रातिपदिक जान पड़ते हैं। यहाँ यह प्रत्यय अपने दुर्बल रूप में ठीक वैसे ही मिलता है, जैसे नाम (लैटिन नोमेन् (nōmen), आदि में न्– प्रत्यय, और यह संख्यावाचक शब्द ठीक मूल नपुंसक संज्ञा शब्दों की कोटि के हैं।

विविध रचनात्मक प्रत्ययों में म्– तत्त्व की उपलब्धि इस बात का संकेत करती है कि यह मूलतः मौलिक नपुंसक प्रत्यय के रूप में प्रचलित रहा होगा।

इसके केवल असंयुक्त रूप में न मिलने का कारण यह है कि यह अन्य रूपों द्वारा हटा दिया गया है, और यह प्रक्रिया दो तरह से हुई है। प्रथम प्रक्रिया को प्रथमा-द्वितीया ए० व० युगम्- 'जुआ' और युग्म- 'जोड़ा'—इन दो शब्दों को साथ-साथ रखकर उदाहृत किया जा सकता है। अन्य थिमैटिक विशेषणात्मक प्रत्ययों की तरह युग्म- को युग्म्-अ के रूप में विश्लेषित करना होगा-और वह हलन्त म्- प्रातिपदिक जिस पर यह आश्रृत है, नपुंसक युगम्- से भिन्न नहीं है। नपुंसक युगम्- में म्- मूलतः म्- प्रत्यय था, किन्तु यह (मूलतः सभी विशेषणात्मक और सामान्य लिङ्गवाले) थिमैटिक प्रातिपदिकों के साथ समानता के कारण रूपादान की एक सरल प्रक्रिया के द्वारा विभक्त्यंश का अंग माना जाने लगा और इसके परिणामस्वरूप इस प्रकार के रूप नपुंसक थिमैटिक प्रातिपदिकों के रूप में परिवर्तित कर दिए गए और तदनुसार इनके सुवन्त रूप चलने लगे। इसके बाद नपुंसक थिमैटिक कोटि खास तौर पर नपुंसक हलन्त प्रातिपदिकों (-अन, -अत्र, आदि, ऊपर) के विस्तारित रूपों की रचना में उत्पादक बन गयी।

युगम्- और युग्म- के बीच जो सम्बन्ध विद्यमान है, वह भयम्- 'भय' : भीम- 'डरावना' और मध्यम्-नपुं० 'मध्य' मध्यम्-अ- विशेषण 'मध्यस्थित' के बीच विद्यमान है। क्रियाविशेषण रूप सदम्- को उससे विकसित रूप सद्मन्- 'आसन' की दृष्टि से नपुंसक म्- प्रातिपदिक के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है। इसी तरह अरम्, अलम्- 'ठीक, पर्याप्त, योग्य' को ग्रीक हर्मोस् (harmós) जैसे विकासों के साथ तुलना के आधार पर भा० यू० मूल अर्- 'ठीक करना' के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है।

भारतयूरोपीय में प्राचीन थिमैटिक नपुंसक बहुत कम हैं। संस्कृत युगम् को ग्रीक ज़ुगोन् (zugón), लैटिन युगुम् (iugum), आदि की समानता के द्वारा प्राचीन बताया जाता है। अन्य प्राचीन शब्द संस्कृत पदम्- 'कदम' ग्रीक पेदोन् (pédon), हित्ती पेदन् (pedan) है, जिसे ठीक इसी ढंग से उद्भूत माना जा सकता है, यद्यपि इस सम्बन्ध में साक्षात् साक्ष्य अपेक्षित है। ग्रीक एर्गोन् (érgon) 'काम' ठीक पेदोन् (pédon) की जैसी ही कम उपलब्ध और निःसन्देह प्राचीन अपश्रुति से युक्त होने के कारण उसी के साथ वर्गीकृत किया जायगा। यह संकेत किया जाना चाहिए कि इस तरह के आदिम थिमैटिक नपुंसक जो इस सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तित म्- प्रातिपदिक हैं, केवल अत्यधिक न्यून ही नहीं हैं, किन्तु वे ही एकमात्र उस कोटि के हैं, जो विभिन्न भा० यू० भाषाओं के बीच निश्चित शब्दसमानताओं को उपस्थित करती हैं। इस प्रकार गौण उद्भव के थिमैटिक नपुंसक अर्थात् (१) नपुंसक हलन्त

प्रातिपदिकों के विस्तारित रूप और (२) अधिक परवर्ती किन्तु वहुसंख्यक तद्धितान्त रूप, परवर्ती उद्भव के हैं। अन्यथा विविध भाषाओं के बीच इन रूपों की विस्तृत समानता के अभाव को समझाना कठिन होगा। इस सम्बन्ध में हमें हित्ती में परवर्ती दो रूपों का सर्वथा अभाव भी ध्यान में रखना चाहिए।

पदम्, युगम्– कोटि के थिमैटिक नपुंसकों की न्यूनता इस वात का संकेत करती है कि यद्यपि यही एकमात्र पद्धति थी, जिसके द्वारा आदिम ऋ–प्रातिपदिक हटाए गए और यद्यपि यह नपुंसक थिमैटिक प्रातिपदिकों के अस्तित्व की एकमात्र संभाव्य व्याख्या उपस्थित करती है, तथापि यही एकमात्र अथवा निश्चित रूप में प्रमुख पद्धति थी, जिसके द्वारा यह प्रक्रिया की गयी। अन्य क्रियाशील प्रक्रिया जो कई रूपों का कारण है, ऋ– प्रातिपदिकों का र्– और न्– प्रत्ययों के योग द्वारा विस्तार है। जिस तरह हित्ती में मूल स्– प्रातिपदिक हन्नेशर्/–एश्नश् (hannešar /– ešnaš) कोटि के रूपों द्वारा विलकुल पूरी तरह हटा दिए गए, उसी तरह संपूर्ण भा० यू० में, कतिपय प्रातिपदिकों के अतिरिक्त जो समीकरण के द्वारा नये रूप में वदल दिए गए थे, थिमैटिक नपुंसकों; म्– प्रातिपदिकों के स्थान पर मर्/मन्– आदेश हो गए हैं। हित्ती में –मर् अन्तवाले नपुंसक प्रातिपदिकों का षष्ठी ए० व० –मश् (maš) में है (अर्नुम्मर् (arnummar) 'लाना' षष्ठी ए० व० अर्नुम्मश् (arnummaš))। सामान्य तौर पर यह कहा जाता है कि इस तरह के सम्वन्धकारक रूपों में म्न्– का समीकरण हो गया है, लेकिन यह वात सिद्ध नहीं की जा सकती, और यह वैकल्पिक सिद्धान्त संभव है कि इस तरह के सम्वन्धकारकरूप अविस्तारित म्– प्रातिपदिक से वनाए गए हैं। यहाँ हम कतिपय तृतीया विभक्ति वाले ऐसे वैदिक रूपों की तुलना कर सकते हैं, द्राघ्मा, रश्मा, (द्राघ्मन्– 'लम्वाई', रश्मन्– 'लगाम, डोरी'), जो इसी तरह केवल म्– प्रातिपदिक से भलीभाँति वनाए जा सकते हैं, न कि –मन् अन्तवाले विस्तारित प्रातिपदिक से।

मन्– प्रातिपदिकों से थिमैटिक विस्तार प्रायः इस प्रत्यय के अन्तिम तत्त्व (न्) से रहित पाए जाते हैं। प्रियधाम- 'घर का प्रेमी, शौकीन', विश्वकर्म– 'निखिल कार्य करने वाला–' जो धामन्– और कर्मन् प्रातिपदिकों से सम्वद्ध हैं; तुल० साथ-साथ धर्म- पुँल्लिङ्ग 'नियम' : धर्मन्– नपुं० 'वही'; एर्म– मार्ग, प्रणाली' : एर्मन्– 'वही'; तोक्म- 'अंकुर, कोपल' : तोक्मन्– 'वही'; यक्ष्म– 'रोग' : यक्ष्मन्, 'वही'; दुर्म- 'नाश करनेवाला' : दुर्मन्– 'वही'। इन दशाओं में भी म्न्– के म्– रूप में परिवर्तित होने के सिद्धान्त की पुष्टि के लिये कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, और इन उदाहरणों से विश्लेषित थिमैटिक रूप निश्चय ही केवल म्– प्रातिपदिक पर आधृत होगा।

—म प्रत्यय विशेषण मूल के अत्यधिक विशेषण और संज्ञारूपों का निर्माण करता है : अ॒ज्मं— 'ले जाने वाला, प्रस्थान' (ग्रीक ओग्मोस् (ógmos); अ॒ज्मंन्— में मन्— प्रातिपदिक, लैटिन अग्मेन् (agmen), इ॒ध्म— 'इन्धन', ग्री॒ष्म— 'गर्मी का मौसम' (ग्र— ई॒ष्— म—, तुल० गुरु— 'भारी'), घ॒र्म— 'उष्णता, घाम' (मूलतः विशेषण रूप, तुल० ग्रीक थर्मोस् (thermós), लैटिन फार्मुस् (formus) 'गरम'), जि॒ह्म— 'विपरीत, तिर्यक्' ति॒ग्म— 'तीव्र' (ग्रीक स्तिग्मोस् (stigmós) 'छिद्र, वेध', स्तिग्म, नपुं० में न्— प्रातिपदिक), द॒स्म— 'आश्चर्यजनक' (द॒स्मन्त्— 'वही'), धू॒म— 'धुआँ' (तुल० धू॒म्र— में अर्— प्रातिपदिक), न॒र्म— 'रतिक्रीडा, विहार' (नपुं० नर्मन्— 'वही' भी), यु॒ध्म— 'योद्धा', रु॒क्म— 'अलंकार, आभूषण', वाम— 'मनोहर' (√—वन्—), सु॒ग्म—'शक्तिशाली', श्या॒म— 'काला' (वैकल्पिक प्रत्यय युक्त श्या॒व—), हि॒म— 'ठंडा, ओस'। विशेषण ऊ॒र्म— 'सहायक' में अनियमित रूप से प्रकृत्यंश पर स्वराघात पाया जाता है, किन्तु इसके दुर्बल रूप से इस बात का पता चलता है कि यह मौलिक नहीं है। सामान्य रूप से प्रकृत्यंश पर स्वराघात का वहन करने वाले और नपुंसक बहुत से कर्मवाचक संज्ञा शब्द ऐसे हैं जिनमें आपाततः, म् की आवृत्ति को टालने की प्रवृत्ति पायी जाती है : ध॒र्म— 'नियम', भा॒र्म— 'जगमगाहट, प्रकाश', क्षे॒र्म— 'निवास; कुशल' स॒र्म— 'बहता हुआ', सो॒र्म— 'सोमलता से गारकर निकाला हुआ रस' अवे० (हओम— (haoma—), स्तो॒र्म— 'स्तुति करने के स्तोत्र', हो॒र्म— 'देना'। भाववाचक संज्ञा और विशेषण के बीच स्वराघात का प्रचलित परस्पर परिवर्त्तन स्रा॒र्म—'लंगड़ापन, पंगुता' और स्रा॒म— 'पंगु' में पाया जाता है।

—अ॒म प्रत्ययवाली कोटि द॒श॒म— 'दसवाँ' (अर्थात् द॒श॒म्—अ—, लैटिन देकिमुस् (decimus); द॒र्श, देकेम् (decem), स॒प्त॒म 'सातवाँ' (जिसके बाद अ॒ष्ट॒म— 'आठवाँ'), म॒ध्य॒म— 'बिलकुल बीच का', अ॒ध॒म— 'नीच, निचला' (लैटिन इन्फिमुस् (infimus), प॒र॒म— 'आगे का, अत्युच्च'। संख्यावाचक स॒प्त॒म— से तम तत्त्व को ले लिया गया, जो अन्य क्रमबोधक शब्दों (विंशतितम—, आदि) में जोड़ दिया गया है। यह प्रत्यय अतिशय तुलनाबोधक —तम प्रत्यय से अभिन्न हैं, जो आपाततः इसी ढंग से उद्भूत हुआ है : अन्त॒म— 'बहुत ही नजदीकी, बहुत ही प्रियपात्र' (अवे० अन्तॅम— (antema—), लैटिन इन्तिमुस् (intimus), उ॒त्त॒म— 'बहुत ही ऊँचा', उ॒ग्रत॒म— 'बहुत बलवान्', मी॒ढुष्ट॒म— 'बहुत दयालु', मा॒तृत॒म— 'अत्यन्त मातृ-सदृश (दयावान्)', र॒त्न॒धात॒म— 'बहुत धन दान देनेवाला' आदि, आदि।

संयुक्त प्रत्यय —इम बहुत कम मिलता है : अ॒ग्रि॒म— 'सबसे आगे का',

और अन्य प्रत्ययों के साथ संयोग में, कृत्रिम- 'बनावटी', भिदेलिम- 'भंगुर', आदि। इस प्रत्यय के म् तत्त्व के अन्य संयोग हैं, मि : (पुंल्लिङ्ग) ऊर्मि- 'लहर' (अवे० वरॅमि- (varəmi-), एँग्लो सेक्सन विएॅल्म् (wielm), रश्मि- 'लगाम' किरण'; (स्त्री०) भूमि- 'पृथ्वी';- मी (स्त्री०) लक्ष्मी 'चिह्न, संकेत', सूर्मी- 'नली'; - मा : हिमा 'शीत ऋतु', क्षुमा 'सन'।

१६. इ और उ प्रत्यय

अन्यान्य प्रत्ययों की तरह ये दोनों प्रत्यय भी भारत-यूरोपीय में एक गुणयुक्त रूप एॅइ–एॅय् (ei), एॅउ–एॅव् (eu̯) और स्वराघात की अवस्थिति पर आधृत एक दुर्बल रूप इ, उ का वहन करते हैं। अन्य प्रत्ययों जैसी अवस्थाओं में ये वृद्धियुक्त भी हो सकते हैं, और सामान्यतः ये इन्हीं आधारों पर विकसित होते हैं। इनमें नपुंसक रूपों की अत्यधिक प्रारंभिक कोटि है, और इनके आधार पर प्रत्ययांश पर स्वराघात के द्वारा विशेषण रूप बन सकते हैं, प्राचीन नपुंसकों को पुंल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग वर्ग में परिवर्तित किया जा सकता है, इन प्रत्ययों के बारे में यह एक अत्यधिक प्रचलित प्रक्रिया है; इनमें नपुंसक थिमैटिक विस्तारित रूप हैं, और स्वराघातयुक्त थिमैटिक स्वरध्वनि जोड़ कर इनसे विशेषण रूप बनाए जाते हैं। सामान्यतः ये अन्य प्रत्ययों के साथ जुड़ जाते हैं; ऐसे संयोगों वाले –इर, –इन्, –इन, –रि-, –नि, –वर्, –वर, –उर, –वन्-, –वन-, –उन, –वन्त्-, –रु, –नु, –इस्, –उस्, –यस्, –वस् –इष, –उष, –इत्, –उत्; –वत्, –ति, –तु, –इम, –मि प्रत्ययों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

–इ अन्तवाले नपुंसक रूप बहुत कम उपलब्ध हैं; यह एक ऐसी कोटि है जो बहुत जल्द लुप्त होने लगी थी, अधिकतर ऐसे प्रातिपदिक पुंल्लिग-स्त्रीलिंग-वर्ग में परिवर्तित होते गए। जो कुछ बचे हैं वे प्रधानतः दूषित हैं। इनमें शर्मि 'काम' अव्यय है; अस्थि 'हड्डी', अक्षि 'आँख', सक्थि 'टाँग' और दधि 'दही' विभक्ति-रूप (षष्ठी ए० व० अस्नः, अक्ष्णः, सक्थ्नः, दध्नः) में न्-प्रातिपदिक का प्रतिनिधित्व करता है; वारि 'पानी' ठीक इन्हीं परिस्थितियों में प्रातिपदिक के साथ न् को जोड़ देता है (षष्ठी ए० व० वारिणः, तुल०, यही बात नपुंसक उ– प्रातिपदिकों में तथा कभी-कभी अन्यत्र भी है, उदा० शिरः, शीर्ष्णः); हार्दि 'हृदय' मूल प्रातिपदिक (षष्ठी ए० व० हृदः, आदि) का प्रतिनिधित्व करता है। संयुक्त प्रत्यय –वि से युक्त एक बहुत कम उपलब्ध नपुंसक रूप स्रक्वि है, जिसका रूप वारि की तरह चलता है।

नपुंसक शब्दरूपों ने ऐसी कोई रूप प्रक्रिया को सुरक्षित नहीं रखा है, जिसमें सर्वत्र इ– प्रत्यय सुरक्षित रखा गया हो, ऐसे नपुंसक उ– प्रातिपदिकों

के विपरीत, जिनमें कि ऐसे रूप (मधुं, मध्वः) विद्यमान हैं। अविं– 'भेड', षष्ठी एकवचन अव्यः के रूपों में यह किसी तरह खोज निकाला जा सकता है। रूपप्रक्रिया का यह वर्ग विशेषणगत रूपप्रक्रिया (अग्नेः, आदि; अन्त में यह एक केवल रूप हो जाता है) के साथ अत्यधिक विरोध रखता है, और जब ऐसा विरोध उ– प्रातिपदिकों में समझ में आने लगता है (मध्वः; सूनोः), तब यह स्पष्ट हो जाता है कि रूपप्रक्रिया की यह कोटि नपुंसक संज्ञा शब्दों में प्रचलित है, जो कि विशेषणों के विरुद्ध है। यह भेद प्रातिपदिक के दो वर्गों के भिन्न-भिन्न स्वराघात के कारण हैं, जो कि अन्यत्र उपलब्ध रूपों से सम्बद्ध है। अविं– का शब्दरूप इस बात का संकेत करता है कि यह मूलतः नपुंसक था; स्वाभाविक लिंग के कारण यह परिवर्तित कर दिया गया, किन्तु इसने रूप प्रक्रिया में अपने कुछ प्राचीन लक्षण सुरक्षित रख छोड़े हैं। ग्रीक में भी इस शब्द के ऐसे ही रूप मिलते हैं, और यह अत्यधिक प्राचीन वैकल्पिक स्वराघात को भी सुरक्षित रखे हैं : ओइस् (óis), ओइओस् (oiós)।

कभी-कभी ऐसे भी इ– प्रातिपदिक मिलते हैं, जो क्रियाविशेषण की तरह प्रयोग में आते हैं : सचिं 'साथ', प्रतिं 'विरुद्ध' (प्र्–अति, ति– प्रातिपदिक)।

मूल नपुंसक इ-प्रातिपदिक कभी-कभी विभिन्न विस्तारों द्वारा हटा दिए जाते हैं : नभ्यं– 'चक्र-नाभि'; इ– प्रातिपदिक के प्राचीन नपुंसक लिंग को रखे हुए है, जिसका स्थान नाभिं– 'नाभि' में स्त्रीलिंग ने ले लिया है। एक अधिक प्राचीन रूप *मधिं 'बीच' (अवेस्ता में मइद्‌याइर्य– (maiδyairya) 'वर्ष के मध्य से संबद्ध', *मधियार्य– (madhiyārya) के लिये) का स्थान मध्यं– नपुं० (मूल रूप मध्यम्–, म्–प्रातिपदिक, तुल० ऊपर) ले लेता है; इसी तरह क्रविं 'कच्चा मांस' (अक्रंविहस्त–) क्रव्य– (क्रव्याद–, तुल० लिथु० क्रउँयस् (kraũyas) के रूप में और वैकल्पिक रूप से क्रविष् में स् प्रत्यय जोड़कर विस्तारित कर दिया गया है। इसी तरह नपुंसक रूप अर्चिष्–'ज्वाला', रोचिष्– 'प्रकाश' और शोचिष्– 'ज्वाला' –इ अन्त वाले प्राचीन नपुंसकों के स्– विस्तार हैं, किन्तु इ– प्रातिपदिक अर्चिं– पुं०, शोचि– 'स्त्री०' रुचिं–, रोचि– स्त्री० नपुंसक लिंग से पुंल्लिंग या स्त्रीलिंग में परिवर्तित कर दिए गए हैं।

यह और इसी तरह के अन्य प्रमाणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि –इ अन्तवाले नपुंसक कर्म-बोधक संज्ञाशब्द मूलतः प्रचलित थे। परवर्ती साक्ष्य अन्य विभाग से आता है। उस समय जब कि ये शब्द रूप तुरत बनाए गए थे, इ– नपुंसकों का समस्त वर्ग तिङन्त क्रियापदरूपों में सम्मिलित था, और वह प्रथम पुरुष एकवचन के कर्मवाच्य लुङ् रूप बनाने का कार्य करता था। इस रूप में इनका प्रतिनिधित्व भारत आर्य और ईरानी में अच्छी तरह पाया

जाता है : तारि, जनि, दर्शि, पादि, सादि; आगमवाला रूप अकारि, आदि इसी तरह का रूप अव० स्रावि 'सुना गया है' आदि है। जैसा कि नियमतः नपुंसक प्रातिपदिकों के विषय में होता है, इनमें स्वराघात प्रकृत्यंश पर पाया जाता है।

नपुंसक इ– प्रातिपदिकों की अपेक्षा नपुंसक उ– प्रातिपदिक अधिक प्रचलित हैं। इनमें मूल प्रकृत्यंश पर स्वराघात नियत रूप से पाया जाता है और इनमें असाधारण रूप से वृद्धि नहीं है : मधु– 'शहद' (ग्रीक मेथु (méthu), एँग्लो सेक्सन मेदु (medu), वसु– 'धन-संपत्ति' आयु– 'जीवन' (ऋग्वेद १, ८९, ९ और ३, ४९, २ छंद की साक्ष्य से, जानु- 'घुटना' (ग्रीक गोनु (gónu), लैटिन गेनु (genu), हित्ती गेनु (genu)), दारु– 'लकड़ी' (ग्रीक दोरु (dóru), हित्ती तरु (taru)), सानु– 'शिखर, चोटी' (पुंल्लिग भी), दानु– 'moisture' (स्त्रीलिंग भी), पशु– 'पालतू जानवर' (ऋग्वेद ३. ५३. २३, गॉथिक फइहु (faihu), लैटिन पेकु (pecu); अन्यत्र पुंल्लिग में परिवर्तित, जिसमें प्रत्ययांश पर स्वराघात है), श्मश्रु– 'मूँछ', अश्रु– 'आँसू' (तोखारी अ० आक्रु-न्त् (ākru-nt) ब० व), जतु– 'लाख' (एँग्लो-सेक्सन च्विदु (cwidu)), जत्रु– 'गले की हड्डी' (जत्रु– पुंल्लिग भी), तालु– 'तालु', त्रपु– 'टीन', याशु– 'रतिकालिक आलिंगन', स्नायु– 'नस', तितउ 'चलनी'।

उ– प्रातिपदिक विभक्तिरूप के आधार की तरह सर्वत्र काम कर सकता था। नपुंसक रूपप्रक्रिया की यह कोटि मधु– 'शहद', षष्ठी ए० व० मध्वः और वसु– 'धन', षष्ठी ए० व० वस्वः में देखी जाती है। यही कोटि ग्रीक गोउनोस् (gounós), दोउरोस् (dourós) में देखी जाती है, इसमें षष्ठी ए० व० में विभक्ति चिह्न पर अति प्राचीन स्वराघात पाया जाता है, जो संस्कृत में प्रकृत्यंशगत स्वराघात के लिये अन्य प्रकार के नपुंसक रूपों की तरह छोड़ दिया गया है (षष्ठी ए० व० नाम्नः, वर्चसः, आदि)। प्राचीन विभक्ति चिह्न पर स्थित स्वराघात षष्ठी ए० व० पश्वः में देखा जाता है, परन्तु यह प्रातिपदिक की एक परिवर्तित कोटि के साथ संयुक्त हो गया है। प्राचीन भा० यू० नपुंसक रूप पेक्यु- (péku) (लैटिन पेकु (pecu) आदि) ऋग्वेद के एक उदाहरण (ऊपर देखें), जैसा कि पशु, में सुरक्षित है, जो इस बात का संकेत करता है कि यह परिवर्तन अत्याधुनिक उद्गम का है। सामान्य रूप पशु में लिंग-परिवर्तन पश्वः षष्ठी ए० व०, आदि के प्राचीन विभक्त्यंशगत स्वराघात के कारण है। चूँकि सामान्य नपुंसक रूपों ने प्रकृत्यंश पर नियत स्वराघात को ग्रहण कर लिया है, केवल वे प्रातिपदिक, जिनमें रूपप्रक्रिया में

स्वराघात सामान्यतः प्रातिपदिकांश से प्रत्ययांश पर चला गया है, प्रत्यांश पर स्वराघात वाले पुंल्लिग रूप हैं, जिनमें दुर्बल अवस्थाओं में प्रत्यय की समाहृत कोटि है, प्रथमा ए० व० पि॒ता, चतुर्थी ए० व० पि॒त्रे, प्रथमा ए० व० पू॒षा, पष्ठी ए० व० पूष्णः आदि। इस सादृश्य-प्रक्रिया के आधार पर यह बहुत आसानी से देखा जा सकता है कि किस तरह प्रत्ययांश पर स्वराघात वाला रूप पु॒श्वः (प्राचीन नपुंसकों की पद्धति के ढंग पर) जो लिंगपरिवर्तन के समय अभी भी सुरक्षित है, नवीन प्रथमा ए० व० 'पृ॒शुः' में प्रत्ययांशगत स्वराघात का वहन करता है। इसी तरह हम निर्णय कर सकते हैं कि पि॒तु- 'भोजन', षष्ठी ए० व० पित्वः, को भी कर्मबोधन संज्ञाशब्द तथा नपुंसकलिंग होने के कारण परिवर्तित नपुंसक माना जा सकता है। दूसरी ओर प्रातिपदिक 'क्रतु' 'बुद्धिरूप' ने जो इसी कारण प्राचीन नपुंसक है, हमेशा प्रकृत्यंशगत स्वराघात स्थिर रक्खा है।

नपुंसक उ- प्रातिपदिक वैकल्पिक रूप से एक विस्तारित प्रत्यय -उन्- वाली दुर्बलतम कोटियों में मिलते हैं (तुल० वारिणः, पष्ठी ए० व०) षष्ठी ए० व० मधुनः, वसुनः, द्रुणः; सप्तमी ए० व० द्युनि (तुल० ग्रीक अइवेन् (aíven), निर्विभक्तिक अधिकरण), सानुनि; षष्ठी-सप्तमी द्वि० व० जानुनोः (तुल० तोखारी अ० कन्वेम् (kanwem) 'घुटन' द्विवचन में उपलब्ध इसी प्रत्यय के दुर्बल रूप से युक्त)। ग्रीक में, जब कि यह प्रत्यय इन स्थितियों में विस्तृत हो जाता है, एक अतिरिक्त त्- प्रत्यय मिलता है, जैसा कि वह अन्य नपुंसक न्- प्रातिपदिकों में भी मिलता है: संबंध ए० व० गोउनतोस् (goúnatos), दोउरतोस् (doúratos)।

इसके अतिरिक्त वेद में इन प्रातिपदिकों से बने ही कुछ रूप मिलते हैं, जिनमें रूपप्रक्रिया की विशेषणकोटि जोड़ दी गयी है: द्रोः, स्नोः, मधोः। यह आश्चर्यकारक नहीं है, क्योंकि रूपप्रक्रिया की विशेषणकोटि इ- और उ- प्रातिपदिकों में लौकिक संस्कृत-काल से व्यापक बन गयी है, और प्राचीनतम काल में यह प्रक्रिया अत्यधिक बढ़ी हुई थी, इसमें प्राचीन कोटि के केवल कुछ रूप छूटे हुए थे।

नपुंसक -इ और -उ अन्तवाले प्रातिपदिकों के साथ साथ -इ तथा -उ अन्तवाले कर्त्रर्थक संज्ञाशब्दों की एक अच्छी खासी संख्या उपलब्ध है। इकारान्त कर्त्रर्थक संज्ञाशब्द सामान्यतः स्त्रीलिंग हैं: जरि- 'बड़बड़ाना', रंहि- 'चाल, वेग', रजि- 'दिशा' (लैटिन रेगिओ (regiō), अतिरिक्त न्- प्रत्यययुक्त; तुल० उपर्युक्त ति- प्रातिपदिकों के संबंध में यही लक्षण), रोपि- 'दर्द', भ्राजि- 'विकार, जोर', नाभि- 'नाभि'; त्विषि- 'चमक', रुचि- 'प्रकाश', प्रत्ययांश पर स्वराघातयुक्त, सनि- 'जीतना', अजि- 'युद्ध', कृषि- 'खेती', चिति- 'ज्ञान', नृति- 'नाच', भुजि- 'लाभप्रद'। इसी तरह इ- प्रातिपदिकों वाले

संप्रदान रूपों में, जो कि तुमन्त रूपों की तरह वर्गीकृत किए गए हैं, प्रत्ययांश पर स्वराघात पाया जाता है : दृश्ये– 'देखने के लिये', युधये– 'जलाने के लिये' आदि। इस तरह के पुँल्लिग रूप वहुत कम उपलब्ध हैं, अर्चि– 'किरण', ध्वनि- 'आवाज', रयि– 'धन'।

ति– प्रातिपदिकों की ही तरह –इ प्रातिपदिकों में स्वराघात और अपश्रुति के प्राचीन नियमों का उल्लंघन अत्यधिक होता रहा है। सभी संभाव्य कोटियों (जलिपि–, सुनि–, स्विपि–, कृपि–) का प्रतिनिधित्व पाया जाता है और इन विविधताओं का कोई व्याकरणिक महत्त्व नहीं है। स्पष्टतः रजि– 'दिशा', जो लैटिन रेगिओ (regio) से संवद्ध है, प्राचीनतम कोटि का प्रतिनिधित्व करता है। रयि– षष्ठी ए० व० रायः (र?इ– (raHí–), र?यस् (raHyás), प्राचीन रूप र?इ– (ráHi–), र?यस् (raHyás) में हमें ठीक वही स्वराघात-विकास उपलब्ध होता है, जिसने कि पशु, पश्वः में स्थान ग्रहण किया है। ध्वनि– 'शब्द' और धुनि– 'गर्जना' के वीच अपश्रुति में वही भेद हैं, जो कर्त्रर्थ तथा कर्मार्थ संज्ञाशब्दों में विद्यमान हैं, किन्तु स्वराघात की अवस्थिति विपरीत है। स्पष्टरूप से अत्यंत उलझे हुए परिवर्तनों ने, जिनका अनुकरण अव नहीं किया जा सकता, इ- प्रातिपदिकों को, प्रक्रिया की इस पूर्ण कर्म कमतरता को उत्पन्न करने के लिए, प्रभावित किया है। यह इस तथ्य से सहमत है कि प्रातिपदिक की इस कोटि में प्राचीन रूपों का एक समूह कर्त्रर्थक संज्ञाशब्दों के नपुंसक रूपों से परिवर्तित हो गया है, जो कि पहले थे।

दूसरी ओर विशेषणहीन पुँल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिंग उ– प्रातिपदिकों में नियमानुसार प्रकृत्यंश पर गुण तथा स्वराघात पाया जाता है : पुंल्लिग असु–'जीवन', (अस्– 'होना' : अवे० अङ्हु (aŋhu), स्वरु– 'लकड़ी का खंभा', मनु– 'आदमी', वन्धु– 'संवंधी'; स्त्रीलिंग जासु– 'थकावट', धनु– 'वलुआ, किनारा', पर्शु– 'पसली', शरु– 'भाला', हनु–'ठोडी' (ग्रीक गेनुस् (genus), तोखारी अ शन्वे (śanwem̥) (द्विवचन)। अंशु– 'केशर, किरण', (अवे० अँसु (ą̊su–) 'अंकुर', रेणु– 'धूल' और शङ्कु– 'काँटा, अंकुश' जैसे रूपों में पदान्त पर स्वराघात पाया जाता है, परन्तु साथ-साथ ही इनमें प्रकृत्यंश पर गुण भी पाया जाता है। वाहु–'भुजा' का स्वराघात ग्रीक पेखुस् (pêkhus) को अमान्य है; अपश्रुति से इस वात का पता चलता है कि यह ग्रीक रूप ही मौलिक है। इषु– पुं० तथा स्त्री० 'वाण' और सिन्धु– पुं० स्त्री० 'नदी' में मूलांश की दुर्वल कोटि अपवादस्वरूप है; संभवतः ये रूप ऐसे स्वराघात परिवर्तन वाले वैशेषणिक उद्गम के हैं, जो सामान्यीकृत विशेषणरूपों में प्रचुरता से पाया जाता है।

–य अन्तवाले नपुंसक रूपों की एक छोटी-सी संख्या ऐसी भी है, जिसे इ–

प्रातिपदिकों के थिमैटिक विस्तार के रूप में वर्गीकृत किया जाना चाहिए : मध्य॑-'बीच का' (देखें ऊपर), क्रव्य 'कच्चा मांस', नभ्य॑- 'नाभि', आज्य॑- 'गलाया हुआ मक्खन (घी)', द्रव्य॑- 'पदार्थ', राज्य॑- 'राज्य' (आयरिश रीग (rige) । यह रूप रचना हविरद्य॑- 'हवि खाने वाला', होतृवूर्य॑- 'होता का चुनाव', ब्रह्ममूर्य॑- 'ब्रह्मा होना' जैसे रूपों की कोटि के तत्पुरुष समासों में अप्रचलित नहीं है । सख्य- 'मित्रता', जो कि सखि॑- के विपरीत है, में समान्य स्वराघात का संबंध नष्ट हो गया है, क्योंकि सख्य- एक गौण नपुंसक रूप है, ठीक वैसे ही जैसा कि होत्र- नपुंसक : होत॑र् पुंल्लिग (देखें ऊपर § ७.) में है । हृद॑य- 'हृदय' में गुणयुक्त प्रत्यय के साथ थिमैटिक विस्तार को जोड़ दिया गया है ।

नपुंसक -य प्रत्यय, जो कि इ- के एक साधारण विस्तार के रूप में उदित हुआ है, काफी अधिक मात्रा में गौण नपुंसक शब्दरूपों में, या तो वृद्धियुक्त, जैसा कि परवर्ती भाषा में पाया जाता है, सौभाग्य॑- 'सौभाग्य' आदि, या किन्हीं परिस्थितियों में वृद्धिरहित, दूत्य- 'दूतकर्म', आदि, रूप में विकसित हुआ है ।

अन्य नपुंसक प्रातिपदिकों की तरह विशेषण-कोटि के विशेषण और संज्ञा-शब्द, प्रत्ययांश पर स्वराघात के परिवर्तन के द्वारा नपुंसक इ- और उ- प्राति-पदिकों से बनाए जा सकते हैं । उदाहरण के लिये, अपश्रुति की प्राचीनतम कोटि से युक्त भारत-यूरोपीय नपुंसक पे॑लु (pélu) (गॉथिक फिलु (filu) 'ज्यादा') को तथा प्रत्ययांश पर स्वराघातयुक्त और मूल प्रकृत्यंश समाहृत विशेषण प्रातिपदिक प्लेउ (pleú) को, जो ग्रीक प्ले॑ए॑स् (plées) (*प्लेव्-एस् , *plév-es) में पाया जाता है निर्दिष्ट किया जा सकता है । यह प्रक्रिया विविध परिवर्तनों से गुजरी है, और फलतः कई कोटियों के शब्दरूपों का उदय हो गया है ।

(१) प्रथम और प्राचीनतम कोटि का प्रतिनिधित्व सखि॑-, प्रथमा (कर्त्ता) ए० व० सखा॑ 'मित्र' द्वारा किया गया है । प्रथमा ए० व० की वृद्धि द्वारा इसका रूपनिर्धारण किया जा सकता है, तथा विभक्ति-प्रक्रिया में यह र् और न् अन्तवाले कर्त्रर्थ संज्ञा शब्दों की रूप-प्रक्रिया के सामान्य नियमों का अनुसरण करती है (प्रथमा, द्वितीया, चतुर्थी, ए० व० सखा॑, सखा॑यम्, सख्ये॑; श्वसा॑, श्वसा॑रम्, श्वस्रे॑) । यह अतिदुर्लभ कोटि अप्रता ऋग्वेद ८।३२।१६ (न सोमो अप्रता पपे 'जो कुछ बदला नहीं देता है, वह सोम नहीं पिया जाता है') में, और अवेस्ता कवा, कर्त्ता ए० व० (कवि 'राजाओं की उपाधि', संस्कृत कवि 'बुद्धिमान् मनुष्य') में पायी जाती है । संस्कृत में इस कोटि का

स्थान सामान्यतः उस कोटि ने ले लिया है, जिसमें प्रथमा और द्वितीया ए० व० में –इस् और –इम् अन्तवाले विभक्ति चिह्न लगते हैं, किन्तु इस वात को प्रदर्शित करने के लिये कि यह शब्दरूप मूलतः अत्यधिक विस्तृत रूप में प्रयुक्त होता था, पर्याप्त अवशेष बचे हैं। स्त्रीलिंग विकासरूप अग्नायी और मनावी प्राचीन वृद्धियुक्त नामिक एकवचनान्त रूपों *अग्ना (य्) और *मनाव् पर आश्रृत हैं। प्राचीन वृद्धियुक्त प्रथमा ए० व० से समासान्त अग्नाविष्णू (तुल० मातापितरौ) और कत्सासखा– 'बुद्धिमान् मनुष्य की सत्संगति का आनन्द लेनेवाला' जैसे समासान्त रूपों में प्रथम पद को उत्पन्न करता है। यह सब होते हुए भी इ– तथा उ– अन्तवाले प्रातिपदिकों के सप्तमी ए० व० के सामान्य रूप (अग्ना, परवर्ती अग्नौ, सूनौ, आदि) का स्पष्टीकरण ऐसे पदान्तरहित अधिकरण रूप में किया जा सकता है, जो विशेषण प्रातिपदिकों के प्राचीन वृद्धियुक्त कर्त्ता ए० व० के समानान्तर है।

(२) प्रथमा ए० व० में वृद्धि को सुरक्षित रखने वाले कतिपय उ– प्रातिपदिकों में इसके साथ प्रथमा विभक्ति का स्– भी जोड़ दिया जाता है। इस कोटि का प्रतिनिधित्व संस्कृत द्यौः 'आकाश, आकाशदेवता' (ग्रीक ज़ेउस् (zeús); इसका 'आकाशदेवता' यह अर्थ एक मौलिक अर्थ है, और यह इस शब्द के विशेषण रूप को बनाता है) और गौः 'गाय' में मिलता है। यह ईरानी में कुछ अधिक प्रचलित है, इसका उदाहरण, प्रा० पर्शियन दह्युउश् (dahyauš) 'जमीन' और अवे० हिथ्राउश् (hiθāuš) 'साथी' तथा उज़्बाज़उश् (uzbāzauš) 'ऊपर हाथ किये हुए' हैं। अवेस्ता में विशेषण और नामिक सुबन्त प्रक्रिया को पृथक् करने की प्रवृत्ति देखी गयी है, जो कर्त्ता ए० व० में उज़्बाज़उश् (uzbāzauš) और बाज़ुश् (bāzuš) के बीच तथा कर्म ए० व० में दरॅगो–अर्श्तएम् (darəgō–arštaēm) और फ्रादत्– फ़्शओम् (fradat–fšaom), जो कि अर्श्तिम् (arštim) 'वरछी, भाला' और पसुम् (pasum) 'पालतू जानवर' के विरुद्ध है, के बीच के भेद में पायी जाती है। ग्रीक में यह कोटि उत्पादक हो गयी है, और बसिलेउस् (basileús) 'राजा' गोनेउस् (goneús) 'माता-पिता' (संस्कृत जनु–प्– नपुं०) कोटि के कर्त्रर्थक संज्ञाशब्दों तथा पोलुस् (polús) कोटि के विशेषण शब्दों के बीच का अन्तर बढ़ गया है।

वैदिक प्रथमा ए० व० वेस्– 'पक्षी' भी इस कोटि का है, किन्तु वृद्धि के स्थान पर गुण असामान्य है और इसके बारे में कोई स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। संबद्ध लैटिन शब्द अविस् (avis) इ– प्रातिपदिकों की सामान्य कोटि के अनुरूप है। ग्रीक ओइओन् (ōion) 'अंडा' *(< ओव्योम् (< ōwyom)

एक प्राचीन नपुंसक रूप *ओवि (ówi) 'अंडा' (जैसा कि ज्यादातर इ- और उ- प्रातिपदिकों में होता है, प्रकृत्यंश पर वृद्धिवाला) का थिमैटिक विस्तार है। इसलिए संस्कृत वेस्- विशेषण कोटि का शब्द ('अंडों से संबद्ध, अंडे ले जाने वाला') है और विशेषणों में प्रचलित प्रत्ययांशगत स्वराघात के कारण प्रकृत्यंशगत स्वरध्वनि का समाहार और उसका लोप हो गया है।

(३) सामान्य विशेषण कोटि -इस् , इम्, -उस् , -उम् अन्तवाले कर्त्ता तथा कर्म ए० व० रूपों को बनाती है। स्वराघातयुक्त -उ अन्तवाले विशेषणरूप अत्यधिक प्रचलित हैं और अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में उनसे सम्वद्ध रूप वहुतायत से मिलते हैं : तृ॒षु- 'प्यासा' (गॉथिक पउर्सुस् (paursus) 'सूखा'), रि॒पु- 'विश्वासघाती, शत्रु' (लियु० लिपुस् (lipús) 'चिपकनेवाला, लसलसा'), पृ॒थु- 'विशाल' (अवे० पॅरॅथु (pərəθu) 'वही' ग्रीक प्लतुस् (platus) 'समतल, चौरस', लियु० प्लतुस् (platús) 'चौड़ा', र॒घु-, ल॒घु- 'तेज, हलका' (ग्रीक एलखुस् (elakhús), गु॒रु- 'भारी' (ग्रीक वरुस् (barús), गॉथिक कउरुस् (kaúrus), व॒हु- 'वहुत' (ग्रीक पखुस् (pakhús) 'मोटा'), पु॒रु-, पु॒लु - 'वहुत से' (ग्रीक पोलुस् ; गॉथिक फिलु (filu) में संवद्ध नपुंसक रूप), उ॒रु- 'चौड़ा' (अवे० वोउरु (vouru)-, ग्रीक एउरुस् (eurús), त॒नु- पतला' (ग्रीक तनु (tanu), आ॒शु- 'शीघ्र' (अवे० आसु (āsu), ग्रीक ओकुस् (ōkús), स्वा॒दु- 'मीठा' (ग्रीक हेदुस् (hédus), अं॒हु- 'तंग, सकरा' (गॉथिक अग्ग्वुस् (aggwus), प्रा० स्ला० अँज़ु-कु (ązū-kū), ऋ॒जु- 'सीधा' (अवे० ऍरॅज़ु (ərəzu), कृ॒धु- 'ह्रस्वीकृत, भग्न', जि॒यु- 'जयशील', दा॒रु- 'नष्ट करनेवाला', नृ॒तु- 'नाचनेवाला', पी॒यु- 'विद्वेषी', व॒ल्गु- 'सुन्दर', मि॒थु- 'अकेला', श॒यु- 'लेटा हुआ', सा॒धु- 'ठीक'।

प्रथमा ए० व०, गु॒रुः आदि में जो स्वराघात है, वह विशेषणों के लिये अपेक्षित है, पर यह प्रत्यय की उस दुर्वल कोटि के पूर्ण विरुद्ध है, जो प्रथमा-द्वितीया ए० व० में पायी जाती है। इस बात से स्पष्ट रूप में पता चलता है कि विशेषण का ऐसा रूप शुरू से अपरिवर्तित नहीं रह सका होगा। हम देख चुके हैं कि प्राचीन कोटि का प्रतिनिधित्व कतिपय पुरातन उदाहरणों में किया गया है और इस बात का प्रमाण मौजूद है कि यह रूप किसी समय अत्यधिक प्रचलित हुआ था। इसलिए -उस् , -उम् अन्तवाले रूपों को इस प्राचीन कोटि के प्रतिनिधि के रूप में संबंधित किया जा सकता है, किन्तु ये अत्यधिक प्राचीनतम प्रतिनिधि रूप हैं, क्योंकि वे रूप न केवल ऊपर उद्धृत उदाहरणों द्वारा प्रतिनिधीकृत भाषाओं में ही विद्यमान हैं, अपितु हित्ती में भी हैं : कर्त्ता ए० व० अश्शुश् (aššuš) 'अच्छा', पर्कुश् (parkuš) 'ऊँचा' आदि।

प्रत्यय का सबल रूप, जिसे स्वराघात के साथ-साथ ही चले जाना चाहिए, किन्तु जो कर्त्ता कर्म ए० व० में हटा दिया गया है, इन प्रातिपदिकों में संप्रदान और संबंध ए० व० में उपलब्ध है। यहाँ विशेषण सुबन्त प्रक्रिया (अग्नेः, गुरोः) प्राचीन नपुंसक सुबन्त प्रक्रिया (मध्वः) से इस तरह से भिन्न है, जो इन दोनों कोटियों में स्वराघात की अवस्थिति का अनुसरण करता है। अपश्रुति के प्राचीन नियमों के आधार पर संबंध ए० व० को विभक्ति चिह्न का –स् के रूप में समाहार इस बात का संकेत करता है कि यह रूप अत्यधिक प्राचीन है। यही गुण गॉथिक सुनउस् (sunaus), लिथु० सूनउस् (sūnaŭs) और विभक्ति चिह्न के ह्रस्वीकरण के विना ग्रीक हेदेओस् (hēdeos) और हित्ती अश्शवश् (aššavaš) में पाया जाता है। नपुंसक विभक्तिरूपों और विशेषणगत विभक्तिरूपों के बीच का अन्तर अन्यत्र दृष्टिगोचर होता है: हित्ती गेनुवश् (genuwaš) जो कि अश्शवश् (aššavaš) आदि के विपरीत है।

संप्रदान और संबंध एकवचन के रूप में गुणयुक्त प्रत्यय का विस्तार इन प्रातिपदिकों को न्– और र्– प्रातिपदिकों से अलग करता है। परवर्ती रूपों को इन अवस्थाओं में सामान्यतः नपुंसक प्रातिपदिकों (युक्ष्नः, उक्ष्णः) से स्वरूप की दृष्टि से अलग नहीं किया जाता है, क्योंकि विशेषण रूपों में स्वराघात विभक्तिचिह्न पर सुरक्षित रहता है। किन्तु संस्कृत के बाहर इस बात का प्रमाण है कि ये प्रातिपदिक भी कुछ हद तक एक विशेष प्रवृत्ति में बँट गये हैं, उदाहरणार्थ अवेस्ता पितर्श् (pitarš) संबंध एकवचन के विषय में जो कि हर बात में अग्नेः और सूनोः के समानान्तर है। दूसरी ओर हम यह भी देख चुके हैं कि सखा, चतुर्थी सख्ये, र्– और न्– अन्तवाले प्रातिपदिकों की कोटि का अनुसरण करता है; जो इस बात का संकेत करती है कि विशेषण-रूप प्रातिपदिकों के लिये रूपप्रक्रिया की दो कोटियाँ विद्यमान थीं। एक र् और न्– अन्तवाले प्रातिपदिकों में विशिष्ट हुई, और दूसरी इ–, उ– अन्तवाले प्रातिपदिकों में, परन्तु एक निश्चित हद तक दोनों का प्रतिनिधित्व दोनों प्रकार के प्रातिपदिकों में प्रत्येक में पाया जाता है।

इन विशेषण रूपों में मूल प्रकृत्यंश में सामान्यतः स्वराघात-प्रक्रिया के अनुरूप दुर्बल रूप है। हित्ती अश्शुश् (aššuš), ग्रीक एउस् (eús) के विपरीत सु– 'अच्छा' के विषय में प्रत्ययांशगत स्वराघात प्रकृत्यंशस्थित स्वरध्वनि के संपूर्ण समाहार के रूप में परिणत हो गया है। चूँकि यह शब्द समस्त पद-रचना के सिवा अन्यत्र कहीं प्रयुक्त नहीं होता था, इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि इसका प्रारम्भिक शब्दरूप क्या था, किन्तु अवेस्ता हओ–स्रवह्– (hao-sravah–) में विशेषणगत स्वराघात के अनुरूप चलने वाले गुणयुक्त

प्रत्यय का प्रतिनिधित्व मिलता है। पुरःसर्ग कु- 'खराव' भी इस ढंग का मालूम पड़ता है। प्रश्नवाचक सर्वनाम के साथ इसके सामान्य संयोग के बारे में बहुत कठिनाई से ही कोई निर्णय लिया जा सकता है, अतः हम इसे -उ विशेषण की तरह ग्रहण कर सकते हैं, जो कि स्वरूप और कार्य दोनों ही दृष्टियों से सु के तुल्य है।

कतिपय उदाहरण ऐसे भी हैं जहाँ -उ अन्तवाले विशेषणों के साथ संबद्ध नपुंसक रूप भी विद्यमान हैं: आयु- 'जीवन की अवधि' (भारत-यूरोपीय अइ्- 'वितरण करना, देना', अर्थात् 'किसी की निश्चित की हुई अवधि' से विकसित उ- प्रत्यय वाले तथा वृद्धियुक्त रूप से बना हुआ): आयु- 'जीव, मरणशील'; ग्रीक पोउ (pōu) 'समुदाय, झुंड': संस्कृत पायु- 'संरक्षक'। बहुवचनान्त जत्रवः- 'गले की तरुणास्थियाँ' का अर्थ प्रकृत्यंश पर स्वराघात युक्त नपुंसक रूप जत्रु- 'गले की हड्डी' के अर्थ से भिन्न है, और इसलिए करीब-करीब यह विशेषण रूप हो जाता है। प्रथम यह माना जा सकता है कि इस तरह के युग्मरूप अत्यधिक व्यवस्थित रूप में साथ-साथ आते थे, और इन दो रूपों का परस्पर संबंध उस प्रकृत्यंश पर गुण अथवा वृद्धि के लिये था, जो प्रत्ययांश पर स्वराघात वाले विशेषणों में पायी जाती है। यह स्पष्ट है कि आयु- में प्रकृत्यंशगत तत्त्व का सबल रूप नपुंसक आयु से विकसित हुआ है, जहाँ यह अपश्रुति के नियमों के अनुकूल है, और यह कल्पना की जा सकती है कि इन दो अपेक्षाकृत भिन्न रूपों के ऐसे परस्पर प्रभाव से ऐसे विशेषण रूपों का निर्माण हुआ है, जैसे आशु- 'शीघ्र'। नपुंसक हित्ती रूप अश्शु (aššu) का प्रयोग 'चीजें, संपत्ति' के अर्थ में (संस्कृत वसु की तरह) एक संज्ञा शब्द की तरह किया गया है, और इस आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि ये रूप ऐसे प्रारंभिक नपुंसक रूप रहते चले आये, जिनके आधार पर विशेषण का निर्माण किया गया (एर्युः (एं) सुउे-)। इस तरह इस जरिये से हित्ती अश्शुश् (aššuš), ग्रीक एउस् (eús)- जो कि संस्कृत -सु में धातु के समाहार के विपरीत है—में गुण प्रवेश करता है। इस बात में भी कोई संदेह नहीं है कि -उस्, -उम्, अन्त वाले कर्त्ता-कर्म एकवचन रूपों की, जो कि सबल प्रत्यय वाले रूपों के विरुद्ध हैं, प्राचीन प्रधानता को इस तरह के नपुंसक रूपों के सह-अस्तित्व का सहयोग प्राप्त था। स्पष्टतः, इन दो रूपों का परस्पर अन्तर बताने के लिये एक सरल विकल्प, ऐसी अवस्थाओं में, -स् तथा -म् अन्तवाले विभक्तिचिह्नों को केवल इन नपुंसक रूपों के साथ जोड़ देना था। सामान्य नियम के अनुसार, विशेषणों में स्वराघात को सुरक्षित रखते हुए यह प्रक्रिया शब्दरूपों में चलायी गयी।

परन्तु अणु- 'बारीक, बहुत छोटा', मधु- 'मीठा' और वसु- 'अच्छा' में प्रकृत्यंश पर स्वराघात पाया जाता है। बाद के दोनों प्रातिपदिक अत्यधिक प्रचुरता से नपुंसक संज्ञा शब्दों की तरह विद्यमान हैं, और रूप में बहुत कम परिवर्तन के साथ विशेषण रूपों में उनका रूपादान अपेक्षाकृत परवर्ती मालूम पड़ता है।

इ- प्रत्ययांत विभक्तिचिह्न वाले विशेषण मूल के विशेषण तथा संज्ञाशब्द, तथा ठीक उसी पद्धति पर चलने वाले, जैसे कि उपर्युक्त उ- विशेषण शब्द चलते हैं, रूप बहुसंख्यक हैं : अग्नि- 'आग' (लैटिन इग्निस् (ignis), आदि), आपि- 'मित्र' (ग्रीक ऐपिओस् (ēpios) 'मित्रवत्, नम्र', विकरणयुक्त), कपि- 'बन्दर' (मूलतः 'रंग' का विशेषण, तुल० कपिल-), कवि- 'बुद्धिमान्' (अवेस्ता में प्राचीनतर रूप, तुल० ऊपर), कीरि- 'गायक', क्रीडि- 'खेलता हुआ', जामि 'निकट संबंधी' (तुल० लैटिन गेमि-नुस् (gemi-nus) 'जुड़वा'), नदि- 'दहाड़नेवाला' स्वरि- 'शब्दायमान', आदि; प्रकृत्यंश पर स्वराघातवाले रूप हैं ऋषि- 'द्रष्टा', कारि- 'स्तोत्रगायक', गृभि- 'ग्रहण करने वाला', मुनि- 'साधु', शुचि- 'चमकता हुआ, पवित्र', हरि- 'हरा', तूर्वि- 'विजयप्राप्त करता हुआ', प्लुषि- 'जूँ' (तुल० अल्वानियन प्ल्'एश्त् (pl'ešt), आर्मीनियन लु (lu), आदि; √ प्लु (plu) 'फुदकना, कूदना'।

-इ अन्तवाले कर्मबोधक संज्ञा शब्दों की तरह स्वराघात और अपश्रुति के विषय में भी नियम का पूर्ण अभाव है। इस कारण यह निश्चय कर लेना कि अमुक संज्ञा शब्द मूलतः किस वर्ग का है, हमेशा संभव नहीं होता, उदा० असि- 'तलवार' (लैटिन एन्सिस् (ensis), गिरि- 'पहाड़' (अवे० गइरि (gairi-), अहि- 'सर्प' (ग्रीक एखिस् (ékhis), ओफिस् (óphis), मणि- 'रत्न', आदि) मौलिक प्रक्रिया ने किसी न किसी तरह शब्दरूप चलाने में अपना चिह्न त्याग दिया है (अव्यः के विरुद्ध अग्नेः; तुल० हित्ती शल्लइअश् (šallaiaš) : हल्किअश् (halkiaš), ठीक उसी तरह, जैसे कि उ- विभक्तिरूपों में। उ- प्रातिपदिकों की ही तरह विशेषणों के विभक्तिरूप, बहुत कुछ अधिक हद तक, नामिक रूप के विस्तार के आधार पर विस्तारित हुए।

ऊपर वर्णित प्रत्ययों की ही तरह इ- और उ- प्रातिपदिकों के आधार पर थिमैटिक विशेषण रूप बनाए जा सकते थे, और इसने स्वराघातयुक्त प्रत्ययवाले रूप के लिये एक विकल्प का काम किया। इस तरह लैटिन सोकिउस् (socius) 'मित्र' का संस्कृत सखि, प्रथमा ए० व० सखा 'मित्र' (तुल० क्रियाविशेषण के रूप में सुरक्षित प्राचीन नपुंसक प्रातिपदिक, सचि) के साथ ठीक वही संबंध है,

जो हित्ती वेश्तरश् (veštaraš) का अवे० वास्तर (vāstar) के साथ अथवा ग्रीक इआत्रोस् (iātrós) का इअतेर् (iatēr) के साथ है।

–य प्रत्यय अधिक प्रचलित है और प्राचीन काल में भा० यू० में एक स्वतंत्र प्रत्यय के रूप में इसका विस्तृत विकास हुआ है, जिससे इ– प्रातिपदिकों के साथ इसका संबंध बहुत हद तक रह नहीं पाया। इस प्रत्यय के द्वारा जिस पद्धति का उद्गम हुआ है, उसे इन उदाहरणों से स्पष्ट किया जाता है उर्म्यं– 'लहराते हुए', सृण्य–'हँसिया से काँट-छाँटकर ठीक किया हुआ', कुव्य–'बुद्धिमान्', अव्यं– 'भेड़ से संबद्ध', भूम्य– 'भूमिसंबंधी', योन्य– 'आश्रय-स्थान बनाने वाला', अर्य– 'नम्र, समर्पित, पावन', जिनमें संबद्ध इ– प्रातिपदिक हैं (ऊर्मि–, सृणि–, कुवि–, अवि–, भूमि–, योनि–, अरि–)। इस पद्धति पर विकसित होनेवाले इस प्रत्यय का पूर्ववर्ती समय में खूब विस्तार हुआ, जो 'में रहने वाला, से संबद्ध' अर्थवाले विशेषण रूपों को उत्पन्न करता है। थिमैटिक प्रातिपदिकों के विषय में इस प्रत्यय का प्रतिनिधित्व थिमैटिक प्रत्यय ने किया है। अज्र्य– 'अंगन से संबद्ध' (ग्रीक अग्रिओस् (ágrios)) जैसे शब्द के विषय में यह विकास उस प्राचीन नपुंसक र्– प्रातिपदिक के आधार पर बनाया जा सकता था, जिससे स्वयं अज्र– और ग्रीक अग्रोस् (agrós) उदित हुए हैं। कुछ इसी तरह से प्रतिनिधीकरण की यह कोटि निश्चित विस्तृत हो गयी होगी।

–य विकास के विषय में संस्कृत में स्वराघात या तो प्रत्ययांश पर या मूल प्रकृत्यंश पर पाया जाता है : (अ) अग्रय–, अग्रिय– 'आगे का', दिव्य– 'स्वर्गीय' (तुल० ग्रीक दिओस् (dios), सत्य– 'सच', ग्राम्य– 'ग्रामीण', सोम्य– 'सोमसंबंधी', राज्य– 'शाही' (लैटिन रेगिउस् (rēgius); (ब) अङ्गय– 'अंग का', गव्यं– 'बैल के समान', नर्यं– 'मानव संबंधी', जम्भ्यं– 'आगे का (काटने वाला) दाँत' (ग्रीक गोम्फिओस् (gómphios), क्षम्यं 'पृथ्वी संबंधी' (ग्रीक ख्थोनिओस् (kthonios), पित्र्य– 'पैत्रिक' (ग्रीक पत्रिओस् (patrios), लैटिन पत्रिउस् (patrius), सूर्यं– 'सूरज' (ग्रीक एएलिओस् (ēelios), हेलिओस् (hélios), वन्यं– 'जंगल से संबंधित' आदि।

मूल प्रकृत्यंश पर स्वराघात से संयुक्त इस प्रत्यय का प्रयोग सामान्यत: उन धातुओं से विशेषणरूप बनाने के लिये किया जाता है, जो भविष्यत् कर्मवाच्य कृदन्त का काम करते हैं : गुह्य जिसे छिपाना है', ईड्यं– 'जिसकी पूजा करनी है', योध्यं– 'जिससे युद्ध करना है', हव्यं– 'जिससे होम करना है', जय्यं, जेयं– 'जिसे जीतना है', वाच्यं– 'जिसे कहना है', आदि।

वृद्धियुक्त विकासों का प्रयोग प्राचीनतम काल से ही प्रचुरता से मिलता है :

आदित्य– 'अदिति का अपत्य', ग्रैव्य– 'गर्दन संबंधी', प्राजापत्य– 'प्रजापति संबंधी', पाञ्चजन्य– 'पाँच लोगों से संबंधित'।

संस्कृत प्रत्यय –य में दो प्रत्यय मिला लिए गए हैं। वेदों में छन्द के जरिये इनका पृथक्करण किया जा सकता है, जो इस बात का संकेत करता है कि एक स्वरवाला (एकाच्) –य प्रत्यय, जो इस तरह के कव्य- 'बुद्धिमान्', अव्य– 'भेड़संबंधी', वन्य– 'वनसंबंधी', आदि रूपों में दिखाई पड़ता है, और एक दो स्वरों वाला –इय प्रत्यय, जो दमिय– 'गृहसंबंधी', रथिय– 'रथसंबंधी', जनिय– 'लोकसंबंधी', विशिय- 'समुदायसंबंधी', उदनिय– 'जलमय', आदि रूपों में दिखाई पड़ता है। इनमें से –य प्रत्यय का विवरण ऊपर दिया जा चुका है कि यह –इ प्रत्यय के आधार पर थिमैटिक स्वरध्वनि के संयोग के द्वारा बनाया गया था। दूसरी ओर –इय प्रत्यय प्राचीन इ?अ (iha) का प्रतिनिधित्व करता है, और इसका निर्माण –इ? > ई (i? > ī) के आधार पर हुआ है। इसलिए इन शब्द रूपों का विवरण इस प्रत्यय के संदर्भ में अगले विभाग में दिया गया है।

बहुत कम थिमैटिक शब्दरूपों में गुण कोटि में इ- प्रत्यय है। ऐसे रूप हैं: शशय– 'प्रचुर, प्रायः' (तुल० शशीयस्- 'अत्यधिक संख्यक' और शाश्वत्–), शुष्मय– 'बलवान् बनाता हुआ', गवय– 'नील गाय' सनय–, सनय- 'प्राचीन', तनय– पुत्र, जन्म', कुपय– 'उबलना', दशतय– 'दसगुना' (: दशति– 'दशक'); द्वित्वयुक्त शब्दरूपों का युग्म भी उपलब्ध है हिरण्यय– 'सोने का, सुनहरा', गव्यय– 'गो के सदृश'। प्रत्यय की यही कोटि अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में मिलती है: ग्रीक खुसेओस् (khrúseos) 'सुनहरा', लैटिन अउरेउस् (aureus), इग्नेउस् (igneus), आदि।

यद्यपि विशेषगत –व प्रत्यय अप्रचलित नहीं है, तथापि इसमें –य के विस्तार की तरह कोई चीज नहीं पायी जाती, और उ– प्रत्यय के साथ इसका संबंध, अथवा इससे अन्य विकास रूप, अत्यधिक परिस्थितियों में कभी-कभी अवशिष्ट रहता है। पदान्त अक्षर पर स्वराघात वाले उदाहरण हैं ऋष्व– 'विशाल' (अवे० ॲरश्व (ərəšva–'उदात्त'), ऊर्व 'ढँकना' (वृ– 'घेरना, ढँकना', मूलतः विशेषण 'ढँका हुआ'), ह्रस्व– 'छोटा', ऊर्ध्व– 'ऊपर' (अवे० ॲरॅद्व (ərəδwa–), लैटिन अर्दुउस् (arduus), तक्व–'तेज' (तकु– भी), यह्व– 'तरुण, सबसे छोटा' (अवे० यॅज़िवी (yezivī) स्त्री०; यहु– 'वही' के साथ-साथ), ऋक्व– 'गेय स्तोत्र' (ऋक्वन्–, ऋक्वन्त्–, ऋक्वना– 'वही' के साथ-साथ), ध्रुव- 'दृढ' (अवे० द्रव– (drava–), प्रा० पर्शियन दुरुव– (duruva–). 'स्वस्थ, बलवान्'), मुरव– 'मूर्ख', श्याव–'काला' (अवे० स्याव–, (syava);

म- प्रत्यययुक्त श्याम- के साथ), रुण्व- 'आनन्दप्रद, भोग करनेलायक' (साथ-साथ रण्वन्-), जीव- 'जिन्दा, प्राणी' (प्रा० स्ला० ज़िवु (živŭ), लिथु० गीवस् (gývas), लैटिन वीवुस् (vīvus), ऑस्कन बिवुस् (bivus) कर्त्ता ब० व०) पुक्व- 'पका हुआ, पक्व' (भूतकालिक कृदन्त निष्ठारूप में रूपादानित), शुर्व- 'एक देवता का नाम' (अवे० सऔउर्व (saourva-) 'एक भुजा' में शर्ह- 'माला' के 'साथ), स्रुव- 'चम्मच', शिक्व- 'उत्साहसंपन्न' (शिक्वन्- 'वही' के साथ),खुर्व- 'भग्न अंगवाला' (अवे० कउर्व (kaurva) 'वही')। इनमें से, अत्यधिक उदाहरणों में विशेषणमूलक स्वराघात सुरक्षित है। कुछ रूपों में प्रकृत्यंश पर स्वराघात है : अश्व- 'घोड़ा' (लैटिन ऍक्कुस् (equus), गॉथिक अइह्व (aihva), आदि तु० आशु 'तेज'), सर्व 'सब' (अवे० हउर्व-ग्रीक 'होलॉस् hólos, ओउलॉस् (oûlos) आदि), पूर्व- 'पहला' (प्रा० स्ला० प्रुवु (prŭvŭ)), पीव- 'मोटा' (पीवन्- 'वही' के साथ-साथ)। प्रातिपदिक कुल्व- 'गंजा (लैटिन कल्वुस् (calvus) केवल अतिकुल्व- में उपलब्ध है।

अर्णव- 'लहराना, बाढ़, समुद्र, काँपना', केशव- 'लंबे बालों बाला' (तुल० अवे० गएसव् (gaēsav-) 'बाल'), पवीरव- '(स्वर्ण आदि) धातु के अंश वाला' (पवीरु-), विधवा 'विधवा' (लैटिन, विदुअ (vidua), आदि; तुल० विधु- 'शान्त, अकेला'—इन रूपों में गुण युक्त उ- प्रत्यय पाया जाता है।

कुछ अवस्थाओं में -व एक गौण प्रत्यय का रूप ले लेता है : अुज्रिव- 'फिसलन वाला' शुन्तिव- 'कल्याणप्रद', श्रुद्धिव-'श्रद्धायोग्य', राजीव- धारीदार नील कमल', सचिव- 'साथी, मंत्री'।

-उ अन्तवाले प्रातिपदिक कभी-कभी -इ प्रत्यय जोड़कर विस्तारित किए जाते हैं : घृष्वि- 'जिन्दादिल, आनन्दप्रद' साथ-साथ घृषु- 'वही'; अन्य वि- प्रातिपदिक ये हैं : ध्रुवि- 'दृढ़', द्रवि- स्त्री० चम्मच, जागृवि- 'जागृत', दार्ध्वि- 'पूर्ण', दीदिवी- 'चमकदार', सुशिश्वि- 'सूजना या (गर्भ में) अच्छी तरह बढ़ना', तुल० शिशु- 'बच्चा'। यह प्रत्यय-संयोग अन्य भा० यू० भाषाओं में, उदाहरणार्थ लैटिन में, भी मिलता है, जहाँ सभी प्राचीन विशेषणगत उ- प्रातिपदिकों के स्थान पर वि- प्रातिपदिक आ गए हैं : लॅविस् (levis) 'हलका' (संस्कृत लघु-), मॉल्लिस् (mollis) 'कोमल' (संस्कृत मृदु), ब्रेविस् (brevis), ग्रविस् (gravis), आदि।

इसके विपरीत -उ प्रत्यय -इ प्रत्यय के साथ जोड़ दिया गया है, जो संयुक्त प्रत्यय -यु को उत्पन्न करता है— : यज्यु- 'पवित्र', शुन्ध्यु- 'शुद्ध', सह्यु- 'मजबूत', मन्यु- पुं० 'क्रोध', मृत्यु- पुं० 'मरण' (अवे० मॅरॅथ्यु-

(mərə?yu–), दस्यु– 'डाकू', भुज्यु– 'धनवान्'। संस्कृत में यह प्रत्यय मुख्यतः एक गौण प्रत्यय के रूप में विकसित हुआ है : दुवस्यु– 'पूजा करता', उदन्यु– 'सींचता', अध्वर्यु– 'एक विशेष पुरोहित'। यह प्रत्यय विशेषतः नाम धातुज क्रियापद के आधार से संबद्ध हो गया है, देवयु– 'पवित्र'; देवयति– 'वह पवित्र है', आदि, और यह इच्छाबोधक अर्थ का वहन करने लगता है, वसूयु– 'धन चाहने वाला', आदि। यह रूप वेद में बहुत उत्पादक है, किन्तु परवर्ती भाषा में करीब-करीब पूर्णरूप से लुप्त हो गया है।

१७. संयोजक स्वरध्वनि के रूप में इ प्रत्यय

यह संकेत ऊपर किया जा चुका है कि कुछ दशाओं में त् प्रत्यय ने एक आगम अथवा मूल धातु और प्रत्यय के बीच के किसी खास आदेश का रूप ग्रहण किया है (कृ–त्–य– 'करने योग्य', आदि)। इ प्रत्यय भी इसी तरह संस्कृत में एक विस्तृत मात्रा में प्रयुक्त मिलता है। धातु और प्रत्यय के बीच या धातु और विभक्तिचिह्न के बीच एक जोड़ने वाली कड़ी के रूप में इ का प्रयोग विशेष रूप से क्रियाजन्य शब्दरूपों में प्रचलित है। भारतीय वैयाकरण इस प्रकार प्रयुक्त इ को इट् कहते हैं और उनकी विभक्तिप्रक्रिया के अनुसार इस प्रकार के इ का ग्रहण करने वाले रूप सेट् (इट् सहित) कहलाते हैं, और जो रूप इस इ का ग्रहण नहीं करते वे अनिट् (इट् रहित) कहलाते हैं। क्रियापद की ये दोनों कोटियाँ निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट की जा सकती है :

(१) वर्तमानकाल धातु-वर्ग, ईशिषे, ईशिध्वे, ईशिरे; भविष्यत्काल पतिष्यति, भविष्यति, वर्धिष्यति; भूतकाल–इष्, अरोचिषम्, अजीविषम्; सन्नन्त रूप जिजीविषामि; परोक्षभूत उत्तम पुरुष ब० व० परस्मैपदी बुबुधिम, तेनिम, प्रथमपुरुष आत्मनेपदी बुबुधिरे, तेनिरे; कर्मणि कृदन्त निष्ठारूप शङ्कित–, लज्जित–; पूर्वकालिक क्रियारूप पतित्वा, याचित्वा; तुमन्त रूप वर्धितुम्, याचितुम्।

(२) वर्तमानकाल, धातुगण, अस्सि, वित्से, शेषे; भविष्यत्काल वक्ष्यति, छेत्स्यति; भूतकाल, –स् लुङन्त रूप अच्छैत्सम्, अद्राक्षम्; सन्नन्त रूप दिदृक्षति, विविस्तति; परोक्षभूत उत्तमपुरुष ब० व० परस्मैपदी चकृम, जगृभ्म, प्रथम पुरुष ब० व० आत्मनेपदी युयुज्रे, विविद्रे; कर्मणि कृदन्त निष्ठारूप कृत–, दृष्ट– पूर्वकालिक रूप छित्त्वा, कृत्वा; तुमन्त रूप कर्तुम्, द्रष्टुम्।

यह इ ऊपर वर्णित अन्य कृदन्त निष्ठारूपों और तुमन्त रूपों की अपेक्षा नामिक विकासों में भी पाया जाता है।

–तर् अन्तवाले कर्त्रर्थक संज्ञाशब्दों में यह अधिकतर तुमन्त और क्रियार्थक संज्ञा रूपों के साथ संयुक्त मिलता है : याचितर्, वर्धितर्, आदि, जो कर्तर्, द्रष्टर्–, आदि के विरुद्ध है। अन्य प्रत्ययों की अवस्था में उपलब्ध उदाहरण ये हैं : प्रथिमन्– 'प्रसिद्धि, विशालता', खनित्र– 'फावड़ा', रोचिष्णु– 'चमकदार', वरिवस्– 'चौड़ी जगह', अतिथि– 'मेहमान' (अवे० अस्ति– (asti) के विरुद्ध), द्रविन्नु– 'दौड़ता हुआ', आदि।

क्रियापदों में तथा अन्यत्र इस इ की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति का निर्देश करने वाला कोई भी सामान्य साधारण नियम बनाना संभव नहीं है, किन्तु सेट् रूपों का प्रयोग करने की एक ऐसी सामान्य प्रवृत्ति देखी जाती है, जहाँ असुविधाजनक व्यंजनसमूह विकसित हो सकता है (पुस्रिम, आदि), –इ– का प्रयोग वेद की अपेक्षा परवर्ती भाषा में अधिक विशिष्ट रूप में मिलता है। उदाहरण के लिये, वैदिक भाषा में भूतकालिक आत्मनेपद उत्तम पुरुष ब० व० में –रे और –इरे दोनों उपलब्ध हैं, जबकि लौकिक संस्कृत में केवल –इरे ही परिज्ञात है; परवर्ती संस्कृत में –इष्य अन्तवाले प्रातिपदिक भविष्यत्काल के तीन-चौथाई रूपों में मिलते हैं, जबकि प्राचीन भाषा में इससे कहीं अधिक (नौ में से पाँचवाँ हिस्सा) रूप केवल –स्य से बनाए गए हैं। इससे एक ऐसी प्रक्रिया चल पड़ी है, जो प्राग्-वैदिक काल में प्रचलित रह चुकी थी। प्राचीन ईरानी में, जो कि संस्कृत की निकटतम भाषा है, इस प्रकृति के बहुत कम शब्दरूप मिलते हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुख्यतः क्रियापदों में –इ– के प्रयोग का अधिक विस्तार भारतीय-आर्य का विशिष्ट विकास है। इतनी विपुल मात्रा में इसका ग्रहण, भारतीय-आर्य की विशिष्ट प्रवृत्ति के साथ स्पष्ट रूप से सम्बद्ध है।

धातुज और नामिक विकास में, ऐसी दशाओं में, जहाँ कि यह विद्यमान था, इ से प्रारंभ होने में अवश्य ही व्युत्पत्ति संबंधी औचित्य रहा होगा, तात्पर्य यह कि ऐसे रूप सामान्य रूप में अन्य प्रत्ययों से संयुक्त –इ प्रत्यय का वहन करते होंगे। इ से संबद्ध ऐसे कई प्रत्यय वर्णित किए जा चुके हैं, –इष्–, इष–, इर, आदि जो –इ प्रत्यय के आधार पर ठीक उसी तरह निर्मित हैं, जैसे कि –उष्–, –उष, –उर, आदि –उ प्रत्यय के आधार पर बनाए गए हैं। क्रियारूप प्रातिपदिकों को बनाने वाले प्रत्यय वही हैं, जो कि सम्बद्ध नामिक प्रातिपदिक को बनाते हैं। उदाहरणार्थ, –इष् अन्तवाले भूतार्थक लुङन्त रूप अरोचिषम् का (इष्) प्रत्यय नामिक रूप रोचिष्– 'कान्ति' में भी उपलब्ध है। चूँकि रोचिष्– 'कान्ति' –इ अन्तवाले प्रातिपदिक रोचि–, रुचि– का विस्तार है, धातुरूप भी मूलतः इ– प्रातिपदिक से बनाया गया है। इसी तरह

भविष्यत्कालिक स्य प्रत्यय नाम धातुज य प्रत्यय जोड़कर स– प्रातिपदिक से बनाया गया है (वृक्ष्य-ति, आदि प्रातिपदिक नमस्यति– कोटि के नामधातुज रूपों से केवल अपश्रुति में भिन्न हैं)। ठीक इसी तरह –इष्य अन्तवाले भविष्यत्रूप का भी प्रारंभ इष्– अन्तवाले प्रातिपदिक पर आधृत रहकर ही होना था। जहाँ तक भविष्य– आदि का सम्बन्ध है, ये प्रातिपदिक उश्य– अन्तवाले नामधातुज रूपों के बिलकुल समानान्तर है, और ऋग्वेद में इस तरह के अनेक रूपों का वर्गीकरण स्पष्ट रूप से नामधातुओं के रूप में किया गया है। ऐसे रूप अविष्यति, सनिष्यति हैं, जिनके ऐसे नामिक रूप (अविष्या, अविष्यु, सनिष्यु–) भी मिलते हैं, जो कि सामान्यतः नामधातुओं से संयुक्त तो हैं, पर भविष्यत्कालिक रूप के साथ संयुक्त कभी नहीं मिलते।

–इत अन्तवाले निष्ठारूप, जहाँ –इ को मौलिक समझा जा सकता है, एक ऐसे इ– प्रत्यय से सम्बद्ध हैं, जो अन्यत्र धातु के विभक्तिजनित रूप में मिलता है। यह एक ऐसी अवस्था है, उदाहरणार्थ सित– 'बँधा हुआ' (सा– 'बाँधना') में, जिसमें इ– प्रत्यय इतनी बहुतायत में धातु से सम्बद्ध है कि केवल धातु (लुङन्तरूप असात्) तुलनात्मक दृष्टि से अत्यन्त दुर्लभ हो गया है; उदा० स्–यति– 'बाँधता है', स्–ए–तवे– 'बाँधने के लिये', सिषाय– 'बाँधा', आदि। इसी तरह निष्ठारूप कृदन्तों का –इत अन्य –आ अन्तवाले धातुओं (शित– 'तीक्ष्ण', दित– 'बँधा हुआ', स्थित– 'ठहरा हुआ', आदि) से उत्पन्न होता है। प्रेरणार्थक और दशमगणीय धातुओं के निष्ठारूप (गमित–: गमयति, आदि) के ही अन्तर्गत वह प्रत्यय भी आता है, जो वर्तमानकालिक रूपों को बनाने के लिये प्रयुक्त होता है, और तुलनात्मक प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रक्रिया प्राचीन (तुल० गाथिक गतर्हिप्स् (gatarhips) : गतर्ह्यन् (gatarhjan); वसिप्स् (wasips) : वस्यन् (wasjan), आदि) है। ठीक यही संवंध –इत प्रत्यय वाले निष्ठारूपों और चतुर्थ (दिवादि) गणीय वर्तमानकालिक रूपों (कुपित : कुप्यति, तुल० लैटिन कुपिओ (cupio), कुपीतुस् (cupītus)) अथवा विकरणहीन –इ प्रत्ययवाले वर्तमानकालिक रूपों (स्तनित–: स्तनिहि, तुल० आगे स्तनयित्नु–, तन्यतु–, प्रा० स्ला० स्तेन्यो (stenjǫ), आदि, इस धातु के साथ इ– प्रत्यय के प्रचलन के लिये) में देखा जाता है। इसी तरह का उ– प्रत्यय का संयोग दभ्– धातु से विकसित अद्भुत– और अनतिद्भुत–, (वर्तमानकाल दभ्–नू–ओ–ति) में दिखाई पड़ता है।

इसी तरह कर्त्रर्थक संज्ञाशब्दों में –तर् के साथ –इतर् को हम इस तरह निर्दशित कर सकते हैं : मर्डितर्– 'क्षमा करने वाला', तुल० मृडयति, मृडतार्कु– मृडीक– (अवे० मॅरॅज़्दिक mərəzdika–), पनितर्– 'प्रार्थना करने वाला',

तुल० पुनर्यति, पुनायति, पनिष्ट, लुङन्त रूप पुनुयाय्य, पनिष्टि–); इसी तरह वुर्धितर्–, वुर्धय–, चोदितर्–: चोदय–, आदि। उ– प्रत्यय के सम्बन्ध में प्रसंग-वश एक इसी तरह के विकास के द्वारा यह प्रक्रिया निदर्शित की जा चुकी है। कर्त्रर्थक संज्ञाशब्दों तरुनर्– 'विजेता', धनुतर्– 'तेजी से दौड़ने वाला' और सनुतर् 'जीतता हुआ' में –उ प्रत्यय जुड़ा हुआ है, जो वर्तमानकाल में है (तरुते, तूर्वति; धन्वति, सनोति) तथा अन्यत्र (तरुष– आदि) भी पाया जाता है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि बहुसंख्यक धातुरूपों और नामिक विकासों में इ शब्दरचना की दृष्टि से प्रयुक्त किया गया था, और इन अवस्थाओं में इसका पदच्छेद अन्य सम्बद्ध समस्त प्रत्ययों के पदच्छेद से भिन्न नहीं है। भारतीय आर्य ने, केवल इस तरह के कतिपय रूपों के आधार पर धातुज विकासों में इ के प्रयोग को बहुत बड़ी मात्रा में प्रसारित करने का काम किया है।

इस प्रकार प्रयोग में बहुलता से पाया जाने वाला साहसजनित 'इ' सामान्य विश्लेषण का विषय नहीं बना रहता और यह संयोजक स्वरध्वनि अथवा उच्चारण सौकर्यार्थ आगम बन गया है।

इ जो कतिपय विभक्ति चिह्नों के वैकल्पिक रूपों में उपलब्ध है (चकृ–म, आदि के साथ-साथ पुप्तृ– इम) मूल में प्रत्यय का ही अंश था। अन्यत्र उपलब्ध समानान्तर (लैटिन कपिओ (capiō), कपिस् (capis), कपित् (capit), आदि) रूपों वाले कुछ –इ अन्तवाले विकरणविहीन वर्तमान-कालिक रूप भी मिलते हैं (स्वुपिति, श्वसिति, अनिति, जक्षिति, आदि)। ये रूप दूषित हैं, और चूँकि ये अब पूर्ण वर्तमानकालिक पद्धति का निर्माण बिलकुल नहीं कर पाते, उन्हें धातुगण के साथ संयुक्त कर दिया गया है, जिसमें इ का प्रयोग एक संयोजक स्वरध्वनि के रूप में किया गया है। कुछ छिटपुट ऐसे परोक्ष भूतकालिक रूप भी हैं (अजयित्, बाधिथाः, अतारिम, अवादिरन्, अस्थ्–इथाः, अस्थिरन्, आदि), जो इष्– वाले लुङ् से जोड़ दिए गए हैं।

क्रियापदों की यह कोटि इ– प्रातिपदिक पर आधृत है, ठीक इसी तरह जैसे कि वैदिक तरुते, उ– प्रातिपदिक पर आधृत है, इसीलिये मूलतः यहाँ का इ अन्यत्र उपलब्ध प्रत्ययगत इ से भिन्न नहीं है। किन्तु इसने विभक्तिचिह्नों के साथ जुड़ जाने से गुण का वहन किया है और तब इस वर्तमानकालिक विभक्ति-चिह्नों की कोटि को भूतकाल में परिवर्तित होने योग्य बना दिया है। भूतकालिक प्रातिपदिक केवल धातु पर आधृत है, जिससे परोक्षभूते रूपों में 'इ' को केवल उपर्युक्त कोटि के वर्तमानकालिक तथा भूतकालिक रूपों से गृहीत माना जा सकता है, जहाँ इसकी सत्ता नैरुक्तिक दृष्टि से प्रमाणित है (बुबुधिम, दुद्रिम, बुबुधिरे, दुधिरे, आदि; अतारिम, ईषिरे आदि के आधार पर)

१८. आ, ई, ऊ, प्रत्यय

–आ प्रत्यय के दो कार्य हैं; एक तरफ यह –अ अन्तवाले विशेषणों के स्त्रीलिङ्ग रूप बनाता है (बाल– पुं० 'बालक', बाला स्त्री० 'लड़की), और दूसरी ओर यह विकास के स्वतंत्र प्रत्यय के रूप में मिलता है, जो कर्मार्थक संज्ञाशब्दों, भाववाचक संज्ञाशब्दों तथा इसी तरह के अन्य रूपों को उत्पन्न करता है। इन दो, विशेषणगत और विशेषणरहित कार्यों को करते समय इसके साथ ऊपर स्पष्ट किए गए प्रत्यय भी मिलते हैं, किन्तु यह उन प्रत्ययों से इस माने में भिन्न है कि इसका विशेषण रूप में प्रयोग स्त्रीलिङ्ग रूपों की रचना तक ही सीमित है। अतिप्राचीन भारत-यूरोपीय में स्त्रीलिङ्ग के उपस्थित न रहने से विशेषीकरण का यह परिणाम हुआ है, और इस विशेषणगत –आ के विकास के फलस्वरूप कर्त्रर्थक संज्ञाशब्दों ने भी, जो कि सामान्य नपुंसकों (आ अर्थात् –अ ? (a H), जैसे कि –अस् , –अर् , आदि) से आरम्भ होकर उनसे भिन्न नहीं थे, स्त्रीलिङ्ग का वहन कर लिया है।

कर्मबोधक संज्ञाशब्दों तथा इसी तरह के आकारान्त विभक्ति चिह्नवाले रूपों के उदाहरण संस्कृत में निम्नलिखित हैं : क्रीडा 'खेल', दया 'दया', निन्दा 'निन्दा', शङ्का 'सन्देह', हिंसा 'चोट', क्षमा 'धैर्य, क्षमा', भाषा 'बोली', सेवा 'नौकरी', स्पृहा 'इच्छा', शाखा 'विभाग, शाखा', शिफा 'चाबुक, कोड़ा', (तुल० अवे० सिफ़्– (sif–) 'कोड़े से मारना'), आशा 'दिशा', उखा 'पात्र विशेष', उल्का 'टूटता तारा', वेना 'अभिलाषा', क्षपा 'रात', छाया 'परछाईं' (तु० ग्रीक स्किअ (skiá), जरा 'बुढ़ापा', दोषा 'सायंकाल', रसा 'आर्द्रता', (प्रा० स्ला० रोसा (rosa), लिथु० रसा (rasà) 'ओस')। इस तरह के रूपों के स्वराघात के बारे में कोई निश्चित नियम नहीं है, किन्तु पदान्त में स्वराघात अधिक प्रचलित है; ग्रीक में सम्बद्ध रूपों (गोने, gonḗ आदि) में पदान्त में स्वराघात का नियम है। स्वराघात के विभाजन के बारे में प्राचीन सामान्य नियम इस वर्ग में किसी तरह की अनुरूपता लाने का काम बहुत समय से स्पष्टतः बन्द कर चुका है।

–आ प्रत्यय सामान्य ढंग पर अन्य प्रारम्भिक प्रत्ययों के साथ जोड़ दिया गया है, जो समस्त प्रत्ययों की एक तालिका को उत्पन्न करता है :

–ना : तृष्णा 'प्यास', ऊर्णा 'ऊन', (अवे० वरॅना (varənā), लिथु० विल्ना (vilna), आदि; –अना : जरणा 'पुराना जमाना', अर्हणा 'कीमत, योग्यता', कृपना 'झिनगा (एक तरह का कीड़ा)' (तु० ग्रीक कम्पे (kámpē) 'वही'); –रा, सुरा 'कड़ा पेय (शराब)' तमिस्रा 'अन्धकार'; सा, मनीषा 'विचार, बुद्धि';

–त्रा, जिह्वा 'जीभ' अवे० हिज़्वा (hizvā),), ग्रीवा 'गर्दन' (प्रा० स्ला० ग्रिवा (griva) 'अयाल'), अमीवा 'बीमारी', अप्वा 'एक तरह की बीमारी', दूर्वा 'दूब'; –या, जाया 'पानी', माया 'इन्द्रजाल, अलौकिक, अमानवी शक्ति', इज्या 'प्रणाली', विद्या 'ज्ञान', क्रिया 'कार्य', समज्या 'सभा', आदि; –ता, कृष्णता 'कालापन', आदि-आदि।

इसी तरह ई प्रत्यय खास तौर पर विशेषणों से मुख्यतः हलन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग रूप बनाने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। इसके साथ ही प्रारम्भिक कर्मबोधक संज्ञाओं तथा इसी तरह के शब्दों की एक छोटी सी संख्या भी उपलब्ध हैं। ऐसे रूप ये हैं :

(अ) देवी– कोटि के रूप : शची 'शक्ति', शमी 'पवित्र कार्य', तविषी 'बल', आसन्दी 'चौकी'।

(ब) वृकी– कोटि के रूप : नदी 'नदी', देही– 'भींत, चहारदीवारी', स्तरी– 'बाँझ गाय' (ग्रीक स्तेइर (steira), सूर्मी 'नली', सृणी– 'हँसुआ', पलाली– 'तिनका', स्फिगी– 'नितम्ब', नान्दी 'आनन्द', अथरी– 'यश', श्रोणी– 'छाती', च्योनी– 'बाढ़', खारी– 'एक नाप', चक्री– 'पहिया', तन्द्री– 'आलस्य, भारीपन, थकावट', तपनी 'गर्मी', लक्ष्मी– 'चिह्न, शुभलक्षण, सौभाग्य', तरी– 'नौका, बेड़ा' तन्त्री–'वीणा'।

–ऊ प्रत्यय उकारान्त प्रातिपदिकों को स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिये प्रयुक्त होता है (–वी का प्रयोग विकल्प से होता है, अथवा अपरिवर्तित प्रातिपदिक स्त्रीलिङ्ग के रूप में कार्य करता है), उदाहरण पुँल्लिङ्ग रूपों तनु–, फल्गु–, बभ्रु से सम्बद्ध रूप तनू– 'पतला', फल्गू– 'निष्फल, व्यर्थ, बभ्रू– 'भूरा', यह प्रत्यय कुछ स्वतन्त्र संज्ञाशब्दों को भी उत्पन्न करता है, चमू– 'थाली', तनू– 'शरीर', वधू– 'पत्नी', कद्रू– 'सोमपात्र', जतू– 'चमगादड़', धनू– 'बलुआ किनारा', नभनू– 'कूँआँ', श्वश्रू– 'सास' (प्रा० स्ला० स्वेक्र्य् (svekry), लैटिन सेक्रुस् (socrus)।

इस प्रत्यय में स्थित संस्कृत आ प्रत्यय भारत-यूरोपीय में अन्ततः स्वयं थिमैटिक स्वरध्वनि + ? (H) का रूप धारण कर लेता है। इसी तरह ई और ऊ क्रमशः –इ–? और –उ–? का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस रूप में इन तीनों प्रत्ययों की तीनों स्– अन्तवाले प्रत्ययों –अस्, –इस्, –उस् के साथ समानान्तरता स्पष्ट होती है। सामान्य प्रत्यय –अ? है, जो नपुंसक –अस् प्रत्यय की तरह गुण के साथ उपलब्ध है, और समस्त प्रत्यय –इ ? और –उ ? में प्राचीन नपुंसक प्रत्यय –इ और –उ अन्तवाले प्रातिपदिक प्रत्ययगत –? के द्वारा विस्तारित कर दिए गए हैं, ठीक उसी तरह जैसे कि वह –इस् और –उस् प्रत्ययसंयोगों में स् के द्वारा विस्तारित कर दिए गए हैं। इस प्रकार शमी स्त्री०,

शर्मि नपुं० (अव्यय) का विस्तार है (तुल० अर्चि– और अर्चिष्– का सम्बन्ध आदि) और धन्वन्– नपुं० के साथ-साथ धनू स्त्री० 'बलुआ किनारा' तथा धनुष्– नपुं० धनु– 'वही' (स्त्री०, मूलतः नपुंसक) के ही वैकल्पिक विस्तार हैं। ये दोनों समस्त प्रत्यय कभी-कभी गुण के साथ पाए जाते हैं (वात्या 'अंधड़', जिह्वा 'जीभ') जैसे कि यही बात वैकल्पिक रूप से अन्य नपुंसक प्रत्ययसंयोगों के साथ है, वरिवस् आदि। ?– तथा स्– अन्तवाले प्रत्ययों के बीच ठीक यही साम्य प्रारम्भिक कर्मबोधक संज्ञाशब्दों को बनाते समय अधिकांश उदाहरणों में दिखाई पड़ता है, जिनमें ये दोनों प्रत्यय समानार्थक रूपों में साथ-साथ पाए जाते हैं : तना, तनस् 'अंकुर', जरा, जरस्– 'बुढ़ापा', तनू, तनुष्– 'शरीर' धनू-, धनुष्, आदि। अन्य प्रारम्भिक नपुंसक प्रत्ययों की तरह इस –आ प्रत्यय का कोई खास अर्थ नहीं है और –आकारान्त प्रातिपदिक अधिकतर मूल संज्ञाओं के सहित साथ-साथ रहते हैं, यह विस्तार अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं करता : क्षप्–, क्षपा 'रात', तन्–, तना 'अंकुर', दिश्–, दिशा– 'दिशा', आदि।

आ, ई, ऊ अन्तवाले कर्मबोधक संज्ञाशब्द यथार्थतः ठीक उसी ढंग पर बनाए जाते हैं, जैसे नपुंसक कर्मबोधक संज्ञाशब्द अन्य प्रत्ययों से, किन्तु ये स्त्रीलिङ्ग बनकर उनसे भिन्न हो जाते हैं। चूँकि स्त्रीलिङ्ग तुलनात्मक दृष्टि से भारत-यूरोपीय में परवर्ती विकास है, यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि ये प्रातिपदिक मूलतः नपुंसक थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण युगा कोटि वाले रूपों के नपुंसक बहुवचनों से उपलब्ध है। यह –आ ठीक वैसा ही है जैसा कि –आ प्रत्यय, जो समूहबोधक (कुछ अन्य नपुंसक प्रत्ययों की ही तरह) रूप में, और अन्ततः बहुवचन रूप में प्रयुक्त किया गया है। इस प्रयोग में यह प्रत्यय अभी भी कर्त्रर्थक और कर्मार्थक शब्दों के बीच स्थित भेद के सादृश्य को सुरक्षित रखे हैं, जो नपुंसक प्रातिपदिकों को विशेषीकृत करता है। इन कर्मबोधक संज्ञाशब्दों के स्त्रीलिङ्ग होने का कारण यह है कि ये प्रत्यय अपने विशिष्ट प्रयोग में स्त्रीलिङ्ग के रूप में विशेषीकृत हो गये और फलस्वरूप कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों ने सादृश्य बनाए रखने की दृष्टि से उनका अनुकरण किए।

हम यह देख चुके हैं कि नपुंसक कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों में सामान्य स्वराघात प्रकृत्यंश पर था। इन प्रातिपदिकों की रचना में सामान्य पद्धति का चिह्न बहुत ही कम अवशिष्ट है। –आ अन्तवाले प्रातिपदिकों का स्वराघात परिवर्तनशील है, जिसमें नियमों का ठीक अभाव परिलक्षित होता है, जो इ– प्रातिपदिकों में देखा गया था। ई तथा ऊ अन्तवाले संज्ञाशब्द पदान्त पर, नियमित स्वराघात का वहन करते हैं। यह स्वराघात सामान्य नियम के पूर्ण विरोध में है, किन्तु दुर्बल प्रत्ययवाली अपश्रुति, और धात्वंश पर का गुण (तनू–, देहि)

इस बात की ओर संकेत करते हैं कि यह मौलिक नहीं है; केवल प्रकृत्यंशगत स्वराघात का ही परिगणन इस तरह के रूपों के लिये हो सकता है, भा० यू० तेनु ? (ténu H), आदि। –इष् अन्तवाले नपुंसक प्रातिपदिकों में उदात्त स्वर का समानान्तर परिवर्तन परिलक्षित हुआ था, हुविष्–, आदि।

अन्य नपुंसक प्रत्ययों के साथ एक ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है, जिसमें या तो न् प्रत्यय अन्य प्रत्ययों के स्थान पर प्रयुक्त होता है या उनके साथ जोड़ दिया जाता है। उस प्रक्रिया के कतिपय चिह्न यहाँ दिए गए हैं। अवेस्ता में कुन्या 'लड़की', अवे० कइन्या (kainyā) से सम्बद्ध सम्बन्ध (षष्ठी) एकवचन रूप कइनीनो (kainīnō) मिलता है, जो इससे ठीक उसी तरह सम्बद्ध है, जैसे कि संस्कृत शीर्ष्णः, शिरः के साथ। संस्कृत में प्रातिपदिक का यह रूप वैदिक षष्ठी ब० व० रूप कुनीनाम् में दिखाई पड़ता है। षष्ठी व० व० में यह –न्– प्रचलित है और संस्कृत तथा जर्मनी (प्रा० हाई जर्मन गेबोनो (gebōno), प्राचीन-नोर्स रुनोनो (runōno)) के बीच की समानता से इस बात का संकेत मिलता है कि आकारान्त प्रातिपदिकों में इसकी उपस्थिति पीछे भा० यू० तक परिलक्षित है। ऐसा लगता है कि यह –न् निपातजनित न्– प्रत्यय है, जो षष्ठी व० व० में प्रचलित हो गया है, किन्तु अन्यत्र परित्यक्त है, यद्यपि अवे० कइनीनो (kainīno) से इस बात का पता चलता है मूलतः यह किन्हीं अन्य अवस्थाओं में पाया जा सकता था।

–आ अन्तवाले प्रातिपदिक कतिपयसंख्यक क्रियाविशेषणों को बनाने के लिये प्रयुक्त होते हैं, ठीक उसी तरह, जैसे कि ऊपर नपुंसक प्रत्ययों के साथ किया गया है। इस तरह के उदाहरण हैं: सदा– 'हमेशा', पुरा– 'पहले', द्विता– 'द्विगुणित से', मृषा– 'झूठ', सचा– 'साथ' देवता– 'देवताओं में', सुस्वर्ता– 'गुप्तरूप से'। इसी वर्ग में –त्वा और –त्वी अन्तवाले पूर्वकालिकरूप हैं (देखें ऊपर § १४)।

अपने विशेषणगत कार्य में ये प्रत्यय मुख्यतः विशेषण आदि के स्त्रीलिंग प्रातिपदिक बनाने के लिये प्रयुक्त होते हैं: नवा– 'नया', देवी– 'देवी', मधू– 'मीठा', आदि। परवर्ती भा० यू० युग में विशेषीकरण का ही यह फल हुआ है। मूलतः, यह अवश्य माना जाना चाहिए कि विशेषणगत –आ, –ई, –ऊ विशेषण की तरह प्रयुक्त अन्य प्रत्ययों की समता पर थे, अनिश्चित लिंग वाले थे, और इनका कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों के साथ सामान्य सम्बन्ध था। कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों की तरह प्रयुक्त आकारान्त प्रातिपदिकों के अधिकांश सामान्य प्रयोग के चिह्न बहुत सी भाषाओं में अवशिष्ट हैं, जिनमें कतिपय आकारान्त पुंल्लिंग कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द अब भी उपलब्ध हैं: लैटिन स्क्रिब (scriba), अग्रिकोल

(agricola), नउत (nauta), ग्रीक नउतेस् (naútēs), पोलितेस् (politēs), प्रा० स्ला० स्लुग (sluga) 'सेवक' आदि। इस तरह के प्रातिपदिक भारत-ईरानी से पूर्ण रूप में लुप्त हो गए हैं, किन्तु वैदिक भाषा में –ई अन्तवाले बहुत से पुंल्लिग प्रातिपदिक अवशिष्ट हैं, जिनमें अत्यधिक प्रचलित रूप रथी– 'रथ पर सवार' है, साथ ही साथ दो अत्यंत दुर्लभ और अप्रसिद्ध ऊकारान्त रूप हैं (प्राशू–, कृकदाशू–)। ये रूप एक ऐसी प्राचीन प्रक्रिया के अवशेष हैं, जिसमें इन प्रत्ययों से सामान्य कोटि के विशेषण और कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द ठीक उसी तरह बनाए जाते रहे हैं, जैसे कि अन्य प्रत्ययों से।

कतिपय प्रमाण कि इस वर्ग के विशेषणों और कर्मार्थक संज्ञाओं के बीच मूलतः एक औपचारिक भिन्नता थी, वैदिक भाषा में –ई अन्तवाले प्रातिपदिकों के विभक्तिरूपों की दो कोटियों की सत्ता से उपलब्ध हैं। एक कोटि का प्रतिनिधित्व रथी शब्द के रूपों द्वारा किया गया है, प्रथमा ए० व० रथीः–, षष्ठी ए० व० रथियः, और दूसरी कोटि का प्रतिनिधित्व देवी शब्द के रूप करते हैं, प्र० ए० व० देवी, ष० ए० व० देव्याः । यह भेद इ– और उ– अन्तवाले प्रातिपदिकों की दोनों कोटियों के बीच स्थित भेद से बिलकुल सम्बद्ध है (षष्ठी ए० व० अर्य्यः, मध्वः, अग्नेः, बहोः)। इ– और उ– प्रातिपदिकों के बारे में इस बात का संकेत करने के लिये पर्याप्त प्रमाण था कि एक कोटि में नपुंसक कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों में प्रचलित शब्दरूप थे और दूसरी कोटि में विशेष विशेषणरूप। इसलिये यह संभव है कि –ई अन्तवाले प्रातिपदिकों के भिन्न विभक्तिरूपों का यही कारण हो। विशेषणों और कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों से बनाए गए स्त्रीलिंगों के अधिकतर रूप (देवी 'देवी', पृथ्वी 'चौड़ी', अदती 'खाती हुई', जगमुषी 'जाना चाहने वाली', नवीयसी 'अधिक नई', अवित्री 'सहायक', धेनुमती 'गायवाली', अमवती 'बलवती', सम्राज्ञी 'सम्राज्ञी', ऋतावरी 'पवित्र' और अपतिघ्नी 'अपने पति को न मारने वाली'—ये शब्द विभिन्न कोटियों को निदर्शित करते हैं) उसी तरह चलते हैं, जिसमें इस सिद्धान्त के अनुसार विशेषण रूप चलते हैं। प्रथमा द्वितीया एकवचन में दुर्लभ प्रातिपदिक इ– और उ– अन्तवाले प्रातिपदिकों के समानान्तर है। इस भिन्नता का उद्गम स्पष्ट नहीं है, किन्तु जैसा कि इ– और उ– प्रातिपदिकों के साथ यह मालूम पड़ता है कि विशेषण प्रातिपदिक का एक इससे भी अधिक मौलिक रूप षष्ठी ए० व० आदि में सुरक्षित है।

वृकी कोटि के प्रातिपदिकों के अंतर्गत कुछ फुटकर स्त्रीलिंग शब्दों के साथ-साथ कर्मबोधक और कर्त्रर्थक संज्ञाशब्द दोनों आते हैं। स्त्रीलिंगों के विभक्तिरूप (रथी–, षष्ठी ए० व० रथियः) और उनके स्वराघात –इन् अन्तवाले

विशेषणरूपों (व्रली, व्रलिनः) के स्वराघात के अत्यधिक समानान्तर हैं। इस परवर्ती कोटि के बारे में यह देखा गया था कि दुर्बल प्रातिपदिक का सामान्यीकरण (षष्ठी ए० व०, आदि, से, जिनमें मूलतः प्रत्ययांश पर स्वराघात था) गौण था, और तुलनात्मक साक्ष्य ने साधारण कोटि के वृद्धियुक्त मौलिक नामिक रूपों को संकेतित किया है। दुर्बल प्रातिपदिक के सामान्यीकरण की ठीक यही कोटि संभवतः रथी, वृकी, आदि के बारे में भी रही होगी, और अवेस्ता में विभक्तिरूपों की अधिक प्राचीन कोटि के अवशेष सुरक्षित हैं। अवेस्ता में 'जीभ' अर्थ के वाचक शब्द के रूप इस तरह चलेंगे : कर्त्ता ए० व० हिज़्व (hizva), कर्म ए० व० हिज़्वँम् (hizvąm), करण ए० व० हिज़्वा (hizvā), संबंध ए० व० हिज़्वो (hizvō), अधिकरण ए० व० हिज़्वो (hizvō), करण व० व० हिज़ुबिश् (hizubiš)। यह स्पष्ट रूप से विभक्तिरूपों की वह कोटि है, जैसी कि दाता, चतुर्थी ए० व० दात्रे, सखा, चतुर्थी ए० व० सख्ये, उक्षन्–, षष्ठी ए० व० उक्ष्णः, आदि तिर्यक् विभक्तियों में प्रत्यय के दुर्बल रूपों वाले शब्दों में पायी जाती है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है विशेषण विभक्तिरूप के दो प्रकार हैं, एक दुर्बल विभक्तियों वाला, जिसमें नपुंसकों में भी ऐसा ही रूप मिलता है (दात्रे आदि), और दूसरा प्रकार प्रत्यय के सबल रूप वाला तथा इन विभक्तियों में षष्ठी ए० व० विभक्तिचिह्न के दुर्बल रूप वाला (अवे० पितर्श् (pitarš), संस्कृत अग्नेः, आदि)। –इ अन्तवाले प्रातिपदिकों में ये दोनों प्रकार उपलब्ध हैं (सख्ये : अग्नये) और –ई अन्तवाले प्रातिपदिकों में वृकी– (षष्ठी ए० व० वृकियः) और देवी (षष्ठी ए० व० देव्याः) शब्दों के द्वारा इन दोनों प्रकारों का क्रमशः प्रतिनिधित्व किया गया है। शब्दरूप चलने की प्राचीनतम कोटि वही है, जो अवेस्ता में वा/ऊ (vā/ū) वाले प्रातिपदिक हिज़्व/उ में दिखाई पड़ती है। निपात –न्– को अलग रख दें तो शब्दरूपों की ठीक यही कोटि अवे० कइन्य, षष्ठी ए० व० कइनीनो (kainīno) और संस्कृत कन्या, षष्ठी ब० व० कनीनाम् में दिखाई पड़ती है। अन्यत्र दुर्बल प्रातिपदिक को, जैसे कि व्रली, व्रलिनः में, सामान्यीकृत कर दिया गया है। सबल रूप का सामान्यीकरण वैकल्पिक रूप से किया गया था, जिस अवस्था में कि आ– विभक्तिचिह्न के रूप में परिवर्तन हो जाता था : जिह्वा, जिह्वायाः।

केवल विशेषण शब्द महा 'बड़ा' ही संस्कृत में स्त्रीलिंग भिन्न आकारान्त विशेषण रूप बच रहा है, और यह दूषित है। समासों के अलावा, जहाँ यह लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त बचा रहा है, यह केवल वेद में द्वितीया ए० व० पुँल्लिग महाम् के रूप में उपलब्ध है। षष्ठी ए० व० आदि रूप महस् (महः) आदि के

रूप में मिलता है। अन्य भा० यू० भाषाओं में प्रकृत्यंश में ग् दिखाई पड़ता है (ग्रीक मेगस् (mégas) और संस्कृत का ह् (<घ्य्) एक संयोग के कारण है और ? (H), जो कि मूलतः प्रत्यय का अंश था। इसलिये मौलिक षष्ठी रूप मेग्य् ?-ऍस् (meĝ-H-és) था, जिसमें विभक्तिचिह्न पर स्वराघात था और जो विशेषण के प्रत्यय को दुर्बल बनाता था (तुल० उद्गः, आदि)। विकरणयुक्त और अन्य विकासों के वाहर एकमात्र यही स्थान है, जिसका जिक्र नीचे किया जायगा, जहाँ प्रत्यय का आ, अर्थात् अ? (aH) अपने दुर्बल रूप में दिखाई पड़ता है। अन्यत्र, कर्मबोधक संज्ञाओं और विशेषणों दोनों में सबल रूप ही सामान्यीकृत है, जिनके बीच कोई भी रचनागत भेद विद्यमान नहीं है। इस विशेषण के नपुंसक ए० व० में अतिरिक्त प्रत्यय -इ से युक्त एक प्रातिपदिक महि का प्रयोग किया गया है (मेग्य्-?-इ (meĝ-H-i), तुल० हित्ती मेक्कि (mekki-)।

थिमैटिक स्वरध्वनि तथा अन्य स्वरध्वनि वाले प्रत्यय, -अ? प्रत्यय से जोड़े जा सके थे और यह प्रत्यय स्वराघातविहीन होकर ? के रूप में दुर्बल कर दिया जाता था। यह ? संस्कृत में इस तरह चतुर्थ 'चौथा' को *चतुर्था (<० अ?) 'चौथापन, चार का समुदाय' + विशेषणगत -अ अर्थात् 'चार से सम्बन्ध, चौथापन', के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। इसी तरह रथ- 'रथ' शब्द *रोत् ?> लैटिन रोत् 'पहिया' में थिमैटिक प्रत्यय जोड़कर बनाया गया है। मूलतः एक विशेषण 'पहिये वाला' की तरह इस रूप में पीछे प्रकृत्यंश पर स्वराघात चला गया था, जैसा कि अन्य वहुत से संज्ञाभूत विशेषण रूपों में अक्सर होता रहता है (वृक- 'भेड़िया' आदि)। -त्-? अ में से समस्त प्रत्यय -थ अप्रचलित नहीं है: अर्थ- नपुं० 'उद्देश्य, ध्येय', वरूथ- नपुं० 'रक्षा', यजथ 'याग, पूजा करना', वक्षथ पुं० 'वृद्धि', शपथ पुं० 'कसम', सचथ- पुं० 'मैत्री', स्रवथ- पुं० 'प्रवाह', उचथ- नपुं० 'वचन', विदथ- नपुं० 'पूजा'; पदान्त पर उदात्त स्वर वाले, गाथ पुं० 'गीत', भृथ- 'देना'; (नपुं०) उक्थ- 'वचन', तीर्थ- 'घाट', यूथ- 'समुदाय', रिक्थ- 'दाय'। ऐसा लगता है कि इनमें से बहुत से रूप थिमैटिक ढंग से विस्तारित उन कर्मबोधक संज्ञाशब्दों के वर्ग के हैं, जो बिलकुल इस ढंग पर बनाए गए हैं, जैसे नक्षत्र-, पतत्र-, वर्धत्र-, आदि रूप ऊपर। पदान्त में स्वराघात वाले वे रूप अनुमानतः मूल में विशेषण रूप हैं, उदा० रिक्थ- 'छोड़ा गया'। इसी तरह -थि (अतिथि- 'अभ्यागत', आदि) और -थु (वेपथु- 'कंपन', आदि) प्रत्ययों में स्थित थ्, त् और ? प्रत्ययों का संयुक्त रूप है; तुल० -त्रि-, -त्रु।

इस प्रत्यय से संबद्ध महाप्राणों के अन्य उदाहरण ये हैं: सच्- 'जोड़ना'

सचा– 'साथ' में सामान्य अ? > आ (aH > ā) प्रत्यय) से सखि– 'मित्र'; *मक ? (maka H), जिसकी तुलना विरुद्ध र्– प्रत्ययवाले ग्रीक मकर् (mákar) (विशेषण के रूप में गृहीत प्राचीन नपुंसक रूप) से की जानी चाहिए, से मुख– 'प्रसन्न प्रमुदित', नुख– 'नाखून', जहाँ अंतिम रूप से क् और ? दोनों प्रत्यय के अंश हैं, यद्यपि अन्य भाषाओं में एक विपरीत प्रत्यय गु् है (लैटिन उन्गिस् (unguis) आदि), शुङ्ख– 'शंख', ग्रीक कोङ्खोस् (kógkhos) (विशेषणगत स्वराघात, मौलिक अर्थ 'घुमाया हुआ, लपेटा हुआ'), शुफ– 'खुर' 'चोट करनेवाला', तुल० ग्रीक कोप्तो (koptō) और स्लावी कोपीतो (kopyto), सिन्धु– 'नदी', सिन्द्–?–उ, तुल० स्यन्द्– 'बहना' के लिये; सधिष्– 'आसन, जगह, निवास', सद्–?–इष् के लिये; सद्– 'बैठना'; अघ– 'पापी' शायद *अर्ग ? के साथ-साथ आगंस्, ग्रीक अगोस् (ágos) 'पाप' से ।

१९. अन्य प्रत्यय

अवशिष्ट प्रत्ययों में –क् प्रत्यय बहुत महत्त्वपूर्ण है। अन्य भा० यू० भाषाओं में –क् तत्त्व एक अथिमैटिक प्रत्यय के रूप में उपलब्ध हो सकता है : लैटिन सेनेक्स् (senex) 'वृद्ध आदमी', ग्रीक मेइरज़् (meiraz) 'कुमार, कुमारिका'। यह वस्तुस्थिति संस्कृत में अनुपलब्ध है, जो इन रूपों से सम्बद्ध थिमैटिक प्रातिपदिकों का वहन करती है—सनक– 'बुड्ढा, पुराना' और मर्यक– 'तरुण पुरुष'। संस्कृत में प्रारंभिक शब्दरूपों में यह प्रत्यय बहुत कम उपलब्ध है; इस तरह के रूप हैं शुष्क– 'सूखा' (अवे० हुश्क (huška), श्लोक– 'आह्वान; यश; कविता' (: श्रु– 'सुनना') और अत्क– 'पोशाक' (अवे० अद्क– aδka)। सामान्यतः यह ध्वन्यात्मक प्रत्ययों के बाद जोड़ा जाता है, खासकर थिमैटिक स्वरध्वनि के बाद। परवर्ती कोटि अन्य भा० यू० भाषाओं में बहुत कम उपलब्ध है, जब कि संस्कृत में यह अत्यधिक प्रचलित है। उदाहरण ये हैं : दूरक– 'दूर', वम्रक– 'चींटी', अर्भक– 'छोटा', कुमारक– 'छोटा बच्चा', पुत्रक– 'छोटा पुत्र'। कभी-कभी यह केवल एक ऐसा विस्तार मात्र होता है, जिससे अर्थ में कोई फर्क नहीं पड़ता, किन्तु कुछ अवस्थाओं में यह भी अल्पबोधक अर्थ का वहन करता है, जैसा कि ऊपर के अन्तिम दो उदाहरणों में देखा जाता है। संज्ञाशब्दों से विशेषणशब्द बनाने के लिये इनका प्रयोग बहुत कम मिलता है : अन्तक– 'अन्त करनेवाला', रूपक– 'एक कल्पित रूप धारण करनेवाला'। अन्य ध्वन्यात्मक प्रत्यय भी इसी तरह विस्तारित किए गए हैं : अविका– 'भेंड़' (प्रा० स्ला० ओविच (ovica), मृडीक– नपुंसक 'दया', धेनुका–

'गाय', घातुक- 'मारनेवाला', जतूका- 'चमगादड़'। हलन्त प्रत्ययों के साथ यह बहुत कम जोड़ा जाता है : अणीयस्क- 'अत्यधिक बारीक', मस्तिष्क- 'दिमाग', निम्रिगत्क- 'नष्ट करता हुआ'। -इक अन्तवाले समास के स्त्रीलिंग का विस्तार इसके मूल क्षेत्र (अत्रिका, आदि) से भी अधिक कर दिया गया है, और -अक अन्तवाले पुंल्लिगों से स्त्रीलिंग के रूप में काम करवाने के लिये भी इसका प्रयोग मिलता है : कुमारक- 'छोटा लड़का', कुमारिका- 'छोटी लड़की', आदि।

क् प्रत्यय -इ से अनुगत है और इसलिये मरीचि- 'प्रकाश-किरण' और श्वितीचि- 'चमक' में उसका तालव्यीकरण हो गया है। पृदाकु- 'जलसर्प, डेडहा' और युवाकु- 'तुम दोनों का' जैसे कुछ रूपों में यह -उ द्वारा अनुगत है।

केन्तुम्- भाषाओं में सम्बद्ध प्रत्यय क् है, जिसके साथ संस्कृत में श् ध्वनि अत्यधिक संवद्ध है। किन्तु इस प्रत्यय के संवंध में केवल श् वहुत कम उपलब्ध है, उदा० युवश- 'जवान' (लैटिन युवेन्कुस् (iuvencus), रोमश- 'वालोंवाला', वभ्रुश- 'भूरा', कपिश- 'धूसर'।

यह मूल कण्ठ्य सघोषरूप ज् के रूप में तालव्यीकृत प्रत्यय निम्नलिखित अथिमैटिक शब्दरूपों में पाया जाता है : धृषज्–साहसी, वीर', सनज्- 'पुराना', भिषज्- 'वैद्य (तुल० अवे० °विश्, विशज़्–(°biš, bišaz–), स्रज्–'माला' (तु० प्रतिसर और लैटिन सेरो (sero)), तृष्णज्- 'प्यासा', अस्वप्नज्- 'न सोने वाला'; (प्रत्यय के दुर्बल रूप वाला), उषिज्- 'एक तरह का धर्मोपदेशक' (अवे० उसिग्- (usig–), वणिज् 'व्यापारी, दूकानदार', भुरिज्- 'कैंची, काटनेवाला', स्फिज्- 'नितम्ब' (: तुल० स्फ्य- 'लकड़ी का चम्मच')। नामिक रूप तृष्णज्- और अस्वप्नज् में हमें ठीक वैसा ही प्रत्यय-संयोग मिलता है, जैसा कि क्रियाओं के सप्तम गण की रूपरचना में प्रयुक्त है।

थिमैटिक -ग वहुत कम उपलब्ध है, उदा० शृङ्ग- नपुं० 'सींग' (तुल० लैटिन कोर्नु (cornu) आदि), वंसग- 'वैल' (अनिश्चित रचना वाला) पतग, पतङ्ग- 'पक्षी'।

प्रत्ययांश द् कुछेक अथिमैटिक रूपों में मिलता है : दृषद् 'पत्थर' (तुल० ग्रीक देइरस् (deirás) दरद्- (darad) 'घाटी, टीला, चट्टान' (थिमैटिक दरद- 'दरदजाति'), शरद्- 'शरद् ऋतु, पतझड़' (तुल० अवे० सरॅद् (sarəd)- 'साला'), भसद्- 'उत्तरकाल का, पृष्ठ भाग), वनद्- 'इच्छा', ककुद्- 'शिखर, वैल का कन्धा', (तुल० भिन्न प्रत्यय वाला ककु- भ्-) सदन्दि- 'स्थायी' (तुल० लैटिन भविष्यत्काल वाचक -न्द्-) में यह प्रत्यय न् से संयुक्त मिलता है।

इसी तरह घ् / ह् प्रत्यय अत्यन्त दुर्लभ है। यह दीर्घ 'लम्बा' (तुल० ग्रीक दोलिखोस् (dolikhós), हित्ती दलुगश् (dalugaš) में विद्यमान है; ध्यान रहे कि इन तीन भाषाओं में तीन विभिन्न प्रत्ययों द्वारा यह प्रत्यय अपने पूर्व में रख लिया गया है, हित्ती उ, ग्रीक इ, संस्कृत ? अर्थात् दल्- ? घो-)। इस प्रत्यय से रहित धातु प्रा० स्ला० द्लिन्ग (dlinga) 'लम्बाई' में उपलब्ध है। अन्य दशायें वराह- 'सुअर' (अवे० वराज़-; लैटिन में वेर्रेस् (verrēs) आदि), सरघ्- 'मधुमक्खी' हैं, और शीघ्र- 'तेज (: भिन्न प्रत्यय वाला शीभम्- क्रिया-विशेषण 'जल्दी से') में यह प्रत्यय र् से संयुक्त मिलता है।

प्रत्ययांश ध् कई समासों में मिलता है। -ध्र प्रत्यय वध्र- 'चिमटा' (: वरत्रा 'वही') में मिलता है; यह प्रत्यय कतिपय अन्य भा० यू० भाषाओं में भी प्रचलित है। -ध्य- प्रत्ययसंयोग गमध्यै 'जाने के लिये', भरध्यै 'वहन करने के लिये', सहध्यै 'सहन करने के लिये' जैसे तथा और भी इसी तरह के (करीब पैंतीस उदाहरण) तुमन्तों में दिखाई पड़ता है।

प- प्रत्यय यूप- 'यज्ञस्तम्भ' (यु- 'जोड़ना, गाड़ना', तु० ऊ के लिये यूथ- 'समुदाय') और स्तूप- 'ऊपर की गाँठ' (तुल० *स्तु और स्तुका 'वही') जैसे कतिपय उदाहरणों में मिलता है।

अथिमैटिक -भ् प्रत्यय ककुभ्- 'शिखर, स्कन्ध' (तुल० ककु-द् ऊपर), में मिलता है और थिमैटिक -भ बहुत कम संज्ञारूपों, ज्यादातर जन्तु-वाचक संज्ञाशब्दों, में पाया जाता है : वृषभ- और ऋषभ- 'बैल', गर्दभ- 'गधा', रासभ- 'वही', शलभ- 'पतंगा', स्थूलभ- 'स्थूल',। इस प्रत्यय का जन्तुवाचक संज्ञाशब्दों में विशेषीकरण अन्य भा० यू० भाषाओं में भी परिज्ञात है : ग्रीक एलफोस् (élphos) 'बारहसिंघा', प्रा० स्ला० गलोँबि (galǫbĭ) 'बतक', आदि।

यह प्रत्यय संस्कृत और भा० यू० प्रत्ययों की सूची को पूर्ण करता है। जैसा की हम आगे देखेंगे समस्त भा० यू० व्यंजन (हल्) प्रत्यय-प्रक्रिया के अंगभूत तत्त्वों के रूप में प्रयुक्त किए जाने के योग्य थे।

२०. व्युत्पन्न शब्दों में वृद्धि

वृद्धि के प्रयोग में संस्कृत ने एक ऐसी विकास-पद्धति को विकसित किया है, जो अन्य भा० यू० भाषाओं में पूर्ण रूप से अपरिज्ञात थी। यह बहुत से ऐसे प्रत्ययों के साथ प्रयुक्त मिलती है, जो वृद्धि के साथ संयुक्त न होकर भी अपना कार्य निर्वाह कर सकते हैं, और इसी रूप में उनका प्रयोग हुआ है। इस विकास-पद्धति का प्रयोग प्रारम्भिक विकास के विरुद्ध, एक गौण विशेषता है।

प्राचीनतर भाषा में वृद्धिरहित वैकल्पिक रूप विद्यमान हैं। इस तरह अ प्रत्यय (सामान्यतः स्वराघातयुक्त), जो कि प्राचीन नपुंसक प्रत्ययों के आधार पर विशेषण रूपों को बनाता है, वृद्धि के साथ संयुक्त किया जा सकता है, उदा० मनुष– 'मानव' के साथ-साथ मानुष– मानव संबंधी; मनुष्य', और वपुष्–से विकसित वापुष– सुन्दर, वपुष– । शब्दरचना की इस कोटि को विभिन्न प्रत्ययों के आधार पर वर्गीकृत कतिपय उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

अ– प्रत्यय : आङ्गिरस– 'अङ्गिरस् के गोत्रज', मारुत– 'मरुतों से संबंधित', मानव– 'मनुष्यसम्बन्धी, आदमी', जैत्र– 'विजयशील', औशिज्– 'उशिज्– नामक पुरोहितों से सम्बद्ध–', मार्डीक– नपुं० 'दया'।

–य प्रत्यय : दैव्य– 'दैवी', सौम्य– 'सोम से सम्बन्धित', वायव्य– 'वायु-सम्बन्धी'; नपुंसक भाववाचक शब्द पालित्य– 'सफ़ेदी', आर्त्विज्य– 'पौरोहित्य कर्म'

–इ प्रत्यय : आग्निवेशि– 'अग्निवेश के वंशज–', पौरुकुत्सि– 'पुरुकुत्स के वंशज'। यह कोटि भी प्रायः पूर्णतः गोत्रवाचक शब्दों तक ही सीमित है।

–आयन प्रत्यय : गोत्रनाम, काण्वायन–, दाक्षायण–, आदि।

ईय– प्रत्यय : पार्वतीय– 'पर्वतसम्बन्धी'। यह कोटि वस्तुतः परवर्ती भाषा तक ही सीमित है।

–क प्रत्यय : मामक– 'मेरा', आवश्यक– 'जरूरी', वासन्तिक– 'वसन्त-ऋतु सम्बन्धी', धार्मिक– 'धर्मनिष्ठ', आदि; यह कोटि मुख्य रूप से परवर्ती भाषा तक सीमित है, और इसके कतिपय वैदिक उदाहरण निर्दशित किए जा चुके हैं।

–एय प्रत्यय : आर्षेय– 'ऋषि के वंशज', जानश्रुतेय– 'जनश्रुति का पुत्र', वास्तेय– 'वस्ति सम्बन्धी', (वस्ति–), पौरुषेय– 'पुरुष सम्बन्धी', आदि।

अन्य प्रत्ययों से युक्त विकासजनित वृद्धि अत्यधिक कम है; इस तरह के रूप आग्नीध्र– 'आग सुलगाने वाले का' (अग्नीध्–) और आश्वीन– 'घोड़े की पीठ पर एक दिन की यात्रा।'

वृद्धि के इस प्रयोग के विकास का ठीक-ठीक विवरण कुछ अंशों में अभी अस्पष्ट है, किन्तु सामग्री के आधार पर इस प्रयोग के बारे में कुछ धारणायें बनाई जा सकती हैं। इस प्रक्रिया का आरम्भ भा० यू० युग के आखिर में हुआ, भारतीय आर्य के प्राग्वैदिक युग में तेजी से वह विकसित होने लगी और संस्कृत के ऐतिहासिक विकास के दरमियान उसका प्रसार होता रहा। भारत-ईरानी से बाहर भा० यू० भाषाओं में इस तरह के रूपों के पूर्ण अभाव से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विकास केवल उन्हीं भाषाओं तक सीमित था, और यह तथ्य कि

इस वृद्धि के प्राचीन ईरानी उदाहरण अत्यधिक कम हैं। यह तथ्य इस बात को स्पष्ट करता है कि शब्दरचना की यह कोटि भारतीय आर्य और ईरानी के परस्पर पृथक्करण के समय केवल अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थी। ईरानी उदाहरण ये हैं : प्रा० पर्शियन मार्गव– 'मर्गियाना का निवासी', मर्गु– 'मर्गियाना' से विकसित, अवे० आहूइरि–'अहुर सम्बन्धी', आहूइर्य–'राजकुमार का लड़का', अहुर–से; माज़्दयस्नि– (māzdayasni–) 'मज़्दयस्निया धर्म से सम्बद्ध', ख़्श्तावएन्य (xštāva-enya–)– ख़्श्तवि '(xštavi) के वंशज'। –अ, इ और –य– तीनों प्रत्यय, जो ईरानी उदाहरणों में वृद्धि रूप में मिलते हैं, ऐसे हैं, जो इस सम्बन्ध में संस्कृत में भी बहुतायत से मिलते हैं, गोत्रनाम से सम्बद्ध ख़्श्तावएन्य (xštāvaēnya) –आयन प्रत्यय से सम्बद्ध है, जो संस्कृत में गोत्रनामों को बनाता है।

इस विकासप्रक्रियागत वृद्धि के अपसरण की बात प्राचीन भा० यू० स्वरध्वनिगत वृद्धि में अवश्य ढूँढी जानी चाहिए, जो, जैसे कि समय-समय पर ऊपर उदाहृत किया जा चुका है, प्रारम्भिक विकासप्रक्रिया के संज्ञाशब्दों के प्रकृत्यंश वाले अक्षर में छिटपुट रूप से पायी जाती है। उदाहृत निदर्शन राजन्– 'राजा', भार्मन्– 'बोझ', वासस्– 'पोशाक', दारु 'लकड़ी', सानु– 'शिखर', ग्राहि– 'आक्रमण' तथा इसी तरह के हैं। विकासप्रक्रियागत इस वृद्धि की कुछ प्राचीन अवस्थाओं पर विचार करने पर यह देखने में आता है कि मानव– 'मनुष्य'; काव्य– 'कवि के गुणों से युक्त–, विद्वान् पुरुष', आर्य– 'आर्य' और नाद्य– 'नदी से उत्पन्न' और इसी तरह के रूप, जो संस्कृत की दृष्टि से अप्रधान विकासप्रक्रियागत वृद्धि को स्पष्ट करते हैं, स्वरूप की दृष्टि से आवश्यक रूप से उन दानव– 'राक्षस', भाव्य– 'जो होना है,' वार्य– 'जिसे चुनना है' और आद्य– 'जो खाना है' जैसे रूपों से भिन्न नहीं हैं, जो कि या तो प्रारम्भिक शब्दरूपों की तरह वर्गीकृत हैं या (दानव– आदि के सम्बन्ध में) स्वरध्वनियुक्त वृद्धिवाले प्रारम्भिक शब्दरूपों से विकसित हुए हैं। इसी तरह संस्कृत वासर– 'सबेरे का, दिन' विकासप्रक्रियागत वृद्धि का वहन करता प्रतीत होता है (तुल० वसर्), किन्तु अन्यत्र भारत-यूरोपीय में प्रारम्भिक नपुंसक में (ग्रीक एइअर् < वेस्र् (eíar < *wēsr̥, आदि), एक दीर्घ स्वर पाया जाता है। यह कल्पना की जा सकती है कि दारु–, नाभि– कोटि के वृद्धि रूप मूलतः अधिक प्रचलित थे, और *मानु– कोटि के रूप मनु– आदि के साथ उदाहरण के विकल्प में विद्यमान थे; और फलतः जब गुण कोटि, मनु– आदि, सामान्य रूपों की बहुतायत में सामान्यीकृत कर दी गई, तब थिमैटिक विकासों का एक ऐसा वर्ग बचा रहा, जो लुप्त वृद्धिजनित प्रातिपदिकों—अर्थात् मनु– के साथ-साथ मानव– के आधार पर बना था। प्रारम्भिक विकास में विकल्प गुण और गौण विकास में वृद्धि का

संकेत करता हुआ यह बीज उस पद्धति का आरंभिक बिंदु होता, जिसमें वृद्धि का प्रयोग अप्रधान विकास के शब्द रूपों में बहुतायत से होने लगा था।

इसका अर्थ यह है कि विकासप्रक्रिया की वृद्धि प्रथम आ स्वरध्वनि के सम्बन्ध में अवश्य उपलब्ध रही होगी, और इन शब्द रूपों में ऐ और औ का प्रयोग सादृश्य के कारण अवश्य रहा होगा, क्योंकि ऐ और औ प्रारम्भिक नामिक विकास-प्रक्रिया में नहीं मिलते। इस बात का प्रमाण है कि अवस्था ऐसी ही थी, क्योंकि ईरानी में भी जिसने इसकी प्राचीन शुरुआत में ही इस प्रक्रिया को प्रतिबिम्बित किया, केवल आ ही वृद्धि वाली एक ऐसी स्वरध्वनि है, जो विकास की इस कोटि में उपलब्ध है। थ्रएततओन (θraētaona) नपुं० (तुल० संस्कृत त्रैतान–) और हओमनङ्ह (haomanaŋha–) 'दयालुता' (तुल० संस्कृत सौमनस–) जैसे रूप, जो कि संस्कृत ऐ तथा औ वृद्धि के समानान्तर रूप में उदाहृत किए जा चुके हैं, वृद्धि का वहन नहीं करते, अपितु गुण का वहन करते हैं। चूँकि वे शब्द जिनसे ये विकसित हुए हैं, स्वभावतः गुण कोटि और साथ-साथ दुर्बल कोटि का वहन करते हैं (थ्रै– / त्रि– '३'; (अ) सौ– / (a)सु– 'अच्छा'), कोई कारण नहीं है कि उपर्युक्त शब्दरूप इससे निकले सीधे विकास न हों (त्रेता– 'त्रिक')। यह बात ऐ और औ वृद्धि के गौण मूल के अनुरूप ही है कि इन स्वरध्वनियों से युक्त विकास प्रक्रिया जनित वृद्धि की दशायें, ऋग्वेद में अपेक्षाकृत अत्यधिक कम मिलती हैं, जितनी की आ से सम्बन्ध दशायें मिलती हैं।

कुल मिलाकर ऋग्वेद काल तक यह पद्धति पूर्ण रूप से तैयार हो गई है। मुख्य कोटियों का अस्तित्व तो है किन्तु उदाहरण उतने विपुल नहीं है, जितने कि परवर्ती भाषा में। अधिक प्राचीन कोटि के बहुसंख्यक रूप भी वर्तमान हैं, जिनमें वृद्धिरहित गौण प्रत्यय जोड़ दिए गए हैं, उदाहरण वापुष– के साथ-साथ वपुष– और वैश्य– के साथ साथ विश्य–। परवर्ती काल में वृद्धियुक्त रूपों का प्रचलन तेजी से बढ़ने लगा है, और यह संस्कृत भाषा के एक अत्यधिक वैशिष्ट्य पूर्ण लक्षण के रूप में विकसित होने लगा है।

२१. व्याकरणिक लिङ्ग

अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं के समान सभी संस्कृत संज्ञाशब्द तीन लिङ्गों पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक लिङ्गों के अनुसार वर्गीकृत किए जाते हैं। यह वर्गीकरण, जहाँ तक मानव प्राणियों और अधिकतर पशुओं से सम्बद्ध संज्ञाशब्दों और विशेषणों का प्रश्न है, अंशतः वस्तुओं के प्राकृतिक क्रम से मेल खाता है। अवशिष्ट भाषा के लिये लिङ्गचयन मनमाना और बिना किसी तार्किक आधार के हैं। इसके बावजूद यह पद्धति अधिकांश भारत-यूरोपीय भाषाओं में

अत्यधिक सुदृढ़ सिद्ध हुई है, उदाहरण के लिये आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में जहाँ प्राचीन भारतयूरोपीय व्याकरणिक प्रक्रिया के चिह्न अत्यधिक न्यून रूप में संकुचित हो गए हैं, व्याकरणिक लिङ्ग की पद्धति सक्रिय है। अंग्रेजी या फारसी जैसी भाषायें, जिन्होंने इस भेद को हटा दिया है, अभी भी भारतयूरोपीय वंशजों में अल्प संख्या में हैं।

भारत-यूरोपीय भाषाओं की, ख़ास तौर पर उन भाषाओं की, जो कि प्राचीन युग से अभिलिखित हैं, तुलना के द्वारा उपस्थापित प्रमाणों का अध्ययन इस पद्धति के उद्भव के विषय में कुछ दृष्टि देने में समर्थ है। यह इसलिये है कि तुलना के द्वारा प्राप्त भारत-यूरोपीय के युग में यह व्याकरणिक लिङ्ग आपेक्षिक दृष्टि से बहुत बाद का नवीनीकरण है, और प्रमुख विद्यमान भाषाओं से इसके विकास की प्रकृति को समझने के लिये पर्याप्त प्रमाण एकत्रित किया जा सकता है।

इस विकास में दो स्थितियाँ ढूँढ़ी जा सकती हैं। आरम्भिक स्थितियों में संज्ञाशब्दों की केवल दो कोटियाँ थीं, एक ओर सामान्य लिङ्ग', जो बाद में पुंल्लिङ्ग, तथा स्त्रीलिङ्ग में विभक्त हो गया, और दूसरी ओर 'नपुंसक लिङ्ग'। यह वस्तुस्थिति हित्ती में पूरी तरह प्रतिबिम्बित है, जो विशिष्ट 'स्त्रीलिङ्ग' की अनुपस्थिति के कारण दूसरी सभी भाषाओं से भिन्न है। अगली स्थिति में स्त्रीलिंग के विकास का दर्शन होता है. और यही वह युग है, जिसके विषय में वास्तविक अर्थ में लिंगप्रक्रिया का जिक्र करना ठीक होगा।

प्राचीन द्विलिङ्ग पद्धति का अस्तित्व केवल हित्ती के द्वारा ही नहीं, बल्कि अवशिष्ट भाषाओं से प्राप्त प्रभूत साक्ष्य के द्वारा भी प्रमाणित होता है। मेय्ये (Meiltet) और अन्य विद्वानों ने हित्ती के बारे में कुछ भी जानकारी मिलने से पहले ही इस परवर्ती साक्ष्य के आधार पर इस द्विलिंग पद्धति को अपनाया था, और हित्ती की खोज इस सिद्धान्त को पुष्ट करने में और अधिक आगे बढ़ गयी है। हित्ती की द्विलिङ्ग पद्धति को स्पष्ट करने के लिये उस भाषा में स्त्रीलिङ्ग के लोप को कारण मानने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु इस विषय में कोई सन्तोषजनक प्रमाण नहीं दिए गए हैं। तथ्य है कि अन्य भाषाओं का साक्ष्य द्विलिङ्ग पद्धति के प्राग्-अस्तित्व को निःसन्दिग्धता से संकेतित करता है, और चूँकि इस प्रकार की पद्धति हित्ती में प्राप्य है, जो अन्य दृष्टियों से शेष भाषाओं में अपरिज्ञात प्राचीन विशेषताओं को सुरक्षित रखे हैं, इसका कोई कारण नहीं है कि हित्ती के साक्ष्य को उसके वास्तविक मूल्य की दृष्टि से क्यों न आँका जाय। संस्कृत में इसका साक्ष्य संक्षेप में यह है कि (१) पुंल्लिङ्ग प्रत्ययों के अधिकांश

स्त्रीलिङ्ग संज्ञाओं में भी मिलते हैं और (२) आकारान्त आ, ई विशिष्ट स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय पुंल्लिङ्ग रूपों में भी प्रयुक्त होते हैं।

(१) –तर् प्रत्यय मुख्यतः कर्त्रर्थं संज्ञा शब्दों को बनाता है, जो पुँल्लिङ्ग है। स्त्रीलिंग के लिए ई प्रत्यय जोड़ा जाता है (दात्री) और इसी तरह का भेद अन्य भाषाओं में मिलता है (ग्रीक दोतेइर (doteira), लैटिन दात्रीक्स् (dātrix)। दूसरी ओर कौटुम्बिक सम्बन्धों को अभिव्यक्त करने वाले –तर् प्रत्ययान्त संज्ञा शब्दों की प्राचीन कोटि में पुँल्लिङ्ग (पितर्) और स्त्रीलिङ्ग संज्ञाओं (मातर्–, यातर्–) के लिए एक ही प्रत्यय प्रयुक्त होता है। यह रूढिबद्ध कोटि उस प्राचीन पद्धति को सुरक्षित रखे है, जो एक ऐसी पद्धति के लिये, जिसमें पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग का परस्पर भेद बताया गया है, सामान्य कर्त्रर्थं संज्ञाशब्दों में छोड़ दी गयी है।

–सर् प्रत्यय जो स्वसर्– 'बहन', में, तिस्रः, चतस्रः में भी, लैटिन उक्सार् (uxar) और हित्ती इश्हश्शरश् (išhaššaraš) में थिमैटीकृत रूप में मिलता है, ठीक उसी तरह विशेषण रूप में कार्य करता है, जैसे कि –तर् (दोनों ही नपुंसक –सर्, –तर् के विरुद्ध), किन्तु यह प्राचीन काल में स्त्रीलिङ्ग रूपों की रचना में विशेषीकृत किया हुआ मालूम पड़ता है। स्त्रीलिङ्ग को अभिव्यक्त करने के सामान्य जरिये के रूप में ह्– प्रत्यय के ग्रहण ने इस विकास को रोक दिया, और केवल यही कतिपय अवशिष्ट रूप बचे रहे हैं।

विशेषणात्मक प्रत्यय –मन् सामान्यतः पुँल्लिङ्ग है (ब्रह्मन्– , आदि), किन्तु बहुव्रीहि समासों में प्राचीन पद्धति के अनुसार लिंग से अप्रभावित हैं। इसके वैदिक उदाहरण हैं: पुरुशर्मा (अदितिः), धृतधामानम् (उषसम्), सुतर्मानम् (नावम्), द्वितीया ब० व० शुचिजन्मनः (उषसः), तृतीया ब० व० वाजभर्मभिः (ऊतिभिः)। नामन्– 'नाम': पञ्चनाम्नी 'पाँच नामोंवाला' आदि जैसे सम्बद्ध शब्दों के संयोगों में विशेष स्त्रीलिङ्ग रूपों को निर्दशित करने के काम सर्व प्रथम अथर्ववेद में आरंभ होता है।

संस्कृत और ग्रीक (भरन्ती, फेरोउस (pherousa)) में वर्त्तमानकालिक कृदन्तों के साथ स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय जोड़ा गया है, किन्तु लैटिन में पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग (फेरेन्स् (ferens), फेरेन्तेम् (ferentem) दोनों में प्राचीन अविभक्त प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है।

नपुंसकेतर (अर्थात् स्वराघातयुक्त) –अस् प्रत्यय पुँल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग दोनों तरह के संज्ञाशब्दों में क्रियाशील हैं, उदा० अपस्– 'सक्रिय' पुँल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग अपस्– नपुं० 'कार्य' के विरुद्ध है; इसी तरह बहुव्रीहि समासों में सुमनाः प्र० ए० व० पुं० स्त्री० 'सौमनस्ययुक्त'। ठीक यही स्थिति ग्रीक

अलेथेस् (alēthés), एउमेनेस् (eumēnés) आदि में मिलती है। –यस् संयुक्त प्रत्यय तुलनाबोधक अर्थ का कार्य करता है; संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग –ई को जोड़ता है (भूयसी आदि), किन्तु लैटिन अविशिष्ट प्रयोग को सुरक्षित रखे हैं (मइओर् (maiōr) पुं० स्त्री०)।

–ई और–ऊ अन्तवाले नपुंसकेतर संज्ञाशब्द पुँल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग दोनों तरह के हैं। इ अन्तवाले विशेषण पुँल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग प्रातिपदिक (शुचिः प्र० ए० व० पुं० और स्त्री०) में कोई भेद नहीं करते और –ऊ अन्तवाले विशेषण विकल्प से इसी पद्धति (चारुः पुं० स्त्री०) का अनुगमन करते हैं। परवर्ती कोटि विकल्प से दो ढंग से (बह्वी 'बहुत', तनू 'पतला') स्त्रीलिङ्ग प्रातिपदिकों को बना सकती है, किन्तु यह तथ्य कि यह रूप अभी भी वैकल्पिक है, इस बात का निदर्शन करता है कि यह अपेक्षाकृत बाद का नया रूप है।

स्वराघातयुक्त और विशेषणनिर्मापक थिमैटिक प्रत्यय –अ भी ठीक इसी तरह पुँल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग के परस्पर भेद का वहन नहीं करता था। यह वस्तुस्थिति संस्कृत में बिलकुल लुप्त हो गयी है, किन्तु अपनी परिपूर्ण शक्ति से हित्ती में सुरक्षित रहने के अतिरिक्त इसने ग्रीक और लैटिन में काफी चिह्न छोड़ दिए हैं। यह प्रक्रिया ग्रीक में समासों में (रोदो–दक्तुलोस् (rodo dáktulos), एओस् (ēōs) आदि) और ग्रीक तथा लैटिन दोनों में कतिपय व्यस्त रूपों में सुरक्षित है। इसका एक सुन्दर उदाहरण पुत्रवधू के लिए प्रयुक्त शब्द के द्वारा उपस्थित किया जाता है, जो ग्रीक और लैटिन में थिमैटिक प्रत्यय से युक्त ग्री० नुओस् (nuós), लै० नुरुस् (nurus) मिलता है, जो संस्कृत (स्नुषा) और स्लावी (रूसी स्नोख़ा (snoxa) में उपलब्ध विशिष्ट स्त्रीलिङ्ग –आ प्रत्यय के प्रतिकूल है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्रीक और लैटिन में सुरक्षित रूप अधिक मौलिक है, और जो रूप संस्कृत और स्लावी में मिलता है, वह व्याकरणिक लिंगप्रक्रिया की वृद्धि के कारण बनाया हुआ एक नया रूप है; भारत-यूरोपीय स्नुस्–ओ (snus–ó) ऐसे समय बनाया गया, जब स्वराघातयुक्त थिमैटिक स्वरध्वनि का प्रयोग उन नपुंसक प्रातिपदिकों के आधार पर केवल विशेषण रूप बनाने के लिये किया जाता था, जो ऊपर विस्तार से उदाहृत किए जा चुके हैं (उद्र–: हुदोर् (hùdór), आदि), और जो (थिमैटिक स्वरध्वनि) हित्ती तक में लिंगभेद के प्रति उदासीन थे। यह शब्द –उस् अन्तवाले लुप्त नपुंसक के आधार पर बना है, और व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्नू–उ–स् लैटिन नूबो (nūbo) आदि में स्नू–एउ–भ् (sn–eu–bh) के साथ सम्बद्ध है।

(२) प्रतिकूल दिशा के उदाहरण विविध भारत-यूरोपीय भाषाओं से दिए

जा सकते हैं। –आ (–अ ? (–aH) प्रत्यय का विवेचन करते समय यह बताया गया था कि यह दो प्रक्रियाओं से युक्त मिल सकता है, एक धातुज भाववाचक संज्ञा आदि बनाने वाले मूलतः नपुंसक, और दूसरे विशेषण रूप शब्द; साथ ही, चूँकि इन दो प्रकारों में इन प्रातिपदिकों में स्वराघात और अपश्रुति के सामान्य परिवर्तन मुख्यतः लुप्त कर दिए गए थे; इन दोनों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। स्त्रीलिंग का विकास इस प्रत्यय की विशेषणगत प्रक्रिया के रूप में, स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय के रूप में विशेषीकरण के साथ-साथ हुआ था, किन्तु इस प्रत्यय से युक्त कतिपय पुँल्लिङ्ग विशेषण शब्द अभी भी सुरक्षित हैं। इस प्रकार के पुँल्लिङ्ग शब्दों के उदाहरण लैटिन स्क्रिब, (scriba), नउत्त (nauta), अग्रिकोल (agricola), आदि, प्रा० स्ला० स्लुग (sluga) 'सेवक', वोयेवोद (vojevoda) 'सेनापति', हैं, जो किसी भी तरह तात्त्विक रूप में स्त्रीलिंग से भिन्न नहीं है। ग्रीक में भी इस प्रकार के पुँल्लिग आकारान्त प्रातिपदिक हैं, किन्तु ये कर्ता ए० व० में स् विभक्ति चिह्न के जोड़े जाने के कारण अपने आप में भिन्न कर दिए गए हैं (पोइएतेस् (poiētēs) आदि)। संस्कृत में यह कोटि ओकारान्त स्त्रीलिङ्ग प्रातिपदिकों की तरह लुप्त हो गयी है। दूसरी ओर संयुक्त प्रत्यय –ई (–इ–?, –i–H) से युक्त कतिपय पुँल्लिङ्ग शब्द हैं, जो स्त्रीलिङ्ग शब्दों की रचना में आ प्रत्यय के साथ-साथ कार्य करते हैं। संस्कृत रथी– 'रथी योद्धा', उस समय का अवशेष है, जब विशेषणपरक –ई प्रत्यय लिंग के प्रति उदासीन था, इसके पहले कि यह स्त्रीलिंग प्रत्यय के रूप में विशेषीकृत हुआ। इटैलिक और केल्टिक शाखाओं में यह विशेषण प्रत्यय –ई वाक्यगत प्रक्रिया के सरल परिवर्तन के द्वारा ओकारान्त प्रातिपदिकों के सम्बन्ध में एकवचनों को बनाने में अपना लिया गया है। एक्वी (equi) का एक्वूस् (equus) के साथ वही संबंध है, जो रथी– का रथ– के साथ।

इन सामान्य पुल्लिङ्ग नपुंसक रूपों के संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में, हित्ती की द्विलिंगिक प्रक्रिया के साथ-साथ, जिसमें स्त्रीलिंग का कोई चिह्न नहीं मिलता, इतने विपुल अस्तित्व की केवल एक ही व्याख्या संभव है। एक प्राचीन द्विलिंगिक प्रक्रिया का स्थान त्रिलिंगिक वर्गीकरण की प्रक्रिया ने ले लिया है। प्राचीन प्रक्रिया हित्ती में पूरी तरह सुरक्षित है, और जैसा कि ऊपरी उदाहरण प्रदर्शित करते हैं, संस्कृत तथा दूसरी भाषाओं में यह आंशिक रूप से सुरक्षित है, किन्तु मुख्यतः इसका स्थान त्रिलिंगिक प्रक्रिया ने ग्रहण कर लिया है।

इस विकास प्रक्रिया का अनुगमन विस्तार से नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह सम्बद्ध भाषाओं के प्रागैतिहासिक युग से सम्बद्ध है। इस विषय

में जो कुछ कहा जा सकता है, वह इतना भर है कि परवर्ती भारत-यूरोपीय के किसी युग में आ– (–अ? aH) प्रत्यय संयुक्त प्रत्यय ई और ऊ के साथ-साथ स्त्रीलिंग प्रत्ययों के रूप में विशेषीकृत हो गया है। यह प्रक्रिया सबसे पहले इन प्रत्ययों के विशेषणपरक प्रयोग में संभवतः उन कतिपय सीमित शब्दों के साथ शुरू होती हुई अपनायी गयी होगी, जो इस प्रत्यय से युक्त थे और अर्थ की दृष्टि से स्त्रीलिंग थे (उदा० संस्कृत ग्ना, ग्रीक गुने (gunḗ) । इस प्रकार से प्रयुक्त प्रत्यय या तो मुख्य विशेषणपरक प्रत्यय के साथ समायोग हैं (राज्ञी) या थिमैटिक प्रातिपदिकों के संबंध में उसके स्थान पर आदेश नॅवोस्/नॅवा (néwos/néwā) हैं।

प्राचीन द्विलिंगिक प्रक्रिया की प्रकृति को वैयक्तिक प्रत्ययों का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया गया है। 'सामान्य लिङ्ग' वाले वे शब्द, जिनसे अन्ततः पुंल्लिंग और स्त्रीलिङ्ग संज्ञाशब्द विकसित हुए हैं, मूलतः विशेषण अथवा प्राचीन भारत-यूरोपीय की दृष्टि से वैसी ही वस्तु, कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द हैं। यह मौलिक विभाजन वह है, जो एक ओर ग्रीक हुदोर् (hudōr) 'जल', हित्ती अर्कुवर्– 'प्रार्थना', संस्कृत यशस्– 'कीर्ति', ब्रह्म 'स्तुति', *स्थातॅर्– 'स्थिरता' द्वारा और दूसरी ओर संस्कृत उद्र्– 'उदविलाव', ब्रह्मन्– 'उपदेशक' तथा स्थातर्– 'खड़ा रहने वाला' एवं अन्य उदाहरणों द्वारा विस्तार से उदाहृत किया जा चुका है। इसलिए 'चेतन' तथा 'अचेतन' लिङ्ग का प्रयोग यह समझकर करना कि जैसे यह दुहरा वर्गीकरण मूलतः इस प्रकार के विभाजन की अभिव्यंजना था, भ्रान्त है। प्रमाण से यह स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया का मूल मुख्यतः व्याकरणिक था, और बाह्य जगत् के पदार्थों के किसी मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण के कारण न था। सामान्य लिंग अथवा चेतन लिंग वाले तथाकथित संज्ञाशब्द मूलतः कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द हैं और वे प्रधानतः 'चेतन' (और मुख्यतः मानव प्राणियों के द्योतक) हैं, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि कर्त्रर्थ कोटि के संज्ञाशब्द प्रायः मनुष्यों के साथ ही सम्बद्ध होते हैं। फिर भी यह बात बिलकुल ऐसी ही नहीं है, और इस तथ्य को तेर् (ter) प्रत्यय वाले कतिपय रूपों से उदाहृत किया जा सकता है, उदा० अओर्तेर् (aortḗr) 'तलवार बाँधने का पट्टा', लम्प्तेर् (lamptḗr) 'दीपाधार' क्रतेर् (kratḗr) 'कटोरा', त्रिप्तेर् (triptḗr) 'मूसल', ज़ेउक्तेर् (zeuktḗr) 'जुए से बाँधने की डोरी', आदि। ये शब्द एक प्राचीन कोटि का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अन्य भाषाओं की अपेक्षा ग्रीक में अधिक सुरक्षित हैं, और इस बात का संकेत करते हैं कि किस तरह मूलतः विशेषण/कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों की कोटि का चेतन तथा अचेतन वाले भेद से कोई सम्बन्ध न था। हम देख चुके हैं कि ये प्रत्ययांश पर उदात्त

स्वरवाले रूप मूलतः नपुंसक शब्दों की एक कोटि पर आधृत हैं जो –तर् प्रत्ययवाले हित्ती रूपों के द्वारा अच्छी तरह उपस्थित किए जाते हैं। परवर्ती रूप मुख्यतः धातुज भाववाचक शब्द अथवा इसी कोटि के संज्ञाशब्द हैं। प्रत्ययांश पर उदात्त स्वरवाले विशेषण शब्दों की कोटि का अर्थ मुख्य नपुंसक के अर्थ से सम्बद्ध किसी व्यक्ति या वस्तु से है, और यह मूलतः वस्तुओं और प्राणियों दोनों के साथ लागू हो सकता है। चूँकि व्यवहार में इस प्रकार के शब्द प्रायः प्राणियों के साथ प्रयुक्त होते थे, इनके अचेतनगत प्रयोग के लोप की प्रवृत्ति थी, जिससे उदाहरण के लिये –तेर् (–tēr) प्रत्ययवाले संज्ञाशब्दों के सम्बन्ध में इस तरह के प्रयोग इस ग्रीक शब्दकोटि के बाहर अनुपलब्ध है।

प्राचीन शब्द रूपों की एक दूसरी कोटि वैदिक भाषा में सुरक्षित है। यह विशेषता नपुंसक संज्ञाशब्दों के साथ हलन्त प्रातिपदिकों के सम्बन्ध में, विशेषणों के पुंल्लिङ्ग रूप का प्रायः प्रयोग है। इसके उदाहरणों के रूप में हम यह स्थल निर्दिष्ट कर सकते हैं वर्चः ··· द्विबर्हाः ऋ० वे० ७।८।६, शर्धो ··· अनर्वाणम् १।३७।१, विसर्माणम् कृणुहि वित्तम् ५।५४।९, शर्धो मारुतम् ··· सत्यश्रवसम् ऋभ्वसम् ५।५२।८, तद् राष्ट्रम् ओजस्वी भवति मै० सं० ४। पृष्ठ, ४७, ४। ये रूप एक प्राचीन वस्तुस्थिति को प्रतिविम्बित करते हैं, जब कि उदात्त स्वरयुक्त प्रत्ययांश और वृद्धिजनित प्रथमान्त रूपवाले शब्द शुद्ध विशेषण, किसी लिंगविशेष से असम्बद्ध थे, और इसलिये किसी भी संज्ञाशब्द के साथ प्रयुक्त किए जा सकते थे। लिंगप्रक्रिया के विकास के साथ विशेषणपरक नपुंसकों की एक नई कोटि निर्मित की गई, उदा० पुरुः 'बहुत' के साथ पुरु, और उपर्युक्त जैसे चिह्न अन्ततः लुप्त कर दिए गए। यह प्रक्रिया संस्कृत में विकास की गति के साथ-साथ अभी भी –तृ प्रत्ययवाले कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों के सम्बन्ध में देखी जाती है: नपुंसक रूप कर्तृ– 'करनेवाला' (ष० ए० व० कर्तृणः) प्राचीनतम ग्रंथों में अज्ञात है और परवर्ती सादृश्यजनित विकास है, विशेषणों के प्राचीन नपुंसक रूप यद्यपि प्राचीन मूल के हैं, तथापि उनका आरम्भ इसी कोटि के नये रूपों के साथ हुआ है।

नपुंसकेतर वर्ग का आधार विशेषण शब्दों पर आघृत है, किन्तु यह लिंग-परिवर्तन के द्वारा आरम्भ में ही स्थिर कर दिया गया था, जिससे कर्मबोधक संज्ञाशब्दों की परिवृद्धमान संख्या उदित हुई। इनको ऊपर के पृष्ठों में अलग से वर्गीकृत किया गया है, और भार– पुंल्लिग 'बोझ', जिगीषा 'विजय की इच्छा', वाच्– स्त्रीलिंग 'वाणी', ओज्मन्– पुंलिंग 'बल', भियस्– स्त्रीलिंग 'डर', मति– स्त्रीलिंग 'बुद्धि', और तन्तु– पुंल्लिङ्ग 'सूत' जैसे उदाहरणों के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। लिंगविपर्यय की यह प्रकृति मुख्यतः यांत्रिक रही जान

पड़ती है। इस सम्बन्ध में मानवीकरण का कुछ हाथ है, किन्तु यह अत्यधिक गौण है। यह समझा जा सकता है कि उषस् जैसा शब्द इसीलिये, वैदिक देववाद में उषस् के स्थान की दृष्टि से, स्त्रीलिंग के रूप में मिलना चाहिए, अथवा यह कि ओमन्– 'साहाय्य' और दामन्– 'औदार्य', जिन्हें देवताओं के दिव्य गुणों के रूप में स्तुति का विषय बनाया गया है, नपुंसक की अपेक्षा पुँल्लिङ्ग होने चाहिएँ। किन्तु इस प्रकार के संज्ञाशब्दों की अधिकांश संख्या के साथ यह बात लागू नहीं हो सकती। उदाहरण के लिये, यह स्पष्ट होने पर भी कि वाच्– स्त्रीलिङ्ग 'वाणी' संस्कृत प्रयोग में नपुंसक वचस्– के विरुद्ध निश्चित रूप में मानवीकृत है, यह नहीं कहा जा सकता कि इसका स्त्रीलिङ्ग इसी कारण है। दूसरी ओर यह मानवीकृत करने के योग्य इसलिये है कि इसने अन्य कारणों से स्त्रीलिङ्ग (जो कि मूल सामान्य लिंग से विकसित हुआ है) को अपना लिया है। सभी भारत-यूरोपीय भाषाओं में स्पर्श व्यंजनों से अन्त होने-वाले प्रातिपदिक कर्त्ताकारक (प्रथमा) में –स् विभक्ति चिह्न को अपनाते हैं, और कर्त्ता (प्रथमान्त) और कर्म (द्वितीयान्त) रूपों में परस्पर भेद करते हैं। इस दृष्टि से ये शब्द नपुंसक कर्मबोधक संज्ञाशब्दों की कोटि से भिन्न हैं, और विशेषण तथा कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों की कोटि के साथ मेल खाते हैं। इसके विरुद्ध, उदाहरणों के अभाव में यह भी स्पष्ट है कि यह स्थिति काफी प्राचीन युग से रही होगी। इसके लिये कोई तर्कसम्मत आधार नहीं है; जो कुछ कहा जा सकता है वह सिर्फ इतना है कि यह एक सामान्य नियम है कि इस कोटि के सभी प्रातिपदिक इसी ढंग से सुबन्त रूपों का ग्रहण करते हैं कि वाक् (स्), वाचम् इस ढंग से विभक्ति का ग्रहण इसलिये करते हैं, क्योंकि यह स्पर्शव्यंजन ध्वनि से अन्त होनेवाला प्रातिपदिक है। इस तथ्य ने कि यह शब्द इस ढंग से सुबन्त रूपों का ग्रहण करता है, और इस प्रकार एक नपुंसकेतर, अन्ततः स्त्रीलिंग का ग्रहण कर लेता है, इस शब्द को मानवीकृत करने के योग्य बना दिया है। इसी तरह हम आपः प्रथमा ब० व० स्त्री० और उदकम्, उदन् (ग्रीक हुदोर् (húdor) आदि) 'जल' के सम्बन्ध में निर्णय दे सकते हैं। मूल कर्मबोधक संज्ञाशब्दों के विषय में अनेक अर्थ की दृष्टि से अपने आप में ऐसी कोई बात नहीं है, जो उन्हें पुंल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग बना सके; केवल वह यांत्रिक विकास, जिसने उन्हें लिंग के मूल आधार विशेषणकोटि के संज्ञाशब्दों के समान सुबन्त रूपों का ग्रहण करने को प्रेरित किया, इनकी इस स्थिति के लिये भी उतरदायी है।

इसी प्रकार स्पर्श व्यंजनध्वनि से अन्त होने वाले कर्मबोधक संज्ञाशब्द बहुत पहले ही इस तरह से सुबन्त रूपों का ग्रहण करते थे (हित्ती कर्तिस्मियव

(kartimmiyat–) 'क्रोध', आदि)। नपुंसक इकारान्त शब्द कतिपय अवशेषों को छोड़कर लुप्त कर दिए गए, और ठीक ऐसी ही प्रवृत्ति, यद्यपि और कम मात्रा में उकारान्त कर्मबोधक संज्ञाओं में दिखाई देती है। थिमैटिक कर्मबोधक संज्ञा-शब्द उन धातुरूप प्रातिपदिकों (root stems) के विस्तार हैं, जो मूलतः सामान्य लिंग थे, और इस विशेषता को वे सुरक्षित रखते थे; जब सामान्य लिंग पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में विभक्त हुआ, तब वे स्वभावतः पुंल्लिग हो गए, क्योंकि यह पुंलिग विशेषण प्रत्यय है। इसी तरह आकारान्त संज्ञा शब्द स्त्रीलिंग है, क्योंकि यह स्त्रीलिंगबोधक विशेषण प्रत्यय है।

भारत-यूरोपीय लिंगप्रक्रिया के विकास में इन भाषाओं में प्रचलित इस प्रक्रिया का प्रमुख हाथ रहा है, जिसके कारण विशेषण शब्द कारक (विभक्ति), वचन और लिंग में विशेष्य संज्ञाशब्द के अनुरूप होना चाहिए। यह भारत-यूरोपीय की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में एक है, क्योंकि इस मात्रा में व्याकरणिक सामानाधिकरण्य अन्यत्र मिलना कठिन है। प्राचीन प्रक्रिया के चिह्न, जिसमें केवल विशेषण प्रातिपदिक सोपाधिक प्रयोग में व्यवहृत हो सकता है, समासान्त संज्ञाशब्दों के रूप में बचे हैं, वे इस बात का संकेत करते हैं कि यह परिपूर्ण प्रक्रिया केवल धीरे-धीरे विकसित हुई थी, और इसका उद्भव निश्चित रूप से पुराना है। हित्ती में यह प्रक्रिया पूरी तरह विकसित है, और वहाँ, जहाँतक सामान्य लिंग और नपुंसक के विभाजन का प्रश्न है, लिंग के साथ लागू होती है, अर्थात् कर्त्ता तथा कर्म के रूप में। स्त्रीलिंग के विकास के साथ, जो कि इस प्रक्रिया के विकास की अन्तिम स्थिति है, यह सामानाधिकरण्य प्रक्रिया सम्बद्ध रूप में विस्तारित कर दी गयी है।

२२. समासप्रक्रिया

स्वतंत्र शब्दों को समासान्त शब्दों के रूप में संयुक्त करने की योग्यता संस्कृत ने भारत-यूरोपीय से दाय रूप में ग्रहण की है, और इस तरह के रूप अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में मिलते हैं। संस्कृत अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं के उस अत्यधिक विकास की दृष्टि से भिन्न है, जिसके अन्तर्गत यह प्रक्रिया पायी जाती है, जिसका समानान्तर विकास अन्यत्र नहीं है। वैसे यह विकास केवल शास्त्रीय संस्कृत की विशेषता है और वैदिक भाषा में समास-प्रक्रिया का प्रयोग अत्यधिक सीमित है। यह अनुमान किया जाता है कि ऋग्वेद में इस प्रक्रिया का कार्य होमर की ग्रीक से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। तुलनात्मक भाषाशास्त्र की दृष्टि से मुख्यतः वैदिक भाषा का ही विवेचन करना होगा। परवर्ती

शास्त्रीय संस्कृत में समास की दृष्टि से नाम शब्दों का विकास कृत्रिम है और कथ्य प्रयोग पर आधृत नहीं है।

समास के प्रमुख लक्षण—यद्यपि यह नियत रूप में विद्यमान नहीं है—(१) पूर्वपद का शुद्ध प्रातिपदिक रूप में प्रयोग विना किसी विभक्तिचिह्न के, जिसके साथ यह सम्बोधन के अतिरिक्त अन्यत्र स्वतंत्र प्रयोगों में जुड़ा रहता है; और (२) दोनों पदों को एक ही उदात्त स्वर के अन्तर्गत संयुक्त करता है। पहली विशेषता आरंभिक भारत-यूरोपीय पदरचना की दृष्टि से अत्यधिक अभिनिवेश का विषय है। यह विशेषता उस समय का संकेत करती है, जब किसी संज्ञा अथवा विशेषण शब्द का शुद्ध प्रातिपदिक रूप वाद में इस प्रकार के सम्बन्धों की अभिव्यंजना के लिये आवश्यक बने विभक्तिचिह्नों के बिना ही, वाक्य के अन्य शब्दों के वाक्यगत सम्बन्ध में प्रयुक्त हो सकता था। समासान्त शब्द का अस्तित्व उस समय होता है, जब दो शब्द इतने अधिक नियत और निरन्तर रूप में एक साथ प्रयुक्त होते हैं कि वे सभी प्रयोजनों और उद्देश्यों की दृष्टि से एक समग्र अभिव्यंजक बन जाते हैं, जो एक ऐसी प्रक्रिया है, जो सामान्यतः विशिष्ट अर्थ के विकास के साथ जुड़ी हुई है। सविभक्तिक वर्गों के सम्बन्ध में यह प्रक्रिया बृहस्पति 'एक देवता का व्यक्तिवाचक नाम (प्रार्थना का स्वामी') जैसे समासान्त शब्दों को जन्म देती है, दूसरी ओर विश्पति- 'कबीले का मुखिया' जैसे समास वर्गविशेष के रूप में एक ऐसी वस्तुस्थिति से ही विकसित हो सकते हैं, जिसमें परवर्ती भाषा में संबंधकारक (षष्ठी कारक) के द्वारा अभिव्यक्त सम्बद्ध दो संज्ञाशब्दों को एक निश्चित क्रम में केवल साथ-साथ प्रयोग के द्वारा ही अभिव्यक्त किया जा सकता था (विक्–पोति–स् (vík póti-s)। समासान्त शब्द प्रक्रिया के रूप में भारत-यूरोपीय की एक अधिक प्राचीन स्थिति के अवशेष है, जो बड़े दिनों से निरन्तर सविभक्तिक प्रयोगों के द्वारा हटा दिए गए हैं, जो संस्कृत तथा अन्य शास्त्रीय भाषाओं में मिलते हैं।

भारतीय वैयाकरणों द्वारा समासों की चार प्रमुख कोटियाँ स्वीकृत की गयी थीं, तत्पुरुष (एक विशेष उपवर्ग कर्मधारय के साथ) बहुव्रीहि, द्वन्द्व और अव्ययीभाव इन शब्दों की परिभाषा नीचे दी गयी है। इनमें से पिछले दो मुख्यतः भारतीय विकास हैं; भारत-यूरोपीय से विकसित कोटियाँ वे हैं, जो तत्पुरुष और बहुव्रीहि के रूप में वर्गीकृत हैं। इस संक्षिप्त विश्लेषण की दृष्टि से भारत-यूरोपीय से मिली कोटियाँ दो बड़े वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं, अर्थात् १. वे जो संज्ञा का कार्य करते हैं, २. वे जो विशेषण का कार्य करते हैं। ये कोटियाँ ३. द्वन्द्व और ४. अव्ययीभाव के द्वारा अनुगत हैं।

प्रथम कोटि इस आधार पर कि पूर्वपद (अ) उत्तरपद के सामानाधिकरण्य

में प्रयुक्त विशेषण और संज्ञाशब्द है (ब) या उत्तरपद के साथ इस तरह के सम्बन्ध में प्रयुक्त संज्ञाशब्द है, जो सामान्यतः किसी कारक रूप या सविभक्तिक रूप द्वारा अभिव्यक्त होता है, दो मुख्य वर्गों में विभक्त है। परिणामतः विशेषणकोटि को सहजता से, उत्तरपद विशेषण है अथवा संज्ञाशब्द—इस तरह दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है। दो प्रमुख कोटियों, नामिक और विशेषण, में पूर्ववर्ती रूप प्राचीन भाषा में कम उपलब्ध है और यही स्थिति भारत यूरोपीय में अन्यत्र है। दूसरी ओर विशेषण रूप समस्त पदों की अनेक कोटियाँ अन्य भाषाओं, खास तौर पर ग्रीक में प्रचुरता से मिलती हैं। हम देखेंगे कि इस विभेद के अनेक समुचित कारण हैं, और यह समझने के लिये कि समासप्रक्रिया का उदय कैसे हुआ, इनका विशेष महत्त्व है।

१ अ. भारतीय वैयाकरणों द्वारा ऐसे समासों को जिनमें दो पद एक दूसरे के समानाधिकरण होते हैं, कर्मधारय कहा गया है। एक प्रमुख कोटि में विशेषण के बाद संज्ञाशब्द पाया जाता है। यह कोटि संहिताओं में बहुत कम उपलब्ध है, परन्तु परवर्ती वैदिक गद्य साहित्य में अधिक प्रचलित हो गयी है। उदाहरण ये हैं: चन्द्रमस्–चन्द्रमाः (चमकीला) 'चन्द्रमा', पूर्णमास– 'पूर्णचन्द्र', एकवीर– 'अद्वितीय वीर', कृष्णशकुनि– 'कौए ऐसा मांसाहारी पक्षी', महाग्राम– 'बड़ा गाँव', महावीर– 'अत्यन्त वीर', महाधन– 'बहुत अमीर', नीलोत्पल– 'नील कमल', रजतपात्र– 'चाँदी का वर्तन', दक्षिणाग्नि– 'दक्षिण की अग्नि', अधरहनु– 'ठोड़ें', तृतीयसवन– 'तीसरा (सोमरस) निकालने वाला पत्थर', नवदाव– खेती के लिये अभी अभी तैयार की गयी भूमि', कृष्णसर्प– 'काला साँप'। इस तरह के समस्त रूप प्रायः विशेष अर्थों का वहन करते हैं, जिन्हें विशेषण और संज्ञाशब्द के अर्थों के केवल मिला देने मात्र से अपने आप अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। कृष्णशकुनि शब्द, जिसका शाब्दिक अर्थ 'काला पक्षी' है, विशेष रूप से 'कौए जैसा एक मांसाहारी पक्षिविशेष' के अर्थ का वहन करता है। इसी तरह नीलोत्पल– का अर्थ केवल 'एक नीला कमल' ही नहीं है, अपितु एक खास वानस्पतिक जाति (nymphaea cyanea इंदीवर) है। केवल परवर्ती भाषा में ही समासान्त विशेषण-संज्ञा शब्द के केवल समानान्तर रूपों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

अधिक छोटी कोटि में पूर्वपद उत्तरपद का समानाधिकरण है। इस तरह के रूप हैं: पुरुषमृग 'नरमृग', उलूकयातु– 'उलूक राक्षस' वृषाकपि 'नर वानर', राजर्षि– 'राजर्षि' धेनुष्टरी 'बाँझ गाय', उक्षवेहत् 'बधिया बनाया गया बैल'।

अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में कर्मधारय ग्रीक अक्रोपोलिस् (akrópolis) मेसोगइअ (mesógaia), अग्रिअम्पेलोस् (agriámpelos), लैटिन अग्निपोतुस्

(angipartius) जैसे इस तरह के उदाहरणों के द्वारा उपस्थापित है, और द्वितीय कोटि की तुलना ग्रीक इअत्रोमन्तिस् (iatrómantis) 'वैद्य-ऋषि' जैसे रूपों से की जा सकती है। किन्तु संस्कृत की तरह यहाँ भी ये रूप बहुत कम उपलब्ध हैं। भारत-यूरोपीय भाषा की व्याकरणिक संघटना में; उसकी विविध स्थितियों में, इन समासों के स्थान और उनके उद्भव की दृष्टि से यह स्वाभाविक है। यह उस समय के अवशेष हैं, जब विशेषण सोपाधिक रूप में प्रयुक्त होने पर लिंग, वचन और कारक विभक्ति के किन्हीं चिह्नों को नहीं अपना पाता। इस वस्तु-स्थिति का स्थान भारत-यूरोपीय में बहुत पहले ही उस स्थिति ने ग्रहण कर लिया, जिसमें सोपाधिक विशेषण अपने विशेष्य संज्ञाशब्द के साथ सामानाधिकरण्य रूप में सभी विभक्तियों, लिंगों और वचनों में विभक्ति चिह्नों को अपनाने लगा, किन्तु कुछ ऐसे अभिव्यंजना के प्रयोग बचे रहे, जो भाषा में इतने अधिक विकसित हो गए थे कि वे प्राचीन प्रक्रिया के अवशेष के रूप में मिलते हैं। बाद में इसी ढंग के नये उदाहरणों की रचना के लिये यह प्रयोग आदर्श का काम करने लगे।

ब. पूर्वपद के रूप में सामान्य नामिक शब्द से युक्त तत्पुरुष कर्मधारय कोटि से समासों की अपेक्षा प्राचीनतम भाषा में अधिक संख्या में हैं, किन्तु वे फिर भी बहुव्रीहि और दूसरी कोटि के समासों की तुलना में बहुत कम मिलते हैं। ऋग्वेद के प्राचीनतम भाग में यह अत्यधिक न्यून है और वैदिक साहित्य की क्रमिक स्थितियों में क्रमशः अधिक महत्त्वपूर्ण बन गए हैं। उदाहरण ये हैं: राजपुत्र– 'राजा का पुत्र', मृत्युबन्धु– 'मृत्यु का साथी', विश्पति– 'कबीले का मुखिया', द्रुपद– 'लकड़ी का खंभा', हिरण्यरथ– 'सोने का रथ', देवकिल्बिष– 'देवों का अपराध', इन्द्रसेना– 'इन्द्र की फौज', चमसाध्वर्यु– 'यज्ञपात्र से सम्बद्ध अध्वर्यु', द्रुघण– 'लकड़ी का हथौड़ा', आचार्यजाया– 'अध्यापक की भार्या', पुरुषराज– 'पुरुषों का राजा', अजलोम– 'बकरे का बाल', अश्ववाल– 'घोड़ का (की पूँछ का) बाल', उदपात्र– 'पानी का कटोरा'। दो पदों के बीच का संबंध अधिकतर षष्ठी विभक्ति द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, किन्तु अत्यधिक सामान्य होने के कारण सभी कारक विभक्तियों द्वारा विभिन्न उदाहरणों में उपस्थित किया जाता है, और भारतीय वैयाकरणों ने उन्हें इसी ढंग पर वर्गीकृत किया है: चतुर्थी यूपदारु– 'यज्ञस्तम्भ की लकड़ी' (यूपाय दारु), पंचमी चौरभय– 'चोरों का भय (चौरेभ्यो भयम्)', सप्तमी ग्रामवास– 'गाँव में रहना', द्वितीया विदेशगमन– 'विदेश जाना'।

बे समासान्त पद; जिसमें उत्तरपद –ति प्रत्यय से बना धातुज कर्मबोधक संज्ञाशब्द है, विशिष्ट वर्ग का निर्माण करते हैं, इस तरह के शब्द हैं: धनसाति– 'धन की विजय', देवहूति– 'देवताओं की स्तुति' सोमसुति– 'सोम को पीसना'

और देवहिंति– 'देवताओं के नियम' ये समासान्त पद उपर्युक्त तत्पुरुषों के विरुद्ध पूर्वपद पर उदात्त स्वर का वहन करते हैं और इस दृष्टि से उन विशेषणीभूत समासान्त पदों के साथ जाते हैं, जिनमें उत्तरपद –त प्रत्यय से युक्त निष्ठारूप है (वीरजात–, आदि)। ये रूप प्राचीनतम भाषा में भी प्रचुरता से बनाए जाते हैं, और यह वह विशेषता है, जो प्रायः विशेषणपरक समासान्त पदों के लिये सुरक्षित है। कुछ ऐसे उदाहरण, जिनमें –ति प्रत्ययवाला उत्तरपद एक विशिष्ट अर्थ का वहन करने लगा है, उपर्युक्त उदाहरणों के साथ वर्गीकृत करने होंगे; उदा० देवहेति– 'देवताओं के शस्त्र'।

इससे सम्बद्ध कोटि अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में भी इन उदाहरणों में मिलती है : ग्रीक मेत्रोपतोर् (metropátor) 'नाना (माता का पिता)', पत्रदेल्फोस् (patrádelphos) 'चाचा', ओइकोदेस्पोतेस् (oikodespótēs) 'मकान मालिक', लैटिन मुसर्कर्द (muscerda) 'चूहे की लेंड़ी', गाथिक रिउदन्गर्दि (riudangardi–) 'राजा का महल', प्रा० स्ला० वोदोतोकु (vodotokŭ) 'जलप्रणाली'।

इनके अतिरिक्त वैदिक भाषा में समासान्त रूपों की एक नयी कोटि विद्यमान है, जिसमें पूर्वपद ने अपने षष्ठयन्त स्वरूप और प्रायः अपने उदात्त स्वर को सुरक्षित रखा है। ये रूप उत्तरपद के रूप में पति– के साथ अत्यधिक प्रचलित हैं : वनस्पति– 'लकड़ी, पेड़ का मालिक', ग्नास्पति– 'दैवी स्त्री का पति', बृहस्पति– 'पूजा का स्वामी', आदि; एक उदात्त स्वर वाले अंहसस्पति– 'अपराधों के स्वामी, एक अधिक मास का नाम'। अन्य उदाहरण बहुत कम उपलब्ध हैं : दिवोदास– 'स्वर्ग का सेवक,' रायस्पोष– 'धन की वृद्धि'; परवर्ती रूप गोष्पद–'गाय के पदचिह्न, छोटे पग', दास्याःपुत्र– 'दासी का लड़का (निन्दा सूचक शब्द),' ग्रीक दिओस्कोउरोइ (dióskouroi), आदि। यह वह समास कोटि है, जिसका निर्माण एक विभक्ति प्रधान भाषा में अपेक्षित है। वैदिक भाषा में इस कोटि के विकास को अन्य कोटियों की अपेक्षाकृत न्यूनता के साथ अध्ययन का विषय बनाना होगा। ग्रीक आदि की तरह ही इस भाषा में भी ये शब्द बहुत कम हाथ बँटाते थे और अन्य कोटि के समासों की तुलना में अनुत्पादक थे। बाद में प्रतिकूल प्रक्रिया चल पड़ती है; वास्तविक तत्पुरुषों का प्रचलन बढ़ जाता है, और नये सविभक्तिक कोटिका विकास रोक दिया जाता है।

(II) विशेषणों की तरह कार्य करने वाले समासान्त रूप दो वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं– इस आधार पर कि उत्तरपद विशेषण है या संज्ञाशब्द।

अ (I) (अ) उत्तरपद की तरह धातुज विशेषणों वाले समासान्त रूप।

इनमें पूर्वपद प्रायः धातुज विशेषणों के साथ द्वितीया के रूप में मिलता है, जो उत्तरपद होता है। उत्तरपद में उपलब्ध प्रातिपदिक की विभिन्न कोटियों के आधार पर उनका वर्गीकरण किया जा सकता है।

धातुज-प्रातिपादिक : हविरद्– 'हवि खाने वाला', अश्वविद्– 'घोड़ों को जानने वाला', वृत्रहन्– 'शत्रुओं को मारने वाला'। इ, उ, ऋ अन्तवाले धातुरूप मूल संज्ञारूपों की तरह उपलब्ध नहीं हो सकते हैं और उनमें –त् आगम जोड़ दिया जाता है : धनजित्– 'धन को जीतनेवाला', सोमसुत्– 'सोम को दबाकर निचोड़ता हुआ', ज्योतिष्कृत्– 'प्रकाश करनेवाला'। धातुज प्रातिपदिकों वाले इस तरह के समासान्त रूप कभी-कभी कर्मणि अर्थ का वहन करते हैं : मनोयुज् 'इच्छा के द्वारा प्रेरित (प्रयुक्त)', हृदयाविध्– 'हृदय को चुभने वाला'। यह कोटि अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में भी मिलती है, तुल० ग्रीक बॊउप्लेज़् (bouplḗz), लैटिन फिदिकेन् (fidicen), अर्तिफेक्स् (artifex), आदि।

थिमैटिक प्रत्यय : अन्नाद– 'अन्न खाने वाला', गोघ्न– 'गाय की हत्या करने वाला', देववन्द– 'देवताओं की स्तुति करनेवाला', कर्मकर–'कार्य करनेवाला'। एक अधिक नवीन कोटि, जिसमें पूर्वपद द्वितीया (या कभी-कभी अन्य) विभक्ति चिह्नों का ग्रहण कर लेता है. इस प्रत्यय के सम्बन्ध में अधिक प्रचलित है : धनञ्जय– 'धन को जीतने वाला', पुरन्दर– 'नगरों को नष्ट करनेवाला', तल्पेशय– 'बिछौने पर सोने वाला'। यह थिमैटिक कोटि अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में भी परिज्ञात है : अवे० हशिदव– (hašidava–) 'मित्र को धोखा देता हुआ', ग्रीक थुमोफ्थोरोस् (thumophthoros), द्रुतोमोस् (drutómos), लैटिन कउसिदिकुस् (cousidicus), मग्निफिकुस् (magnificus), रूसी वोदानोस् (vodonós) 'जल ले जानेवाला', आदि।

–अन प्रत्यय : केशवर्धन– 'बाल काटना', अमित्रदम्भन– 'शत्रुओं को धोखा देना', देवयजन– 'देवताओं की पूजा करना'।

–इन् प्रत्यय : उक्थशंसिन्– 'स्तोत्रपाठ करने वाला', व्रतचारिन्– 'व्रत करने वाला', सत्यवादिन्– 'सत्य बोलनेवाला'।

–इ प्रत्यय : पथिरक्षि– 'मार्गरक्षक', सहोभरि– 'शक्ति धारण करने वाला'।

–वन् और –मन् प्रत्यय : सोमपावन्– 'सोम पीता', बलदावन्– 'बल देता', स्वादुषद्मन्– 'मिठाइयाँ बाँटता',। तुल० ग्रीक पोलुदेगुमोन् (poludégumōn)।

अन्य प्रत्यय—राष्ट्रदिप्सु– 'राज्य को हानि पहुँचाने वाला', लोककृत्नु– 'संसार का निर्माण करने वाला', नृपातृ– 'मनुष्य-रक्षक'।

इस तरह के शब्दरूपों में एक अत्यधिक वर्ग ऐसा है, जिसमें उत्तरपद का

स्वरूप सम्बद्ध धातु द्वारा गृहीत वर्तमानकालिक धातुरूप के आधार पर बनाया जाता है। इस तरह के धातुरूप निम्नलिखित अन्त वाले हैं : –य (चतुर्थ गण) पुनर्मन्य– 'फिर विचार करनेवाला', अकृष्टपच्य– 'बिना जोत फसल आ जाना', असूर्यम्पश्य– 'सूर्य को न देखना'।

–अय (दशम गण णिजन्त) : अनिलय– 'अशान्त', जनमेजय– 'लोगों को उद्बुद्ध करनेवाला', धर्मधारय– 'धर्म का पालन करनेवाला'। तु० अवे० नरोवएपय (narōvaēpaya)।

–न्व : विश्वमिन्व 'सबको उत्तेजित करना' धियंजिन्व–, दानुपिन्व–।

–न : दुरदभ्न–, कुलम्पुन, सदापृण–। तुल० ग्रीक मिस्थर्नोस् (místharnos), पोलुदम्नेस् (poludámnēs)।

अनुनासिक अन्तः प्रत्यय : अग्निमिन्ध–, शल्यकृन्त–, गोविन्द–। तुल० अवे० यिमो-कॅरॅन्त– (yimō-kərənta–)।

अभ्यास रूप : सार्धञ्जह–, मनोजिघ्र–, इडादध–। तुल० अवे० अज्रोदद– (azrōdaδa–)।

(ब) उत्तरपद के रूप में कृदन्तज कर्मणि समासान्त शब्द इनके अन्य पदों की वाक्यरचनागत सम्बन्ध की दृष्टि से इनसे भिन्न होते हैं, और सामान्यतः स्वराघात भी इनमें पूर्वपद पर होता है। इसी कारण इन्हें एक स्वतन्त्र उपकोटि के रूप में माना गया है। ये रूप अत्यधिक उत्पादक हैं : हस्तकृत– 'हाथ से बनाया गया', वीरजात– 'वीर से उत्पन्न', देवत्त– 'देवताओं द्वारा दिया हुआ', प्रजापतिसृष्ट 'प्रजापति द्वारा निर्मित', उल्काभिहत– 'बिजली से घायल', इन्द्रोत– 'इन्द्र से सहायता किया गया'। यह एक प्राचीन भारत-यूरोपीय कोटि है, जिसका सम्बद्ध भाषाओं में भी प्रतिनिधित्व पाया जाता है : अवे० अहुर-दात–, ग्रीक थेओद्मेतोस् (theodmētos), हिप्पेलतोस् (hippélatos), आदि।

उपर्युक्त (अ) कोटि के अन्तर्गत उदाहृत समास इस तथ्य के द्वारा विशेषीकृत हैं कि इनका उत्तरपद अधिकतर, और कुछ वर्गों के सम्बन्ध में निश्चित रूप में सर्वदा एक ऐसा प्रातिपदिक है, जो स्वतन्त्र प्रयोग के रूप में नहीं मिल सकता। गोघ्न–जैसे समासान्त पद इच्छानुसार बनाए जा सकते हैं, किन्तु केवल घ्न– का अस्तित्व नहीं मिलता। ठीक यही विशेषता सम्बद्ध भाषाओं में भी समान रूप से पायी जाती है और पीछे भारत-यूरोपीय युग तक जाती है। समासों की इस कोटि का उद्भव भारत-यूरोपीय की एक प्राचीन स्थिति तक जाता है, जिसमें ऐतिहासिक युग में तथा उससे ठीक पूर्व के युग में विद्यमान पदरचनागत संघटना की अपेक्षा भिन्न तथा अधिक सरल संघटना थी। ऐतिहासिक युग में जो पदरचनात्मक तत्त्व समास कहलाते हैं, वे पहले उस कोटि के

रूपों से आरम्भ होते थे, जो भारत-यूरोपीय की अपेक्षा कम विकसित विभक्ति प्रक्रियावाली भाषाओं में प्रचलित हैं। द्रविड़ तथा कतिपय अन्य भाषापरिवारों से सम्बद्ध निष्ठारूप इस कोटि के रूपों के उदाहरण हैं। भारत-यूरोपीय में विभक्तिप्रक्रिया के विकास ने इस प्रकार के सरल रूपों को हटा दिया, किन्तु उन पर आधृत यह समासकोटि पनपती रही।

(२) उत्तरपद के रूप में केवल विशेषण वाले समासान्त पद अपेक्षाकृत कम हैं। इस तरह के उदाहरण हैं : तनूशुभ्र– 'चमकीला शरीर', यज्ञधीर– 'यज्ञ में कुशल', सामविप्र- 'सामगान में चतुर', तिलमिश्र– 'तिल मिला हुआ'; पूर्वपद के विभक्ति चिह्नवाला मदेरघु– 'मस्ती में जल्दबाज', विद्मनापस्– 'बुद्धिपूर्वक काम करने वाला'।

ब. (१) बहुव्रीहि– बहुव्रीहि या सम्बन्धबोधक समास ठीक उन्हीं तत्त्वों को उसी क्रम से धारण करते हैं, जैसे कि वे कर्मधारय और तत्पुरुष समासों में पाए जाते हैं किन्तु इस माने में भिन्न होते हैं कि ये समास किसी अन्य पदार्थ की विशेषता बतलाने वाले विशेषण का काम करता है। स्वराघात की दृष्टि से भी ये कर्मधारय और तत्पुरुष कोटियों से भिन्न हैं, ये समासान्त पद के पूर्वपद के उदात्तस्वर को सुरक्षित रखने की प्रक्रिया के द्वारा विशेषीकृत किए जाते हैं। इन दो विरोधी कोटियों का यह भेद इन उदाहरणों से स्पष्ट किया जाता है : राजपुत्र– 'राजा का पुत्र' के विरुद्ध राजपुत्र– 'जिसका पुत्र राजा है' और सूर्यतेजस्– 'सूर्य का तेज', के विरुद्ध सूर्यतेजस्– 'सूर्य के तेजवाला'। निम्नलिखित रूप बहुव्रीहि कोटि के उदाहरणों के रूप में दिए जा सकते हैं : बहुव्रीहि– 'बहुत चावलों वाला' (जिस पर इसका नामकरण हुआ है), मयूररोमन्– 'मोर के रोम वाला', इन्द्रशत्रु– 'जिसका शत्रु इन्द्र है', उग्रबाहु– 'शक्तिशाली भुजाओंवाला', दीर्घश्मश्रु– 'लंबी मूँछों वाला', जीवपुत्र– 'जीवित पुत्रों वाला', इद्धाग्नि– 'जिसकी आग जला दी गयी है' प्रयतदक्षिण– 'जिसने यज्ञ-दक्षिणा दे दी है', छिन्नपक्ष– 'जिनके पंख काट डाले गये हैं', शुचद्रथ– 'चमकते हुए रथवाला', पञ्चाङ्गुरि– 'पाँच अंगुलियों-वाला', मधुजिह्व– 'मधुर जीभवाला', मणिग्रीव– 'गले में हार वाला', पात्रहस्त– 'हाथ में पात्र लिया हुआ', वज्रबाहु– 'वज्र हाथ में लिया हुआ', खरमुख– 'गधे के मुखवाला'। वैदिक भाषा में कुछ उदाहरण विभक्तिचिह्नयुक्त पूर्वपद वाले मिलते हैं : क्रत्वामघ– 'बुद्धिमत्ता से प्राप्त पारितोषिक से युक्त', आसन्निषु– 'मुँह में बाणों वाला', दिवियोनि– 'जिसका मूल स्वर्ग में है'।

यह कोटि भा० यू० भाषाओं में विस्तारपूर्वक विभाजित है। ग्रीक लेउकोलेनोस् (leukólenos) 'श्वेत बाहुवाला', ह्रोदोदक्तुलोस् (hrododa-

ktulos) 'उठी हुई अंगुलियोंवाला', लैटिन मग्ननिमुस्- (magnanimus) 'महान् आत्मा', कप्रिकोर्नुस् (capricornus) 'बकरे के सींगोंवाला', गॉथिक हइन्य-हइर्तस् (hrainya-haírts) 'शुद्ध हृदय वाला', प्रा० स्ला० च्रिनोव्लसु (črĭnovlasu) 'काले बालोंवाला'।

बहुव्रीहि समास भी इसी तरह भा० यू० के अधिक प्राचीन, कम विभक्ति-प्रधान युग में उद्भूत हुआ था, और यह विशेषण तथा संज्ञाशब्दों की सामानाधिकरण्ययुक्त विभक्तिज प्रक्रिया के विकसित होने के बाद भी बचा रहा। यह विकास, जैसा कि हम देख चुके हैं, कर्मधारय समासों के एक विशाल वर्ग के उदय के लिये हितकारक नहीं था, क्योंकि विशेषण और संज्ञाशब्दों के सरल संयुक्त प्रयोगों में सविभक्तिक रूप प्रयुक्त किए जाते थे। दूसरी ओर बहुव्रीहि रूपों को सरलता से इस तरह परिवर्तित नहीं किया जा सकता था, क्योंकि इनकी बजाय दूसरा रूप केवल भद्दे ढंग के वाक्यांश के द्वारा ही मिल सकता था। परिणामतः यह इन समासों के रूप में अत्यधिक विकसित विभक्तिप्रधान स्थिति में सुरक्षित रह गया।

यद्यपि इन समासों का उत्तरपद हमेशा संज्ञाशब्द होता है, हलन्त प्रातिपदिकों में यह हमेशा विशेषणरूप हो जाता है, उदा० सुयशस्- 'अच्छी कीर्तिवाला'। एक विशेषण प्रथमान्त, एकवचन रूप सुयशाः* (अ) सुयशः- 'अच्छी कीर्ति', (तुल० हित्ती अश्शु (aššu-) 'अच्छा') से बनाया गया है, ठीक इसी तरह, जैसे कि केवल यशः से यशाः; अपश्रुति से इस बात का संकेत मिलता है कि इस समास में भी स्वराघात मूलतः अन्तिम अक्षर पर ही था। ठीक यही बात -न् अन्तवाले प्रातिपदिकों के साथ पायी जाती है: प्रथमा ए० व० पुरुनाम- 'बहुत से नामों वाला', आदि। इसी तरह विशेषणगत -अ का प्रयोग प्रायः केवल संज्ञाशब्दों के साथ ही पाया जाता है: अनुद्र-'जलविहीन', उरूणस- 'चौड़ी नाक वाला', त्रिवत्स- 'तीन बरस का', सर्ववेदस- 'जिस (यज्ञ) में सारी सम्पत्ति दान कर दी जाय'। अन्य विशेषण प्रत्यय प्रायः जोड़ दिए जाते हैं, उदा० -क: जीवपितृक- 'जिसका पिता जिन्दा है', पुण्यलक्ष्मीक- 'शुभचिह्नोंवाला', -य: हिरण्यकेश्य- 'सुनहरे बालोंवाला', मधुहस्त्य- 'हाथ में मिठास लिए ए'; -इन्: महाहस्तिन्- 'लंबे हाथवाला', शतग्विन्- 'सौ गायों वाला'।

(२) विशेषण समास उपसर्ग + संज्ञाशब्द के संयोग के आधार पर बनाए जाते हैं। अति + अंहः 'पाप के परे' से सम्बद्ध समस्त रूप अत्यंहः- 'ऐसा मनुष्य जो कि पाप की पहुँच के बाहर हो' मिलता है। इसी तरह अनुव्रत-'आज्ञाकारी', अभिद्य- 'स्वर्ग की ओर', उपकक्ष- 'कन्धे (कांख) के पास का', ऊर्ध्वनभस्-

'बादलों के ऊपर होना', परिहस्त– 'हाथ के चारों तरफ बाँधी गई कोई वस्तु, गंडा, यंत्र'। ये समास प्रायः विशेषण प्रत्ययों का ग्रहण कर लेते हैं, जिनका संकेत ऊपर बहुव्रीहियों के सम्बन्ध में किया जा चुका है: आजरस– 'बुढ़ापे (तक) के पास पहुँचना', आपथि– 'रास्ते में होना'; परिपन्थिन्– 'सहयात्री' उपतृण्य– 'घास में छिपा हुआ'।

(३) केवल वैदिक भाषा तक ही सीमित एक प्राचीन वर्ग मिलता है, जो उत्तरपद को निर्देश करने वाले पूर्वपदवाले शत्रंतरूपों से, बनाया गया है। उदाहरणः विदद्वसु– 'धन विजय करता हुआ', भरद्वाज– 'उपहारों को धारण करता हुआ', तरद्द्वेष– 'द्वेष को पार करता हुआ', मन्दयत्सख– 'मित्रों को आनन्द देता हुआ'। यही कोटि प्राचीन ईरानी में भी स्थापित हो गयी है: अवे॰ वनत् पॅशन (vanat pəšana–)– 'युद्ध विजय करता', आदि। अन्य धातुज संज्ञा शब्दों के प्रातिपदिकों का प्रयोग छिटपुट रूप से इसी तरह होता है: त्रसदस्यु– 'शत्रुओं को कँपाता हुआ', रदावसु– 'धन का प्रकाशन करता', दातिवार– 'वस्तु पसन्द करता'। इसी तरह के निर्देशक समास ग्रीक में उपलब्ध हैं: फ़ेरेओइकोस् (phéreoikos) 'अपने घर ले जाता हुआ', हेल्केसिपेप्लोस् (helkesípeplos) 'लबादे खींचता हुआ'।

क्रियाविशेषणों के रूप में प्रयुक्त विशेषण-समास

सामान्य विशेषणों की ही तरह समासान्त विशेषण भी क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त किए जा सकते हैं, और ऐसे रूप साधारणतः द्वितीया एकवचन नपुंसक में मिलते हैं। यह सामान्यतः विशेषण बहुव्रीहियों में पाया जाता है और शास्त्रीय साहित्य में इस प्रकृति के लम्बे-लम्बे संयुक्त प्रयोग इस तरह निरन्तर पाए जाते हैं। यह उन रूपों के साथ भी सामान्यतः मिलता है, जिनमें समस्त पदों का पूर्वपद उपसर्ग अथवा अन्य प्रकार का अव्यय, जैसे अतिमात्र– विशेषण 'अधिक' से बना हुआ अतिमात्रम् क्रियाविशेषण 'अधिकता से'। इस प्रकार के क्रियाविशेषणीभूत समास हिन्दू वैयाकरणों द्वारा समास के अलग वर्ग के रूप में माने गए हैं, और उन्हें अव्ययीभाव संज्ञा दी गई है। इसका कारण यह तथ्य है कि परवर्ती भाषा में इस प्रकार की क्रियाविशेषणों की एक महत्त्वपूर्ण कोटि मिलती है, जिनके साथ मिलते-जुलते वास्तविक विशेषणशब्द नहीं हैं, इस वर्ग का प्रतिनिधित्व इस प्रकार के उदाहरणों द्वारा किया जाता है उपराजम्– 'राजा के समीप', उपनदम् 'नदी के समीप', प्रत्यग्नि 'आग के सामने', प्रतिनिशम् 'रात में, हर रात'। अव्ययों का एक उत्पादक वर्ग उन समासों द्वारा बनाया जाता है, जिनमें पूर्वपद सम्बन्धबोधक क्रियाविशेषण है: यथाकामम् 'इच्छानुसार' यावज्जीवम् 'जीवनपर्यन्त', आदि।

द्वन्द्व समास

यह कोटि सम्बद्ध भाषाओं में ठीक इससे मिलते-जुलते रूपों को नहीं रखती और खास तौर पर संस्कृत के अपने ही ऐतिहासिक युग में विकसित हुई है। इसकी प्राचीनतम कोटि जो संस्कृत तथा अवेस्ता में दो द्विवचनान्त रूपों से युक्त है, जिनमें प्रत्येक पद अपने उदात्त स्वर को सुरक्षित रखता है और जो इस रूप में साथ-साथ संयुक्त कर दिए जाते हैं कि अ + व को २अ + २व के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है : मि॒त्रा-वरु॑णौ 'मित्र (सूर्य) और वरुण', द्यावा॑-पृथि॒वी 'स्वर्ग और पृथ्वी', उ॒षासा॒-नक्ता॑ 'उषःकाल और रात'; तुल० अवे० पसुविर 'जानवर और आदमी' सम्बन्ध (षष्ठी) पस्व वीरय (pasva vīraya)। कभी-कभी इन रूपों के स्थान पर एकशेष द्विवचनान्त रूपों का प्रयोग किया जा सकता है, मि॒त्रा 'मित्र और वरुण' पि॒तरा॑ 'माता-पिता' द्यावा॑ 'स्वर्ग और पृथिवी'।

यह प्राचीनतम वस्तुस्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार के रूपों से, जो इस पारिभाषिक शब्द के वास्तविक अर्थ में समास नहीं हैं, संस्कृत द्वन्द्व समासों की प्रक्रिया का विकास हुआ है और आरंभिक साहित्य में कतिपय मध्यवर्तिनी स्थितियाँ देखी जा सकती हैं। इस प्रकार (१) प्रथमा और द्वितीया के अतिरिक्त अन्य विभक्तियों में पूर्वपद में प्रथमा-द्वितीया के द्विवचनान्त रूप को सुरक्षित रखा जाता है : मि॒त्रयो॒र्वरु॑णयोः के स्थान पर मि॒त्रा-वरु॑णयोः; (२) ऋग्वेद में कतिपयसंख्यक उदाहरणों में और परवर्ती संहिताओं में कुछ अधिक संख्या में इस प्रकार के संयुक्त रूपों का पूर्वपद अपने उदात्त स्वर को खो देता है : इन्द्रापूष्णोः, सो॒मा॒रुद्रयोः। अन्तिम स्थिति वह मिलती है, जब पूर्वपद अपने शुद्ध प्रातिपदिक रूप में मिलता है : इन्द्रवायू (ऋग्वेद में केवल एक उदाहरण), वा॒यु॒स॒वि॒तृभ्या॑म्, दक्षक्रतू, आदि।

चूँकि कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द, आदि का विभक्त्यन्त रूप, –तर् प्रत्ययवाले शब्दों का प्रथमा एकवचनान्त रूप द्विवचनान्त द्वन्द्व के पूर्वपद के रूप से मिलता है, द्वंद्व समासों में पूर्वपद के इस प्रकार के प्रातिपदिक से युक्त रूप को चुना गया है : पि॒ता॒पु॒त्रौ, 'पिता और पुत्र', हु॒ताध्वर्यू॑, आदि।

बहुवचनान्त द्वन्द्व प्राचीनतम भाषा में अत्यधिक न्यून है, कतिपय उदाहरणों में इन्द्रामरुतः (संबोधन रूप) और पितापुत्राः 'पिता और अनेक पुत्र' इस दृष्टि से, जहाँ तक उनके पूर्वपद का संबंध है, द्विवचनान्त द्वन्द्वों के आधार पर बनाए गए हैं। पूर्वपद के शुद्ध प्रातिपदिक से युक्त सामान्य कोटि का एक उदाहरण ऋग्वेद के एक परवर्ती सूक्त में मिलता है : अ॒जा॒वयः॑ 'भेड़ें और बकरियाँ। परवर्ती वैदिक साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण अधिक प्रचलित हो गए हैं :

देवमनुष्याः 'मनुष्य और देवता', भद्रपापाः 'भले और बुरे'। इस युग में दो पदों से अधिक पदों वाले द्वन्द्व समास भी मिलने लगते हैं : प्राणापानोदानेषु।

वेद में द्वन्द्वों की प्राचीनतम कोटि में स्त्रीलिंग संज्ञाशब्द प्रयुक्त नहीं मिलते यद्यपि इस प्रकार के रूप अवेस्ता से ज्ञात हैं : आप उर्वइरे (āpa urvaire) 'पानी और फसलें'। परवर्ती वैदिक युग में ये समास की पूर्ण विकसित कोटि के रूप में उपलब्ध हैं : जायापती 'पत्नी और पति'।

परिपूर्ण विकसित कोटि के कतिपय नपुंसक द्वन्द्व ऋग्वेद में भी मिलते हैं : सत्यानृते 'सच और झूठ', अहोरात्राणि 'दिन और रातें'। कतिपय प्राचीनतर रूप भी हैं : दो उदात्त स्वरोंवाला इध्मावर्हिः– और इष्टापूर्ति, जिसमें पूर्वपद पुंलिंग द्वन्द्वों की प्राचीन कोटि के आधार पर बनाया गया है। अङ्गापरूंषि 'अवयव और जोड़' (दो उदात्त) और उक्था शस्त्राणि 'स्तोत्र और स्तुतियाँ' इन वहुवचनान्त रूपों में पूर्वपद का स्वरूप प्रथमा द्वितीया ब० व० नपुंसक अन्तवाले प्राचीन प्रयोग के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

प्राचीन युग में नपुंसक द्वन्द्व की एक कोटि का निर्माण किया गया था, जो एकवचनान्त समूहवाचक प्रातिपदिक का काम करती है : कृताकृत– 'किया गया और न किया गया', तृणोदक– 'घास और पानी', कशिपूपवर्हण– 'तकिया और मसनद'। इन उदाहरणों में दोनों पद नपुंसक हैं। ठीक यही कोटि प्राचीन युग में भी कतिपय स्थितियों में मिलती है, जहाँ एक पद नपुंसक होता है, फिर चाहे वह उत्तरपद हो, जैसा कि केशश्मश्रु– 'बाल और मूँछ' और क्लोमहृदय– 'अँतड़ियाँ और हृदय' में, या पूर्वपद हो जैसा कि अहोरात्र– 'दिन और रात', शिरोग्रीव– 'सिर और गर्दन' में और युगशम्य– 'जुआँ और उसका काँटा' में। अन्ततः (ब्राह्मणग्रन्थों में) एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जब कि दो नपुंसकेतर रूप एकवचनान्त समूहवोधक द्वन्द्व बनाने के लिये संयुक्त कर दिया जाता है : ओषधि-वनस्पति– 'पौधे और पेड़', चन्द्रतारक– 'चन्द्र और तारायें', उष्ट्रखर– 'ऊँट और गधे'।

एक ही संज्ञाशब्द के साथ अन्वित होनेवाले दो विशेषणों के संयोग द्वारा विशेषणद्वंद्वों का निर्माण किया जाता है, और इस तरह के रूप ऋग्वेद के आगे से मिलने लगते हैं : नीललोहित– 'गहरा नीला और लाल', कृष्णशवल– 'चितकवरा काला', शीतोष्ण– 'कुनकुना', आदि। अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में इनके समानान्तर रूप मिलते हैं (उदा० ग्रीक लेउकोपुर्रोस् (leukópurros), लेउकोफइओस् (leukóphaios), ग्लुकुतिक्रोस् (glukútikros) और यह संभव है कि नामिक द्वन्द्वों के विरुद्ध यह कोटि भा०-यू० युग से ही चली आ रही हो।

परिच्छेद ५

संज्ञाशब्दों के रूप

१. स्वराघात और अपश्रुति

भा० यू० शब्दरूपों की विशेषता सबल विभक्तियों (प्रथमा—द्वितीया ए० व०, द्वि० व०, प्रथमा ब० व०) में प्रकृत्यंश के उदात्त स्वर को निर्बल विभक्तिरूपों के विभक्त्यंश में, अर्थात् अधिकांश तिर्यक् विभक्तिरूपों में, परिवर्तित कर देना था। उदात्त स्वर के इस स्थान-परिवर्तन से प्रकृत्यंश तथा प्रत्ययांश को प्रभावित करनेवाले अपश्रुतिजनित परिवर्तन (apophonic changes) उत्पन्न हुए हैं। परवर्ती भा० यू० युग में यह प्रक्रिया लुप्त हो गई थी और निश्चित स्थान पर उदात्त स्वर के प्रयोग की प्रक्रिया के द्वारा इसका स्थान लिया जाने लगा था। वैदिक भाषा में एकाक्षर प्रातिपदिकों के शब्दरूपों में यह स्वर-परिवर्तन भलीभाँति सुरक्षित है, किन्तु इसके बहुत से चिह्न अन्य प्रकार के शब्दों के रूपों में भी मिलते हैं, जहाँ प्रकृत्यंश पर उदात्त स्वरवाले नपुंसक रूप (यकृ॑त्, यक्नः) तथा विभक्त्यंश (प्रत्ययांश) पर उदात्त स्वरवाले पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग रूप हैं।

इस उदात्त-स्वर-परिवर्तन से सम्बद्ध अपश्रुतिगत तीन कोटियाँ वृ॒त्रहन्— शब्द के रूपों में स्पष्ट दिखाई देती है: प्र० ए० व० वृ॒त्रहा, द्वि० ए० व० वृ॒त्रहणम्, षष्ठी ए० व० वृ॒त्रघ्नः। यह अपश्रुतिगत परिवर्तन पि॒ता, पि॒तर॑म्, पि॒त्रे; उ॒क्षा 'बैल', उ॒क्षण॑म्, उ॒क्षणः, के ढंग के प्रत्ययांश पर उदात्त स्वरवाले रेफान्त और नकारान्त शब्दों के रूपों में भी दिखाई पड़ता है। अन्यत्र यह परिवर्तन विभिन्न रूपों में बदल दिया गया है और सरल बना दिया गया है। प्रथमा ए० व० रूपों के वृद्धिरूप को द्वितीया ए० व० तथा प्रथमा ब० व० रूपों तक बढ़ा देने की प्रवृत्ति मिलती है, उदा० पात् 'पैर', पादम्, पादः, जो ग्रीक पोद (póda), पोदेस् (pódes) के विरुद्ध है। अपश्रुतिजनित परिवर्तन को छोड़ देने पर भी उदात्त स्वर का स्थान-परिवर्तन रह सकता है, उदा० दिक् 'दिशा', षष्ठी ए० व० दि॒शः, जो मूलतः *दे॑इक्स् : दि॒क्॑स् (*deíks : dikés) रहे होंगे। इसके ठीक विपरीत उदात्त स्वर का प्रयोग एक ही नियत स्थान पर रूढ हो गया है, किन्तु अपश्रुतिजनित परिवर्तन सुरक्षित हैं, उदा० प॒शु॒मान्— 'पशुवाला', प॒शु॒मन्त॑म्, प॒शु॒मतः।

उदात्त स्वर-परिवर्तन की प्रक्रिया मूल व्यञ्जनान्त (हलन्त) शब्दों में भलीभाँति सुरक्षित है। इन शब्दों के रूपों में सबल विभक्ति-रूपों के अतिरिक्त उदात्त स्वर नियमतः विभक्त्यंश पर मिलता है। दूसरी ओर शब्द से सम्बद्ध अपश्रुतिजनित स्वर-ध्वनि-परिवर्तन केवल आंशिक रूप में सुरक्षित है। ये तीनों अपश्रुति-कोटियाँ क्षम्- 'पृथ्वी' के रूपों में मिलती हैं : वृद्धि से युक्त प्रथमा द्विवचन क्षामा॑, गुण से युक्त सप्तमी ए० व० क्षमि॑, मूल शब्द की शून्यकोटि से युक्त षष्ठी ए० व० दमः, ज्मः, ग्मः। अन्यत्र परिवर्तनशील शब्दरूपों में शून्यकोटि कम मिलती है : तुल० उपरिसंकेतित वृत्रघ्नः, हव्यवाह् 'हव्य को ले जाने वाल (अग्नि)' के तृ० ए० व० हव्यौहा॑; द्वारः 'कई दरवाजे' का द्वितीया ब० व० दुरः (सिर्फ एक बार दुरः ऋग्वेद २।२।७)। अन्य शब्दों में केवल वृद्धि तथा गुण के बीच ही परिवर्तन मिलता है, उदा० प्र० ए० व० पात् 'पैर', षष्ठी ए० व० पदः; आपः प्र० ब० व० 'जल', द्वितीया ब० व० अपः; नासा॑ प्र० द्वि० द्वि० व० 'दो नाक', षष्ठी-सप्तमी द्वि० व० नसोः। वृद्धि रूप वाच्- 'वाणी' (प्रथमा ए० व० वाक्, षष्ठी ए० व० वाचः) में (सामान्यतः सभी रूपों में) स्थिर हो गया है, जैसा कि लैटिन वोक्स् (vōx), वोकिस् (vōcis) में भी है, और जो ग्रीक ओप्स् (óps,) ओप (ópa) में प्रयुक्त गुणरूप के विपरीत है। गुणरूप क्षप्- 'रात', तृ० ए० व० क्षपा, स्पश्- 'जासूस', आदि, इस तरह के शब्दों में रूढ हो गया है।

इ, उ, ऋ मूल स्वरवाले मूल संज्ञाशब्दों के सभी विभक्तिरूपों में दुर्बल अपश्रुतिकोटि रूढ हो गई है : दिक् कर्त्ता ए० व० 'दिशा', षष्ठी ए० व० दिशः, तृ० ब० व० दिग्भिः, इसी तरह ऋच्- 'ऋचा, वेदमन्त्र', ऋक्, ऋचः, ऋग्भिः आदि रूपों में विना किसी अपवाद के। इन्हीं मूल संज्ञाशब्दों के साथ मूलतः ? (H) से अन्त होनेवाले शब्द, -ई और -ऊ अन्तवाले मूलशब्द सम्बद्ध हैं। उदा० धी- 'विचार, बुद्धि', (धीः, धियम्, धियः) और भू- 'पृथ्वी' (भूः, भुवम्, भुवः)।

उदात्तस्वर का परिवर्तन सामान्य नियम के रूप में उन मूल शब्दों के विभक्ति रूपों में छोड़ दिया गया है जो समासान्त शब्दों के अन्त में मिलते हैं, उदा० त्रिवृत्- 'तिहरा', षष्ठी ए० व० त्रिवृतः। उदात्त स्वर-परिवर्तन की प्राचीन प्रक्रिया केवल वृत्रघ्नः में सुरक्षित है; क्योंकि मूल शब्द या प्रकृति की स्वर-ध्वनि लुप्त कर दी गई है। अनड्वाह्-, षष्ठी ए० व० अनडुहः के परिवर्तनशील प्रकृत्यंश में अपश्रुतिजनित परिवर्तन इस बात का सङ्केत करता है कि यहाँ मूलतः परिवर्तनशील उदात्त स्वर था, जो बाद में नियत उदात्त स्वर के द्वारा हटा दिया गया है। इस सामान्य प्रवृत्ति का अपवाद -अञ्च् (प्रत्यञ्च्-

आदि,) के विभिन्न रूपों में उपलब्ध है, जो मूलतः अक्षि 'आँख' शब्द के मूल रूप के साथ पुरःसर्ग जोड़कर बनाए गए समस्त पद हैं। यहाँ उदात्त स्वर दुर्बल विभक्ति-रूपों में विभक्त्यंश पर मिलता है (षष्ठी ए० व० प्रतीचः), किन्तु सामान्य विभक्तियों में अपश्रुतिगत कोटियों के अन्तर के साथ-साथ यह उदात्त स्वर पीछे हटा दिया जाता है (प्रत्यग्भिः)।

यह परिवर्तनशील उदात्त स्वर मूलतः ऊपर वर्गीकृत विभिन्न प्रत्ययों से बने नपुंसक संज्ञाशब्दों की विशेषता था। परवर्ती भा०-यू० युग से ही इस स्वर-परिवर्तन को छोड़कर इसके स्थान पर नियत मूल उदात्त स्वर के प्रयोग की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। इतना होने पर भी संस्कृत में ग्रीक की तरह ही इस प्रक्रिया के कई अवशेष बच गए हैं। यह उदात्त स्वर-परिवर्तन प्रायः परिवर्तनशील र्/न् अन्तवाले आर्ष (archaic) नपुंसक रूपों में सुरक्षित हैं : उदा० असृक्, असनः 'खून', यकृत्, यक्नः 'जिगर', शकृत्, शक्नः 'विष्ठा'; ठीक इसी तरह इ/न् अन्तवाले परिवर्तनशील शब्दों में : अक्षि, अक्षणः 'आँख', अस्थि, अस्थ्नः 'हड्डी', दधि, दध्नः 'दही'। ठीक इसी तरह का विभक्त्यंश पर उदात्त आस्नः षष्ठी ए० व० (आस्य) 'मुख' में और इसी तरह दोष्णः, यूष्णः, उद्नः, शीर्ष्णः (दोः (दोष्) 'हाथ', यूः (यूष्) 'जूस, सूप' उदक 'पानी', शिरस् (रः) 'सिर' के षष्ठी ए० व०) में भी मिलता है। तिर्यक् विभक्तिरूपों में विभक्त्यंश पर उदात्त स्वर का प्रयोग कुछ उदाहरणों में मूल प्रकृति के रूप को दुर्बल बना देता है : उदा० अंग्रेजी 'वाटर' (water) आदि से तुलनीय उद्नः में। यह स्थिति षष्ठी ए० व० उस्रः 'उषा का' में भी दिखाई देती है, जिसकी सबल रूप वसर् के साथ तुलना की जा सकती है, जो समस्त पदों में मिलता है। दो स्थितियों में प्राचीन र्/न् रूपों वाले संज्ञाशब्दों के साथ नियत उदात्त स्वर का प्रयोग किया गया है : अहर् (अहः) अह्नः 'दिन', ऊधर् (अधः), ऊध्नः 'थन'।

पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग र् और न् अन्तवाले शब्दों के विभक्त्यंश पर उदात्त स्वर-परिवर्तन दुर्बल विभक्ति रूपों में सुरक्षित है, जहाँ प्रत्ययांश की स्वरध्वनि लुप्त हो गयी है : पिता, पित्रे, तुल० ग्रीक पतेर् (patér), पत्रोस् (patrós); मूर्धा 'सिर', षष्ठी मूर्ध्नः, उक्षा 'बैल', उक्षणः, तुल० ग्रीक अरेन् (arén), वरेन् (warēn) 'मेमना', षष्ठी अर्नोस् (arnós)। सामान्य विभक्ति-रूपों में जहाँ प्रत्ययांश का न् और र् गुण स्वरध्वनि के लोप के कारण स्वरध्वनि बन गया है, उदात्त स्वर फिर से प्रत्ययांश पर लौटा दिया जाता है : पितृभिः मूर्धभिः। कतिपय स्थितियों में अपश्रुतिगत रूप इस बात का संकेत करते हैं कि उदात्त स्वर मूलतः परिवर्तनशील प्रकृति का था, यद्यपि इसका स्थान अब

नियत हो गया है: श्वा 'कुत्ता', षष्ठी शुनः (मूल उदात्त स्वर ग्रीक कुनोस् (kunós) में), युवा 'युवक', षष्ठी यूनः, मघवा, मघोनः।

अस्– अन्तवाले शब्दों में इस उदात्त स्वर परिवर्तन के चिह्न बहुत कम उपलब्ध हैं। तृतीया ए० व० भीषा (भियस्– 'डर') और षष्ठी ए० व० उपः (उप्– स्– अस् के लिए) विभक्त्यंश पर उदात्त स्वर तथा उससे सम्बद्ध प्रत्यय तथा प्रकृति दोनों का दुर्बल रूप—इन दोनों प्रवृत्तियों को सङ्केतित करते हैं। वैसे ये शब्द भी सामान्य रूप बन गए हैं।

यह उदात्त स्वर का प्रयोग मूलतः इकारान्त-उकारान्त शब्दों की विशेषता था और इसके चिह्न खास तौर पर ग्रीक में बचे रहे हैं. उदा० ओइस् (oís) 'भेड़', सम्बन्ध कारक ओइओस् (oiós); गोनु (gónu) 'घुटना', गोउनोस्– (gounós), दोरु (dóru) 'भाला' दोउरोस् (dourós)। संस्कृत में सामान्यतः उदात्त स्वर स्थिर हो गया है (अर्यः, मध्वः), यद्यपि कभी-कभी अपश्रुतिगत रूप विभक्तिज रूपों के मूल उदात्त स्वर का सङ्केत कर देते हैं, उदा० दारु 'लकड़ी' के षष्ठी रूप द्रुणः (<द्रुणः) में। प्रथमा ए० व० नपुंसक लिंग पशु तथा षष्ठी ए० व० पश्वः (पुल्लिङ्ग, किन्तु मूलतः नपुंसक लिङ्ग) मूल भा०-यू० विभक्तिज रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु ये दोनों एक साथ बिलकुल सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि पशु के साथ वर्गीकृत रूपों ने सामान्य मौलिक उदात्त स्वर को अपनाया है और पुल्लिङ्ग पशुः नया उत्पन्न हो गया है, जिससे षष्ठी ए० व० पश्वः सम्बद्ध है। अन्यत्र विभक्त्यंश पर उदात्त स्वर प्रत्ययांश पर उदात्त स्वरवाले संज्ञाशब्दों के बहुत कम रूपों में मिलता है, जो षष्ठी ए० व० में –अस् (अः) विभक्ति का प्रयोग करते हैं: अरिः– अर्यः, रयिः– रायः, पितुः –पित्वः।

उदात्त स्वर का परिवर्तन प्रत्ययांश पर उदात्तवाले –अन्त् प्रत्यय से युक्त वर्तमानकालिक कृदन्तों के रूपों में विद्यमान है: प्रथमा ए० व० अदन् 'खाता हुआ': तृ० ए० व० अदता; युञ्जन् 'जोड़ता हुआ': युञ्जता; सुन्वन् 'दबाता हुआ, रस निकालता हुआ': सुन्वता, आदि; किन्तु यह सामान्य विभक्ति रूपों के साथ लागू नहीं होता, जहाँ उदात्त स्वर प्रत्ययांश पर है, विभक्त्यंश पर नहीं।

ये वे प्रमुख परिस्थितियाँ हैं, जहाँ संस्कृत में शब्दरूपों में उदात्त स्वर का स्थान-परिवर्तन मिलता है। अन्यत्र अधिकांश शब्दों में उदात्त स्वर या तो प्रकृत्यंश पर स्थिर हो गया है, या प्रकृत्यंश पर स्थिर उदात्त स्वर संस्कृत में नपुंसक संज्ञाशब्दों का सामान्य स्वराघात है: धन्व– 'धनुष', धन्वनः; नाम– 'नाम', नाम्नः; ब्रह्म 'स्तुति', ब्रह्मणः; अंहस् 'दुःख', अंहसः; मधु 'शहद', मध्वः, मधुनः; वारि 'पानी', वारिणः। स्थिर मूल

उदात्त स्वर ठीक इसी तरह नियमतः उन पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग संज्ञाशब्दों में मिलता है, जिनमें प्रकृत्यंश पर स्वराघात पाया जाता है : भ्राता 'भाई', तृ० भ्रात्रा; राजा 'राजा', षष्ठी राज्ञः; भवन् 'होता हुआ', भवतः; गोमान् 'गायोंवाला', गोमतः; अविः 'भेड़', अव्यः; पतिः 'स्वामी', पतेः, पत्युः (पति); क्रतुः 'बुद्धि', क्रत्वः; शत्रुः 'दुश्मन', शत्रोः ।

वे अ-विकरण वाले (thematic) दोनों तरह के शब्द, जिन पर प्रकृत्यंश पर अथवा प्रत्ययांश पर स्वराघात पाया जाता है, संस्कृत तथा ग्रीक दोनों में निश्चित रूप में स्थिर उदात्त स्वर से युक्त पाए जाते हैं। ठीक यही बात अ- विकरण से युक्त धातुओं के साथ लागू होती है। इस बात का प्रमाण है कि भा०-यू० में ही इस तरह के मूल शब्द और धातु आरम्भ से ही स्थिर उदात्त स्वर के प्रयोग की विशेषता लिए हुए थे।

विकरणहीन शब्दों में प्रत्ययांश पर स्थिर उदात्त स्वर कई रूपों में मिलता है। यह र्- तथा न्- से अन्त होने वाले शब्दों में संस्कृत में बहुत कम मिलता है, यद्यपि ग्रीक में अप्रचलित नहीं है। (पोइमेन् (poimén), पोइमेनोस् (poiménos), और सर्वत्र वृद्धिरूपों में दोतेर् (dotēr), दोतेरोस् (dotēros))। इस प्रकार का स्वराघात संस्कृत में केवल उन्हीं नकारान्त शब्दों में मिलता है, जिनमें दुर्बल विभक्तियों में प्रत्ययांश की स्वरध्वनि लुप्त नहीं होती : ब्रह्मा, ब्रह्मणः।

दूसरी ओर इस प्रकार का स्वराघात इ-कारान्त तथा उ-कारान्त शब्दों में अधिक महत्त्व का हो गया है, जहाँ इसने प्रत्ययांश पर उदात्त स्वरवाले विशिष्ट विभक्तिज रूपों (विशेषण तथा कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द) को उत्पन्न किया है, जो अन्ततः सभी प्रकार के उदात्त स्वरयुक्त पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग शब्दों के साथ प्रयुक्त होता था। पिता : पित्रे के ढंग का विभक्तिज रूप केवल सखि- 'मित्र' शब्द में मिलता है, प्रथमा ए० व० सखा, चतुर्थी ए० व० सख्ये, किन्तु यहाँ प्रकृत्यंश पर उदात्त स्वर का गौण परिवर्तन पाया जाता है, जो मूलतः दोनों स्थितियों में एक ही रहा होगा। अन्यत्र सामान्य शब्दों में (अग्निः, अग्नेः) स्थिर मूल उदात्त स्वर है, और इस प्रकार के रूप काफी पुराने होने चाहिए, क्योंकि उदात्त स्वर का प्रयोग और अपश्रुति षष्ठी ए० व० आदि रूपों में एक-दूसरे के अनुकूल है। उदात्त स्वर षष्ठी, चतुर्थी (अग्नये) तथा प्रथमा बहुवचन (अग्नयः) में प्रत्यय के गुणरूप को सुरक्षित रखता है और षष्ठी ए० व० के विभक्ति चिह्न को केवल -स् (:) के रूप में (अग्ने-स्) (:) समाहृत कर देता है। इसी प्रकार उकारान्त शब्दों में वायुः 'हवा' षष्ठी ए० व० वायोः जैसे विभक्ति रूप प्रत्ययांश पर उदात्त स्वरवाले कर्त्रर्थ संज्ञा तथा विशेषण शब्दों के प्रत्यय

पर स्वराघात के स्थिर होने के कारण विकसित हुए हैं। इस ढंग के शब्दरूप अन्ततः उन वैकल्पिक रूपों को प्रयोग से हटा देते हैं, जो मूलतः नपुंसक संज्ञाशब्दों (मध्वः, पश्वः मूलतः नपुंसक) के साथ नियत रूप से, और कर्त्रर्थ संज्ञा विशेषण शब्दों में (गौण मूल स्वराघात से युक्त सख्ये) विकल्प से प्रयुक्त होते थे। पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग शब्दों के विपरीत नपुंसक शब्दों का ह्रास अधिकांशतः इस विकास का कारण है।

प्रत्ययांश पर स्थिर स्वराघात पुल्लिङ्ग तथा –अस् अन्तवाले स्त्रीलिङ्ग शब्दों में भी मिलता है : प्रथमा रुचाः, षष्ठी रुचसः और –मन्त् तथा –वन्त् अन्तवाले शब्दों में जब कि इनके प्रत्ययांश पर स्वराघात है : पशुमान्, पशुमतः। परवर्ती उदाहरण में अपश्रुतिगत परिवर्तन मूलतः परिवर्तनशील स्वराघात का संकेत करता है। ठीक यही स्थिति पूर्ण भूत कृदन्त रूपों में है, जहाँ भी स्थिर स्वराघात गौण उद्भव का होना चाहिए : चकृवान्, चक्रुषः।

कतिपय तुमन्त शब्दों का स्वराघात संकेत करने योग्य है, क्योंकि यह ऊपर वर्णित सभी रूपों से भिन्न है। यह उन कतिपय चतुर्थी विभक्तिवाले तुमन्त रूपों में मिलता है, जहाँ प्रत्ययांश पर स्वराघात है। यह स्– अन्तवाले शब्दों से बनाये गये तुमन्त रूपों में खास तौर पर मिलता है, उदा० ऋचसे 'स्तुति करने के लिये', चरसे 'घूमने के लिये', स्पृधसे 'संघर्ष करने के लिये', भोजसे 'भोगने के लिये', कुछ उदाहरण मन्– तथा वन्– अन्तवाले भी मिलते हैं : विद्मने 'जानने के लिये', दावने 'देने के लिये', तुर्वणे 'पराजित करने के लिये'। यह स्वराघात वास्तविक नहीं जान पड़ता, क्योंकि प्रत्ययांश पर स्वराघात विशेषण तथा कर्त्रर्थ संज्ञारूपों के साथ ही नियत है, जबकि नपुंसक कर्मबोधक संज्ञाशब्द, जिनसे ये तुमन्त रूप सम्बद्ध हैं, प्रकृत्यंश पर उदात्त स्वर का प्रयोग करते हैं। यह भी संभव नहीं है कि इस प्रकार के स्वराघात ने मूल स्वराघात को हटा दिया हो, क्योंकि यह एक सामान्य विशेषता बन गया है, और इसके विपरीत स्थिति की आशा की जा सकती है। नपुंसक शब्दों में सामान्यतः प्रचलित स्वराघात इन तुमन्त रूपों में, –अस् प्रत्ययवाले रूपों में कम (अयसे 'जान के लिये', ध्यायसे 'ध्यान करने के लिये'), अन्यत्र अधिक (दामने 'देने के लिये', धूर्वणे 'हानि पहुंचाने के लिये'), मिलता है। चूँकि सामान्यतः प्रचलित स्वराघात का अन्य रूप के द्वारा हटाया जाना असम्भव जान पड़ता है, प्रत्ययांश पर तुमन्त स्वराघात प्राचीन विभक्तिगत स्वराघात के स्थान पर प्रयुक्त (*ऋचसे आदि) माना जाना चाहिए। इस परिवर्तन का कारण बिलकुल स्पष्ट नहीं है, किन्तु इसे अन्यत्र उपलब्ध दो से अधिक अक्षरों वाले रूपों में पदान्त स्वराघात को बचाने की प्रवृत्ति से जोड़ा जा सकता है : तुल०

त्रिवृतः, जो ऋचः के विपरीत है और अद्भिः जो अद्भणा के विपरीत है। यह अंशतः सप्तम्यन्त तुमन्त रूपों के प्रभाव के कारण भी हो सकता है, जहाँ स्वराघात नियत रूप से प्रत्ययांश पर था।

–अस् से अन्त होने वाले कतिपय कर्मबोधक संज्ञाशब्दों ने भी प्रत्ययांश पर स्वराघात प्राप्त कर लिया है, उदा० भियः– 'भय', प्राचीन रूप भीषा (पृष्ठ १९०) के साथ-साथ तृतीया में भियसा है। जब नपुंसक संज्ञाशब्दों ने तिर्यक् विभक्तियों में प्रत्ययांश पर स्वराघात के परिवर्तन के स्थान पर प्रकृत्यंश पर स्थिर मूल स्वराघात निश्चित कर लिया तो जिन शब्दों में यह सामान्यतः पाया जाता था, वे पुल्लिङ्ग शब्द थे, जिनमें प्रत्ययांश की स्वरध्वनि इन विभक्तियों में लुप्त हो जाती है। उक्षा, उक्षणः इसके सादृश्य पर कुछ बचे हुए नपुंसक शब्दों ने जिनमें विभक्त्यंश पर उदात्त स्वरवाले तिर्यक् विभक्तिरूप सुरक्षित थे, प्रथमा-द्वितीया विभक्तियों में प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर प्राप्त कर लिया है (द्वितीया भियसम्, जो भीषा के समानान्तर ठीक उसी तरह से है, जैसे उक्षगम् से उक्षणा; बाद में नये स्वराघात के ठीक हो जाने से भियसा बनाया गया है)। इस संज्ञाशब्द का स्त्रीलिङ्ग रूप इसके परिवर्तित स्वराघात से उत्पन्न हुआ है।

प्रत्ययांश पर स्वराघात –इष् से अन्त होने वाले अधिकांश नपुंसक शब्दों में, सामान्यतः प्रयुक्त होता है: अर्चिष्– 'लौ', षष्ठी ए० व० अर्चिषः आदि, जो अपेक्षाकृत कम मिलने वाले ज्योतिष्– 'प्रकाश' के विपरीत है। इस स्वराघात की विचित्र प्रकृति उस अक्षर के दुर्बल रूप से स्पष्ट है, जिस पर यह है, और यह अस् तथा उप्– से अन्त होनेवाले शब्दों की तुलना से भी स्पष्ट है। ठीक ऐसा ही स्वराघात वृकी कोटि के ई–कारान्त और ऊ–कारान्त शब्दों (मूलतः –इ ? (–i H) –उ ? (–u H) अन्तवाले शब्दों) में मिलता है। यहाँ यह प्रक्रिया और अधिक जटिल है, क्योंकि इन वर्गों में कर्मबोधक संज्ञाशब्दों की कोटि (देही 'किले की चहारदीवारी', तनू 'शरीर') तथा कर्त्रर्थ संज्ञा / विशेषण कोटि (वृकी 'स्त्री भेड़िया', अग्रू 'सेविका')—दोनों तरह के शब्द पाए जाते हैं। इनमें पूर्ववर्ती पद्धति पर स्वराघात अर्चिष् आदि के ठीक समानान्तर है। परवर्ती कोटि का ठीक समानान्तर रूप –इन् अन्तवाले विशेषण शब्दों में मिलता है: बली, बलिनः। इन दोनों विशेषण-कोटि के शब्दों में प्रत्ययांश पर स्वराघात नियत है, किन्तु प्रत्येक प्रत्यय का अपश्रुतिजनित दुर्बल रूप उन रूपों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है, जिनमें स्वराघात मूलतः प्रत्ययांश पर था (*वृकियः, *बलिनः)। इन परवर्ती रूपों के साथ सम्बद्ध दुर्बलकोटि साधारणीकृत हो गई है; किन्तु इसके साथ ही प्रथमा-द्वितीया का प्रत्ययांश पर स्वराघात भी है, जहाँ मूलतः प्रत्ययांश का सबल रूप रहा होगा।

(वृकी) ई–कारान्त तथा ऊ–कारान्त संज्ञाबोधक शब्द अन्य स्थितियों की तरह स्वराघात की दृष्टि से भी विशेषण / कर्त्रर्थं संज्ञाशब्दों के साथ डाल दिए गए हैं।

ठीक ऐसा ही विकास कई मूल इ–कारान्त उ–कारान्त नपुंसक शब्दों के साथ भी हुआ जान पड़ता है। यह पशु– 'पालतू जानवर' शब्द के साथ स्पष्ट है। एक नपुंसक रूप पशु एक स्थान पर सुरक्षित है और तुलनात्मक प्रमाण यह प्रदर्शित करते हैं कि प्रकृत्यंश पर उदात्त स्वरवाला यह रूप मूल रूप है (तुल० लैटिन पेकु (pecu), गॉथिक फ़इहु (faihu), प्रा० प्रशियन पेच्कु (pecku) और भा० यू० पेक्यु (péku))। संस्कृत में विभक्त्यंश पर स्वराघातवाले इस शब्द का षष्ठी एकवचनान्त प्राचीन रूप सुरक्षित है (पश्वः), किन्तु उपरिसंकेतित संज्ञाशब्दों के सादृश्य के द्वारा इस रूप के आधार पर एक नया पुल्लिङ्ग प्रथमा ए० व० पशुः बन गया है। ठीक यही बात पितुः 'भोजन', षष्ठी ए० व० पित्वः के साथ लागू की जान पड़ती है, क्योंकि यह शब्द अर्थतः कर्मबोधक संज्ञाशब्द है, और इ–कारान्त शब्दों में रयिः : रायः 'धन' (*र ? इ : (*ráHis) र ? यः (raHyás) के साथ भी। सम्भवतः कुछ नकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द, जो विशेषण कर्त्रर्थं संज्ञा कोटि के शब्द नहीं हैं, ठीक इसी तरह विकसित हुए हैं उदा० मूर्धा, षष्ठी ए० व० मूर्ध्नः 'सिर'।

२. अनियमित विभक्तिरूप

र्– तथा न्– अन्तवाले शब्दों का परस्पर सम्बन्ध संज्ञाशब्दों की रचना का विवेचन करते हुए पूर्ववर्ती परिच्छेद में कुछ अधिक विस्तार से बताया गया है और उसे यहाँ पर भी बहुत थोड़े में संक्षिप्त किया जा सकता है। र्– अन्तवाले नपुंसक शब्द संस्कृत में प्रायः प्रथमा-द्वितीया ए० व० के अतिरिक्त विभक्तिज रूपों में नहीं मिलते, जबकि इनके स्थान पर अन्य विभक्तियों वाले न्– अन्तवाले मूल शब्द का प्रयोग किया जाता है ; अहर् / अह्नः 'दिन', यकृत् / यक्नः 'जिगर' आदि। इस प्रकार के विभक्तिज रूप भा० यू० में अन्यत्र किन्तु हमेशा हित्ती से बाहर आर्ष अवशेषों के रूप में मिलते हैं, उत्पादक शब्दों के रूप में नहीं। दूसरी ओर हित्ती में, इस प्रकार के वैकल्पिक रूप अत्यधिक प्रचलित हैं और र्– तथा न्– अन्तवाले नपुंसक शब्दों के विभक्तिरूपों में तथा –मर्, वर्, शर्, तर्, तन् इन समस्त प्रत्ययों में नियत रूप से मिलते हैं। इस प्रकार यह प्रक्रिया भा० यू० के पूर्ववर्ती रूप में परवर्ती रूप की अपेक्षा अधिक प्रचलित थी और इसका ह्रास अंशतः प्राचीन नपुंसक रूपों के ह्रास के कारण खास तौर पर, और अंशतः न्– अन्तवाले मूल शब्द के प्रथमा-द्वितीया ए० व० के

विस्तार के कारण हुआ है। यह प्रक्रिया इतनी पहले विकसित हुई थी कि अब यह कहना सम्भव नहीं कि इसका उदय ठीक-ठीक कैसे हुआ। कम से कम यह तो मालूम नहीं पड़ता कि र्- अन्तवाले नपुंसक रूप आरम्भ से ही विभक्तिगत रूपों में प्रयुक्त किए जाने में अनुपयुक्त थे, क्योंकि इस प्रकार के उदाहरण सभी भाषाओं में मिलते हैं (संस्कृत स्वर्/सूरः; वसर्/उस्रः; ग्रीक एअर्/एअरॉस् (éar/éaros); हित्ती कुरुर्/कुरुअर्श् (kurur/kuruarš), आदि) और यह मानने का कोई कारण नहीं है कि इस प्रकार के शब्द पुराने नहीं हैं, साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि न्- प्रत्यय मूलतः या तो विभक्ति चिह्न है या तिर्यक् विभक्ति की रचना करने वाला कोई रचनात्मक प्रत्यय। वस्तुतः यह ठीक दूसरे प्रत्ययों की तरह ही अपने आप में एक स्वतन्त्र प्रत्यय है और उन्हीं की तरह कई प्राचीन उदाहरणों में प्रथमा-द्वितीया ए० व० में मिलता है (उदा० संस्कृत नाम 'नाम', लैटिन नोमेन (nōmen) हित्ती लामन् (lamān))। इसलिये यह कहना मुश्किल है कि ये दो तरह के शब्द किस तरह एक ही शब्दरूप की रचना में जुड़ गए हैं, किन्तु यह स्थिति भा० यू० के प्रारंभिक युग में ही उत्पन्न हो गई थी, और यद्यपि यह प्रक्रिया आदिम भाषा की अन्तिम स्थितियों में लुप्त होने लगी थी, फिर भी विद्यमान भाषाओं में से कई में यह आर्ष अवशेष के रूप में बची रही है।

ठीक इसी तरह -इ अन्तवाले कुछ नपुंसक शब्द प्रथमा-द्वितीया ए० व० के बाहर नकारान्त मूल शब्द का प्रयोग करते हैं अस्थिः अस्थ्नः 'हड्डी' आदि। इनके अतिरिक्त तृतीया बहुवचन नक्तभिः एक प्राचीन नपुंसक शब्द नक्ति 'रात' से सम्बद्ध हो सकता है, जिसका स्थान बाद में स्त्रीलिङ्ग शब्द (प्रथमा ए० व० नक्तिः) ने ले लिया है। वारि 'पानी' शब्द में न्- प्रत्यय इ- प्रत्यय के स्थान पर प्रयुक्त किए जाने के बजाय उसके साथ जोड़ा जाता है (वारिणः)। यह प्रक्रिया सामान्यतः उकारान्त नपुंसक शब्दों में मिलती है : दारु, द्रुणः; मधु 'शहद', मधुनः, आदि, और इसकी प्राचीनता अन्यत्र प्राप्त इस तरह के रूपों से सिद्ध है : ग्रीक दोरु दोरतोस् (dóru, dóratos) (*दोर्वन्तोस् (dorwn̥tos), जिसमें ग्रीक की विशेषता त्- प्रत्यय का समायोग है)। वैदिक भाषा में नपुंसक शब्दों के विभक्तिज रूपों की केवल यही एक प्रक्रिया है (वैकल्पिक रूप मध्वः और मधोः हैं, जिनमें परवर्ती रूप पुल्लिङ्ग से लिया हुआ नया रूप है), किन्तु लौकिक संस्कृत में यह सामान्य नियम हो गया है। तिर्यक् विभक्तियों में न्- का यह विस्तार कभी-कभी अन्य प्रत्ययों के साथ भी मिलता है, उदा० अस्- अन्तवाला शब्द शिरस्, 'सिर', षष्ठी ए० व० शीर्ष्णः, और या- अन्तवाला शब्द कन्या, षष्ठी कनीनाम्, अवे०

षष्ठी एक० व० कइनीनो (kaininō)। इस न्– का प्रयोग कतिपय विभक्तियों में काफी विस्तृत हो गया है, उदा० इ–कारान्त उ–कारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों का तृ० ए० व० (अ॒ग्निना॑, वा॒युना॑); षष्ठी ब० व० में यह प्रायः सभी अजन्त (स्वरान्त) शब्दों के साथ जोड़ दिया गया है: दे॒वाना॑म्, अ॒ग्नीनाम्, पि॒तॄणाम् आदि।

कुछ अनियमित न्– और स्न्– अन्तवाले नपुंसक शब्द वेद में खास तौर पर तृतीया विभक्ति में मिलते हैं और समानान्तर मन्– अन्तवाले शब्दों से सम्बद्ध हो गए हैं: भू॒ना, स॒ह्ना, प्रे॒णा, प्र॒थि॒ना, म॒हि॒ना, वा॒रि॒णा (भूमन्– 'प्रचुरता' आदि, और प्र॒ति॒मन् 'चौड़ाई', आदि)। ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि इन उदाहरणों में –म्न्– का –न् में परिवर्तन मानना अनावश्यक है।

र्/न् परिवर्तन की तरह धनुष् 'धनुष' शब्द के वैदिक रूपों में उष्/वन् विकल्प रूप मिलते हैं। उष्– वाला रूप प्रथमा ए० व० में मिलता है, जबकि अन्यत्र धन्वन्– मूल रूप प्रयुक्त होता है। यह सम्भव है कि पुरुष्– और पर्वन् 'पोर' ये दो मूल शब्द भी ठीक इसी तरह मूलतः विभक्त हुए हैं। न्– और स्– अन्तवाले शब्दों का यह समायोग इस तरह के पुल्लिङ्ग शब्दों में भी मिलता है। कतिपय वन्– अन्तवाले शब्दों का सम्बोधन एकवचन वेद में वस्– में पाया जाता है: ऋतावः, एव–यावः, विभावः, मातरिश्वः, जो ऋ॒ताव॑न्– 'पुण्यवान्' आदि से बने हैं। इसके अतिरिक्त ऋभ्व॑न्–, ऋभ॑वः; शिक्वन्–, शिक्वः– (दोनों का अर्थ है 'कुशल') जैसे दुहरे रूप भी मिलते हैं, जिनमें बिना किसी स्पष्ट नियम के दो वैकल्पिक प्रत्यय परिवर्तित होते हैं। यह –वस् वाला सम्बोधन रूप अधिक नियमतः –वन्त् अन्तवाले शब्द में है, जो वन् प्रत्यय के साथ त्– जोड़कर विस्तृत कर दिया गया है, और उसके समानान्तर मन्– प्रत्ययवाले शब्दों में भी मिलता है: ऋषीवः, ग्रावः, पत्नीवः, तुविष्मः, भानुमः, सुचिष्मः। इस प्रकार के शब्द रूपों में स्– रूप ईरानी में और अधिक विस्तार से प्रयुक्त होते हैं; अवेस्ता में –वन्त् अन्तवाले शब्दों से इस प्रकार के कर्त्ताकारक रूप सम्बद्ध हैं: अमवाँ (amavå (अमवन्त्– amavant–)।

विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि प्रथमा ए० व० के संस्कृत रूप इससे विकसित हुए हैं (नम॑स्वान्, प॒शुमान्, आदि)। वन्त्– तथा मन्त्– अन्तवाले शब्दरूपों का प्रथमा वाला रूप °वन् तथा °मन् रूप में मिलता रहा होगा (अन्त्– वाले शब्दों के °अन् की तरह)। –वान् तथा –मान् वाले प्रथमा रूप *–वान्स्–, –मान्स् (–वांस्, मांस्) से विकसित हुए हैं, जो प्रथमा ए० व० के अनुनासिक तत्त्व के सादृश्य के आधार पर *–वास्, *–मास् के द्वारा स्थानापन्न कर लिए गए हैं। यह प्रक्रिया संस्कृत में स्–

अन्तवाले शब्दों में अन्यत्र मिलती है और चूँकि यह ईरानी में नहीं मिलती, इसलिये इसे विशिष्ट भारतीय विकास मानना होगा। सवल विभक्तियों के नासिक्य तत्त्वयुक्त रूपों का दुर्बल विभक्तियों में नासिक्य तत्त्वरहित रूपों में परिवर्तन, जैसा कि वर्तमानकालिक कृदन्तों में मिलता है (अदन्, अदन्तम्, अदता, आदि), जो अक्षर-संघटनाकारी अनुनासिक ध्वनि के अ के रूप में परिवर्तित होने के कारण है, जिन शब्दों में मूलतः अनुनासिक तत्त्व नहीं था, उनके अन्य कोटि के शब्दों की सबल विभक्तियों में भी न् के विस्तार का कारण वन गया है। यह प्रवृत्ति खास तौर पर यस् अन्तवाले तुलनावोधक रूपों में (श्रेयान् 'अच्छा', श्रेयांसम्, श्रेयसः) और वस् अन्तवाले पूर्ण भूतकालिक कृदन्त रूपों में (विद्वान्, विद्वांसम्, विदुषः) मिलती है। यह पुंस्– 'पुरुष' शब्द के रूपों में भी पायी जाती है : पुमान्, पुमांसम्, पुंसः। यह –अस्– अन्तवाला पुल्लिङ्ग शब्द है, किन्तु एक ऐसा शब्द है, जिसने सामान्य रूपों (रक्षाः, रक्षासम्, रक्षासः) के विपरीत कुछ आर्ष लक्षण सुरक्षित रखे हैं। ये लक्षण हैं : (१) प्रत्ययांश पर स्वराघात के परिणामस्वरूप प्रकृत्यंश की मूल स्वरध्वनि का दुर्बलीकरण, (२) तिर्यक् विभक्तियों में प्राचीन विभक्तिगत स्वराघात, जैसे पित्रे, उक्षणः, आदि में, और (३) इन विभक्तियों में प्रत्यय का परिणामतः दुर्बलीकरण। इसके अतिरिक्त ये विभक्ति रूप प्रथमा–द्वितीया ए० व० में नासिक्य तत्त्व के प्रयोग से जटिल हो गए हैं, (जो *पुमास्, *पुमासम् के स्थान पर विकसित हैं।)[1] अस्– अन्तवाले पुल्लिङ्ग शब्दों में इस अनुनासिकीकरण का एक अन्य उदाहरण है स्ववान्, जो कि स्ववस् 'मददगार' का प्र० ए० व० का रूप है।

मन्त्– और वन्त्– अन्तवाले शब्दरूपों के अनियमित प्र० ए० व० में –न्– का प्रयोग इसी सामान्य सिद्धान्त का पालन करता है और यह वन्त्– शब्द से बने द्वितीया ए० व० में नियत रूप से न् के अस्तित्व से भी परिपुष्ट हुआ है। इन दो मूल रूपों का विभाजन ऊपर संकेतित धनुष्–/धन्वन् में उष् और वन् वाले नपुंसक रूपों के दुहरे मूलों के विभाजन के समान है, और यह केवल इस

---

१. पुल्लिङ्ग पुमस्– का सम्बन्ध एक नपुंसक शब्द पेउमोस्– (peumos) 'पौरुष' से होगा। लैटिन शब्द पूबेस् (pūbēs), पूबेर् (pūber) में भिन्न प्रत्यय हैं। चूँकि यहाँ मूल शब्द ठीक वही जान पड़ता है, जो लैटिन पु–द्–ओर् (pu–d–ōr) में है, व् तथा म् भी वैकल्पिक प्रत्यय तत्त्व हो सकते हैं, जो लैटिन में पूबेर् (pūber) में र् के पूर्व म् के स्थान पर व् हो, जैसा कि हिबर्नुस् (hibernus) तुबेर् (tuber) तुमोर् (tumōr) में है।

बात में भिन्न है कि पुल्लिङ्ग शब्द में द्वि० ए० व० रूप प्र० ए० व० से भिन्न है और यह रूप अधिकांश रूपों के सादृश्य का अनुसरण करता है।

वन्त्– प्रत्यय वन्– प्रत्यय पर आधृत है और यद्यपि परवर्ती ढंग के शब्दों में –वास् से अन्त होने वाला प्र० ए० व० रूप नहीं मिलता, तथापि –वस् से अन्त होनेवाले सम्बोधन रूप इस बात का संकेत करते हैं कि एक समय इस तरह के प्र० ए० व० रूप बनाए जाते रहे होंगे।

कतिपय शब्दों में वन्– और वन्त्– प्रत्यय अनियमित रूप से संयुक्त कर दिए जाते हैं। (प्र० ए० व० मुघवा, षष्ठी ए० व० मुघोनः) मुघवन्– शब्द व्यञ्जन ध्वनि से आरम्भ होनेवाले विभक्तिचिह्नों (तृ० ब० व० मुघवद्भिः) के पूर्व वन्त्– मूल का प्रयोग करता है। सामान्य मूलरूप ऋक्वन्– 'स्तुति करता हुआ' के अतिरिक्त तृ० ए० व० ऋक्वता मिलता है। अर्वन्– तथा अर्वन्त्– 'घोड़ा' ये दोनों मूल शब्द परस्पर परिवर्तनीय हैं। युवन्–, यून्– मूल शब्द से नपुंसक एकवचन में युवत् बनता है और यह विस्तारित मूल स्त्रीलिङ्ग शब्द युवति– का आधार है।

भूतकालिक कृदन्त रूप मुख्यतः –वांस्–/उष्– मूल शब्द से बनाया जाता है, किन्तु यहाँ व्यञ्जन ध्वनि से आरम्भ होनेवाले विभक्तिचिह्नों के पूर्व मूल शब्द –वत् अन्तवाला मिलता है (विद्वद्भिः तृ० ब० व०)। यह प्रत्यय ग्रीक में मिलता है, जहाँ यह शब्दरूपों का सामान्य आधार बनता है (ऐइदोस्, ऐइदोतोस्, (eidós, eidótos)), और इसका पता गॉथिक में भी लगता है (वेइत्वोद् (weitwod) 'साक्षी')। तुलनात्मक प्रमाण से यह पता चलता है कि वत् (वृन्त् (wn̥t)) से भिन्न है, जो वन्त्– प्रत्यय का दुर्बल रूप है, चूँकि इसमें कोई नासिक्य तत्त्व नहीं मिलता।

'मार्ग, रास्ता' के लिये प्रयुक्त शब्द कई मूल रूपों से शब्दरूप बनाता है। ऋग्वेद में इसका सबल रूप प्रथमा ए० व० पन्थाः, द्वि० ए० व० पन्थाम्, प्र० ब० व० पन्थाः में मिलता है, जो अवेस्ता पन्ताँ (pantå) पन्तम् (pontąm) से मिलता-जुलता है। दुर्बल विभक्तियों में मूलशब्द पथ्– मिलता है (तृ० ए० व० पथा आदि)। इन दोनों प्रकार के मूलरूपों का परस्पर सम्बन्ध अपश्रुतिजनित है: सबल रूप अ ? (आ) (>ā) (aH) प्रत्यय से विकसित, और दुर्बल रूप ? (H) से विकसित हुआ है। प्रत्यय ? (H) इसका दुर्बल रूप पूर्ववर्ती त् को महाप्राण बना देता है और यह महाप्राणता बाद में प्र० ए० व० आदि रूपों में भी विस्तारित कर दी गई है। यही विकास महा–, मह्– 'बड़ा' (मेगे $?_2$–/मेग् $?_2$, $megeH_2$–/$megH_2$) इन सबल तथा दुर्बल रूपों के सम्बन्ध में पाया जाता है। पथ्– शब्द के मध्यवर्ती

विभक्ति रूपों में इ– अन्तवाला रूप प्रयुक्त होता है, जो अन्यत्र मिलता है (प्रा० स्ला० पोति, poti; प्रा० प्रशियन पिन्तिस्, pintis) : तृ० व० व० पुथिभिः; आदि (जबकि दूसरी ओर अवेस्ता में –इ– से रहित पद्बिश् padəbiš) रूप मिलता है। ठीक इसी तरह महा/मह् में भी एक अतिरिक्त इ– अन्तवाला मूलरूप इस विभक्ति के नपुंसक ए० व० में मिलता है (महिं; अवे० में भी तृ० व० व० मज़िबिश् mazibiš में)। ऋग्वेद के बाद पथ्– का एक अन्य सबल न्– अन्तवाला मूलरूप मिलता है (द्वि० ए० व० पन्थानम्, प्र० व० व० पन्थानः)। यह रूप भी प्राचीन है, क्योंकि इसी तरह का रूप अवेस्ता में मिलता है : पन्तानॅम् पन्तानो (pantānəm, pantānō) इसी प्रकार के विभक्तिरूप वैयाकरणों ने ऋभुक्ष्– 'एक देवता का नाम', और मथ्– 'मथानी' के लिये संकेतित किया है।

३. विभक्ति-चिह्न

प्रथमा एकवचन, पुं० तथा स्त्री० : पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्र० ए० व० रूप तीन प्रकार से बनाए जाते हैं : (१) प्रत्यय की वृद्धि के द्वारा, (२) स्– विभक्तिचिह्न जोड़कर, (३) किसी भी तरह की विशेषता से रहित सामान्य प्रातिपदिक रूप के द्वारा। प्रथम प्रक्रिया के आधार का संज्ञाशब्दों की रचना वाले परिच्छेद में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। वहाँ यह देखा गया था कि विशेषण तथा कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द कई प्रकार के नपुंसक शब्दों के आधार पर उदात्त स्वर को प्रत्ययांश पर हटाकर बनाए गए थे और ध्वन्यात्मक कारणों से जो अंश स्पष्ट नहीं है, इस स्वराघात-परिवर्तन के कारण कर्ता ए० व० के प्रत्ययांश में वृद्धि हो जाती है। इसी वृद्धि के साथ प्रत्यय की पदान्त अन्तस्थ ध्वनि के लोप की प्रवृत्ति भी पायी जाती है : पिता, ब्रह्मा। प्रथमा एकवचन में यह वृद्धिजनित रूप र्–, न्– और स्– अन्तवाले शब्दों में नियत रूप से मिलते हैं (दाता, तुल० ग्रीक दोतेर् (dotér); ब्रह्मा, तुल० ग्रीक पोइमेन् (poimén); रुचाः, सुमनाः, तुल० ग्रीक प्सेउदेस् (pseudés) एउमेनेस् (eumenēs), इ– कारान्त शब्दों में बहुत कम (सखा)। इसी तरह एक का एक वृद्धिजनित प्रथमा ए० व० रूप मूलतः इस तरह के उ–कारान्त शब्दों में भी था, किन्तु ऐसे सभी रूपों में, जहाँ इस तरह की वृद्धि सुरक्षित है इन शब्दों ने ऊपर से –स् विभक्ति-चिह्न भी गौण रूप में जोड़ लिया है, उदा० संस्कृत द्यौः, अवे० उज़्बाज़उस् (uzbāzauš), ग्रीक बसिलेउस् (–एउस् के लिए) (basileus, for –éus) आदि।

संस्कृत में अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों (देवः, लैटिन देउस्, deus), और

पुल्लिङ्ग—स्त्रीलिङ्ग इ- कारान्त उ- कारान्त शब्दों में, कर्मबोधक संज्ञाशब्द (मृतिः, क्रतुः, ग्रीक बसिस् (básis) पेखुस् (pekhus) आदि) और विशेषणकोटि के शब्दों (शुचिः, पुरुः; ग्रीक इद्रिस् (idris), पोलुस् (polus) आदि) दोनों में, वृकी- वर्ग के ई- कारान्त शब्दों और ऊ- कारान्त शब्दों में तथा (कर्मबोधक या कर्त्रर्थ संज्ञा रूप) हलन्त शब्दों में, जिनमें मूलतः -? (-H) से अन्त होनेवाले (धीः, भूः) एकाक्षर शब्द भी सम्मिलित हैं, -स् विभक्ति-चिह्न पाया जाता है, जो इस दृष्टि से सम्बद्ध भाषाओं के बिलकुल समान है।

यह स्पष्ट है कि इन भिन्न-भिन्न रूपों में एकसाथ जोड़ने का तथा उन्हें उन वर्गों से, जिनमें पुल्लिङ्ग—स्त्रीलिङ्ग रूप भिन्न ढंग से बनाए जाते हैं, अलग करने का कोई सामान्य नियम नहीं है। यह भी स्पष्ट है कि -स् विभक्ति-चिह्न वाले प्रथमान्त रूपोंका क्षेत्र दूसरी तरह के रूपों के स्थान पर बढ़ गया है। यह स्थिति -औः से अन्त होनेवाले वृद्धिजनित प्रथमान्त रूपों के विषय में देखी जा चुकी है। यह भी स्पष्ट है कि वृकी- कोटि के ई- कारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों ने और साथ ही ऊ- कारान्त स्त्रीलिङ्ग (तनूः) शब्दों ने भी -ई, -ऊ अन्तवाले उन मूल शब्दों से अपने स्- विभक्ति-चिह्न को अपना लिया है, जिनके रूप अन्यत्र उन्हीं की तरह चलते थे। आ- कारान्त तथा देवी- वर्ग के ई- कारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों ने बिना किसी विभक्ति-चिह्नवाले (निर्विभक्तिक) प्रथमा ए० व० को सुरक्षित रखा है, जो इस -? (-H) से अन्त होनेवाले शब्दों का मूल रूप था। साथ ही यह भी सन्दिग्ध है कि स्- विभक्तिचिह्न मूलतः इ- कारान्त उ- कारान्त शब्दों के प्रथमा ए० व० में जोड़ा जाता था, यद्यपि वह उनके बहुत आरंभिक युग में ही विस्तारित कर दिया होगा। इसका कारण यह है कि इस वर्ग के कर्मबोधक संज्ञाशब्द सामान्य सादृश्य के आधार पर मूलतः नपुंसक होने चाहिएँ, और यह इस वर्ग के कुछ बचे हुए शब्दों के अस्तित्व से प्रमाणित होता है; दूसरी ओर कर्त्रर्थ संज्ञा/विशेषण-वर्ग के शब्दों के सम्बन्ध में र्-, न्-, स्- अन्तवाले शब्दों के समानान्तर वृद्धिजनित रूपों का प्रमाण है और यद्यपि ऐतिहासिक युग में यह कम मिलता है, इसका आरम्भ में बहु प्रचलन संकेतित किया जा सकता है। संभावना यह है कि प्रथमा का स्- विभक्ति-चिह्न मूलतः विशेषणरूप विकरणयुक्त शब्दों के साथ नियत रूप से प्रयुक्त होता था, चूँकि यह निश्चित रूप में अलग से शब्दों का वर्ग है। इ- कारान्त तथा उ- कारान्त शब्दों के साथ इसके विस्तार को समझना कठिन नहीं है, चूँकि विकरणयुक्त शब्दों की तरह यह भी स्वरान्त (अजन्त) शब्द हैं। इस प्रक्रिया में पदरचनात्मक भेद तथा कर्त्रर्थ संज्ञा/विशेषण का भेद बहुत कम ध्यान में रखा गया मालूम पड़ता है और प्रथमा का स् विभक्ति-

चिह्न (और इसके साथ ही प्रथमा-द्वितीया के रूपों का अन्तर भी) आरम्भ में ही इन कोटियों के कर्मबोधक संज्ञाशब्दों के साथ भी जुड़ गया। इनमें से अनेक शब्दों ने पुल्लिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग (आरम्भ में सामान्य लिङ्ग) को अपना लिया। ऐतिहासिक दृष्टि से इन शब्दों के साथ प्र० ए० व० में स्– इसलिये नहीं जोड़ा जाता कि ये विशेष लिङ्ग का वहन करते हैं, बल्कि स् विभक्ति-चिह्न के अपनाने के परिणामस्वरूप उन्होंने विशेष लिङ्ग को अपना लिया है। इसी प्रकार स्पर्श व्यञ्जन ध्वनियों से अन्त होने वाले शब्द आरंभिक युग से ही प्रथमा ए० व० में स् विभक्ति-चिह्न से विशिष्ट थे, और यह विशेषता समानतः इस कोटि के सभी शब्दों में पायी जाती थी, चाहे वे कर्मबोधक संज्ञाशब्द हों या कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द हों। एकाक्षर शब्दों में स् विभक्ति-चिह्न स्पर्शव्यंजन ध्वनियों के अतिरिक्त अन्य व्यंजन ध्वनियों के साथ भी जोड़ा जाता था। (अनुनासिक ध्वनियाँ, ग्रीक हेइस् heîs, क्तेइस् kteís; ?, H संस्कृत धीः, भूः)।

आ– कारान्त तथा देवी– वर्ग के ई– कारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों में प्र० ए० व० का कोई खास चिह्न नहीं है। इस हद तक ये नपुंसक शब्दों से मिलते-जुलते हैं। इन प्रत्ययों से अन्त होनेवाले कर्मबोधक संज्ञाशब्द मूलतः नपुंसक लिङ्ग थे और इस प्रत्यय के सम्बन्ध में विशेषण वर्ग, जो स्त्रीलिङ्ग के रूप में विशेष कोटि में माना गया था, कर्मबोधक संज्ञाशब्द से हमेशा स्पष्ट रूप में अन्य प्रत्ययों से बने रूपों की अपेक्षा बहुत कम भेदीकृत किया जाता था।

द्वितीया ए० व० पुं० और स्त्री० : द्वितीया ए० व० पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में इस प्रकार के भिन्न-भिन्न रूप नहीं मिलते। यह विभक्ति-चिह्न अजन्त या स्वरान्त शब्दों के बाद म् (अश्वम्, लैटिन एक्वूम् equum; अग्निम्, लैटिन इग्नेम् ignem, आदि) और हलन्त या व्यञ्जनान्त शब्दों के बाद –अम् (पादम्, राजानम्, पितरम्, आदि) मिलता है। परवर्ती स्थिति में ग्रीक ने म् (m̥) से अ का विकास (पोद póda, पतेर patéra) कर लिया है और यह वह रूप है, जिसे ध्वनिविकास की दृष्टि से अपेक्षित माना जा सकता है, किन्तु भारत-ईरानी ने इसके स्थान पर परिपूर्ण रूप अपना लिया है, जिसमें अधिक स्पष्टता का लाभ है। कुछ भाषाओं (ग्रीक, केल्टिक और जर्मन) में यह पदान्त –म्, –न् के रूप में ठीक उसी तरह विकसित हो गया है, जैसे यह कर्ता-कर्म ए० व० नपुंसक लिङ्ग में (ग्रीक लुकोन् lúkon, पेदोन् pédon), और यह कल्पना करना निश्चित रूप में गलत है, जैसा कि कभी किया जाता है कि परवर्ती रूप अधिक मौलिक रूप है।

प्रथमा-द्वितीया ए० व० नपुंसकलिङ्ग : अकारान्त शब्दों के अलावा नपुंसक संज्ञाशब्दों का इन विभक्तियों में कोई विभक्ति-चिह्न नहीं है। : ऊधर्, ग्रीक

औउथर् (oúthar), मधु, ग्रीक मेथु (méthu); नाम, लैटिन नोमेन् (nōmen), हित्ती लामन्, आदि। विकरणयुक्त नपुंसक संज्ञाशब्दों की दोनों विभक्तियों में विभक्ति-चिह्न –म् है। ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि इस वर्ग के प्राचीन नपुंसक शब्दों का –म् मूलतः –म् प्रत्यय था (युगम् : युग्म–, आदि) और इन रूपों के विकरणयुक्त विशेषण रूप शब्दों के द्वितीय ए० व० के रूपों से मिल जाने के परिणामस्वरूप नपुंसक विकरणयुक्त शब्दों का वर्ग विकसित हो गया।

तृतीया एकवचन : भारत-यूरोपीय में तृतीया ए० व० किसी सम्बद्ध रूप का संकेत नहीं करता। भारत-ईरानी में नियत रूप से प्राप्त आ– विभक्ति-चिह्न वाले रूपों से मिलते-जुलते रूप कुछ ही भाषाओं में मिलते हैं और वहाँ कुछ खास वर्गों में ही। इसके अलावा वहाँ –भि (ग्रीक थेओफि theóphi, आर्मीनी मार्दोव् mardov) और –मि (प्रा० स्ला० व्लुकोमि vlŭkomĭ, लिथुआनी सूनुमि sūnumi) विभक्ति-चिह्न भी मिलते हैं। पूर्ववर्ती तत्त्व ठीक वही है, जो संस्कृत में तृ० व० व० में मिलता है (–भि– स्)। ग्रीक में यह बिना किसी अन्तर के एकवचन अथवा बहुवचन में और बाद में और अधिक विस्तृत अर्थ में, तृतीया, सप्तमी और पंचमी में प्रयुक्त होता है। हित्ती में अपना एक अलग से रूप (एत् ēt) है, जो भारत-यूरोपीय में अन्य किन्हीं रूपों से नहीं मिलता। ऐसा जान पड़ता है कि अपने विविध रूपों के साथ तृतीया विभक्ति तुलनीय दृष्टि से नयी विभक्ति है और इसीलिये समस्त भा० यू० में कोई समान रूप नहीं हैं।

संस्कृत रूप सामान्यतः –आ अर्थात् –अ ? (–a H) है; पदा, पित्रा, राज्ञा आदि। किन्तु यह शून्य रूप में भी मिल सकता है, –? (H) खास तौर पर इ– कारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों में : चित्ती (अवे० चिस्ति čisti, ऊती, जुष्टी आदि। अवेस्ता में यह रूप उ–कारान्त शब्दों में भी प्रमाणित होता है : मइन्यू, ख़तू (mainyū, xratū)। इसकी कल्पना अ विकरण वाले शब्दों (वृका, अवे० वॅह्र्का vəhrkā आदि) में भी की जानी चाहिए, क्योंकि अन्यत्र उपलब्ध स्वराघात (लिथुआनी विल्कु vilkù, गेरू–यु gerū̇–ju, और तुल० ग्रीक क्रियाविशेषण ऍपिस्खेरो (episkherṓ) जो प्राचीन करण कारक का रूप माना गया है) संकोच-प्रक्रिया के विरुद्ध है (भा० यू० *व्लृक्वो– ? *wlkʷo–H); *व्लृक्वो–ओ ? / ऍ ? (*wlkʷo–oH/eH) नहीं)। इससे विकसित दीर्घ स्वर की गुणात्मक स्थिति –ओ (लिथुआनी विल्कु vilkù, प्राचीन हाई जर्मन वोल्फु wolfu, उ<ओ (u<ō) से युक्त और –ए (गॉथिक ह्वम्मे–ह्, ह्वे, hammē–h, hē, संस्कृत (क्रियाविशेषण) पश्चा उच्चा, तालव्यी-

भाव से युक्त, जो ए का संकेत करता है। इसमें मूल भा० यू० गुणात्मक परिवर्तन ऐ ?₁/ओ ?₁ (eH_1/oH_1) का प्रयोग हुआ है।

चतुर्थी ए० व० : इसका विभक्ति-चिह्न –ए, अवे० –ए, ओइ, भारत-ईरानी अइ है : पुदे, पित्रे, शुनें, मनंसे; अवे० बॅरॅज़इते (bərəzaite) वीसे (vīse) पिथ्रे (piθre) पइथ्यऐ–च (puiθyaē–ča), ॲरॅझ़्ज्योइ (ərəžəjyōi), आदि। भा० यू० विभक्ति-चिह्न –एइ ऑस्कन (पतॅरेइ paterei), रॅगतुरेइ (regaturei), लॅगिनेइ (leginei) और फ्रीजियन (वनक्तेइ, vanaktei) में सुरक्षित है। अन्यत्र ध्वन्यात्मक विकास ने इसे अस्पष्ट बना दिया है (लैटिन मात्री, mātrī, प्रा० स्ला० मातॅरि, आदि)। चतुर्थी के मूल विभक्ति-चिह्न के विषय में कुछ विवाद रहा है, क्योंकि वैकल्पिक दृष्टि से इसके साथ ग्रीक –अइ अन्त वाले तुमन्त रूपों की तुलना की गई है (दॉमेनइ domēnai, दॉवेनइ dovenai, दॉवनइ dovnai) किन्तु ग्रीक में –एइ विभक्ति-चिह्न वाले (दिवेइथिलॉस् diweithilos) सम्प्रदान कारक के कतिपय चिह्नों का अस्तित्व यह संकेत करता है कि इन तुमन्त रूपों की व्याख्या कुछ भी हो, भारत-यूरोपीय चतुर्थी विभक्ति के रूपों का विचार करते समय इन पर ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए।

पञ्चमी एकवचन : पंचमी एकवचन के लिये जो अन्यत्र षष्ठी एकवचन की तरह के ही रूप का वहन करता है, केवल अ– विकरणवाले शब्दों के रूपों में एक विशिष्ट रूप मिलता है; वृकात् आदि में –आत् (–आद्) आदि, लैटिन लुपो (द्) (lupō(d))। यह विभक्ति-चिह्न भा० यू० स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। कतिपय भाषाओं में खास तौर पर इटैलिक और परवर्ती अवेस्ता में यह रूप अन्य वर्गों में भी विस्तारित कर दिया गया है (ऑस्कन तॅाउतद् toutad लैटिन मजिस्त्रतुद् magistratud) अवे० आथ्रत् āθrat͜, गरॅाइत् garoit͜, आदि)। स्लावी में यह विभक्ति-चिह्न –अ विकरणयुक्त शब्दों के अपादान तथा सम्बन्ध दोनों कारकों का काम करता है (प्रा० स्ला० व्लुका vlŭka)। यह निश्चय करना सम्भव नहीं है कि इस विभक्ति-चिह्न की पदान्त व्यंजनध्वनि द् थी या त्। व्यंजनध्वनि सामान्य संज्ञाशब्दों के रूपों में ओ– थी, जो क्रियाविशेषणरूपों में ए– के रूप में परिवर्तित हो जाती थी (लैटिन फकिल्लुमेद् facillumēd)। परवर्ती कोटि में विभक्ति-चिह्न पर उदात्त स्वर था (संस्कृत पुश्चात्, सुनात्)। इस विभक्ति-चिह्न की स्वरध्वनि एक साथ चढ़ाव-उतार वाली (rising-falling) प्रकृति की थी (लिथुआनियन तॅा tō̃, ग्रीक (कथ्यरूप) तोदे tô̂de 'यहाँ से'), जो स्वरसङ्कोच (–ओद् <ओ–ओद्–, –ōd <– o–od) का संकेत करती है, और यह स्थिति वेद में प्रायः छन्दोनुरोध से इसे द्व्यक्षर मानने की प्रवृत्ति से भी स्पष्ट होती है।

पञ्चमी-षष्ठी ए० व० : अ- विकरणयुक्त वर्ग के बाहर के शब्दों में पञ्चमी तथा षष्ठी का विभक्ति-चिह्न -अस् है, जो भा० यू० -एस् तथा -ओस् का प्रतिनिधि है। इन दोनों विभक्ति-चिह्नों का फर्क स्वराघात पर आधृत है, -एस् मूल विभक्त्यंशगत उदात्त स्वर से सम्बद्ध मिलता है, -ओस् उन रूपों में (ग्रीक सोमतोस् sómatos आदि), जहाँ उदात्त स्वर प्रकृत्यंश पर स्थिर हो गया है। यह भेद कहीं भी सुरक्षित नहीं है, क्योंकि विभिन्न भाषाओं में इन रूपों में से एक या दूसरा रूप साधारणीकृत हो गया है, उदा० ग्रीक में -ओस् (सोमतोस्, sómatos, पोदोस् podós,) और लैटिन में -एस् (>इस्) (कोरपोरिस् corporis, पेदिस् pedis, किन्तु प्रा० लैटिन रेगुस् regus आदि)। इनके अतिरिक्त एक समाहृत विभक्ति-चिह्न -स् भी मौजूद है, जो विशेषण तथा कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों में उदात्त स्वरयुक्त प्रत्ययांश के साथ मिलता है। यह संस्कृत में इ- कारान्त, उ- कारान्त शब्दों के (अ॒ग्नेः, सू॒नोः) के सम्बन्ध में, अवेस्ता में भी कुछ र्- अन्तवाले शब्दों में (पितर्श pitarš) मिलता है। इ- कारान्त उ- कारान्त शब्दों में यह रूप विशेषण वर्ग के शब्दों से, जिनसे यह वस्तुतः सम्बद्ध है, अधिकांश कर्मबोधक संज्ञाशब्दों तक फैल गया है (म॒तेः ए॒तोः)। वेद में वैकल्पिक कोटि के केवल कुछ ही उदाहरण (अ॒व्यः मध्वः) बच गए हैं।

सप्तमी एकवचन : संस्कृत में सप्तमी एकवचन के तीन रूप मिलते हैं, जिन्हें 'आँख' के लिये प्रयुक्त शब्द के सप्तमी के वैकल्पिक रूपों के द्वारा उदाहृत किया जा सकता है : अ॒क्षन्, अ॒क्षणि, अ॒क्षिण। इनका विकास ठीक इसी क्रम से जान पड़ता है। अ॒क्षिण इनमें सबसे परवर्ती रूप है। वैयाकरणों के अनुसार न्- कारान्त शब्दों के सप्तमी विभक्ति में -अनि या -नि विभक्ति-चिह्न भी हो सकता है (राजनि, राज्ञि; स॒क्थनि, स॒क्थ्नि), किन्तु ऋग्वेद की भाषा में परवर्ती रूप नहीं मिलते हैं और इसलिये ये स्पष्टतः बाद के नये रूप हैं। यह अन्य तिर्यक् विभक्तियों की तरह सप्तमी एकवचन में भी विभक्त्यंश पर उदात्त के प्रयोग और प्रत्ययांश के दुर्बलीकरण की सादृश्यजनित प्रवृत्ति के कारण हुआ है। कई हलन्त शब्दों में यह प्रवृत्ति प्राक्-वैदिक काल में ही सामान्यतः प्रचलित हो गई है (अ॒द्भुति, भगवति, वि॒दुषि, आदि), किन्तु प्रत्ययांश पर उदात्त और उसके गुणरूप वाले प्राचीन रूप अन्- अन्तवाले शब्दों और र्- अन्तवाले शब्दों में सुरक्षित हैं (स्वसरि, पि॒तरि), जिनके साथ कतिपय एकाक्षर शब्दों को भी जोड़ा जा सकता है : क्षमि, द्यवि (दिवि के साथ-साथ)।

प्राचीनतम रूप, निर्विभक्तिक सप्तम्यन्त रूप न्- कारान्त शब्दों में (अहन्, मूर्धन्, शी॒र्षन्; तुल० ग्रीक अइएन् aién, 'हमेशा' और दोमेन् dómen जैसे

तुमन्त रूपों में, आदि) और इ– कारान्त उ– कारान्त शब्दों के वृद्धिरूपों में मिलता है। यह रूप कभी-कभी छिट-पुट रूप में अन्यत्र भी मिलता है, उदा० परुत्– 'पिछले साल' जो ग्रीक पेरुसि, पेरुति (pérusi, péruti) के विरुद्ध है, और एक समस्त पद है, जिसका अन्तिम पद (–उत्) वेत् का दुर्बल रूप है जो हित्ती वेत्त्– (wett–), ग्रीक वेतोस् (wétos) 'साल' में मिलता है। अवेस्ता में निर्विभक्तिक सप्तम्यन्त रूप –मन् 'मन' शब्द से मॉन् च दइद्याइ (mən ča daidyāi) 'और मन में धारण करने के लिये, याद करने के लिये' जैसे वाक्यांश में मिलता है।

–इ विभक्ति चिह्नवाला सप्तमी रूप प्राचीन निर्विभक्तिक सप्तम्यन्त रूप पर आधृत है, जिसके साथ –इ प्रत्यय या निपात जोड़ दिया गया है। यह स्थिति एक ऐसे स्पष्ट रूप को उत्पन्न करती है, जो प्राचीन निर्विभक्तिक रूप को खदेड़ना शुरू कर देता है, किन्तु यह प्रक्रिया अभी वैदिक युग तक पूरी नहीं हुई है। अधिकतर सप्तमी का यह रूप प्रत्ययांश पर उदात्त और उसके गुणरूप को सुरक्षित रखता है, जो निर्विभक्तिक रूप की विशेषता है, और इस तरह यह रूप चतुर्थी तथा षष्ठी ए० व० के रूपों से, जिनमें विभक्त्यंश पर उदात्त स्वर पाया जाता है, स्पष्टतः भिन्न बना रहता है। ठीक इसी समय सादृश्यनियम ने सप्तमी ए० व० को भी उन्हीं के ढंग का बनाने की प्रक्रिया शुरू कर दी है, कुछ स्थितियों में प्रागैतिहासिक युग में (अद्‌ति, आदि), और अन्य स्थितियों में संस्कृत के अपने इतिहास के युग में (राज्ञि, आदि)। प्राचीन निर्विभक्तिक सप्तम्यन्त रूपों का प्रत्ययांश वाला उदात्त ठीक उसके समानान्तर है, जो नपुंसक शब्दों पर आधृत क्रियाविशेषण (प्रातर्, आदि) में देखा गया है।

सम्बोधन ए० व० : सम्बोधन ए० व० में केवल निर्विभक्तिक शुद्ध शब्द है, और यह इस प्रकार उस समय से सुरक्षित अवशेष है, जबकि संज्ञाशब्द के विभक्ति रूप ठीक उस मात्रा तक नहीं बने थे जिस मात्रा में ये बाद में मिलते हैं। इस दृष्टि से यह रूप इस निर्णय का सङ्केत करते हैं, कि संज्ञाशब्दों की प्रक्रिया में भी भा०यू० के आरंभिक युग में शुद्ध निर्विभक्तिक शब्द पद का कार्य कर सकता था। अ– विकरणयुक्त शब्दों का सम्बोधन, प्रथमा विभक्ति की खास विशेषता –स् विभक्ति-चिह्न को लुप्त कर बनाया जाता था : वृक, ग्रीक लुके luke, लैटिन लुपे lupe (आदि) कई भाषायें इस विभक्ति में सामान्य ओ (लुकोस् lukos) के स्थान पर प्रत्ययांश के ए वाले रूप का वहन करने में एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। जिन शब्दों के प्रथमा ए० व० में वृद्धिरूप मिलता है, वे सम्बोधन में गुणरूप का वहन करते हैं (श्वा, पिता आदि के विपरीत श्वन्, पितः (पितर्) आदि), और यह विशेषता सम्बद्ध भाषाओं में भी मिलती है

(ग्रीक कुओन् kúon, पतॅर् páter)। यह गुणरूप इ- कारान्त उ- कारान्त शब्दों (अग्ने, सूनो) में भी मिलता है। चूँकि विशेषणरूप इ- कारान्त उ- कारान्त शब्दों के रूप ऋ-कारान्त न- कारान्त शब्दों के मूलतः समानान्तर थे, ई- कारान्त ऊ- कारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द इस विभक्ति में ह्रस्व स्वर इ- उ- का क्रमशः प्रयोग करते हैं और यह स्थिति सम्भवतः -इ? (iH) और -उ? (-uH) का नियत विकास माना जा सकता है, जब इसके बाद विराम का प्रयोग किया जाता था। अ? (aH) का अ के रूप में ग्रीक सम्बोधन में उपलब्ध विकास इससे तुलनीय है, जैसे नुम्फ (númpha), सुबोत (subóta)। आ- कारान्त शब्दों का सम्बोधन रूप विचित्र है (बाला 'लड़की' का सम्बोधन बाले), और यह सम्भवतः उदात्त स्वरहीन निपात इ- के योग के कारण है (अ? -इ -aH -इ के लिए -ए)। संस्कृत में सम्बोधन स्वराघातरहित है, किन्तु इसका अपवाद वहाँ पाया जाता है, जहाँ यह वाक्य या पाद के आरम्भ में मिलता है और इस स्थिति में इसका अपना विशिष्ट स्वराघाव है, अर्थात् शब्द के उदात्त स्वर की सामान्य स्थिति का कोई विचार न करते हुए यह हमेशा प्रथम अक्षर पर होता है। इस परवर्ती पद्धति के स्वराघात के चिह्न अन्यत्र भी हैं (ग्रीक कर्त्ता ए० व० पतॅर् patér, अदॅल्फॅास् adelphós के विपरीत पतॅर् páter, अदॅल्फे ádelphe), किन्तु कहीं भी उतनी मात्रा में नहीं, जितनी मात्रा में यह संस्कृत में मिलता है। यह प्रक्रिया बहुत पुरानी नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा होने पर प्रत्ययांश का नियत गुणरूप नहीं मिलता, जो सामान्यतः इस तरह के शब्दों के लक्षण, प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर, के प्रयोग के कारण है।

प्रथमा बहुवचन पुं० स्त्री० : संस्कृत -अस् (पादः 'पैर') भा० यू० -ऍस् से सम्बद्ध है, जो अन्यत्र सुरक्षित है (ग्रीक पोदॅस् pódes)। यह विभक्ति-चिह्न हमेशा परिपूर्ण कोटि में मिलता है, यद्यपि इस पर उदात्त स्वर कभी नहीं पाया जाता। यह विभिन्न वर्ग के शब्दों के सबल रूप से सम्बद्ध है, और यह सबल रूप या तो गुण-रूप (पितरः, उदगः, अग्नयः) या वृद्धिरूप (दातारः, राजानः) हो सकता है। द्वितीया ए० व० की तरह ये परवर्ती रूप प्रथमा ए० व० के विस्तारित रूप के कारण हैं।

अधिकांश ब० व० रूपों में स् तत्त्व पाया जाता है, उदा० द्वितीया -न्स्, तृतीया -भिस, चतुर्थी-पंचमी -भ्यस्, सप्तमी -सु। यह सम्भव है, किन्तु निश्चित नहीं कि यह स् प्रथमा ब० व० के स् से अभिन्न है। भा० यू० ब० व० प्रक्रिया दो असामान्य विशेषताओं के द्वारा जटिल बना दी गई है। एक ओर यदि यह स् बहुवचन का चिह्न है तो यह अन्य भाषा-परिवारों में मिलने-

वाली प्रक्रिया से इस दृष्टि से भिन्न है कि इसे विभक्ति-चिह्न के पूर्व न जोड़ा जाकर बाद में जोड़ा जाता है। दूसरी ओर ब० व० के विभक्ति-चिह्न अधिकांश रूप में उनसे भिन्न हैं, जो एकवचन में मिलते हैं और यह एक बिलकुल असामान्य प्रक्रिया मालूम होती है। एक दूसरी समस्या हित्ती के द्वारा उपस्थित की जाती है। इस भाषा में प्र० ब० व० (कर्त्ता ब० व०) में अपना एक विशिष्ट रूप मिलता है, और ठीक इसी तरह द्वितीया (कर्म) में भी (हुमन्तेश्, हुमन्दुश् ḫumanteš, ḫumandeš, 'समस्त'), किन्तु षष्ठी और चतुर्थी (सम्बन्ध-संप्रदान) के लिये यहाँ अन्य षष्ठी-चतुर्थी से अभिन्न रूप सामान्यतः मिलता है, वैसे विभक्तिरूप प्रायः यहाँ अविकसित हैं या अनिश्चित हैं। यह स्थिति कहाँ तक हित्ती के अपने नवीन रूपों की उद्भावना के कारण है यह निश्चित नहीं है, किन्तु यह संकेत हो सकता है कि भा० यू० में ब० व० विभक्ति-रूप ए० व० की अपेक्षा परवर्ती विकास है।

द्वितीया बहुवचन पुंल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग : भा० यू० में यह विभक्ति-चिह्न अजन्त शब्दों के बाद –न्स् और हलन्त शब्दों के बाद –(अ) न्स् (–n̥s) था। यह गॉथिक तथा कुछ ग्रीक विभाषाओं में खासतौर क्रेटन में सुरक्षित है (ग्रीक ऍलेउथॅरोन्स् eleuthérons, उइउन्स् uiúns, गॉथिक वुल्फन्स् wulfans, गस्तिन्स् gastins, ब्रोथ्रुन्स् brōþruns)। संस्कृत में पुंल्लिङ्ग अजन्त शब्दों के द्वितीया ब० व० (–आन्, –ईन्, –ऊन्, –ॠन्) इस –स् को सन्धि में (त्– के पूर्व –आंस्, आदि) सुरक्षित रखते हैं। वेद में इसका प्रभाव स्वर के पूर्व भी (–आं, ईंर्) दिखाई पड़ता है। संस्कृत में दीर्घ स्वरध्वनि मूल रूप से सम्बद्ध नहीं है, किन्तु अ विकरणवाले शब्दों में प्रथमा ब० व० (दीर्घ स्वर से युक्त आः, जिससे –अन्स् के लिए द्वितीया में –आन्स् हो गया है) के सादृश्य पर विकसित हुआ है। इस रूप से दीर्घ स्वरध्वनि –ई, –ऊ तथा –ॠ अन्तवाले शब्दों में भी फैल गई है। हलन्त शब्दों के बाद (अ) न्स्– विभक्ति-चिह्न नियत रूप से ग्रीक की तरह संस्कृत में –अस् (अः) हो जाता है (पदः, पॅादस् pódas)। संस्कृत में द्वितीया ब० व० दुर्बल विभक्ति है, अर्थात् इसमें विभक्ति-चिह्न पर उदात्त स्वर पाया जाता है और मूल शब्द अपने दुर्बल रूप में मिलता है। यह स्थिति इस तथ्य के विरुद्ध है कि विभक्ति-चिह्न स्वयं अपने दुर्बल रूप में मिलता है और इसलिये सभी संभव प्रकार से यह एक नया बनाया हुआ रूप है। यदि इस विभक्ति में भा० यू० –न्स् को –म्स् से विकसित माना जाय तो द्वितीया ए० व० के साथ ब० व० चिह्न –स् जोड़कर यह रूप विकसित हो सकता है।

संस्कृत में स्त्री० अजन्त शब्द न् का कोई चिह्न नहीं दिखाते (–आः,

–ईः, –ऊः, –ऋः)। यह न् का अनस्तित्व –आकारान्त शब्दों के सम्बन्ध में भारत–ईरानी (संस्कृत कुन्याः, अवे० उर्वरा urvarā) और जर्मन (गॉथिक गिव्रोस् gibōs) की समानता के द्वारा भा० यू० प्रदर्शित किया गया है। प्रथमा तथा द्वितीया की अभिन्नता, जो नपुंसक शब्दों की विशेषता है, मूलतः उन –आ (–अ? –aH) अन्तवाले शब्दों की विशेषता था जब ये शब्द अन्य नपुंसक शब्दों से अलग नहीं हुए थे। यह आ– रूप में सुरक्षित है, जो अ–विकरणयुक्त नपुंसक शब्दों के व० व० का काम करता है (प्रथमा-द्वितीया व० व० युगा)। सामान्य स्त्रीलिङ्ग शब्दों ने नपुंसकेतर वर्गों से ब० व० चिह्न स् को अपना लिया है, किन्तु वे अभी भी व० व० में प्रथमा तथा द्वितीया की अभिन्नता को बनाए हुए है। आ– कारान्त शब्दों से यह प्रवृत्ति इ–, उ– और ऋ– अन्तवाले शब्दों में भी फैल गयी है, जो मूलतः भा० यू० में अपने समान पुल्लिङ्ग शब्दों के विभक्तिरूपों से भिन्न विभक्तिरूपों का वहन नहीं करते (ग्रीक (विभाषारूप) ओविन्स् owins 'भेड़ों को')।

प्रथमा द्वितीया व० व० नपुंसकलिङ्ग : (१) वैदिक भाषा में अभी भी कुछ स्थितियों में एकवचन से अभिन्न नपुंसक ब० व० रूप मिलते हैं। उदा० ऊधर् दिव्यानि 'दिव्य स्तन', विश्वानि वसु 'समस्त वसु', योजना पुरु 'अनेक योजन', समरन्त पर्व (सम् अरन्त पर्व) 'पर्व एक-दूसरे से मिल गये'। यह उस आरंभिक स्थिति का अवशेष है, जबकि विभक्ति-प्रक्रिया कम विकसित हुई थी। (२) ईरानी में इसके अतिरिक्त प्रत्ययांश के वृद्धिरूप से विशिष्ट नपुंसक व० व० रूपों की कोटि भी मिलती है : अवे० अयारॉ (ayārɔ̄) 'अनेक दिन', वचा (vačā) 'अनेक शब्द', नामन्– 'अनेक नाम' आदि। यह वर्ग प्राचीन है, क्योंकि इसके उदाहरण हित्ती से भी दिए जा सकते हैं, उदा० विदार्, vidār, वतर् watar का बहुवचन 'पानी'। दूसरी ओर ग्रीक में इस तरह के वृद्धिवाले नपुंसक रूप केवल ए० व० मिलते हैं, हुदोर् (húdōr), तेक्मोर् (tékmor), आदि। ये प्राचीन बहुवचन रूप रहे होंगे, जिनका प्रयोग एकवचन में उस समय होता था, जब कि यह वर्ग व० व० के रूप में लुप्त हो गया था। संस्कृत में इस वर्ग के रूपों को मुख्यतः उन रूपों के द्वारा स्थानापन्न कर दिया है, जिनमें –इ प्रत्यय जोड़ा गया है (नामानि 'बहुत से नाम'), किन्तु वैदिक भाषा अभी भी न्– अन्तवाले उन नपुंसक शब्दों के रूपों में (वैकल्पिक रूपों के अलावा) इन रूपों को सुरक्षित रखे है (भूमा 'अनेक प्राणी', अहा 'अनेक दिन', शीर्षा 'अनेक सिर', जिनमें वृद्धि के सम्बन्ध में अन्य रूपों (राजा आदि) की तरह प्रत्ययांश का –न् लुप्त कर दिया गया है। (३) इन वृद्धिवाले रूपों के साथ ई प्रत्यय जोड़कर बनाए गए नपुंसक ब० व० रूप केवल वृद्धिवाले

ब० व० रूपों के विकल्प के रूप में अवेस्ता में भी मिलते हैं (नामॉनि nāmə̄ni, 'अनेक नाम', साख़्वॉनि sāxvə̄ni 'अनेक उपदेश', वरॅचाहि varəčāhī 'शक्तियाँ')। नपुंसक बहुवचन प्रत्यय –इ हित्ती में मिलता है (कुरुर् kurur 'शत्रुता', नपुं० का ब० व० कुरुरि kururi), जो भा० यू० में नपुं० ब० व० बनाने की प्रक्रिया के रूप में इस प्रत्यय की प्राचीनता की पुष्टि करता है। यह –इ आपाततः –इ प्रत्यय से अभिन्न है, जो नपुं० संज्ञाशब्दों की रचना में मिलता है। अन्य भा० यू० भाषायें मुख्यतः –अ या –आ प्रत्यय का प्रयोग करती हैं, जो –अ विकरण वाले शब्दों से विकसित हुआ है (ग्रीक ओनोमत onómata, ज़ुग zugá, आदि)। वैदिक भाषा में ब० व० का इ– वाला रूप भारत-ईरानी स्थिति की तुलना में अधिक विस्तारित कर दिया गया है, जिसका अनुमान अवेस्ता की तुलना से किया जा सकता है। केवल वृद्धि से युक्त रूपों की रचना अधिकांश शब्दों के सम्बन्ध में लुप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त न्– और –न्त् अन्तवाले शब्दों (नामा॑नि, घृतवान्ति) का नासिक्य तत्त्व सादृश्य के आधार पर अन्य शब्दों में भी प्रयुक्त होने लगा है, उदा० मनास्– इ (मनासि) के लिये मनां॑सि 'अनेक मन', ठीक इसी तरह हुवींषि 'अनेक हव्य', और चक्षूंषि 'आँखें' आदि। नासिक्यरहित रूप केवल चुत्वारि 'चार' के सम्बन्ध में बचा रहा। यह प्रक्रिया ऋग्वेद से बाद के युग में हलन्त मूल शब्दों के लिए नासिक्य तत्त्वयुक्त इ वाले बहुवचन रूपों के निर्माण के द्वारा और अधिक आगे बढ़ा दी गयी है। उदा० °शक्– 'समर्थ' से °शङ्कि, °बुध्– 'ज्ञान' से °बुन्धि। इसके अतिरिक्त नामा॑नि जैसे –न् अन्तवाले नपुंसक शब्दों के सादृश्य पर अ–, इ–, तथा उ– अन्तवाले नपुंसक शब्दों के नये वर्ग की रचना की गयी है: भुवनानि 'अनेक लोग', शुचीनि 'चमकदार', वसूनि 'सम्पत्ति'। वैदिक भाषा में यह रूप प्राचीन रूपों (भुवना, शुचि, शुची, वसु, वसू) की प्रतिस्पर्द्धा में मिलते हैं, परन्तु परवर्ती भाषा में यही एकमात्र प्रयुक्त है। आगे चलकर इसी सादृश्य पर परवर्ती भाषा ने तृ– अन्तवाले शब्दों का नपुंसक ब० व० –तृणि बना लिया है। (४) अ विकरणयुक्त नपुं० ब० व० का प्राचीन अर्जित रूप आ (युगा, ग्रीक ज़ुग zugá, लैटिन युग iuga, गॉथिक युक juka, प्रा० स्ला० इग iga) है। यह आ उस –आ प्रत्यय से अभिन्न है, जिससे ऐतिहासिक युग में स्त्रीलिङ्ग शब्द बनते हैं। जैसा कि संकेत किया जा चुका है, यह आ (<अ?, <aH) मूलतः सामान्य वर्ग के नपुंसक प्रत्यय से से भिन्न नहीं था। ये ब० व० रूप मूलतः समूहवाचक नपुंसक ए० व० थे, और ग्रीक में ये इस प्रकृति को यहाँ तक सुरक्षित रखे हैं कि वे अब भी ए० व० की क्रिया के साथ वाक्य में प्रयुक्त होते हैं (त ज़ोअ त्रेखेइ, tá zôa trékhei)।

इस प्रक्रिया में आ प्रत्यय प्रथमा तथा द्वितीया के परस्पर भेद के प्रति उदासीन रहने की आदिम विशेषता को सुरक्षित रखे है। भा० यू० भाषाओं में आ तथा अ के बीच परिवर्तन भा० यू० अ? (aH) के विभिन्न सन्धिजनित विकासों के कारण मिलता है (स्वरध्वनि तथा विराम के पूर्व ह्रस्व अ, अन्यथा दीर्घ आ), और यह विशेषता आ– कारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के इसी तरह के परिवर्तन के समानान्तर है। इकारान्त उकारान्त नपुं० शब्द भी अपने ब० व० रूप शब्द की अन्तिम स्वरध्वनि को दीर्घ करके बनाते हैं, और यदि ये रूप अ–विकरणयुक्त नपुंसक शब्दों के केवल सादृश्य पर नहीं बनाए गए हैं, तो इन्हें शब्द के साथ जोड़े गए प्रत्यय के दुर्बल रूप से युक्त –इ –? और –उ –? (–i –H, –u –H) के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है। वैदिक भाषा में यह रूप एकवचन से अभिन्न ब० व० रूपों और बाद में नियमतः पाए जाने वाले –ईनि, –ऊनि वाले नये रूपों के साथ-साथ विद्यमान हैं।

तृतीया ब० व० : तृ० ब० व० का विभक्ति-चिह्न –भिस् (अवे० बिश्) एक तत्त्व –भि– से युक्त है, जो ग्रीक (थेओफि théophi, अगेलेफि agélēphi, इफि íphi, नउफि naûphi, एरेबेस्फि erébesphi, आदि) के साक्ष्य पर प्राचीन भा० यू० के आरंभिक रूप में अत्यधिक विस्तृत प्रयोग में था, एकवचन तथा बहुवचन दोनों में, और करण, अधिकरण तथा अपादान के अर्थ का वहन करने में एक साथ प्रयुक्त होता था। ग्रीक और आर्मीनी (गइलोव् gailov, ब० व० गइलोवक् gailvok : गइल् gail 'भेड़िया') के विपरीत भारत-ईरानी में यह विभक्तिरूप केवल ब० व० में मिलता है, जब कि करण ए० व० बिलकुल भिन्न ढंग से बनाया जाता है। पदान्त –स् को इस तत्त्व के साथ जोड़ा गया बहुवचन वाला स् माना जा सकता है अथवा ग्रीक लिक्रिफिस, (likriphis) 'बेडे बल में' अवे० मज़िबिश् (mazibiš) 'महत्ता से' जैसे क्रिया-विशेषण रूपों की दृष्टि से केवल क्रियाविशेषण प्रत्यय (तुल० अमफि amphí, अम्फिस् amphis आदि) हो सकता है, जो बहुवचन में स् के नियत्त रूप से प्रयोग के कारण ब० व० रूप मान लिया गया है। बाल्टो-स्लावी तथा जर्मन शाखाओं में इस विभक्ति में–म्– (लिथुआनी सूनुमिस् sūnumis, आदि,) है, जिसे अन्य भाषाओं के –भ्– से ध्वन्यात्मक दृष्टि से सम्बद्ध करना सम्भव नहीं है।

चतुर्थी-पञ्चमी ब० व० : यह बड़ी विचित्र बात है कि पंचमी का रूप जो एकवचन में ठीक षष्ठी जैसा है, बहुवचन में चतुर्थी के समान रूप का वहन करता है। यह विभक्ति-चिह्न –भ्यस्, अवे० ब्यो (byo) है। पश्चिमी भा० यू० भाषायें ठीक इसी के समान रूप रखती हैं, जो मूल –भोस् तक जाता है (लैटिन बुस् bus, ऑस्कन फ़्स् fs, स्स् ss, वेनिशियन बोस् bos, गैलिक ब्हो

vho)। यह संभव है, किन्तु निश्चित नहीं, कि यह –भोस् परवर्ती –य्– के लोप के कारण –भ्योस् से विकसित हुआ है, जो दुर्बल स्वराघातवाली विभक्ति में मजे से समझा जा सकता है। इस रूप का विश्लेषण पुरुषवाचक सर्वनामों के चतुर्थी रूपों से तुलना के द्वारा संकेतित किया जा सकता है। वैदिक भाषा में सामान्य रूप तुभ्यम्, अस्मभ्यम् के अतिरिक्त –म् रहित रूप भी सुरक्षित हैं, जिनकी प्राचीनता ईरानी (अवे० मइब्या maibya) से प्रमाणित होती है। चतुर्थी–पंचमी बहुवचन का –भ्यस् , बहुवचन की विशेषता –स् के द्वारा अनुगत इसी –भ्य के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है। इस ढंग से यह विभक्ति मूलतः चतुर्थी होगी और पंचमी के रूप में इसका प्रयोग स्वाभाविकतः इस तथ्य के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है कि इस विभक्ति-चिह्न के अन्त में आनेवाला –अस् षष्ठी–पंचमी ए० व० –अस् के समान है।

षष्ठी बहुवचन : षष्ठी बहुवचन का विभक्ति-चिह्न स् के अनस्तित्व के द्वारा अधिकांश बहुवचनान्त रूपों से भिन्न है (तेषाम्, तासाम् जैसे सार्वनामिक रूपों के अपवादों को छोड़कर)। यह विभक्ति-चिह्न –आम् है, जो वेद में द्व्यक्षर शब्दों में प्रायः उदात्त स्वर-सम्पन्न होता है, और यह ग्रीक ओन् (ôn) के आरोहावरोहयुक्त स्वर (circumflex accent) के साथ मूल –ओ –ओम् (–o –om) के संकोच का संकेत करता है। यह केवल अविकरणयुक्त शब्दों में हो सका होगा, और यह कल्पना की जानी चाहिए कि मूल विभक्ति-चिह्न –ओम् अन्यत्र दीर्घ संकुचित –ओम् (–ōm) के द्वारा स्थानापन्न कर दिया गया है, जो इस वर्ग में विकसित हो गया था। ह्रस्व स्वरध्वनिवाला विभक्ति-चिह्न –ओम् स्लावी में सामान्य रूप (>उ, <ŭ, मातेरु materu, इमेनु imenŭ) और संभवतः लैटिन में भी सामान्य रूप (होमिनुम् hominum) बन गया है, जहाँ यह कल्पना करना अनावश्यक प्रतीत होता है कि –उम् (–um) दीर्घ स्वरवाले प्राचीन रूप से विकसित हुआ है। इस रूप का ए–कोटिवाला (गुणात्मक अपश्रुतिगत) रूप केवल गॉथिक में मिलता है (वुल्फे wulfē, सुनिवे sunivē)। संस्कृत अजन्त शब्दों की विशेषता विभक्ति-चिह्न के पूर्व –न्– का समायोग है और अवेस्ता शब्दरूप ऋकारान्त शब्द अन्यत्र इस प्रक्रिया से मिलते-जुलते हैं। अन्यत्र केवल जर्मन में –आ– कारान्त शब्दों (प्रा० हाई जर्मन गेबोनो gebōno 'दानों का') में समानता है और यह सम्भव है कि यह बीच में जोड़ा गया –न्– इसी वर्ग में शुरू हुआ था और इससे अन्य अजन्त शब्दों में भी फैल गया।

सप्तमी बहुवचन : संस्कृत विभक्ति-चिह्न –सु (पुत्सु) ईरानी, स्लावी(–छु <su –chŭ <su) और विभाषागत रूप में लिथुआनी में भी मिलता है।

दूसरी ओर ग्रीक में यह विभक्ति-चिह्न –सि (-si) (पोस्सि possí, आदि) है। यह भिन्नता इस बात का संकेत करती है कि यह विभक्ति-चिह्न दो तत्त्वों में है, एक ओर स्+उ और दूसरी ओर स्+इ। इसमें स् तत्त्व को बहुवचन-बोधक स् से अभिन्न बताया जा सकता है, जो अन्य विभक्तियों में मिलता है, जिसके साथ –इ तथा –उ, इन दो तत्त्वों को इन दो वर्गों में फिर जोड़ दिया गया है। ग्रीक के –इ को आपाततः सप्तमी ए० व० के –इ विभक्ति-चिह्न से अभिन्न बताया जा सकता है और अन्य भाषाओं का –उ ठीक इसी प्रक्रिया का कार्य करनेवाला वैकल्पिक प्रत्यय है। यह विभक्तिरूप इस प्रकार मूलतः सप्तमी एकवचन के निर्विभक्तिक रूपों के साथ (अ-विकरणयुक्त शब्दों में –ओइ (-oi) अन्तवाले सप्तमी एकवचन के साथ) बहुवचन बोधक स् के योग के द्वारा बनाया जायगा और इसके साथ –इ या –उ का योग ठीक उसी तरह गौण है, जिस तरह सप्तमी ए० व० में –इ का योग।

प्रथमा-सम्बोधन-द्वितीया-द्विवचन : यह विभक्तिरूप भा० यू० में शब्द की प्रकृति के अनुसार विभिन्न विभक्ति-चिह्नों से बनाया जाता है। संस्कृत का –औ, –आ विभक्ति-चिह्न मूलतः, सम्बद्ध भाषाओं के साक्ष्य से अ-विकरणयुक्त शब्दों तक सीमित था (ग्रीक लुको lúkō, लिथुआनी विल्कु vilkú, प्रा० स्ला० व्लुक vluka), जिससे संस्कृत में यह रूप अन्य कोटि के शब्दों तक भी विस्तारित कर दिया गया है (पादौ, पितरौ, आदि)। परवर्ती वर्गों में ग्रीक और लिथुआनी में –ए विभक्ति-चिह्न है (ग्रीक मेतेरे mētére, लिथु० अउगुसे áugusc)। यह संकेत किया गया है कि यह विभक्ति-चिह्न, जिसके स्थान पर अन्यत्र संस्कृत में –औ का आदेश किया गया है, वैयाकरणों द्वारा उदीच्य रूप में उदाहृत द्विवचनान्त द्वन्द्व मातरापितरौ 'माता-पिता' में सुरक्षित है। लौकिक संस्कृत में यह विभक्ति-चिह्न नियत रूप से –औ है, किन्तु वैदिक भाषा में यह –औ तथा –आ के बीच में परिवर्तित होता है। सामान्य नियम के रूप में –औ स्वरध्वनियों के पूर्व प्रयुक्त होता है, जो आव् होता है, अन्यत्र आ प्रयुक्त होता है। इस तरह के कुछ प्रयोग भा० यू० युग तक जाने चाहिएं और यह परवर्ती रूप है, जो सम्बद्ध भाषाओं में साधारण रूप बन गया है।

–आकारान्त स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक शब्द –इ विभक्ति-चिह्न का प्रयोग करते हैं। यह समानता पुनः –आकारान्त स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक शब्दों में विद्यमान घनिष्ठ सम्बन्धों का एक और चिह्न है। नपुंसक हलन्त शब्दों से ये उदाहरण हैं : वर्चसी, चक्षुषी, नाम्नी, बृहती। अ-विकरणयुक्त नपुंसक शब्दों में तथा –आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों में यह –ई विभक्ति-चिह्न मूल शब्द की स्वरध्वनि से जुड़कर –ए सन्ध्यक्षर का निर्माण करता है : युगे, शृंगे; अश्वे,

सेनें। यह –ई प्रा० स्ला० में भी है यद्यपि यहाँ बहुत कम (इमेनि, imeni, तेलेसि tělesi) मिलता है, और स्लावी में ठीक यही सन्ध्यक्षर स्वरध्वनि –ओ तथा –आ अन्तवाले शब्दों (सेले selé, रोचे roçě) में मिलता है, और यह रूप तब हलन्त शब्दों तक फैल गया है (इमेने imeně 'दो नाम')। –इकारान्त तथा –उकारान्त शब्द मूल शब्द की स्वरध्वनि को दीर्घ कर द्विवचनान्त रूप बनाते हैं : पती, सूनू, और इन्हीं के साथ वैदिक शब्दरूपों में देवी वर्ग के –ई-कारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों को वर्गीकृत किया जाता है (द्वि० व० रूप देवी, परवर्ती रूप देव्यौ)। यह रूप प्राचीन है और अवेस्ता (गइरि gairi, मइन्यु mainyu), स्लावी (प्रा० स्ला० पोति poti, सुनु syny), और लिथुआनी (नक्ति, naktí, सूनु sū́nu) में भी मिलता है।

तृतीया-चतुर्थी-पंचमी द्विवचन : इन तीनों विभक्तियों के लिये प्रयुक्त चिह्न –भ्याम् है, और इनमें ठीक वही –भि– तत्त्व है जो चतुर्थी-पंचमी और तृतीया ब० व० में मिलता है। एक समानान्तर रूप ब्यँम् केवल एकबार अवेस्ता में मिलता है (ब्रवत्ब्यम् bravatbyąm, ब्रवत्– 'भौं' से)। अन्यत्र इसमें –ब्य –ब्या (byă) और प्रा० फारसी में बिया (biya) है, जो यह स्पष्ट करता है कि –म् बाद में जोड़ा हुआ गौण तत्त्व है, जैसा कि अन्यत्र (तुल० तुभ्य, तुभ्यम्, आदि) है। बाल्टो-स्लावी भाषाओं में बहुवचनान्त की तरह यहाँ भी –भ्– के स्थान पर –म्– मिलता है (प्रा० स्ला० ओचिम očima, आदि)। यह विभक्तिचिह्न सामान्यतः मूल शब्द के साथ जोड़ा जाता है, किन्तु पुरानी भाषा में कभी-कभी प्रथमा-द्वितीया द्विवचन में प्रयुक्त रूप के साथ जोड़ा जाता है, उदा० अक्षीभ्याम्, तुल० अक्षी 'दो आंखें' (तुल० प्रा० स्ला० ओचिम očima : ओचि oči 'दो आँखें')। अ-विकरणयुक्त शब्दों में यह सामान्य रूप बन गया है : वृकाभ्याम्, तुल० वृका (वृकौ), आदि।

षष्ठी-सप्तमी द्विवचन : इन दोनों विभक्तियों का समान चिह्न ओस् है : पदोः, पित्रोः आदि, जो शब्द के दुर्बल रूप के साथ जोड़ा जाता है। दूसरी ओर अवेस्ता में दो भिन्न-भिन्न विभक्ति-चिह्न मिलते हैं, सप्तमी के लिये –ओ (ज़स्तयो zastayō) तथा षष्ठी में –आ (–å) (नाइरिकया nāirikayå)। –ओ विभक्ति-चिह्न –औ से विकसित हुआ है, और यह पदान्त स् से रहित संस्कृत विभक्ति-चिह्न के समान है। षष्ठी –आ (<–आस् <ās) अवेस्ता की खास विशेषता है। स्लावी में –उ विभक्ति-चिह्न मिलता है, जो या तो ओउ (अवे० –ओ –ō) या ओउस् ous (संस्कृत –ओस्) का प्रतिनिधित्व कर सकेगा। लिथुआनी में जहाँ यह विभक्ति-चिह्न केवल कुछ क्रियाविशेषण रूपों में मिलता है, –अउ, –अउस् है : द्वेयउ द्वेयउस् (dvějau, dvejaus)

'दो-दो में, जोड़े के रूप में', तुल० संस्कृत द्वयोः। संस्कृत में अ- कारान्त तथा आ- कारान्त शब्दों के विभक्तिज रूपों में उपलब्ध –अय्– सर्वनामों तथा संख्या-वाचक 'द्वि' के शब्दरूप से यहाँ फैल गया है (तयोः, द्वयोः)। स्लावी में यह केवल इन्हीं विभक्तियों तक सीमित है : तोयु, द्वोयु (toju, dvoju), किन्तु व्लुकु, इगु, रोकु (vlŭku, igu, ro̧ku)।

४. शब्दरूपों के वर्ग

संस्कृत शब्दरूपों की जटिलता इस तरह संक्षेप में वर्णित विभक्ति-चिह्नों की प्रक्रिया की इतनी अधिक नहीं है, जितनी इन विभक्ति-चिह्नों के विविध प्रकार के शब्दरूपों से जोड़ने की और उदात्त स्वर तथा अपश्रुति की दृष्टि से मूल-शब्द के अपने परिवर्तन की। मूल शब्दों के वर्गों और उन पर आधृत शब्दरूपों का वर्गीकरण सामान्यतः पाँच प्रमुख वर्गों में आता है : (१) हलन्त शब्द, (२) ऋ-कारान्त शब्द, (३) इ-कारान्त, उ-कारान्त शब्द, (४) आ-कारान्त, ई-कारान्त, ऊ-कारान्त शब्द, (५) अ-कारान्त (अ-विकरणयुक्त) थिमैटिक शब्द। शास्त्रीय (classical) भाषाओं के व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार और सुविधा की दृष्टि से भी, वर्णनात्मक व्याकरण ग्रन्थ इन वर्गों का विवरण प्रायः यहाँ दिए गए क्रम से बिलकुल उलटे क्रम में देते हैं। चूँकि ऊपर वर्णित विभक्ति-चिह्नों की सामान्य प्रक्रिया हलन्त शब्दरूपों में अधिक स्पष्ट मिलती है, और चूँकि अ-विकरणयुक्त थिमैटिक शब्दों में सर्वनामशब्दों से विशेष विभक्तिज रूपों को अपना लेने के कारण यह प्रक्रिया अधिक दूर हटी हुई है; तुलनात्मक व्याकरण की दृष्टि से इसी क्रम से चलना अधिक सुविधाजनक है।

५. हलन्त शब्द

हलन्त शब्दों में मूल प्रकृति-शब्द (पद्–, आदि) और –न्, न्त्, –स्, आदि से अन्त होनेवाले प्रत्ययजनित शब्द आते हैं। इनमें परवर्ती दो वर्गों में हैं, नपुंसक तथा पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग। इन शब्दों की रचना की विशेषताओं और इन दो वर्गों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में विवेचन किया जा चुका है। नपुंसक तथा नपुंसकेतर शब्दों के विभक्तिज रूप केवल कर्त्ता तथा कर्म में ही भिन्न हैं। इस दृष्टि से हलन्त शब्द इकारान्त-उकारान्त शब्दों से भिन्न है (मध्वः : सूनोः), और यह भिन्नता हलन्त शब्दों के साथ कतिपय अन्य भाषाओं की प्रक्रिया से भी स्पष्ट है (ग्रीक ओउथतोस् oúthatos, ओनोमतोस् onómatos, नपुंसक : फेरोन्तोस् phérontos, पोइमेनोस् poiménos, पुल्लिङ्ग)। इन शब्दों के विभक्तिज रूपों पर थोड़ा अधिक संकेत आवश्यक है। इन शब्दों के सामान्य

अन्त इस समस्त शब्दरूप में थोड़े परिवर्तन के साथ जोड़े जाते हैं। संस्कृत ध्वनिसंघटना का विशिष्ट विकास कुछ जटिलता का कारण है, (उदा०, विश्- 'वस्ती' : प्रथमा विट्, द्वितीया विशम्, तृतीया बहुवचन विड्भिः, सप्तमी व० व० (वैदिक) विक्षु) किन्तु समस्या का यह अंश पदरचना की अपेक्षा ध्वनि-विचार से अधिक सम्बद्ध है। अन्य दृष्टि से इस वर्ग में मिलनेवाली जटिलतायें पहले ही (१) स्वराघात और अपश्रुति (पात्, पदः, आदि) तथा (२) अनियमित शब्द-रूप (ऊधः, ऊध्नः, आदि)—इन दो शीर्षकों में वर्णित किया जा चुका है। सबल रूपों में शब्द को सानुस्वार बनाने की बलवती प्रवृत्ति भी संस्कृत में देखी गयी (विद्वान्, विद्वांसः, विदुषः) है। यह प्रवृत्ति सादृश्य के आधार पर उन रूपों से फैली है, जहाँ यह ऐतिहासिक दृष्टि से उचित है (भवन्, भवन्तम्, भवतः) और इस प्रवृत्ति के समानान्तर ठीक ऐसा ही विकास नपुंसक बहुवचन में भी है।

६. ऋकारान्त शब्द

एकवचन : प्रथमा पिता, द्वितीया पितरम्, दातारम्, तृतीया पित्रा, चतुर्थी पित्रे, पंचमी-षष्ठी पितुः, सप्तमी पितरि, सम्बोधन पितः।

द्विवचन : प्र० द्वि० सम्बो० पितरौ, दातारौ, तृ० च० पं० पितृभ्याम्, ष० सप्तमी पित्रोः।

बहुवचन : प्र० पितरः, दातारः, द्वि० पितॄन्, मातॄः, तृ० पितृभिः, च० पं० पितृभ्यः, ष० पितॄणाम्, सप्तमी पितृषु।

यह तथ्य कि संस्कृत में ऋकारान्त शब्द हलन्त शब्द न मानकर अजन्त शब्दों में वर्गीकृत किए जाते हैं, संस्कृत के कतिपय विकासों के कारण हैं, जिन्होंने इनकी स्वरात्मक प्रकृति को बढ़ाने में योग दिया है। यह खास तौर पर द्वि० तथा ष० बहुवचनान्त रूपों में मिलता है, जो संस्कृत के अपने विकसित अभिनव रूप हैं। हलन्त शब्दों के सादृश्य पर द्वि० बहुवचन रूप *पित्रः होता, किन्तु इस रूप के स्थान पर –आन्, –ईन्–, –ऊन् के सादृश्य पर आधारित –ॠन् अन्त वाले एक नये रूप का आदेश हो गया है। इस प्रक्रिया के द्वारा संस्कृत ने एक नयी दीर्घ स्वरध्वनि ॠ को उत्पन्न किया है; जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित भा० यू० ध्वनियों में कोई ध्वन्यात्मक आधार नहीं है। पुराने ढंग का षष्ठी बहुवचन अवेस्ता दुग्ॅद्रँम् (dugədrąm) आदि में मिलता है। संस्कृत में यह रूप कभी-कभी वेद में सुरक्षित है, उदा० नराम् (: ऑस्कन नॅरुम् nerum), नर् 'मनुष्य' शब्द का ष० बहुवचन, और एकबार स्वस्राम्। अन्यत्र इस रूप के स्थान पर नये रूप –ॠणाम् का आदेश हो गया है, जो ठीक

उसी तरह के सादृश्य से –आनाम्, –ईनाम्, –ऊनाम् के वजन पर बनाया गया है।

वृद्धिजनित प्र० ए० व० में र् ठीक उसी तरह लुप्त कर दिया जाता है, जैसे नकारान्त शब्दों का –न् (पि॒ता, राजा॑)। यह लोप ईरानी (अवे० मात māta आदि), वाल्टिक (लिथुआनी मोतॆ motė̃, सेसुओ sesuõ) और स्लावी (प्रा० स्ला० मति mati) में भी मिलता है। अन्य भाषाओं में र् सुरक्षित है (ग्रीक मेतेर् mḗtēr आदि)। पारिवारिक सम्बन्ध को द्योतित करने वाले अधिकांश शब्दों में द्वि० ए० व० में प्रत्ययांश का गुणरूप मिलता है (मा॒तर॑म्, दु॒हि॒तर॑म्, आदि), किन्तु स्वसृ 'भगिनी' में और –तृ अन्तवाले कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों में वृद्धि रूप मिलता है, जो प्र० ए० व० के सादृश्य पर प्रचलित कर दिया गया है। ठीक यही भेद प्र० द्वि० द्विवचन और प्र० ब० व० में मिलता है। दुर्बल विभक्तिरूपों में पुराने ढंग के विभक्तिरूप, जिनमें उदात्त स्वर का परिवर्त्तन विभक्त्यंश पर है, सामान्यतः सुरक्षित है। अन्यत्र भा० यू० में इस प्रकार के रूप सम्बन्धों के रूढ़ शब्दों में मिलते हैं (ग्रीक पत्रोस्, पु॒त्रि patrós, patrí; लैटिन पत्रिस् patris, आदि), जिनके अलावा वहाँ प्रत्ययांश के गुणरूपवाला वैकल्पिक रूप भी मिलता है (ग्रीक मेत्रोस् mētrós के साथ-साथ मेतेरोस् mētéros, तुल० पोइमेनोस् poiménos, ऑस्कन पतेरेइ patereí, प्रा० स्ला० मातेरि māteri, तुल० अ॒ग्नये॑)। केवल भारत-ईरानी –तृ अन्तवाले शब्द ही कर्त्रर्थ संज्ञाशब्द में आदिम रूप को सुरक्षित रखे है। अन्यत्र इसके स्थान पर इन विभक्तियों में प्रत्ययांश के गुण या वृद्धिवाले नये रूपों का आदेश हो गया है (ग्रीक दोतेरोस्, दोतोरोस् dotēros, dṓtoros, लैटिन दतोरिस् datōris, आदि)। संस्कृत में ग्रीक में उपलब्ध प्राचीन ढंग के विभक्तिज रूपों (अन्द्रोस्, अन्द्रि andrós, andrí) के विरुद्ध नर् 'मनुष्य' शब्द के रूपों (चतुर्थी नरे॑, षष्ठी नर॑ः) में प्रकृत्यंश का गुणरूप मिलता है।

इस दृष्टि से संस्कृत ऋकारान्त शब्द उन विशेषणरूप इकारान्त-उकारान्त शब्दों से, जिनमें चतुर्थी तथा षष्ठी ए० व० में प्रत्ययांश का गुणरूप और उदात्तत्व पाया जाता है, स्पष्ट रूप में भिन्न है (अ॒ग्नये॑, अ॒ग्नेः)। इन दो वर्गों का परस्पर भेद कम हो जाता है, जबकि ऋकारान्त शब्दों के षष्ठी ए० व० की प्रकृति की परीक्षा की जाती है। चतुर्थी के रूप से मिलता-जुलता होने के लिये सामान्यतः यह रूप विभक्त्यंश पर उदात्तस्वरयुक्त –अस् विभक्ति-चिह्नवाला होना चाहिए था और इस तरह के रूप वस्तुतः ईरानी में (अवे० ब्राथ्रो brāθrō, दाथ्रो dāθrō), साथ ही अन्य भा० यू० भाषाओं में भी (ग्रीक

पत्रोस् patrós, आदि) मिलते हैं। यह रूप जो वस्तुतः मिलता है (-उर्, -उस्, -उः) ईरानी (अवे० नॅरॅश् nərəš) के साक्ष्य पर -ऋश् (*पितृश् *pitr̥š) तक जाता है। प्रत्ययांश तथा विभक्त्यंश दोनों के दुर्बल रूपवाला शब्द मूल रूप नहीं हो सकता, और इसलिये इसे बाद का नया रूप ही मानना होगा, जिसका किसी अन्य रूप के स्थान पर आदेश हो गया है। यदि मूल रूप केवल *पित्रस् था, तो यह रूप उससे किसी भी तरह से विकसित नहीं हो सकता था, और इसका मूल षष्ठी ए० व० के किसी दूसरे रूप में ढूँढना पड़ेगा, जो ईरानी में सुरक्षित है : नर्श, ज़ओतर्श, सात्तर्श् (narš, zaotarš, sātarš)। यह रूप, जिसके साथ हम लिथुआनी मोतॅर्स् (moterʹs) की तुलना कर सकते हैं, ठीक वैसा ही रूप है, जैसा विशेषण रूप इकारान्त-उकारान्त शब्दों का षष्ठी ए० व० (अग्नेः, अग्ने -स्)। यह रूप ठीक वैसी ही प्रक्रिया से, अर्थात् विशेषण शब्दों के षष्ठी ए० व० के अनुरूप प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर और उसके गुणरूप द्वारा, उदित हुआ है और चूँकि इसमें विभक्त्यंश का समाहृत रूप मिलता है, यह प्राचीन अवश्य होना चाहिए। संस्कृत में और अंशतः अवेस्ता में -अर्ष के स्थान पर ऋश् (>संस्कृत -उर् (उः)) का आदेश हो गया है। इसका कारण यह है कि अन्यत्र दुर्बल तथा मध्यम कोटि की विभक्तियों में प्रत्ययांश अपने दुर्बल रूप में मिलता है (पित्रा, पितृभिः, पितृषु), और यह कोटि सादृश्य के आधार पर षष्ठी ए० व० तक विस्तारित कर दी गयी है।

सप्तमी ए० व० में कोई निर्विभक्तिक रूप सुरक्षित नहीं हैं, यद्यपि सम्भवतः इस तरह के रूप एक समय विद्यमान थे। यह विभक्ति सदा प्रत्ययांश के गुणरूप को जो यहाँ समुचित है, सुरक्षित रखती है, जो अन्य शब्दों (राज्ञि, आदि) के तथा इस कोटि के संज्ञाशब्दों में (ग्रीक पत्रि patrí, आदि) अन्य भा० यू० भाषाओं की प्रक्रिया के विरुद्ध है।

प्राचीन नपुंसक ऋकारान्त संज्ञाशब्दों में जो थोड़े-बहुत बचे रहे हैं, अनियमित रूप चलते हैं, और उन्होंने -र्- (-ऋ-) अन्तवाले पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग शब्दों के साथ अपना सम्बन्ध लुप्त कर दिया है। दूसरी ओर संस्कृत ने नये प्रकार के ऋकारान्त विशेषणरूप नपुंसक शब्दों का विकास किया है जिनके कोई प्राचीन रूप भा० यू० में नहीं हैं। ये शब्द सामान्य शब्दों की तरह प्रथमा-द्वितीया में पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग शब्दों से भिन्न हैं (धातृ, धातृणी, धातृणि), और इकारान्त-उकारान्त नपुंसक शब्दों की शैली पर दुर्बल विभक्तियों में -न्- तत्त्व बीच में जोड़े जाने के कारण भी (धातृणा, आदि) भिन्न हैं। यह रूप विशेष प्रचलन में नहीं हैं।

७. इकारान्त-उकारान्त शब्द

ए० व० प्रथमा अ॒ग्निः, सू॒नुः; वारि॑, मधु॑; द्वितीया अ॒ग्निम्, सू॒नुम्, तृतीया अ॒ग्निना॑; गत्या॑, धे॒न्वा; चतुर्थी अ॒ग्नये॑, सू॒नवे॑; पत्ये॑, पश्वे॑; वारि॒णे, मधु॑ने॑; गत्यै॑, धेन्वै॑; पञ्चमी-षष्ठी अ॒ग्नेः, सू॒नोः; अव्य॑ः, मध्व॑ः; वारि॒णः, मधु॒नः; गत्याः, धेन्वाः, सप्तमी अ॒ग्नौ, सू॒नौ; सानौ॑, सान॒वि; सानु॒नि; गत्या॑म्, धेन्वा॑म्; सम्बोधन अग्ने॑, सूनो॑।

द्वि० व० प्र०-द्वि० अ॒ग्नी, सू॒नू, तृ० च० पं० अ॒ग्निभ्या॑म्, सू॒नुभ्या॑म्, षष्ठी-सप्तमी अ॒ग्न्योः, सू॒न्वोः; वारि॒णोः, मधु॒नोः।

ब० व० प्रथमा अ॒ग्नय॑ः, सू॒नव॑ः; अ॒र्य॑ः; शुची॑(नि), पु॒रू (णि)। द्वितीया अ॒ग्नीन्, सू॒नून्; गतीः, धे॒नूः; अ॒र्यः, पु॒श्वः, तृतीया अ॒ग्निभि॑ः, सू॒नुभि॑ः, च०-पं० अ॒ग्निभ्य॑ः, सू॒नुभ्य॑ः, षष्ठी अ॒ग्नी॒नाम्, सू॒नूनाम्, सप्तमी अ॒ग्निषु॑, सू॒नुषु॑।

इन शब्दों का अत्यधिक प्राचीन और मौलिक विभाजन एक ओर नपुंसक और दूसरी ओर पुं० स्त्री० वर्गों में होता है। परवर्ती दो वर्गों के शब्दरूप मूलतः अभिन्न थे और संस्कृत में मिलनेवाला इनका परस्पर भेद गौण विकास है। दूसरी ओर नपुंसक तथा पुं०-स्त्री० वर्गों का परस्पर भेद (मध्व॑ः : अ॒ग्नेः) जो उदात्त स्वर के स्थान-परिवर्तन के कारण पाया जाता है, भा० यू० के प्राचीन युग तक चला जाता है।

नपुंसक शब्दों के विभक्तिज रूप सामान्य विभक्ति-चिह्नों के योग से युक्त थे, जो दुर्बल विभक्तियों में मूलतः उदात्त स्वर का वहन करते थे (ग्रीक दॅउरॅास् dourós, गॅाउनॅास् gounós), और इस दृष्टि से यह नियमतः हलन्त शब्दों के रूपों से भिन्न नहीं थे। इस प्रकार के विभक्तिज रूप के मूलतः केवल नपुंसकों तक ही सीमित नहीं थे (देखिये नीचे सख्ये॑ आदि), किन्तु उनके प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर के प्रयोग के परिणामस्वरूप पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग वर्ग से विकसित विशेष वर्ग उनके लिये अज्ञात था। संस्कृत में प्रायः सभी विभक्तिज रूपों में उदात्त स्वर प्रकृत्यंश पर निश्चित हो गया है, अन्य नपुंसक शब्दों की तरह *म॒ध्वः के स्थान पर मध्व॑ः का आदेश हो गया है। इसके कुछ अवशेष बचे हुए हैं। 'घरेलू जानवर' अर्थवाले उकारान्त नपुंसक शब्द के प्राचीन भा० यू० विभक्तिज रूप पॅकु, पॅक्वॅस् (péku, pekwés) की तरह के थे। इन रूपों से मिलते-जुलते रूप संस्कृत में नपुंसक पशु॑ (केवल एक बार ऋग्वेद में) और षष्ठी ए० व० पु॒श्वः हैं, जो प्राचीन रूप का साक्षात् वहन करते हैं, किन्तु पु॒श्वः सादृश्य के आधार पर जनित प्रथमान्त रूप प॒शुः का षष्ठी ए० व० रूप बन गया है, जब कि पशु॑ः के समानान्तर साधारण प्रक्रिया के द्वारा चतुर्थी ए० व० पश्वे॑ बना लिया गया है।

नपुंसक शब्दों के सामान्य वर्ग में प्रकृत्यंश पर उदात्त स्वर के स्थिरीकरण के परिणामस्वरूप केवल एक वर्ग ऐसा बचा रहा, जिनमें सामान्यतः उदात्त स्वर विभक्तिज रूपों में प्रकृत्यंश से विभक्त्यंश पर परिवर्तित होता था और यह वर्ग उन प्रत्ययांश पर उदात्त स्वरवाले पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग शब्दों का है, जिनमें प्रत्ययांश की स्वरध्वनि दुर्बल विभक्तिरूपों में लुप्त कर दी जाती थी (मूर्धा : मूर्ध्नः, आदि)। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ स्थितियों में जहाँ किसी प्रा० नपुंसक संज्ञाशब्द ने षष्ठी ए० व० में विभक्त्यंश पर उदात्त स्वर सुरक्षित रखा था, इसके सादृश्य पर प्रत्ययांश पर उदात्त स्वरवाला एक नया प्रातिपदिक बना लिया गया, और इस स्वरपात के परिवर्त्तन के साथ लिङ्ग का परिवर्त्तन भी जुड़ गया : पशु नपुंसक के लिये पशुः पुल्लिङ्ग। ठीक इसी तरह का पितुः : पित्वः 'अन्न' है।

इस पद्धति से विभक्तिज रूपों को निष्पन्न करने वाले प्रातिपदिकों की संख्या वैदिक भाषा में बहुत कम है और नपुंसकों के अतिरिक्त इसमें कुछ पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग संज्ञाशब्द भी सम्मिलित हैं : अविः, अव्यः 'भेड़', क्रतुः, क्रत्वः 'बुद्धि', तुल० अवेस्ता ख्रतुश्, ख्रथ्वो (xratuš, xraθwō)। इन्हें परिवर्तित नपुंसक माना जा सकता है। इस प्रकार का विकास अवि– शब्द के सम्बन्ध में मजे से समझा जा सकता है, क्योंकि वह चेतन प्रकृति का है। इकारान्त-उकारान्त क्रियाबोधक संज्ञाशब्द उनके अर्थ के अनुकूल मूलतः नपुंसक वर्ग के थे, किन्तु सामान्यतः ये पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग शब्दों में परिवर्तित कर दिए गए। ऐसा करने में उन्होंने सामान्यतः विशेषण वर्ग के शब्दरूपों को अपना लिया है (मतिः मतेः, आदि) किन्तु कतिपय स्थितियों में उनके मूल नपुंसक वर्ग के सूचक के रूप में नपुंसक के ढंग पर बने रूप बचे रह गए। इस वर्ग के पुल्लिङ्ग शब्द कभी-कभी प्र० द्वि० ब० व० के विशिष्ट रूपों का प्रयोग करते हैं (प्रथमा अवेस्ता पस्वस् 'पशु' pasvas, अॅरॅज़्वो ərəzvō, 'अंगुलियाँ', संस्कृत द्वितीया पश्वः), किन्तु सामान्य वर्ग के रूपों का भी प्रयोग करते हैं (पशवः, पशून्)।

रयि–/राय्– शब्द के वैदिक सुबन्त रूप इसी प्रकार के हैं (प्रथमा रयिः : षष्ठी रायः, आदि)। यह प्राचीन रूप *र ?इ –स्/र?यस् (*raH i –s/raHyás) का प्रतिनिधित्व करता है। यह अवि– वर्ग का परिवर्तित नपुंसक रूप है और षष्ठी ए० व० के विभक्त्यंश पर स्वरपात ने प्रथमा ए० व० में प्रकृत्यंश से प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर-परिवर्तन को प्रभावित किया है, ठीक वैसे ही, जैसे पशु– के सम्बन्ध में हुआ है। इसके अतिरिक्त एक अन्य मूल शब्द रा– है, जो लैटिन रेस् (rēs) के समानान्तर है। लौकिक संस्कृत में इस शब्द को इकारान्त शब्द के रूप राय्– के साथ जोड़ दिया गया है। ठीक इसी

तरह के सुवन्त रूप *न ? उ –स्, *न् ? वस् (*na H u –s, *na H vás) के लिये नौः, नावः ' (ग्रीक नउस्, नेऑस् naûs, nēós) 'जहाज' के हैं। केवल एक स्थान पर जहाँ ऋग्वेद में इस शब्द का प्रथमा ए० व० रूप मिलता है, इसे द्व्यक्षर उच्चरित किया जाता है : नौः (नउः) (नवुः) और इस दृष्टि से इसकी सीधे रयिः के साथ तुलना की जा सकती है। इस शब्द की दीर्घ मिश्र स्वरध्वनि इन स्वरध्वनियों के विवृतिजनित रूप का ही परवर्ती संकोच या समाहार है। द्वितीया ए० व० वाला रूप रायम् के समान नया है, जिसने रयिम् का स्थान ग्रहण कर लिया है।

अरि– शब्द जिसमें दो भिन्न शब्द आपस में गलती से मिल गए हैं (अरि– 'पवित्र', *अलि– 'शत्रु, वैरी'), इसी तरह सुवन्त रूपों का ग्रहण करता है, यद्यपि वह अर्थ की दृष्टि से विशेषण है। चूँकि अन्यत्र भा० यू० में प्राचीन नपुंसक लिङ्ग के ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिन्हें मूल शब्द के सामान्य परिवर्तन के विना ही इस प्रकार के प्रयोग के अनुकूल वना लिया गया है, इस शब्द का विशिष्ट सुवन्त रूप (षष्ठी ए० व० अर्यः आदि) इसके इसी प्रकार के प्राचीन नपुंसक होने और पुल्लिङ्ग रूप में परिवर्तित कर दिए जाने के द्वारा समझाया जा सकता है। यदि यह मूलतः विशेषण होता, तो यह मानना पड़ेगा कि यह सखि शब्द की तरह (तृतीया सख्या, चतुर्थी सख्ये) सुवन्त रूपों का ग्रहण करता और इन दुर्बल रूपों से इस वर्ग के विशिष्ट रूप प्रथमा ब० व० तक फैल गए हैं (पश्वः के समान अर्यः)। इसके समग्र रूप में प्रत्ययांश के सवल रूप के किसी भी चिह्न का अनस्तित्व पहली व्याख्या को अधिक सम्भाव्य वना देता है।

ठीक ऐसा ही सन्देह पति– शब्द के सम्वन्ध में है। 'स्वामी' अर्थ में यह शब्द (अग्नि– वर्ग के) सामान्य सुवन्त रूपों का ग्रहण करता है, किन्तु पति के अर्थ में यह शब्द इसी पद्धति के सुवन्त रूप बनाता है (च० पत्ये)। इस शब्द से वने पत्नी 'भार्या' का उदात्त स्वर और –न्– प्रत्यय इस शब्द के प्राचीन परिवर्तनशील नपुंसक शब्द का संकेत करता माना जा सकता है; दूसरी ओर प्रथमा बहुवचन हमेशा सामान्य है और इस प्रकार के दुर्बल रूप विशेषण सखि– के द्वारा भी प्रदर्शित किए जाते हैं। जनि 'स्त्री' शब्द में उस् –उः विभक्ति-चिह्न के साथ षष्ठी ए० व० जन्युः मिलता है, जो सख्युः, पत्युः में भी दिखाई पड़ता है और जो स्पष्ट रूप में पारिवारिक सम्वन्धवोधक संज्ञाशब्दों (पितुः, आदि) से ग्रहण किया गया है। इन तीनों दशाओं में –अस् विभक्ति चिह्न ने इसका स्थान ले लिया गया है। अवेस्ता में जन्योइश् (ǰanyōiš) है, जो *जन्यस् (जन्यः) (janyas) के स्थान पर प्रयुक्त रूप है। इस प्रकार का षष्ठीवाला

विभक्ति-चिह्न यह सङ्केत करता है कि यह मूल शब्द प्राचीन नपुंसक है, जिसे स्त्रीलिङ्ग के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है।

भारत-यूरोपीय में इस वर्ग के नपुंसक शब्दों के सुबन्त रूप बनाने का एक वैकल्पिक प्रकार विद्यमान था अर्थात् अनियमित न्- प्रत्यय के प्रयोग द्वारा। कतिपय इकारान्त नपुंसक शब्दों में जो बचे रह गए हैं, यह न्-, -इ प्रत्यय (अ॒क्षि, अ॒क्ष्णः), का स्थान ले लेता है, जिससे यह प्रत्यय मुख्यतः इस शब्दरूप से अलग हट गए हैं। दूसरी ओर उकारान्त नपुंसक शब्द इस -न्- को दुर्बल स्वरध्वनि वाले विभक्तिज रूपों के पूर्व जोड़ते हैं: चतुर्थी ए० व० मधु॑ने पंचमी-षष्ठी मधु॑नः, सानु॑नः, द्रुणः॑, सप्तमी मधु॑नि, वास्तु॑नि, प्रथमा-द्वितीया द्विवचन जानु॑नी 'घुटने', षष्ठी-सप्तमी द्विवचन जानु॑नोः। अन्य भाषाओं के ठीक ऐसे ही रूप इस बात का संकेत करते हैं कि यह प्रक्रिया पुरानी है (ग्रीक षष्ठी एकवचन गो॑नतास् (gónatos), *गो॑न्वृन्तास् (gónwn̥tos) के लिये, तोखारी द्विवचन क॑न्वेम् 'घुटने' (kanwem̥))। यह सम्भव है कि मूलतः प्रथमा-द्वितीया ए० व० में एक समानान्तर विस्तार -र् जोड़ा जा सकता था, जिससे -उर तथा -उन दो भिन्न प्रत्ययवाले विशेषणात्मक प्रातिपदिक उत्पन्न हुए हैं। प्राचीन भाषा में ये अन्त के चिह्न बहुत कम अपवाद के साथ केवल नपुंसक संज्ञाशब्दों के साथ प्रयुक्त होते थे। विशेषणों में नपुंसक रूप प्रथमा-द्वितीया के अतिरिक्त अन्यत्र सामान्यतः भेदीकृत नहीं किए जाते। लौकिक (शास्त्रीय) भाषा में न्- रूप नपुंसक संज्ञाशब्दों के लिये नियमतः पाए जाते हैं, किन्तु विशेषण शब्दों के सम्बन्ध में वैकल्पिक हैं। प्राचीन भाषा में यह -न् पुल्लिङ्ग शब्दों के तृतीया एकवचन (सू॒नुना॑) तक फैल गया है।

इस प्रकार के सविभक्तिक रूपों के उदाहरण इकारान्त नपुंसक शब्दों में बहुत कम (अ॒क्षिणी 'आँखें') हैं, और इस ढङ्ग से सविभक्ति रूपों का प्रयोग करने वाला एकमात्र नपुंसक शब्द वारि॑ 'पानी', षष्ठी ए० व० वारि॑णः है, जो प्राचीन भाषा में नहीं मिलता। इस प्रकार के मूल शब्दों की न्यूनतम उपलब्धि की दृष्टि से यह अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रकार के अनियमित रूपों का वैकल्पिक अस्तित्व (अस्थि/अ॒स्थ्नः) था और विशेषण रूप इकारान्त शब्द, समानान्तर उकारान्त शब्दों की अपेक्षा इन स्थितियों में प्राचीन भाषा में नपुंसक को भेदीकृत नहीं करते (षष्ठी ए० व०, नपुंसक भूरे॑ः)। इतना होते हुए भी इस रूप को वैकल्पिक -इर, -इन प्रत्ययों के अस्तित्व के कारण प्राचीन माना जा सकता है और यह तथ्य भी माना जा सकता है कि यह -न्-प्राचीनतम भाषा में पुंल्लिङ्ग के तृतीया ए० व० तक फैल गया है।

वेद में उकारान्त नपुंसक संज्ञाशब्द सामान्य पुल्लिङ्ग वर्ग की तरह तीसरे

वैकल्पिक सविभक्तिक रूपों का आश्रय ले सकते थे : षष्ठी ए० व० मध्वः, द्रोः, स्नोः आदि। यह एक नवीन रूप है, जो शास्त्रीय व्याकरण में हटा दिया गया है।

नपुंसक वर्ग के सविभक्तिक रूप उकारान्त शब्द में तीन तरह के सप्तमी एक-वचन रूपों का संकेत करते हैं, जो पुल्लिङ्ग शब्दों के सामान्य वर्ग से भिन्न हैं (सूनौ)। (१) विभक्ति-चिह्न रहित सप्तम्यन्त रूप सानौ, वस्तौ में दिखाई पड़ता है। इस प्रकार का रूप ईरानी में भी मिलता है (अवेस्ता पॅरॅतो pərətō, प्रा० फारसी बाबिरउव् bābirauv, गाथ्व्-आ gāθav-ā) और यह नकारान्त-शब्दों (अह्न्) से बने इसी तरह के रूपों से मिलता है, फर्क यह है कि सप्तमी ए० व० का विशिष्ट उदात्त स्वरपात हटा दिया गया है। (२) सानवि में यह रूप सप्तम्यन्त -इ के योग के द्वारा विस्तारित कर दिया गया है, जैसा कि अह्णि के सम्बन्ध में हुआ है। वैदिक भाषा में इस प्रकार के रूप पुल्लिङ्ग शब्दों की कुछ संख्या तक विस्तारित कर दिए गए हैं (अर्नवि, दस्यवि, आदि)। (३) सप्तम्यन्त रूप मूल के आधार पर -न् जोड़कर बनाए जा सकते हैं : सानुनि, वास्तुनि। शास्त्रीय भाषा में यह सामान्य सविभक्तिक रूप बन गया है।

मूलतः विशेषण तथा कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों से युक्त किन्तु प्राचीन युग में नपुंसकों से कर्मार्थक संज्ञाशब्दों के परिपूर्ण स्थानान्तर से समृद्ध, सामान्य पुंलिङ्ग-नपुंसक वर्ग भा० यू० में अपने समानान्तर नपुंसकों से अपने प्रत्ययांश पर प्रयुक्त उदात्त स्वर की दृष्टि से भेदीकृत किया जाता था : पॅलु (pélu) नपुंसक संज्ञा-शब्द 'बहुत' (गॉथिक फ़िलु filu), प्लॅउ- विशेषण 'बहुत' (ग्रीक प्लॅएॅस् plées)। इस विशेषण रूप मूल शब्द के आधार पर एक वृद्धिरूप प्रथमा ए० व० भी बनाया जा सकता है, जो -स् विभक्ति-चिह्न से विशिष्ट नहीं है, ठीक उसी तरह जैसे न्-, र्- और स्- अन्त वाले शब्द : सखा 'मित्र' (मूल शब्द सखि-) पिता, राजा की तरह। संस्कृत में यह शब्द, जिसमें उदात्त स्वर गौणतः प्रकृत्यंश पर स्थानान्तरित किया हुआ अनुमानित किया जा सकता है, इकारान्त शब्द से बने इस प्रकार के रूप का एकमात्र उदाहरण बचा रहा है। सामान्य नियम के रूप में प्रथमा तथा द्वितीया (कर्ता तथा कर्म में) -इस्, -इम् और -उस्, -उम् जैसे रूपों का आदेश पाया जाता है और यह रूप भा० यू० के प्राचीन युग तक जाते हैं। वृद्धि, जो द्वितीया ए० व० तथा प्रथमा ब० व० (सखायं, सखायः) में मिलती है, अन्यत्र (दातारम्, आदि) की तरह प्रथमा ए० व० रूप का विस्तार है। मूलतः इन स्थितियों में गुण ठीक था। अवेस्ता में गुण वाले कतिपय द्वितीया (कर्म) ए० व० रूप सुरक्षित हैं (कवएम् kavaēm, फ़ादत्- फ्शओम् fradat̰-fšaom)। संस्कृत में ऐसे रूप नहीं हैं, किन्तु सामान्य शब्दरूपों के प्रथमा ब० व० में नियत गुण सुरक्षित है (अग्नयः, सूनवः)।

उदात्त स्वरयुक्त तथा गुणरूप प्रत्ययांश चतुर्थी तथा षष्ठी एकवचन में भी हो सकता था (अ॒ग्नये॑, अ॒ग्नेः) और यह रूप संस्कृत में पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग शब्दों के लिये सामान्य बन गया है। पि॒त्रे आदि के सादृश्य पर उदात्त स्वर विकल्प से विशेषण रूप शब्दों में विभक्त्यंश पर भी हो सकता था, जिससे इनमें इनके शब्दरूप नपुंसक शब्दरूपों से भेदीकृत नहीं किए गए। उदात्त स्वर के स्थान-परिवर्तन के अतिरिक्त यह वैकल्पिक प्रकार चतुर्थी सख्ये॑ में सुरक्षित है और साथ ही पत्ये॑ में भी, यदि यह शब्द विशेषणरूप मूल का है। अवेस्ता हख़ा (haxā) 'मित्र' शब्द के रूप सखा॑ के शब्दरूपों से सामान्यतः मिलते-जुलते हैं (कर्ता ए० व० हख़ा haxā, कर्म हख़ाइम् haxāim, सम्प्रदान हशे haše, आदि) और इस तरह इसे भारत-ईरानी स्थिर किया जा सकता है। षष्ठी ए० व० में यह शब्द पारिवारिक सम्बन्धबोधक ऋकारान्त शब्दों के रूपों द्वारा प्रभावित हुआ है (पि॒तुः के ढंग पर सख्युः)। प्राचीन निर्विभक्तिक सप्तम्यन्त रूप के स्थान पर एक अन्य रूप आ गया है, जिसमें चतुर्थी ए० व० आदि का -य्- जोड़ दिया गया है (सख्यौ॑)। ठीक इसी तरह का एक रूप पति॑ के सम्बन्ध में भी मिलता है (पत्यौ॑)।

यद्यपि वृद्धिरूप प्रथमा ए० व० जो सखा॑ में मिलता है, संस्कृत में अकेला है, तथापि इस बात के चिह्न अनुपलब्ध नहीं हैं कि इकारान्त-उकारान्त शब्दों, विशेषण तथा कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों, में यह मूलतः अधिक प्रचलित था। अवेस्ता में कवि शब्द, जो संस्कृत में सामान्य रूप बन गया है, अभी भी ठीक इसी रूप में विभक्ति-चिह्न का प्रयोग करता है: प्रथमा (कर्ता) ए० व० कवा (kavā)। द्वितीया (कर्म) ए० व० में इस शब्द में मूल गुणरूप है (कवएम् kavaēm; अर्थात् कवयम्, तुल० पि॒तर॑म्), जो संस्कृत सखा॑यम् अवे० हख़ाइम् (haxāim) में उपलब्ध वृद्धि के विरुद्ध है। अवेस्ता में षष्ठी ए० व० में सामान्यतः गुणरूप प्रत्ययांश मिलता है, किन्तु एकबार आपाततः इसके रूप अनियमित नपुंसक शब्दों के सादृश्य पर बनाए गए हैं (कॅवीनो kəvīnō, तुल० वारिणः)।

कतिपय उकारान्त शब्दों के सम्बन्ध में ईरानी उपशाखा में एक वृद्धिरूप प्रथमा (कर्ता) ए० व० -आउश् में मिलता है: अवे० हिथ़ाउश् (hiθāuš) 'साथी', उज़्बाज़ाउश् (uzbāzāuš) 'उद्बाहु' (और उग्र॑), प्रा० फारसी दह्याउश् (dahyāuš)। ये रूप स्- रहित (asigmatic) वृद्धिजनित प्रथमा ए० व० -स् के गौण तत्त्व को जोड़कर विकसित हुए हैं। इस प्रकार के सविभक्तिक रूपों की विशेषणप्रकृति उज़्बाज़ाउश् (uzbāzāuš) और बाज़ुश् 'बाहु' (bāzuš) को साथ-साथ रखने से स्पष्ट हो जाती है। द्वितीया ए० व० में हमें प्राचीन गुणरूप सुरक्षित मिल सकता है (अवे० दइङ्हओम् dainhaom),

अथवा प्रथमा ए० व० से विस्तारित वृद्धिरूप (प्रा० फारसी दह्याउम् dahyāum, अवे० नासाउम् nāsāum 'मृतात्मा')। द्वितीया (कर्म) ए० व० पसुम् (pasum) 'घरेलू जानवर' और फ़्रादत्-फ़्सओम् (frādat-fsaom) 'अभिवृद्धमान पशुधन' इस प्रकार के सविभक्तिक रूपों की विशेषण-प्रकृति को निर्दिष्ट करते हैं। ठीक ऐसा ही परिवर्तन अर्श्तिम् (árštim) 'भाला' और दरॅगो-अर्श्तएम् (darəgō-arštaēm) 'लम्बे भालेवाला' में है। षष्ठी (सम्बन्ध) ए० व० में ये शब्द या तो नपुंसक से सर्वथा भिन्न प्राचीन ढंग के सविभक्तिक रूपों का प्रयोग करते हैं (उज़्बाज़्वो uzbāzvō), गुणयुक्त सामान्य रूप (दइङ्-हॉउश् daiŋhə̄uš), अथवा बाद के वृद्धियुक्त नवीन रूप (नसावो nasāvō)।

ग्रीक में विशेषण तथा कर्त्रर्थक संज्ञाशब्द उकारान्त शब्दों के सम्बन्ध में दो भिन्न वर्गों में बँट गए हैं। संस्कृत की तरह विशेषण शब्दों ने प्रथमा-द्वितीया ए० व० में –उस्, –उम् (–उन्) विभक्ति-चिह्नों को अपना लिया है (पॉलुस् polús : पुरुः) और इसके साथ ही मूल प्रत्ययांशवाला उदात्त सुरक्षित है। दूसरी ओर कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों का वर्ग (बसिलेउस् basileús, गॉनेउस् gonéus, फोनेउस् phoneús, आदि) प्राचीन वृद्धिरूप प्रथमा (कर्ता) ए० व० के आधार पर विकसित हुआ है, जिसके साथ ईरानी की तरह गौणत; –स् जोड़ दिया गया है (–एउस् –ēus के लिये –ऍउस्-eús)। शब्दरूपों के साथ वृद्धि पायी जाती है, जैसा कि कतिपय अन्य वर्गों के सम्बन्ध में है (बसिलेवॉस् basilē(w)os, तुल० दॉतेरॉस् dotēros)।

पुनः संस्कृत की ओर आते हुए पता चलता है कि सम्भवतः सखा के समानान्तर रूप-निर्माण का एक उदाहरण है: ऋग्वेद ८, ३२, १६ न सोमो अप्रता पपे 'बिना प्रायश्चित्त के सोम नहीं पिया जाता' में अप्रता, (प्रति–, तुल० लैटिन प्रेतिउम् pretium)। इसे प्रायः सप्तमी ए० व० माना जाता है, किन्तु वैदिक भाषा में अ– युक्त विशेषणेतर समस्त पद सामान्य प्रयोग के विरुद्ध है, अतः इसे बहुव्रीहि समास मानकर प्रथमा ए० व० के रूप में लेना सम्भवतः अधिक ठीक है।

सविभक्तिक प्रकार जिसके चिह्न उज़्बाज़ाउश् (uzbāzauš) जैसे उदाहरणों के रूप में अवेस्ता में सुरक्षित हैं, संस्कृत द्यौः 'आकाश' के रूप में सुरक्षित है। इसे रूढ़ि के अनुसार मिश्र स्वर से अन्त होनेवाला मूल शब्द माना गया है, किन्तु अन्यत्र यह वर्गीकरण ठीक नहीं। एक ओर सामान्य इकारान्त-उकारान्त शब्द अपने आप में अंशतः मिश्र स्वरान्त हैं (अग्नेः, सूनोः) और दूसरी ओर यह शब्द अपने सविभक्तिक रूपों के कुछ अंश में मिश्र स्वरयुक्त नहीं हैं (षष्ठी

दि– व्– अस् (दिवः), तुल० मध्– व्– अस् (मध्वः))। यह उकारान्त/ एउकारान्त विशेषण रूप द्य्– एउ (द्येउ) शब्द है, जिसमें सामान्य नियम के अनुसार प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर तथा उसका गुण या वृद्धिरूप पाया जाता है। प्रथमा (कर्ता) ए० व० में –स् का समायोग गौण किन्तु भा० यू० युग का है (द्यौः : ज़्ेउस् zeús)। एकवचन के तिर्यक् विभक्ति रूपों में अत्यधिक प्रचलित विभक्त्यंश पर उदात्त स्वरवाला अविशिष्ट रूप मिलता है (दिवः, ग्रीक दिॲास् diós), किन्तु प्रत्ययांश पर स्वरपात और गुणवाला विशिष्ट विशेषण रूप भी मिलता है (द्योः : अवे० द्यॲोश् dyaoš)। इसी के साथ गौः 'गाय' (चतुर्थी गवे, षष्ठी गोः) वर्गीकृत किया जाना चाहिए, जिसका स्वरपात और रूपनिर्माण इसे विशेषणवाले प्रत्यय से युक्त निर्दशित करता है (ग्– ओ–, गो, अर्थात् ग्व् ?₃– एउ; g– ó– अर्थात् g^wH_3– eú, तुल० ग्रीक बोस्को bóskō)। यह शब्द विशेषण शब्दों के वर्ग की तरह रूपनिर्माण करता है और बहुवचनान्त रूपों में (तृतीया गोभिः, आदि) गुण का प्रयोग करने में दूसरे उकारान्त-ओकारान्त शब्दों से भी आगे बढ़ जाता है। द्वितीया ए० व० में द्याम्, गाम् जैसे रूप *द्यउम् *गउम् से बने मालूम होते हैं, जो प्रथमा ए० व० के सादृश्य पर वृद्धि से युक्त हैं और जिनमें –म् के पूर्व मिश्र स्वरध्वनि के अन्तिम तत्त्व का लोप हो गया है।

वि– 'पक्षी' मूल शब्द प्रा० भा० यू० नपुंसक *ओवि (*ōwi) 'अण्डा' (जिससे अ विकरण जोड़कर ग्रीक ओइॲान् ōion है) के आधार पर बना विशेषण रूप है और प्रत्ययांश पर उदात्त स्वरपात आदि स्वरध्वनि के पूर्ण लोप के रूप में परिणत हुआ है (जो लैटिन अविस् avis के विरुद्ध है)। ऋग्वेद में इसका प्रथमा ए० व० रूप गुण तथा प्रथमा ए० व० के विभक्ति-चिह्न –स् से युक्त वेः मिलता है। इस रूप का कोई समानान्तर नहीं है।

एक प्राचीन प्रथमान्त रूप अग्ना (इ), व्युत्पन्न रूप अग्नायी 'अग्नि की पत्नी' से बना ज्ञात होता है और यह समस्त पद अग्नाविष्णू 'अग्नि और विष्णु' (तुल० मातापितरौ) में भी मिलता है। ठीक इसी तरह मनावी 'मनु की स्त्री' एक प्राचीन प्रथमान्त रूप *मनौ पर आधृत है। इस विशेषण रूप वृद्धिजनित प्रथमान्त रूप से भी अधिक महत्त्वपूर्ण रूप उसमें पूर्णतया सुरक्षित है, जो सप्तमी ए० व० : अग्ना (अग्नौ), सूनौ में मिलते हैं। यह रूप निर्विभक्तिक सप्तम्यन्त रूपों के विशिष्ट विशेषण रूप हैं, जो प्रत्येक दृष्टि से उन रूपों से अभिन्न हैं, जो मूलतः प्रथमा ए० व० का काम करते थे। इस प्रक्रिया में वे –इस्, –उस् अन्तवाले रूपों के द्वारा सामान्यतः हटा दिए गए हैं, किन्तु अपने सप्तम्यन्त प्रयोग में वे सुरक्षित रख दिए गए हैं।

इस प्रकार –इस्, –इम्, –उस्, –उम् विभक्ति-चिह्न भा० यू० में नये हैं और यह तथ्य प्रत्ययांश के दुर्बल रूप के साथ उदात्त स्वरपात (पुरुः) का कारण है। फिर भी ये काफी प्राचीन हैं और ये विभिन्न भाषाओं में सामान्य रूप बन गए हैं (हित्ती शल्लिश् šalliš 'महान्' अश्शुश् aššuš 'अच्छा', ग्रीक पॅालुस् polús, लिथुआनी लिपुस् lipus 'लिबलिबा', गॉथिक कउरुस् kaúrus 'भारी', आदि)। इनका मूल इस तथ्य में ढूँढ़ना होगा कि पुंल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग इकारान्त-उकारान्त शब्दों में दोनों वर्ग परस्पर टकरा गए हैं। विशेषण-वर्ग में वास्तविक विशेषण (पुरु–, आदि) और विशेषण के ढंग के संज्ञाशब्द (सूनु–, आदि) हैं, इनके साथ क्रियार्थक संज्ञाशब्दों का एक बड़ा वर्ग (गति–, सेतु, आदि) भी जोड़ दिया गया है, जो प्राचीन युग में नपुंसक वर्ग से स्थानान्तरित कर दिए गए थे। इससे अ– विकरणयुक्त शब्द के सादृश्य पर प्रथमा-द्वितीया ए० व० –स् तथा –म् विभक्ति-चिह्न जोड़ना शुरू हुआ और इस तरह –इस्, –इम्, –उस्, –उम् वाले रूप बन गए। इन दो वर्गों के सामान्य पुंल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग शब्दरूपों में मिश्रण के कारण प्रथमा-द्वितीया में इस प्रकार के रूप साधारणीकृत हो गए, किन्तु चतुर्थी और षष्ठी ए० व० विशेषण वर्ग के साथ नियत रूप साधारणीकृत हैं (अग्नेः के ढंग पर गतेः आदि)।

संस्कृत में इकारान्त-उकारान्त शब्दों में प्रचलित विभक्ति-चिह्नों के प्रकार दूसरी भा० यू० भाषाओं में भी मिलते हैं : तुल० षष्ठी (सम्बन्ध) ए० व० गॉथिक अन्स्तइस् (anstais), सुनउस् (sunaus), लिथुआनी नक्तेस् (naktẽs), सूनउस् (sūnaũs), चतुर्थी (सम्प्रदान) ए० व० प्रा० स्ला० सूनोवि (synovi)। हित्ती तथा ग्रीक में सम्बन्ध ए० व० के अह्रस्वीकृत विभक्ति-चिह्न से युक्त रूप (हित्ती शल्लइअश् šallaiaš, अश्शवश् aššáwaš, ग्रीक ओथेओस् ótheos, हेदेओस् hedéos) को इस वर्ग के स्थान पर आये नये आदेश माना जा सकता है।

उकारान्त शब्दों के सप्तमी ए० व० का –औ (सूनौ) इकारान्त शब्दों (अग्नौ) में भी उपस्थित कर दिया गया है, किन्तु वैदिक भाषा में अग्ना (अर्थात् अग्ना (इ)) भी है। निर्विभक्तिक सप्तम्यन्त रूप दूसरी भा० यू० भाषाओं में भी मिलता है (गॉथिक अन्स्तइ anstai, सुनउ sunau, प्रा० स्ला० सूनु synu, आदि), किन्तु यह निश्चित करना सम्भव नहीं कि इन स्थितियों में दीर्घ तथा ह्रस्व मिश्र स्वर है।

चतुर्थी, पञ्चमी-षष्ठी तथा सप्तमी ए० व० के विशिष्ट स्त्रीलिङ्ग सुबन्त रूप (गत्यै, गत्याः, गत्याम्; धेन्वै, धेन्वाः, धेन्वाम्) ईकारान्त शब्दरूपों से ले लिए

गए हैं। ये रूप ऋग्वेद तक कम हैं, किन्तु प्राक्शास्त्रीय संस्कृत साहित्य में अत्यधिक प्रचलित हैं। वैयाकरणों ने स्त्रीलिङ्ग संज्ञाशब्दों की इन विभक्तियों में विकल्प से इन रूपों (गत्यै, आदि) अथवा सामान्य पुँल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग सुबन्त रूपों (गतये, आदि) का विकल्प से विधान किया है।

८. आकारान्त, ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दरूप

—आ : ए० व० प्रथमा सेना, द्वितीया सेनाम्, तृतीया सेनया, चतुर्थी सेनायै, पञ्चमी–षष्ठी सेनायाः, सप्तमी सेनायाम्, सम्बोधन सेने; द्वि० व० प्रथमा-द्वितीया-सम्बोधन सेने, तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी सेनाभ्याम्, षष्ठी-सप्तमी सेनयोः, ब० व० प्रथमा-द्वितीया-सम्बोधन सेनाः, तृतीया सेनाभिः, चतुर्थी-पञ्चमी सेनाभ्यः, षष्ठी सेनानाम्, सप्तमी सेनासु।

—ई : (क) ए० व० प्रथमा वृकीः, द्वितीया वृक्यम्, तृतीया वृक्या, चतुर्थी वृक्ये, पञ्चमी-षष्ठी वृक्यः, सप्तमी गौरी; द्वि० व० प्रथमा-द्वितीया-सम्बोधन वृक्या (वृक्यौ), तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी वृकीभ्याम्, षष्ठी-सप्तमी वृक्योः; ब० व० प्रथमा-द्वितीया-सम्बोधन वृक्यः, तृतीया वृकीभिः, चतुर्थी-पञ्चमी वृकीभ्यः, षष्ठी वृकीणाम्, सप्तमी वृकीषु।

(ख) ए० व० प्रथमा देवी, द्वितीया देवीम्, तृतीया देव्या, चतुर्थी देव्यै, पञ्चमी-षष्ठी देव्याः, सप्तमी देव्याम्, सम्बोधन देवि; द्वि० व० प्रथमा-द्वितीया देवी (देव्यौ), तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी देवीभ्याम्, षष्ठी-सप्तमी देव्योः; ब० व० प्रथमा देवीः (देव्यः), द्वितीया देवीः, तृतीया देवीभिः, चतुर्थी-पञ्चमी देवीभ्यः, षष्ठी देवीनाम्, सप्तमी देवीषु।

—ऊ : ए० व० प्रथमा तनूः, द्वितीया तन्वम्, तृतीया तन्वा, चतुर्थी तन्वे, पञ्चमी-षष्ठी तन्वः, सप्तमी तन्वि, सम्बोधन तनु; द्वि० व० प्रथमा-द्वितीया-सम्बोधन तन्वौ, तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी तनूभ्याम्, षष्ठी-सप्तमी तन्वोः; ब० व० प्रथमा-द्वितीया तन्वः, तृतीया तनूभिः, चतुर्थी-पञ्चमी तनूभ्यः, षष्ठी तनूनाम्, सप्तमी तनूषु।

इन वर्गों के संज्ञाशब्दों में समान रूप से एक भा० यू० प्रत्यय–? (–H) पाया जाता है (–अ?, –इ–?, –उ–? > आ, ई, ऊ)। इस प्रत्यय को जोड़कर क्रियाबोधक संज्ञाशब्द बनाए जाते थे, जो मूलतः सामान्य नपुंसक वर्ग (तुल० –अस्, –इस्, –उस् अन्तवाले नपुंसक शब्द) से भिन्न नहीं थे और साथ ही विशेषण भी जो अन्ततः स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप में विशेषीकृत हो गए। इकारान्त शब्दों में उपलब्ध द्विवचनान्त रूप, इन दो वर्गों के भेद में देखा जा सकता है, क्योंकि जहाँ वृकी वर्ग नपुंसक तथा विशेषण वर्ग—दोनों में मिलने वाली प्रक्रिया

के अनुसार शब्दरूपों की रचना करता है, वहाँ देवी वर्ग के शब्दरूप विशिष्ट प्रकार के विशेषण प्रकृति के सविभक्तिक रूपों (देव्याः आदि) का वहन करते हैं, जिनमें प्रत्ययांश का सबल रूप मूल विशेषणगत उदात्त स्वरपात के कारण है।

वृकी वर्ग के शब्द क्रियाबोधक संज्ञाशब्द (देही 'परकोटा') और विशेषण वर्ग के संज्ञाशब्द, पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग (रथी– 'रथवाला', वृकी 'मादा भेड़िया') दोनों से युक्त हैं। पूर्ववर्ती शब्दों में उदात्त स्वरपात प्रत्ययांश पर आ गया है, जहाँ यह समस्त शब्दरूपों में है, ठीक उसी तरह जैसे –इष् अन्तवाले शब्दों में हुआ है (हविः, हविषः, उसी तरह इ?, इ? ओस्, –iH, –iHos)। विशेषण वर्ग में शब्द का सबल रूप (*वृक्या) जिसका मूल अस्तित्व सामान्य प्रक्रिया के और स्वर-प्रक्रिया (ध्रिता, आदि) के आधार पर अनुमानित करना होगी, दुर्बल रूप के द्वारा हटा दिया गया है, और यह प्रक्रिया ऐसी है, जिसकी समानान्तर प्रक्रिया –इन् अन्तवाले शब्दों (बली, बलिनः) में ढूँढ़नी होगी। इन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप और ? (H) प्रत्यय वाले क्रियाबोधक संज्ञा-शब्दों द्वारा स्त्रीलिङ्ग के ग्रहण के कारण ये दोनों वर्ग शब्दरूपों में एक-दूसरे से घुल-मिल गए हैं।

ठीक इसी तरह के दो वर्ग ऊकारान्त शब्दों ((१) तनू 'शरीर' (२) श्वश्रू– 'सास') में भी मिलते हैं और इनका मिश्रण भी इसी ढंग से हुआ है।

चूँकि प्रथमा ए० व० का –स् मूलतः ?– (–H) अन्तवाले शब्दों की विशेषता नहीं था, जिनमें अन्यत्र यह हमेशा अनुपलब्ध रहा है, इन दो वर्गों में इसका अस्तित्व ई तथा ऊ अन्तवाले शब्दों से लिया गया माना जाना चाहिए, जिनके रूप ठीक इसी तरह चलते हैं (धीः, धियः, भूः, भुवः)। शेष के लिये शब्दरूप सामान्य हलन्त वर्ग के हैं, जिन पर कुछ टिप्पणी की आवश्यकता है। मूल शब्द तथा विभक्त्यंश वेद में भिन्न-भिन्न अक्षरों के रूप में उच्चरित होते हैं (तनुवस्, आदि), यद्यपि उसे परवर्ती ढंग (तन्वम्, आदि) से ही लिखा जाता है। सामान्य प्रकृति का सप्तमी एकवचनान्त रूप चम्वि, तन्वि, आदि में मिलता है, निर्विभक्तिक रूप चमू, आदि में। ईकारान्त शब्दों के –ई अन्त-वाले कतिपय सप्तम्यन्त रूप या तो संकोचप्रक्रिया (<*इयि<*इ ? इ, *iHi) के परिणाम हो सकते हैं, अथवा निर्विभक्तिक सप्तम्यन्त रूप हो सकते हैं। षष्ठी ब० व० में –न्– का प्रयोग अजन्त शब्दों के सामान्य सादृश्य पर होने लगा है।

देवी वर्ग सामान्यतः विकरणहीन, और कतिपय विकरणयुक्त (राज्ञी, दात्री, पृथ्वी, कल्याणी) स्त्रीलिङ्ग शब्दों में भी मिलता है। यह इस प्रकार प्रधानतः एक विशेषणसम्बन्धी प्रत्यय है और इस प्रकार के शब्दों का उदात्त स्वरपात

गए हैं। ये रूप ऋग्वेद तक कम हैं, किन्तु प्राक्शास्त्रीय संस्कृत साहित्य में अत्यधिक प्रचलित हैं। वैयाकरणों ने स्त्रीलिङ्ग संज्ञाशब्दों की इन विभक्तियों में विकल्प से इन रूपों (गत्यै, आदि) अथवा सामान्य पुंल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग सुबन्त रूपों (गतये, आदि) का विकल्प से विधान किया है।

८. आकारान्त, ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दरूप

–आ : ए० व० प्रथमा सेना, द्वितीया सेनाम्, तृतीया सेनया, चतुर्थी सेनायै, पञ्चमी–षष्ठी सेनायाः, सप्तमी सेनायाम्, सम्बोधन सेने; द्वि० व० प्रथमा-द्वितीया-सम्बोधन सेने, तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी सेनाभ्याम्, षष्ठी-सप्तमी सेनयोः, ब० व० प्रथमा-द्वितीया-सम्बोधन सेनाः, तृतीया सेनाभिः, चतुर्थी-पञ्चमी सेनाभ्यः, षष्ठी सेनानाम्, सप्तमी सेनासु।

–ई : (क) ए० व० प्रथमा वृकीः, द्वितीया वृक्यम्, तृतीया वृक्या, चतुर्थी वृक्ये, पञ्चमी-षष्ठी वृक्यः, सप्तमी गौरी; द्वि० व० प्रथमा-द्वितीया-सम्बोधन वृक्या (वृक्यौ), तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी वृकीभ्याम्, षष्ठी-सप्तमी वृक्योः; ब० व० प्रथमा-द्वितीया-सम्बोधन वृक्यः, तृतीया वृकीभिः, चतुर्थी-पञ्चमी वृकीभ्यः, षष्ठी वृकीणाम्, सप्तमी वृकीषु।

(ख) ए० व० प्रथमा देवी, द्वितीया देवीम्, तृतीया देव्या, चतुर्थी देव्यै, पञ्चमी-षष्ठी देव्याः, सप्तमी देव्याम्, सम्बोधन देवि; द्वि० व० प्रथमा-द्वितीया देवी (देव्यौ), तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी देवीभ्याम्, षष्ठी-सप्तमी देव्योः; ब० व० प्रथमा देवीः (देव्यः), द्वितीया देवीः, तृतीया देवीभिः, चतुर्थी-पञ्चमी देवीभ्यः, षष्ठी देवीनाम्, सप्तमी देवीषु।

–ऊ : ए० व० प्रथमा तनूः, द्वितीया तन्वम्, तृतीया तन्वा, चतुर्थी तन्वे, पञ्चमी-षष्ठी तन्वः, सप्तमी तन्वि, सम्बोधन तनु; द्वि० व० प्रथमा-द्वितीया-सम्बोधन तन्वौ, तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी तनूभ्याम्, षष्ठी-सप्तमी तन्वोः; ब० व० प्रथमा-द्वितीया तन्वः, तृतीया तनूभिः, चतुर्थी-पञ्चमी तनूभ्यः, षष्ठी तनूनाम्, सप्तमी तनूषु।

इन वर्गों के संज्ञाशब्दों में समान रूप से एक भा० यू० प्रत्यय–? (–H) पाया जाता है (–अ?, –इ–?, –उ–? > आ, ई, ऊ)। इस प्रत्यय को जोड़कर क्रियाबोधक संज्ञाशब्द बनाए जाते थे, जो मूलतः सामान्य नपुंसक वर्ग (तुल० –अस्, –इस्, –उस् अन्तवाले नपुंसक शब्द) से भिन्न नहीं थे और साथ ही विशेषण भी जो अन्ततः स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप में विशेषीकृत हो गए। इकारान्त शब्दों में उपलब्ध द्विवचनान्त रूप, इन दो वर्गों के भेद में देखा जा सकता है, क्योंकि जहाँ वृकी वर्ग नपुंसक तथा विशेषण वर्ग—दोनों में मिलने वाली प्रक्रिया

के अनुसार शब्दरूपों की रचना करता है, वहाँ देवी वर्ग के शब्दरूप विशिष्ट प्रकार के विशेषण प्रकृति के सविभक्तिक रूपों (देव्याः आदि) का वहन करते हैं, जिनमें प्रत्ययांश का सबल रूप मूल विशेषणगत उदात्त स्वरपात के कारण है।

वृकी वर्ग के शब्द क्रियाबोधक संज्ञाशब्द (देही 'परकोटा') और विशेषण वर्ग के संज्ञाशब्द, पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग (रथी– 'रथवाला', वृकी 'मादा भेड़िया') दोनों से युक्त हैं। पूर्ववर्ती शब्दों में उदात्त स्वरपात प्रत्ययांश पर आ गया है, जहाँ यह समस्त शब्दरूपों में है, ठीक उसी तरह जैसे –इष् अन्तवाले शब्दों में हुआ है (हविः, हविर्षः, उसी तरह इ?, इ? ओस्, –íH, –iHos)। विशेषण वर्ग में शब्द का सबल रूप (*वृक्या) जिसका मूल अस्तित्व सामान्य प्रक्रिया के और स्वर-प्रक्रिया (पिता, आदि) के आधार पर अनुमानित करना होगी, दुर्बल रूप के द्वारा हटा दिया गया है, और यह प्रक्रिया ऐसी है, जिसकी समानान्तर प्रक्रिया –इन् अन्तवाले शब्दों (बली, बलिनः) में ढूँढ़नी होगी। इन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप और ? (H) प्रत्यय वाले क्रियाबोधक संज्ञा-शब्दों द्वारा स्त्रीलिङ्ग के ग्रहण के कारण ये दोनों वर्ग शब्दरूपों में एक-दूसरे से घुल-मिल गए हैं।

ठीक इसी तरह के दो वर्ग ऊकारान्त शब्दों ((१) तनू 'शरीर' (२) श्वश्रू– 'सास') में भी मिलते हैं और इनका मिश्रण भी इसी ढंग से हुआ है।

चूँकि प्रथमा ए० व० का –स् मूलतः ?– (–H) अन्तवाले शब्दों की विशेषता नहीं था, जिनमें अन्यत्र यह हमेशा अनुपलब्ध रहा है, इन दो वर्गों में इसका अस्तित्व ई तथा ऊ अन्तवाले शब्दों से लिया गया माना जाना चाहिए, जिनके रूप ठीक इसी तरह चलते हैं (धीः, धियः, भूः, भुवः)। शेष के लिये शब्दरूप सामान्य हलन्त वर्ग के हैं, जिन पर कुछ टिप्पणी की आवश्यकता है। मूल शब्द तथा विभक्त्यंश वेद में भिन्न-भिन्न अक्षरों के रूप में उच्चरित होते हैं (तनुवस्, आदि), यद्यपि उसे परवर्ती ढंग (तन्वम्, आदि) से ही लिखा जाता है। सामान्य प्रकृति का सप्तमी एकवचनान्त रूप चम्वि, तन्वि, आदि में मिलता है, निर्विभक्तिक रूप चमू, आदि में। ईकारान्त शब्दों के –ई अन्त-वाले कतिपय सप्तम्यन्त रूप या तो संकोचप्रक्रिया (< *इयि < *इ ? इ, *iHi) के परिणाम हो सकते हैं, अथवा निर्विभक्तिक सप्तम्यन्त रूप हो सकते हैं। षष्ठी ब० व० में –न्– का प्रयोग अजन्त शब्दों के सामान्य सादृश्य पर होने लगा है।

देवी वर्ग सामान्यतः विकरणहीन, और कतिपय विकरणयुक्त (राज्ञी, दात्री, पृथ्वी, कल्याणी) स्त्रीलिङ्ग शब्दों में भी मिलता है। यह इस प्रकार प्रधानतः एक विशेषणसम्बन्धी प्रत्यय है और इस प्रकार के शब्दों का उदात्त स्वरपात

संस्कृत में परिवर्तनशील हो गया है, प्रायः उपलब्ध प्रत्ययांश वाला स्वरपात अधिक मूल रूप माना जा सकता है। प्रत्ययांश के सवल रूप, जिन्हें इस विशेषण सम्वन्धी स्वरपात के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी तथा सप्तमी ए० व० में मिलते हैं। प्रथमा तथा द्वितीया में प्रत्ययांश का दुर्वल रूप मिलता है, जिससे वहाँ इकारान्त-उकारान्त शब्दों में उपलब्ध रूपों के समानान्तर परिवर्तन है। सैद्धान्तिक मीमांसा संकेत करती है कि प्रथमा-द्वितीया ए० व० के दुर्वल रूप (और उसके अनुरूप प्रथमा ब० व० रूप) नये हैं, ठीक उसी तरह जैसे विशेषण रूप इकारान्त-उकारान्त शब्दों में ऐसे ही रूप हैं और इस तथ्य के कुछ प्रमाण सम्वद्ध भाषायें उपस्थित करती हैं। यह द्वितीया ए० व० के सम्वन्ध में अत्यधिक स्पष्ट है, जो ध्वन्यात्मक कारणों से मूल रूप नहीं हो सकता, चूँकि ये शब्द मूलतः हलन्त थे और *–इ ? अम् (*iHam) से केवल –इयम् (–यम्) ही वन सकता है। वाल्टो-स्लावी तथा जर्मन शाखाओं में सबल रूप द्वितीया ए० व० में मिलता है (लिथुआनी नेशुशिआँ nešušią, प्रा० स्ला० नेसुशाँ nesušą, गाॅथिक वन्द्य bandja, आदि) और यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि ये रूप नये हैं। दूसरी ओर ये भाषायें प्रथमा ए० व० में दुर्वल रूप रखती हैं (गाॅथिक फ्रियोन्दि frijondi, लिथुआनी वेज़न्ति vežanti, प्रा० स्ला० वेज़ाँश्ति vezęšti) और यह तथ्य इस बात का संकेत करता है कि दुर्वल रूप प्रथमा ए० व० में वहुत पहले ही स्थिर हो गया था। दूसरी ओर ग्रीक में प्रथमा ए० व० में *–य है (पोत्निअ pótnia, फ़ॅरोउस phérousa, मिअ mía), और इसे ध्वन्यात्मक दृष्टि से अन्य भाषाओं के ई के वरावर नहीं माना जा सकता, क्योंकि अन्यत्र की तरह भा० यू० –इ ?– (–i H–) का विकास 'ई' के रूप में होता है। अन्यत्र (नुम्फ numpha, आदि) की तरह यहाँ भी पदान्त –अ भा० यू० –अ ? (–a H) का प्रतिनिधित्व करता है और अन्यत्र उपलब्ध दीर्घ आ के विरुद्ध ह्रस्व स्वर इस ध्वनियोग की पूर्व-स्वरसन्धि के कारण उत्पन्न हुआ है। यह स्पष्ट है कि मिअ (mía) का उदात्त स्वर मूल रूप नहीं है, क्योंकि यह दुर्वलीभूत अक्षर पर है और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तिर्यक् विभक्तियों का स्वरपात (मिअस् miâs) मूलतः प्रथमा ए० व० में भी (*स्मिअ ? *smiá H) रहा होगा।

इकारान्त शब्दों के दो भिन्न वर्गों का परस्पर भेद, जो संस्कृत भाषा में पूरी तरह दिखाई पड़ता है, परवर्ती संस्कृत में सुरक्षित नहीं किया गया है। देवी वर्ग के शब्दरूप वृकी वर्ग के रूपों की वजाय सुरक्षित किए गए हैं, किन्तु यह प्रथमा-द्वितीया द्वि० व० तथा प्रथमा व० व० में परवर्ती वर्ग के शब्दरूपों को अपना लेता है : देव्यौ, देव्यः। उकारान्त शब्दों में देवी शब्द रूपों के

समानान्तर सुबन्त रूप ऋग्वेद में अत्यधिक न्यून हैं। परवर्ती भाषा में यह सामान्य रूप हो गया है : वुध्वै, वुध्वाः, वुध्वाम्, और यह विकास इकारान्त शब्दों के समानान्तर है।

कतिपय रूपों में विभक्ति-चिह्न तथा प्रत्यय का मिश्रण (देव्यै, देव्याः) विशिष्ट स्त्रीलिङ्ग सुबन्त रूपों को विकसित करता है जो परवर्ती काल में स्त्रीलिङ्ग इकारान्त-उकारान्त शब्दों के साथ प्रयुक्त होते हैं। सप्तमी ए० व० में एक विशिष्ट विभक्ति-चिह्न –म् है। यह –म् ईरानी (प्रा० फा० हरउवतिया harauvatiyā) में अनुपस्थित है, जो इस बात का सङ्केत करता है कि मूलतः सप्तम्यन्त रूप विभक्ति-चिह्न से रहित था। –स् का यह गौण योग अन्यत्र समानान्तर रूप में मिलता है : तुभ्यं : तुभ्यम्, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी द्वि० व० –भ्याम् : अवेस्ता ब्या।

आकारान्त शब्द, रूपकी दृष्टिसे ईकारान्त शब्दोंसे प्रभावित हुए हैं। चतुर्थी विभक्ति से आगे के ए० व० रूप –यै, –याः, –याम् जोड़कर बनाए जाते हैं, जो देवी शब्द के रूपों से लिए गए हैं। इस विशेषता में ईरानी भी हाथ बँटाती है : अवे० चतुर्थी ए० व० दएनयाइ (daēnayāi), आदि। प्राचीन भा० यू० विभक्ति-चिह्न अन्यत्र सुरक्षित है : षष्ठी ए० व० ग्रीक खोरास् (khṓrās) प्रा० लैटिन विआस् viās, गॉथिक गिबोस् gibōs, आदि।

९. अकारान्त शब्दरूप

ए० व० प्रथमा देवः, द्वितीया देवम्, तृतीया देवेन, चतुर्थी देवाय, पञ्चमी देवात्, षष्ठी देवस्य, सप्तमी देवे, सम्बोधन देव; द्वि० व० प्रथमा-द्वितीया-सम्बोधन देवौ, तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी देवाभ्याम्, षष्ठी-सप्तमी देवयोः, ब० व० प्रथमा देवाः, द्वितीया देवान्, तृतीया देवैः, चतुर्थी-पञ्चमी देवेभ्यः, षष्ठी देवानाम्, सप्तमी देवेषु।

नपुंसक प्रथमा-द्वितीया युगम्, द्वि० व० युगे, ब० व० युगानि।

संस्कृत भाषा में अकारान्त शब्दों का वर्ग सबसे अधिक संख्यावाला है (ऋग्वेद में समस्त नामिक शब्दों में ४९ प्रतिशत)। इनकी विशेषता शब्दरूपों में उदात्त स्वर का स्थान-परिवर्तन है और यह स्थिति हमेशा रही जान पड़ती है। अ-विकरणवाले ये शब्द या तो पुंल्लिङ्ग हैं, या नपुंसक लिङ्ग और ये केवल प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के रूपों में ही भिन्न हैं। यह शब्दरूप कुछ विशिष्ट लक्षणों से समन्वित है, जिन्हें संक्षेप में उपस्थित किया जा सकता है। इस शब्दरूप पर सार्वनामिक शब्दरूपों का काफी प्रभाव पड़ा है। तृतीया विभक्ति-चिह्न का –एन उसी स्रोत से लिया गया है। प्राचीन विभक्ति-चिह्न

–आ वैदिक भाषा में अभी भी मौजूद है, यद्यपि यह –एन से बहुत कम प्रचलित है। अवेस्ता में केवल –आ विभक्ति-चिह्न मिलता है। चतुर्थी ए० व० का भारत-ईरानी विभक्ति-चिह्न –आइ था, जो मूल शब्द के अन्तिम स्वर तथा विभक्ति-चिह्न –अइ के संकोच से उत्पन्न था और यह भा० यू० (ओ + एइ) से विकसित हुआ था : हओमाइ (haomāi), ग्रीक हिप्पोइ (hippōi), आदि। इसके साथ –अ, –आ परसर्ग विकल्प से जोड़ा जा सकता था, जैसे अवे० अहुराइ आ (ahurāi ā) और संस्कृत में यह तत्त्व हमेशा के लिये जुड़ गया है, जिससे विस्तृत विभक्ति-चिह्न –आय उत्पन्न हो गया है। पञ्चमी ए० व० जो केवल इसी शब्द के रूप में षष्ठी ए० व० से भिन्न है, भा० यू० से साक्षात् रूप में आया है (प्रा० लैटिन –ओद् –ōd आदि)।

भा० यू० में कोई सर्वसामान्य षष्ठी ए० व० का रूप नहीं है। बाल्टोस्लावी में प्राचीन पञ्चमी (अपादान) ए० व० ही षष्ठी (सम्बन्ध) ए० व० का भी काम करता है और अन्यत्र भी इन दोनों विभक्तियों के अभेद की दृष्टि से यह प्राचीन हो सकता है। इटैलिक और केल्टिक में –ई विभक्ति है, जो अ-विकरण-युक्त प्रत्यय के स्थान पर प्रयुक्त विशेषण-प्रत्यय –ई है। यह –ई संस्कृत में समी–कृ 'समान बनाना' जैसे प्रयोगों में मिलता है। हित्ती में अ-विकरणवाले वर्ग का षष्ठी ए० व० रूप प्रथमा ए० व० के समान है। वेद में रथस्पति जैसे बहुत थोड़े समस्त पद हैं, जिनमें सम्भवतः इस तरह का षष्ठी ए० व० रूप है। संस्कृत विभक्ति-चिह्न से मिलता-जुलता एक रूप ग्रीक और आर्मीनी में मिलता है (ग्रीक –ओइओ –oio, आर्मीनी –ओय्)। एक ऐसा ही रूप, किन्तु –य्– से रहित अन्यत्र मिलता है : गॉथिक वुल्फिस् (wulfis) (< *एसो, < *eso), प्रा० स्ला० –चेसो (česo) 'किसका'। ये विभक्ति-चिह्न सार्वनामिक शब्दों में उत्पन्न हुए अनुमानित किए जा सकते हैं, जैसा कि अन्यत्र हुआ है। –स्रो तथा –स्यो तत्त्व जो इस तरह के शब्द के प्रकृत्यंश के साथ जोड़े जाते हैं, उस रूप के निर्देशात्मक सर्वनाम जान पड़ते हैं।

सप्तमी ए० व० को मूल शब्द का अन्तिम स्वर और सामान्य विभक्ति-चिह्न –इ के रूप में विश्लिष्ट किया जाता है : ग्रीक ओइकोइ (oikoi, आदि)। प्रथमा ब० व० –आः (अ + अस्) ऐसे ही रूप में अन्यत्र मिलता है (गॉथिक वुल्फोस् wulfōs, ऑस्कन नुवलनुस् núvalanús), किन्तु इसके स्थान पर सर्वनामों से लिया गया –ओइ विभक्ति-चिह्न भी प्रचलित है (ग्रीक लुकोइ lukoi, लैटिन लुपी lupī, लिथुआनी विल्कइ vilkaī, तोखारी व यक्वि yakwi)। वैदिक भाषा में –आः विभक्ति-चिह्न को कभी-कभी –आसः के स्वार्थे रूप में विस्तृत कर दिया जाता है, यह विशेषता ईरानी में भी दिखाई

पड़ती है (अवे० आँङ्हो ånhō)। यह नवीन रूप शास्त्रीय संस्कृत में फिर लुप्त हो गया है, किन्तु कतिपय प्राचीन पालि रूपों में जीवित है (पंडितासे, आदि)। द्वितीया ब० व० की दीर्घ स्वरध्वनि प्रथमा ब० व० से अपनायी गयी है (मूल रूप ग्रीक (वैभाषिक) लुकॊन्स् lukonś, आदि में है)। षष्ठी ब० व० ने अपना –न्– दूसरे वर्गों से अपनाया है और यह नवीनता भारतीय आर्य तथा ईरानी दोनों में समान है (अवे० मश्यनँम् mašyanąm; प्रा० फारसी बगानाम् bagānām)। मूल विभक्ति-चिह्न केवल देॅवाञ् जन्म 'देवताओं की जाति' जैसे वाक्यांश में सुरक्षित है; तुल० अवे० स्तओरँम् staorąm; ग्रीक थ़ेओन् theōn, लैटिन दॆउम् deum, आदि।

वैदिक भाषा में तृतीया ब० व० में दो रूप मिलते हैं, –ऐः में और –एभिः में। ईरानी में अवेस्ता में –आइश् (–āiš) है और प्रा० फारसी में –अइबिश् (–aibiš)। अन्यत्र केवल –ऐः से मिलते-जुलते रूप मिलते हैं : ग्रीक लुकॊइस् (lúkoiś), लैटिन लुपीस् (lupīs), ऑस्कन नुव्लनुइस् (núvlanúis), लिथुआनी विल्कइस् (vilkaīs)। यह रूप उस रूप का बहुवचन जान पड़ता है, जो एकवचन में चतुर्थी में मिलता है। यदि ऐसा है तो यह रूप उस प्राचीन युग तक जाना चाहिए, जब कारक विभक्तियाँ एक-दूसरे से बाद के युग की अपेक्षा कम भिन्न की जाती थीं। –एभिः विभक्ति-चिह्न सार्वनामिक रूपों के आधार पर बनाया गया नया भारत-ईरानी रूप है। शास्त्रीय संस्कृत में यह नया रूप बाद में हटा दिया गया है, किन्तु यह इस विभक्ति के मध्य-भारतीय आर्य रूपों का आधार है (: पालि : एहि, प्राकृत –एहि (एहिं))। इसमें उपलब्ध –ए– सार्वनामिक प्रातिपदिकों के रूपों से लिया गया है, जो बहुवचन के अधिकांश रूपों में मिलता है (प्रथमा ब० व० ते, आदि)। यह चतुर्थी-पञ्चमी और सप्तमी ब० व० रूपों में भी मिलता है (–एभ्यः, –एषु)।

परिच्छेद ६

संख्यावाचक, सर्वनाम, अव्यय

१. संख्यावाचक

१ से १००० तक के संस्कृत संख्यावाचक शब्द भा० यू० से विकसित हुए हैं। इनकी रचना दशमलव पद्धति पर की गई है, समस्त संख्यावाचकों का आधार १ से १० तक के संख्यावाचक हैं। १ से १० तक के संख्यावाचक विशेषण हैं; इसी तरह ११ से १९ तक के वे शब्द भी, जो दश 'दस' के साथ समासयुक्त हैं। अधिक संख्यावाचक संभवतः समूहवाचक संज्ञाशब्द हैं, यद्यपि ज्यों-ज्यों भाषा विकसित होती गई है, उन्हें भी विशेषण के रूप में व्यवहृत करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। १ से ४ तक के संख्यावाचक तीनों लिगों में पूर्ण सविभक्तिक रूप हैं; ६ से १० तक के संख्यावाचक अनियमित तथा दुष्ट हैं और मूलतः निर्विभक्तिक प्रतीत होते हैं।

१. भा० यू० में १ संख्यावाचक के मूल में दो मूलशब्द जान पड़ते हैं, जिनमें एक (ओइ्-) का अर्थ 'अकेला' जान पड़ता है; दूसरे (सेम्-) का 'साथ में'। संस्कृत में एक 'एक' प्रथम मूलशब्द से -क प्रत्यय जोड़कर वनाया गया है, और इसके सुवन्त रूप सार्वनामिक शब्दरूपों की तरह चलते हैं। इससे बिलकुल मिलता-जुलता एकमात्र आर्यरूप अइक- है, जो हित्ती अभिलेखों में उपलब्ध है। अन्यत्र भिन्न प्रत्यय मिलते हैं : अवे० अएव- (aēva-), ग्रीक ओइओस् (oios) 'अकेला'; लैटिन ऊनुस् (ūnus), प्रा० आयरिश ओइन् (óin), गॉथिक अइन्स् (ains)। सेम्- मूलशब्द से इस संख्यावाचक के ग्रीक (हेइस्, hêis, मिअ mía : *सेम्स् *séms, *स्मिअ, smía) तथा तोखारी (अ सस् sas, ब. षेमे ṣeme) रूपों का संवंध है। यह मूल संस्कृत में अपने अतिदुर्बल रूप (स्म्- sm̥-) में सकृत् 'एक वार' (: अवे० हकॅरॅत्, hakərət) में तथा 'सर्मनस्'- (समनाः) 'एक मनवाले, एक-से मन वाले' कोटि के समस्त शब्दों में मिलता है। सम-, समान- 'एक-सा, वही' विशेषण इसीसे व्युत्पन्न हैं।

२. संख्यावाचक द्वौ (: ग्रीक दुओ dúó, लै० दुओ duo, प्रा० स्ला० द्व dva, आदि) अकारांत प्रातिपदिक के साधारण द्विवचनांत रूप की तरह है : प्रथमा-द्वितीया नपुं० द्वे (: प्रा० स्ला० द्वे dvě), तृतीया-चतुर्थी-पंचमी द्वाभ्याम्,

षष्ठी-सप्तमी द्वयोः (: प्रा० स्ला० द्वोयु dvoju)। इसका निर्विभक्तिक सविकरण (थिमैटिक) प्रातिपदिक ग्रीक रूप दुओ (duo) में मिलता है। इसका वैकल्पिक प्रातिपदिक –इ प्रत्यय जोड़कर बनाया जाता है, जो समस्त पदों (द्विपद् 'दो पैर वाला', ग्रीक दिपोउस् dípous, लैटिन बिपेस् bipes) तथा अनेक व्युत्पत्तिजन्य रूपों (द्वितीय 'दूसरा' आदि) में मिलता है। वास्तविक संख्यावाचक के अतिरिक्त एक अन्य प्रातिपदिक 'उभ' 'दोनों' है, जो इसी तरह रूपनिर्माण करता है। इसके ग्रीक अम्फो ámphō, लै० अम्बो ambō, प्रा० स्ला० ओब oba, लिथुआनी अबु abu, गॉथिक बइ bai, अंगरेजी बोथ् both, आदि से संबंध की वास्तविक प्रकृति पूरी तरह स्पष्ट नहीं है।

३. प्रातिपदिक 'त्रि–' में एक प्रत्यय –इ है, जो क्रमवाचक 'तृतीय–' में नहीं है। इसके सुबन्त रूप साधारण इकारांत (प्रथमा ब० व० त्रयः, ग्रीक त्रेइस् treís, आदि) विशेषणों की तरह चलते हैं, जिसका अपवाद षष्ठी ब० व० है, जहाँ प्राचीन रूप, त्रयाम् (: अवे० थ्रयँम् θrayąm, ग्रीक त्रिओन् triôn, आदि के विरुद्ध प्रथमा ब० व० से गुण रूप) का स्थान त्रयाणाम् ने ले लिया है। इसके सुबन्त रूपों में स्वरपरिवर्तन सुरक्षित है : तृतीया ब० व० त्रिभिः, जो विभिः 'पक्षियों के द्वारा' के विरुद्ध है।

४. यह संख्यावाचक मूलरूप क्वेत्– (k^{w}et–) के आधार पर बना है, जिसका मूल अर्थ 'कोण' के समान कोई वस्तु जान पड़ती है (तुल० लैटिन त्रिक्वेत्रुस् triquetrus, 'त्रिकोणात्मक'), जिससे 'चतुष्कोण' तथा इससे 'चार' वाले अर्थ का विकास हुआ है। पुंल्लिग तथा नपुंसक में (चत्वारः, चत्वारि; लैटिन क्वत्तुओर् quattuor, आदि) मूल प्रातिपदिक '–वर् प्रत्यय जोड़ कर बनाया जाता है, जिसके साथ प्रथमांत रूप में विशेषण वाले स्वर (accent) तथा वृद्धि का प्रयोग किया जाता है। अन्य विभक्तियों में (द्वितीया, चतुरः, आदि) सामान्य नियम के अनुसार प्रत्यय का दुर्बल रूप रहता है। नपुंसक संज्ञा शब्द *चत्वर् या इसका भा० यू० प्राक्रूप (prototype) अ-विकरणयुक्त (thematic) विकसित रूप चत्वर्– 'चतुष्कोण, चौराहा' के द्वारा पूर्वानुमित किया जाता है। अन्यत्र केवल र्– प्रत्यय मिल सकता है (ग्रीक दोरिक, तेतोरेस् tétores, लैटिन क्वतेर् quater), अथवा प्रत्यय के तत्त्वों का विपर्यय किया जा सकता है (अवे० चथ्रु– čaθru–)।

इन दोनों संख्यावाचक शब्दों का स्त्रीलिंग रूप (प्रथमा-द्वितीया तिस्रः, चतस्रः; अवे० तिश्नो, चतङ्रो) –सर् प्रत्यय के द्वारा बनाया जाता है, जो अन्यत्र खास तौर पर स्त्रीप्रत्यय बनने की प्रवृत्ति दिखाते हैं। तिस्रः में त्रि– का –र्– असावर्ण्य नियम के अनुसार लुप्त हो गया है। प्रथमा-द्वितीया का समान

रूप मूलतः द्वितीयांत है। सामान्य भा० यू० आनुमानिक रूप : *तिसोरेस् (*tisores), *क्वेतेसोरेस् (*k^{w}etesores) केल्टिक में प्रचलित हैं : प्रा० आयरिश तेओइर् (teoir), केथ़ेओइर् (cetheoir)।

५ से १० तक के संख्यावाचक शब्दों में पूर्ववर्ती शब्दों की अपेक्षा कम विकसित विभक्ति-प्रक्रिया पाई जाती है। अष्टौ 'आठ' के द्विवचनांत रूप के अतिरिक्त, ये प्रथमा-द्वितीया में विभक्ति-चिह्न का प्रयोग नहीं करते। वैदिक भाषा में ये शब्द अन्य विभक्तियों में भी निर्विभक्तिक रूप में मिल सकते हैं : पञ्च क्षितिषु 'पाँच कबीलों में', सप्त होतृभिः 'सात होताओं से' आदि। ग्रीक तथा लैटिन में समानान्तर शब्द निर्विभक्तिक हैं, तथा जर्मन शाखा में भी विशेषण रूप में प्रयुक्त होने पर ये निर्विभक्तिक रहते हैं। यह प्राचीनतम वस्तुस्थिति है। सविभक्तिक रूप का आरंभ परवर्ती भा० यू० काल में रक्खा जा सकता है; और नये सविभक्तिक प्रकार के साथ-साथ निर्विभक्तिक प्रकार वैदिक काल तक जीवित रहा है।

५. पञ्च (: ग्रीक पेन्ते pénte, लै० क्विंक्वे quinque, आदि) में, जो भा० यू० *पेङ्क्वे (*peŋk^{w}e) का प्रतिनिधि है, हमें निर्विभक्तिक सविकरण (थिमैटिक) प्रातिपदिक मिलता है। समास आदि के प्रमाण पर इस तरह के रूपों के, भा० यू० भाषा की आरंभिक स्थिति में स्वतन्त्र प्रचलन का अनुमान होता है और यह मनोरंजक प्रयोग है। मूलरूप *पेङ्क्व्– (peŋk^{w}–) बहुत संभव है वही है, जो अंगरेजी फ़िंगर (*पेङ्क्व्रो *peŋk^{w}ró–) तथा फ़िस्ट (fist) (< *पङ्क्व्स्ति *pŋk^{w}sti–, तुल० प्रा० स्लावी पेँस्ति pęstĭ वही) में मिलता है। इसमें बने 'पङ्क्ति–' (: प्रा० स्लावी पेँति pętĭ पाँच) का अर्थ ऋग्वेद तथा बाद में केवल 'पाँच का समूह' न होकर अधिक सामान्यतः 'समूह, वर्ग' हो गया है।

६. संस्कृत षट् (<* षट्ष् <सट्ष्, पदादि ध्वनि के समीकरण से) भा० यू० *सेक्‌स् (seks) : तुल० लैटिन सेक्स (sex), गॉथिक सइह्स् (saíhs) आदि। भा० यू० में इस शब्द के रूप अधिक जटिल हैं, क्योंकि यहाँ स्व्– (वेल्श्) ख़्वेख़् (chwech), क्स्– (ग्रीक ज़ेस्त्रिज़् (zéstriz) 'छः-छः की पंक्तियों में', प्रा० स्ला० शेश्ति (šeštĭ) 'छः', क्स्व्– (अवे० ख़्श्वश् (xšvaš) और केवल व्– (आर्मीनी वेच्, (veç), प्रा० प्रशियन उस्ख़्त्स् (uschts) 'छठा') से आरम्भ होने वाले रूप भी मिलते हैं। मूल पदादि संयुक्त व्यञ्जन ध्वनियों को अलग-अलग भाषाओं में भिन्न-भिन्न रूप से सरल बना दिया गया है। मध्य-भारतीय आर्यभाषा का छ संस्कृत रूप से भिन्न अन्य मूल रूप तक जाता है, जो क्ष्– से आरम्भ होता है।

७. सप्त (ग्रीक हॆप्त (hepta)) का पदान्त अ भा० यू० (अक्षर-संघटनाकारी) –म् (–m̥) का प्रतिनिधित्व करता है, जो केवल लैटिन सॆप्तॆम् (septem) से ही नहीं, किन्तु क्रमवाचक संख्याशब्द सप्तम– से भी स्पष्ट है। ग्रीक तथा संस्कृत की समानता इस बात का सङ्केत करती है कि पदान्त अक्षर पर उदात्त स्वर का प्रयोग भा० यू० (septm̥) में ही कभी का विद्यमान था, किन्तु यह वास्तविक मूल रूप नहीं हो सकता, क्योंकि उदात्त स्वर समाहृत अक्षर (reduced syllable) पर प्रतीत होता है।

८. अष्टौ (: ग्रीक ऑक्तो (oktṓ), लैटिन ऑक्तो, गॉथिक अहृतउ (ahtau आदि) में द्विवचन का विभक्ति-चिह्न प्रतीत होता है। ऑक्तो– (oktṓ–) प्रातिपदिक का अर्थ, जिसका यह द्विवचनान्त रूप है, इससे सम्बद्ध इ–कारान्त प्रातिपदिक अश्ति– (ašti–) से, जो अवेस्ता में मिलता है, अनुमित किया जा सकता है। इसका अर्थ 'चार अंगुलियों की चौड़ाई' है, जो लम्बाई का नाप है, और इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि द्विवचनान्त *ऑक्य्तो (*oḱtṓ) का अर्थ मूलतः 'चार अंगुलियों के दो वर्ग' है। लौकिक संस्कृत में इसके अतिरिक्त समीपवर्ती संख्यावाचक शब्दों से लिये हुए ह्रस्व –अ से युक्त अष्ट रूप भी मिलता है।

९. नव 'नौ' (: ग्रीक ऍन्– नॆअ (én– néa) का –अ –म् (–m̥) (तुल० नवम–, लैटिन नॊवॆम् (novem)) अथवा सम्भवतः –न् (–n̥) (तुल० लैटिन नोनुस् (nōnus) 'नवाँ') तक जा सकता है। यह शब्द भा० यू० नॆवोस् (néwos) 'नया' से सम्बद्ध माना गया है, जो पूर्ववर्ती संख्यावाचक शब्द की व्युत्पत्ति को ध्यान में रखते हुए असम्भाव्य नहीं है।

१०. संख्यावाचक शब्दों की प्राथमिक तालिका दश 'दस' (ग्रीक दॆक, (déka), लैटिन दॆकॆम् (decem), गॉथिक तइहुन् (taíhun) आदि) के साथ समाप्त होती है, जो भा० यू० दॆक्म् (dékm̥) का प्रतिनिधित्व करता है, जिसकी व्युत्पत्ति के विषय में कोई सम्भाव्य संकेत नहीं मिलता।

११–१९. ये शब्द १–९ के १० के साथ बनाए हुए द्वन्द्व समास हैं: द्वादश '१२', त्रयोदश '१३', चतुर्दश '१४', षोडश '१६' आदि; तुल० ग्रीक दोदॆक (dṓdeka), लैटिन दुओदॆकिम् (duodecim) आदि। एकादश '११' का दीर्घ स्वर द्वादश से आया है। संख्यावाचक शब्द १९ वैकल्पिक रूप में एकोनविंशति 'एक कम बीस' के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है।

२० से ९० तक के दशवाचक संख्याशब्द स्त्रीलिङ्ग नामिक हैं और इस दृष्टि से एकवचन में पूरी तरह सविभक्तिक रूपों का प्रयोग करते हैं, जिनके साथ वर्णित वस्तु के षष्ठी बहुवचन का प्रयोग होता है: नवतिम् नाव्यानाम्

'९० नाव्य नदियाँ' आदि। किन्तु इनका प्रयोग या तो (१) वर्णित संज्ञा के साथ समान विभक्ति में मिलता है, किन्तु समान वचन में नहीं, विंशत्या हरिभिः '२० घोड़ों के साथ', अथवा (२) विशेषण के रूप में भी, वाक्यगत प्रयोग किया जाता है जहाँ उसका वचन भी समान है : पञ्चाशद्भिर्बाणैः 'पचास बाणों से'। बीच के अन्य संख्यावाचक शब्द ११ से १९ की तरह ही बनाए जाते हैं : त्रयस्त्रिंशत्–'३३', चतुःषष्टि '६४', आदि।

२०–५०. विंशति– : तुल० अवे० वीसइति, ग्रीक एइकोसि (eikosi) लैटिन वीगिन्ती (vigintī), आदि।

त्रिंशत्– : तुल० अवे० थ्रिसँस् (θrisąs), द्वि० ए० व० थ्रिसतॅम् (θrisatəm), लैटिन त्रीगिन्ता (trīgintā), आदि।

चत्वारिंशत्– : तुल० अवे० चथ्वरॅसतॅम् (caθwarəsatəm) (द्वि० ए० व०), ग्रीक तेत्तरकोन्त (tettarákonta) लैटिन क्वद्रागिन्त (quadrāginta), आदि।

पञ्चाशत्– : तुल० अवे० पञ्चासत्–, (pančasat–,) ग्रीक पेन्तेकोन्त (pentekonta), लैटिन क्विनक्वागिन्त (quinquāginta), आदि।

इन चार संख्यावाचक शब्दों में उपलब्ध तत्त्व –शत्– का विकास संख्यावाचक दस के समाहृत रूप क्य्म्त् (k̂m̥t–,) से हुआ है, जो पुनः द्क्य्म्त्–, (dkm̥t–,) के लिये है, इसमें त्– प्रत्यय ठीक वही है, जो संस्कृत दशत्– 'दशक' में मिलता है। यह समाहृत रूप खास तौर पर दुर्बल विभक्ति रूपों से सम्बद्ध है, क्योंकि अवेस्ता थ्रिसँस् (θrisąs) '३०' और विसँस् (visąs) '२०' बताते हैं कि सबल मूल रूप (–शन्त्–) मूलतः कर्त्ता (प्रथमा) ए० व० में प्रयुक्त होता था। यह प्रातिपदिक मूलतः नपुंसक था, और पूर्ववर्त्ती संख्यावाचक शब्द के साथ इसी रूप में विभिन्न विभक्तियों में चल सकता था (ग्रीक तेत्तर–कोन्त '४ दशक' आदि)। संस्कृत में नपुंसक बहुवचनान्त विभक्ति चत्वारि– म्– शत् और पञ्चा– शत्– के पूर्वपद में मिलती है। उत्तर पद में इसका अभाव इस तथ्य के द्वारा स्पष्ट किया जाता है कि यह विभक्ति-चिह्न विकल्प से लुप्त किया जा सकता है (तुल० विश्वानि वसु, आदि, परि० ५§३)। विंशति– का इ–कारान्त प्रातिपदिक मूलतः द्विवचनान्त रूप *वी शती (*वि शति) '२ दशक' था। वि–वी जो यहाँ '२' के अर्थ में मिलता है, तोखारी भाषा में द्वौ आदि के स्थान पर प्रचलित सामान्य शब्द है (अ बु, बे (स्त्री०) ब वि)) इससे उपसर्ग वि– 'दूर, अलग' से अभिन्न माना जा सकता है। पूर्वपद के अन्त में नासिक्य (nasal) तत्त्व के अस्तित्व की व्याख्या नहीं हो पायी है और भारतीय आर्य शाखा से बाहर यह केवल आँसिटिक इन्सइ (insäi) '२०' में ही मिलता है।

६०–९०. षष्टि, सप्तति–, अशीति–, नवति– । ये शब्द उपर्युक्त शब्दों से सर्वथा भिन्न ढंग से बने हैं। ये भाववाचक अथवा समूहबोधक संज्ञाशब्द हैं, जिन्हें –ति प्रत्यय जोड़कर बनाया गया है, जिसका अर्थ मुख्यतः 'छः वस्तुओं का समूह' आदि है। यह मूल अर्थ ठीक इसी तरह बनाए गए शब्द पङ्क्ति– '५ का समूह' में सुरक्षित है और प्रा० स्ला० शेश्ति (šešti), जो रूप में संस्कृत षष्टि– से मिलता है, केवल '६' अर्थ का वहन करता है। इन रूपों का दशकों के संज्ञावाचक शब्दों में नाम के रूप में विशेषीकरण भारतीय आर्य तथा ईरानी शाखा में ही प्रचलित है, तुल० अवे० ख़्श्वश्ति– (xšvašti), हप्ताइति (haptāiti)–, अश्ताइति (aštāiti), नवइति (navaiti)– । संख्यावाचक '८०' का शब्द संस्कृत में मूल रूप से बनाया हुआ स्वतंत्र रूप है, जो अन्यत्र समानान्तर रूप में कहीं भी नहीं मिलता, किन्तु जो स्पष्ट ही प्राचीन रूप है। ईरानी में इसके स्थान पर अश्ता (aštā) के आधार पर बना हुआ सामान्य रूप चल पड़ा है।

१००. शतम् (अवे० सतॅम् (satəm), ग्रीक हे–कतोन् (hekatón), लैटिन केन्तुम् (centum–) आदि) का मूल रूप *कृम्तोम् (*kmtóm) था, जैसा कि लिथुआनी शिम्तस् (šim̃tas) से स्पष्ट है। इस दृष्टि से और इस तथ्य के कारण कि त्रिंशत्, आदि के –शत्– का अर्थ 'दस' है, मूल भा० यू० शब्द द्कृम्तोम् (dkmtom) से विकसित हुआ है, जो नपुंसकलिङ्ग समूहवाचक संज्ञाशब्द है, जिसका अर्थ '(दस-दस का) एक दशक' है।

१०००. सहस्र– (: अवे० हज़ङ्र (hazaŋra–)) ग्रीक खीलिओइ (khílioi), खेइलिओइ (kheílioi) खेल्लिओइ (khellioi) (*खेस्लिओइ *khesloi) से सम्बद्ध है और इसका पदादि तत्त्व स– भा० यू० स्म् (sm̥) 'एक, एकसाथ' से अभिन्न माना गया है।

ये दोनों संख्यावाचक नपुंसक संज्ञाशब्द हैं, किन्तु इनके साथ ठीक वैसा ही वाक्यरचनागत परिवर्त्तन मिलता है, जैसा दशकों के साथ। हजार से ऊपर के संख्यावाचक शब्द शुद्ध भारतीय हैं : अयुत– '१०,०००', लक्ष– '१००,०००', प्रयुत– '१,०००,०००', कोटि– '१०,०००,०००', आदि। यह तालिका खास तौर पर जैनों तथा बौद्धों (असंख्येय– = १०^{१४०}) के यहाँ काफी दूरी तक ले जायी गयी है, किन्तु अधिक संख्यावाचक शब्दों के नामों के सम्बन्ध में विभिन्न ग्रन्थों में बहुत कम समानता पाई जाती है।

क्रमवाचक : १. प्रथम– (अवे० फ़्रतॅम (fratəm–)

२. द्वितीय– (: अवे० दइबित्य–, बित्य–, प्रा० फा० दुवितीय– (duvitiya–))

३. तृतीय- (अवे० थ्रित्य θritya)-, लैटिन तेर्तिउस् (tertius), आदि),

४. (अ) चतुर्थ- (ग्रीक तेतर्तोस् (tetartos), लिथुआनी केत्विरतस् (ketvirtas), आदि),

(ब) तुरीय-, तुर्य- (अवे० तूइर्य-, (tūirya)),

५. (अ) पक्थ- ऋग्वेद १०, ६१, १ (अवे० पुख़्द़- (puxδa)-, प्राचीन हाई जर्मन फ़ुन्फ़्तो (थो) से विकसित फ़ुन्फ़्तो, ग्रीक पेम्प्तोस् (pemptos), लिथुआनी पेन्क्तस् (peñktas),

(ब) पञ्चथ-, काठकसंहिता (: गॉलिश पिम्पेतोस् (pimpetos), पुरानी वेल्श् पिम्फ़ेत् (pimphet),

(स) प्रायः पञ्चम (पहलवी पंजुम panǰum, ऑसे० पंजम (pänǰäm),

६. षष्ठ- (ग्रीक हेक्तोस् (hektos), लैटिन सेक्स्तुस् (sextus),

७. (अ) सप्तथ-, ऋग्वेद (अवे० हप्तथ hapta θa-),

(ब) प्रायः सप्तम- (फ़ारसी हफ़्तुम्, ग्रीक हेब्दोमोस् (hebdomos), लैटिन सेप्तिमुस् (septimus), आदि),

८. अष्टम- (अवे० अश्तॅम- (aštəma-),

९. नवम- (अवे० नओम (naoma)-, प्रा० फा० नवम-)

१०. दशम- (अवे० दसॅम (dasəma,), लैटिन देकिमुस् (decimus), आदि) ।

क्रमवाचक शब्दों के साधारण रूप संख्यावाचक शब्द के साथ सामान्य विशेषणगत प्रक्रिया में सोदात्त विकरणात्मक स्वर (thematic vowel) को जोड़कर बनाए जाते हैं : सप्तम्- अ-, (सप्तम), दशम् + अ (दशम) । इन संख्यावाचक शब्दों से यह रूप अन्य स्थलों पर भी बढ़ा दिया गया है, जिनसे यह मूलतः सम्बद्ध नहीं हैं : अष्टम-, जो अधिक मूलरूप ग्रीक ओग्दोओस् (ogdoos), लैटिन ओक्तावुस् (octāvus); के विपरीत है; नवम जो लैटिन नोनुस् (nōnus) के विरुद्ध है । -थ प्रत्यय अर्थात् -त्- ?- अ- (-t- H-á-) मूलतः -ता अन्तवाले समूहवाचक अथवा भाववाचक शब्द के साथ सोदात्त विकरणात्मक स्वर को जोड़ने से अवश्य विकसित हुआ होगा, अर्थात् -त ? (-ta H) (*चतुर्ता + अ > चतुर्थ-; *caturtā + á > caturthá-) । भारत-ईरानी शाखा से बाहर ? (H) के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है :

ग्रीक पेम्प्तोस् (pimptos), आदि केवल त्– अन्तवाले प्रातिपदिक के आधार पर बने हैं।

पहला क्रमवाचक संख्याशब्द विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न है (ग्रीक प्रोतोस् (prōtos), लैटिन प्रीमुस् (prīmus), लिथुआनी पिर्मस (pirmas) आदि), किन्तु ये सब इस शब्द को समानान्तर संख्यावाचक से न बनाकर 'सामने' अर्थवाले उस एक ही मूलरूप से विकसित करने में एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। ११ से १९ तक के क्रमवाचक संख्याशब्द प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर के साथ बने सविकरण रूप हैं : द्वादुश, आदि, तुल० अवे० द्वादस– आदि । –तम प्रत्यय, जो अतिशय तुलनाबोधक प्रत्यय भी है, दशकों, सौ और हजार से बने क्रमवाचक संख्याशब्दों के लिये प्रयुक्त होता है : त्रिंशत्तम (अवे० थ्रिसस्तॅम– (θrisastəma–) लैटिन त्रिके (न्)सिमुस् (trice(n)simus) '३०वाँ'। षष्टितम '६०वाँ', शततम– '१००वाँ', सहस्रतम '१०००वाँ' (अवे० हज़ङ्रो तॅम– (hazaŋrō təma–) । वैकल्पिक रूप में २० से ५० तक के लिये संस्कृत में विंश–, त्रिंश–, चत्वारिंश–, पञ्चाश–, जैसे रूप भी हैं, जिनके समानान्तर रूप भारतीय आर्यशाखा से बाहर नहीं हैं। ये रूप एकादश– के वजन पर सादृश्य के आधार पर बना लिए गए हैं।

क्रमवाचक शब्दों के अतिरिक्त विशेषणात्मक रूपों में द्वय– (ग्रीक दोइओस् (doiós), प्रा० स्ला० द्वोयि (dvoji)) और त्रय– (प्रा० स्ला० त्रोयि (troji), विकसित हुए हैं, जिनका अर्थ 'दो (तीन) तरह की चीजों या अंशों से सम्बद्ध' है। संस्कृत ने –तय प्रत्यय जोड़कर ठीक इसी अर्थ में एकतय–, चतुष्टय– जैसे शब्दों की तालिका बना ली है। प्राचीन क्रियाविशेषणात्मक रूप द्विः (अवे० बिश् (biš), ग्रीक दिस् (δis) लैटिन बिस् (bis) तथा त्रिः (अवे थ्रिस्, ग्रीक त्रिस्; (θris, tris) 'दो बार, तीन बार' हैं। यह निश्चित नहीं है कि चुतुः 'चार बार' क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त केवल प्रातिपदिक चुतुः (चतुर्) है अथवा यह क्रियाविशेषणात्मक प्रत्यय –स् जोड़कर बने *चतुर्–ष्, से बना है। अवेस्ता चथ्रुश् 'चार बार' में इस तरह का –स् विद्यमान है (यद्यपि प्रत्यय के तत्त्व भिन्न क्रम से सँजोए गए हैं), किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इसकी मूलभूत स्थिति लैटिन क्वतेर् (quater) में भी कल्पित की जाय। अन्यत्र इस अर्थ की अभिव्यञ्जना कृत्वः 'बार' के प्रयोग के द्वारा की जाती है : पञ्चु कृत्वः '५ बार, आदि'। इस शब्द का मूल समस्त पद सकृत् 'एकबार' में और लिथुआनी कर्तस् (kar̃tas), प्रा० स्ला० क्रतु (kratŭ) में मिलता है। अन्य क्रियाविशेषणात्मक रूप –धा (त्रिधा '३ टुकड़ों में' आदि) और –शः (शतशः 'सैंकड़ो में') आदि प्रत्ययों के द्वारा बनाए जाते हैं।

२. सर्वनाम शब्द

पुरुषवाचक सर्वनाम

उत्तम पुरुष

ए० व० प्रथमा अहम्, द्वितीया मां, मा, तृतीया मया, चतुर्थी मह्यम्, मे, पंचमी मत्, षष्ठी मम, मे, सप्तमी मयि।

द्वि० व० प्रथमा-द्वितीया आवाम्, तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी आवाभ्याम्, षष्ठी-सप्तमी आवयोः, और द्वितीया-चतुर्थी-षष्ठी– नौ।

ब० व० प्रथमा वयम्, द्वितीया अस्मान्, नः, तृतीया अस्माभिः, चतुर्थी अस्मभ्यम्, नः, पञ्चमी अस्मत्, षष्ठी अस्माकम्, नः, सप्तमी अस्मासु।

मध्यम पुरुष

ए० व० प्रथमा त्वम्, द्वितीया त्वाम्, त्वा, तृतीया त्वया, चतुर्थी तुभ्यम्, ते, पञ्चमी त्वत्; षष्ठी तव, ते, सप्तमी त्वयि।

द्वि० व० प्रथमा-द्वितीया युवाम्, तृतीय-चतुर्थी-पञ्चमी युवाभ्याम्, षष्ठी-सप्तमी युवयोः और द्वितीया-चतुर्थी-षष्ठी वाम्।

ब० व० प्रथमा यूयम्, द्वितीया युष्मान्, वः, तृतीया युष्माभिः, चतुर्थी युष्मभ्यम्, वः, पञ्चमी युष्मत्, षष्ठी युष्माकम्, वः, सप्तमी युष्मासु।

सर्वनाम शब्दों के सविभक्तिक रूप कई बातों में संज्ञाशब्दों के सविभक्तिक रूपों से भिन्न हैं, और यह भेद खासतौर पर पुरुषवाचक सर्वनाम शब्दों में परिलक्षित होता है। (१) ये सर्वनाम शब्द किसी प्रकार लिंग भेद नहीं दर्शाते, जो प्राचीन भा० यू० व्यवहार के अनुकूल है और उन अन्य भाषा-परिवारों (उदाहरणार्थ–सामी परिवार) के व्यवहार से भिन्न हैं, जिनमें पुरुषवाचक सर्वनामों में लिंगभेद होता है। वैदिक संहिता से केवल एक अपवाद युष्माः द्वितीया बहुवचन स्त्रीलिंग का उदाहरण दिया जा सकता है। (२) वचन का भेद भिन्न प्रकार के प्रातिपदिक रूप के प्रयोग से अभिव्यक्त किया जाता है जो भिन्न मूलतत्त्वों से युक्त है। (३) ठीक यही भेद प्रथमा एकवचन तथा दूसरी विभक्तियों के बीच दिखाई पड़ता है। (४) बहुवचन के सविभक्तिक रूप अंशतः एकवचन के सविभक्तिक रूपों से अभिन्न हैं और यह भेद प्राक्-ऐतिहासिक युग में और अधिक परिलक्षित था। (५) व्यक्तिगत सविभक्तिक रूप संज्ञाशब्दों के सविभक्तिक रूपों से काफी भिन्न हैं।

प्रथमा एकवचन अहम् (अवे० अज़ॅम्) (azəm) में –अम् प्रत्यय पाया जाता है, जो अन्यत्र पुरुषवाचक सर्वनामों के शब्दरूपों में प्रचलित है। यह रूप स्लावी (प्रा० स्ला०, अज़ु, azŭ, उ <ओम्) में भी पाया जाता है। अन्यत्र बिना किसी विभक्ति-चिह्न वाले (लिथुआनी ऐश, अश्, eš, aš) रूप

और ओ विभक्ति-चिह्न वाले रूप (ग्रीक एगो egṓ लैटिन एगो ego) उपलब्ध होते हैं। परवर्ती रूप मूलतः एगो ? (egó H) है, और संस्कृत में प्राणध्वनि का अस्तित्व इस बात का संकेत करता है कि यही वह मूल रूप है, जिसके साथ –अम् प्रत्यय जोड़ दिया गया है। (एगो ?+ओम् > एग् ?– ओम्, ego H + óm > eg H– óm)। त्वम् का विभक्ति-चिह्न अम् (अवे० त्वॅम् twəm, तूम्–तुम् tŭm) भारत-ईरानी शाखा से बाहर नहीं पाया जाता और इसलिये काफी बाद की उत्पत्ति है। अन्य भाषाओं में तु-तू है, जो ईरानी में भी बचा रहा है और सम्भवतः वैदिक निपात तु के रूप में भी सुरक्षित है (तुल० ऋग्वेद ८, १३, १४ आ तू गहि, प्र तु द्रव)। उत्तमपुरुष के अन्य विभक्तिरूपों में म् से आरम्भ होने वाला प्रातिपदिकांश मिलता है, जिसके पूर्व ग्रीक (एमे emé कर्म एकवचन) और हित्ती (अम्मुक् कर्म-संप्रदान एकवचन) की साक्षी पर एक स्वरध्वनि थी, जो अधिकांश भा० यू० भाषाओं में लुप्त हो गई है। दूसरी ओर मध्यमपुरुषवाचक सर्वनाम इन विभक्तियों में मूलतः अलग से नहीं है। इस शब्द का मूल प्रातिपदिक ते– ते जो अन्यत्र (प्रा० स्ला० ते̃ = संस्कृत त्वाम् आदि) मिलता है *त्वे त्वे (twĕ) में पदादि त् के बाद व् के लोप के कारण विकसित हुआ जान पड़ता है। द्वितीया एकवचन रूपों माम्, त्वाम् (: अवे० मँम्, थ्वँम् mąm, θwąm) में पदान्त म् भारत-ईरानी शाखा से बाहर केवल स्लावी में (प्रा० स्ला० मे̃, ते̃ mę, tę) मिलता है। ये रूप उन प्राचीन रूपों के स्थान पर स्थापित नवीन रूप हैं, जो अब केवल उदात्तरहित निपातों के रूप में सुरक्षित हैं : मा, त्वा (अवे० मा, थ्वा mā, θwā)। दीर्घ स्वरवाले इन रूपों का ह्रस्व स्वरवाले ग्रीक जैसे रूपों एमे, मे, से, से (amé, me, sé, se) से सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है।

मे, ते (: प्राचीन फारसी मइय्, तइय् maiy, taiy, अवे० मोइ, मे, तोइ, ते, ग्रीक मोइ, moi, सोइ soi ; लिथुआनी मि, ति) उदात्तरहित रूप प्रातिपदिक रूप हैं और इनके साथ कोई विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता। इस दृष्टि से ये रूप उन सोदात्त रूपों से अधिक प्राचीन हैं, जिन्होंने परिपूर्ण विभक्तिज प्रक्रिया का विकास कर लिया है। यह भी प्राचीन लक्षण है कि इनका प्रयोग साधारण विभक्तिज रूपों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। ये रूप नियत रूप से षष्ठी तथा चतुर्थी दोनों अर्थ में और कभी-कभी और अधिक व्यापक रूप में प्रयुक्त होते हैं। मूलतः ऐसे ही व्यापक प्रयोगवाले समानान्तर सोदात्त रूप भी रहे होंगे। पुरुषवाचक सर्वनाम शब्दों के सोदात्त रूपों के लिये विभक्तिज प्रक्रिया के विकास में इन्हें लुप्त कर दिया है, किन्तु प्राचीन अविकसित प्रक्रिया इन अनुदात्त निपातों के रूप में सुरक्षित है।

पूर्ण सविभक्तिक रूपों की परवर्तिता इस तथ्य से निर्दिष्ट है कि इनमें से अनेक के ठीक समानान्तर रूप अन्य भा० यू० भाषाओं में नहीं हैं। इस प्रकार की स्थिति तृतीया एकवचन मया की है। यह रूप उदात्तरहित निपात 'मे' में सुरक्षित प्रातिपदिक रूप के आधार पर निर्मित हुआ है। दूसरी ओर मध्यम-पुरुष का तृतीया एकवचन का मूल रूप त्वा था, जैसा कि इस कम मिलनेवाले वैदिक रूप के समान रूप अवे० थ्वा (θwa) से स्पष्ट है। यह रूप मया के वजन पर बनाए गए त्वया के द्वारा स्थापित कर लिया गया है। प्रातिपदिक का ठीक यही रूप सप्तमी एकवचन मयि का आधार है। मध्यमपुरुष के सप्तमी एकवचन का मूलरूप त्वे है, जो ऋग्वेद में मिलता है। यह रूप सादृश्य के आधार पर अथर्ववेद से ही त्वयि के द्वारा स्थापित कर दिया गया है। ईरानी साक्ष्य के अभाव में इस विभक्तिज रूप के पूर्ववर्ती इतिहास के विषय में कुछ भी कहना संभव नहीं है।

पञ्चमी एकवचन के रूप मत्, त्वत्– (: अवे० मत्, mat, थ्वत् θwat, तुल० प्रा० लैटिन मेद्, mēd, तेद्, tēd) ठीक उसी तत्त्व से निर्मित हैं, जो अ– विकरणयुक्त प्रातिपदिकों के विभक्तिज रूपों में मिलता है। ऋग्वेद में षष्ठी एकवचन से प्रभावित एक विशिष्ट रूप ममत् मिलता है, और पिछले दिनों तस् पञ्चम्यन्त प्रत्यय से बनाए गए विस्तृत रूप मत्तः, त्वत्तः अधिकाधिक प्रयोग में चल पड़े हैं। चतुर्थी एकवचन के रूप मह्यम्, तुभ्यम् हैं, किन्तु ऋग्वेद में तुभ्य उपलब्ध है और मह्य तथा तुभ्य दोनों छन्दोनुरोध से प्रायः आवश्यक समझे जाते हैं। ये रूप प्राचीनतम रूप हैं और –म् अन्य भाषाओं की तरह संस्कृत का गौण समायोग है। –म् ईरानी में अनुपलब्ध है: अवे० मइब्या, मइब्यो, तइब्या, तइब्यो maibyā, maibyō, taibyā, taibyō। भारत ईरानी में उपलब्ध पदान्त तत्त्व अं–आ (ā̊) अन्यत्र अनुपलब्ध है (लैटिन मिहि mihi, तिबि tibi, उम्ब्रिक मेहे mehe, तेफ़े tefe प्रा० स्ला० तेबे tebě, प्रा० पर्शियन तेब्बेइ), और इसलिये इस तत्त्व को केवल परसर्ग मानना होगा, जो मूल विभक्तिज रूप के साथ जोड़ दिया गया है। संस्कृत मह्यम् का ह् (<घ्य् से) अवेस्ता रूप में प्रयुक्त –ब्– की अपेक्षा मूल रूप माना गया है, क्योंकि यह इटैलिक शाखा में भी मिलता है। तुभ्यम् का –उ– संस्कृत की निजी विशेषता है: अन्य सभी भाषाओं ने अपने रूपों को मूल रूप ते– से विकसित किया है। षष्ठी एकवचन तव (: अवे० तव (táva) प्रा० भा० यू० *तेवो (*tewo)) का प्रतिनिधि है, निर्विभक्तिक अ– विकरणयुक्त विशेषणीभूत प्रातिपदिक है और इसलिये आर्ष प्रा० भा० यू० प्रयोग का एकाकी अवशेष है। अन्यत्र यह प्रातिपदिक पूर्ण विशेषण की तरह सविभक्तिक मिलता है: ग्रीक

तेॲास् teós, लैटिन तूस tuus। इस सादृश्य पर मम को *अम के स्थान पर आदेश बताया जा सकता है, जिसमें इस शब्द-संघटना के अन्य रूपों से पदादि म ले लिया गया है। यह *अम ग्रीक एमास् (emós) 'मेरा' के प्रातिपदिक रूप का ठीक उसी तरह समानान्तर होगा, जैसे तव, तेॲास् (teós) का समानान्तर है। इस प्रकार का सम्बन्ध एकवचन का भा० यू० रूप आर्मीनी इम् में पाया जाता जाता है। ईरानी में सम्बन्ध एकवचन का रूप (अवे० मन mana, प्रा० फारसी मना manā), जो स्लावी रूप (प्रा० स्ला० मेने) से ठीक मिलता-जुलता है, भिन्न रूप है, जिसमें न्– प्रत्यय मिलता है और जो जर्मन शाखा के ध्वनियुग्मीय प्रातिपदिक (diphthongal base) के साथ जोड़ा जाता है (गॉथिक मेइन meina)।

प्रथमा बहुवचनान्त वयम् (: अवे० वएम् vaēm) में ठीक वही अधिक तत्त्व –अम् है, जो प्रथमा एकवचन में मिलता है। यह मूल भा० यू० वेइ wei का संकेत करता है, जो गॉथिक में बहुवचन के गौण तत्त्व –स् के साथ (वेइस weis, तुल० हित्ती वेश् weš) मिलता है। वह –स् मध्यमपुरुष के प्रथमा बहुवचनान्त रूपों में भी अवे० यूश् yūš, गॉथिक युस् yus, लिथुआनी यूस् jūs में भी मिलता है। अवेस्ता में सामान्य सार्वनामिक विभक्तिज रूप –अम् के साथ एक दूसरा रूप यूज़ॅम् yuzəm मिलता है। संस्कृत यूयम् में प्रातिपदिक के साथ –स् के बिना –अम् जोड़ा गया है, जिसमें वयम् से लिया गया –य्– बाधक बन गया है।

द्वितीया विभक्ति से आगे की विभक्तियों के बहुवचनान्त मूल प्रातिपदिक अस्म–, युष्म– से बनाए गए हैं, जो ग्रीक (एओलिक) अम्मे ámme और उम्मे úmme से ठीक मिलते-जुलते हैं। उत्तमपुरुष का अस्– न्स्– (=गॉथिक उन्स् के लिये है, जो उस सार्वनामिक रूप का दुर्बल श्रेणी का रूप स्पष्ट किया जा सकता है जो उदात्तरहित निपात नः में प्रयुक्त होता है। यह सम्भव है कि युष्म– में पदादि य् गौण रूप से प्रथमा बहुवचन से लिया गया है और मूल *उस्– ठीक उसी तरह वस्– का दुर्बल रूप था। प्रातिपदिक का यह विस्तार निर्देशात्मक सर्वनाम के पुँल्लिङ्ग एकवचन में पाए जानेवाले (तस्मात् आदि) मूलरूप से मिलता-जुलता है। ये मूलरूप आरम्भ में एकवचन के विभक्ति-चिह्नों का प्रयोग करते थे और बहुवचन के विभक्तिज रूपों का विकास बहुत बाद का है। इस स्थिति का प्राचीन रूप अभी भी चतुर्थी तथा पंचमी में सुरक्षित है: अस्मभ्यम् (: अवे० अह्मइब्या ahmaibyā) युष्मभ्यम् (: अवे० यूष्मइब्या yūšmaibyā); अस्मत् (: अवे० अह्मत् ahmat), युष्मत् (: अवे० यूश्मत् yūšmat, ख़्श्मत् xšmat)।

द्वितीया विभक्ति में ऊपर उद्धृत ग्रीक रूपों की तरह और अवेस्ता में अह्म की तरह केवल निर्विभक्तिक प्रातिपदिक का ही मूलतः प्रयोग होता था। आन् विभक्ति-चिह्न का प्रचलन संस्कृत की मौलिकता है। तृतीया बहुवचन का मूल (एकवचन) विभक्ति-चिह्न अवेस्ता –ख़्श्मा (xšmā), और साथ ही वैदिक भाषा में युष्मा-दत्त– 'तुम्हारे द्वारा दिया गया' जैसे कतिपय समस्त पदों में सुरक्षित है। अस्माभिः, युष्माभिः का दीर्घ –आ– तृतीया एकवचन के इसी रूप से लिया गया है और यहाँ से इसका प्रचलन सप्तमी बहुवचन अस्मासु, युष्मासु में हो गया है। षष्ठी बहुवचन के रूप अस्माकम्, युष्माकम् (अवे० अह्माकॅम् ahmākəm, प्राचीन फारसी अमाख़म् amāxam; अवे० युश्माकॅम् yušmākəm) विशेषणीभूत प्रातिपदिक अस्माक–, युष्माक– पर आधृत हैं, जो ऋग्वेद में ठीक इसी तरह के प्रयोग में पाये जाते हैं। मूलरूप जो अभी भी कभी-कभी वैदिक भाषा में मिल जाता है. तव की तरह निर्विभक्तिक प्रातिपदिक है और –म् अन्य रूपों की तरह बाद में जोड़ा गया है।

सप्तमी के प्राचीन रूप अस्मे, युष्मे वैदिक संहिताओं में मिलते हैं, इस विशेषता के साथ कि इनका प्रयोग चतुर्थी तथा षष्ठी में भी किया जा सकता है। अनेक कारक विभक्तियों के अर्थों को परस्पर सम्मिलित कर देने की आर्ष प्रवृत्ति इस बात का संकेत करती है कि ये रूप प्राचीन हैं, यद्यपि इनके ठीक समानान्तर रूप अन्य भाषाओं से उद्धृत नहीं किए जा सकते।

केवल एक ही उदात्तरहित निपात नः, वः का प्रयोग मिलता है जो द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी का काम करता है। अवेस्ता में इनसे मिलते-जुलते रूप नॉ, नो, वॉ, वो (nə̄, nō, və̄, vō) है, जो केवल चतुर्थी और षष्ठी का काम करते हैं, जबकि द्वितीया के लिये वहाँ दीर्घ स्वर वाले रूप नां, वां मिलते हैं। ये रूप लैटिन नोस्, वोस् और प्राचीन स्लावी नू, वू से मिलते-जुलते हैं।

लौकिक संस्कृत में पुरुषवाचक सर्वनामों के द्विवचन रूपों में अन्य शब्दों की तरह तीन विभक्ति रूप मिलते हैं। वैदिक भाषा में इनसे कहीं अधिक विशिष्ट रूप उपलब्ध हैं। प्रथमान्त रूप आवम्, युवम्, द्वितीयान्त रूप आवाम्, युवाम् से भिन्न है। पञ्चमी विभक्ति के रूप मत्, आवत् और युवत् मिलते हैं। युवा–दत्त– 'तुम दोनों द्वारा दिया हुआ' जैसे समासान्त पदों की साक्षी पर एक भिन्न तृतीयान्त रूप सिद्ध होता है। निर्विभक्तिक विशेषणीभूत प्रातिपदिक युवाकु षष्ठी द्विवचन का काम करता पाया जाता है। अवेस्ता में सम्बन्ध द्विवचन रूप युवाकॅम् yavākə̄m मिलता है, जो बहुवचन रूपों के और अधिक समानान्तर है। चतुर्थी तथा सप्तमी के रूप युवभ्याम्, युवोः के स्थान पर लौकिक संस्कृत में अधिक नियमित रूप युवाभ्याम्, युवयोः स्थापित कर दिए गए हैं।

प्रथमा द्विवचन युवम् ठीक उसी मूल तत्त्व से बनाया गया है, जो प्रथमा बहुवचन में है। यह अविस्तारी रूप लिथुआनी यु-दु (ju-du) 'तुम दोनों' में देखा जाता है। उत्तम पुरुष के प्रथमा द्विवचन में ऋग्वेद (६. ५५. १) में एक बार वाम् का प्रयोग प्रमाणित है। यह रूप अवेस्ता वा से मिलता-जुलता है, जहाँ -म्- स्पष्टतः संस्कृत में गौण रूप से जोड़ा गया है। अवेस्ता वा, प्रा० स्ला० वे vĕ से ठीक-ठीक मिलता है और इन रूपों से गॉथिक वि-त्, wi-t और लिथुआनी व-दु (vé-du) में इन रूपों से यह अन्तर पाया जाता है कि वे ह्रस्वयुक्त हैं। इन सब रूपों में ठीक वही मूल तत्त्व पाया जाता है, जो कर्त्ता बहुवचन में। आवाम् का समानान्तर रूप केवल अवेस्ता ऑअआवा ə̄əāvā (कर्मकारक) में मिलता है और इस तरह का कोई अन्य रूप शेष भा० यू० में नहीं है। भारत-ईरानी शाखा में खासतौर पर मिलनेवाले इस रूप का अधिक सम्भाव्य कारण यह है कि अकारान्त नामिक प्रातिपदिक के द्विवचनान्त आ को मूल रूप वा, व (भा० यू० वे, वे (wē, we) के पूर्व उपसर्ग की तरह जोड़ दिया गया है।

द्विवचन के उदात्तरहित निपात रूप जिनका प्रयोग बहुवचनान्त उदात्त-रहित निपातों से मिलता-जुलता है, नौ, वाम् हैं। नौ के समान रूप अवेस्ता ना (सम्बन्ध), प्रा० स्ला० ना (कर्म) और ग्रीक नो nṓ (कर्ता-कर्म) मिलते हैं। खासतौर पर ग्रीक से यह स्पष्ट है कि ये रूप मूलतः उदात्तरहित प्रयोग तक ही सीमित न थे। मध्यम पुरुष का -म् रहित एक रूप एक बार ऋग्वेद (४. ४१. २.) में मिलता है और अवेस्ता वा (कर्म) के साथ इसकी तुलना इसको मूलरूप संकेतित करती है। प्रा० स्ला० में समानान्तर रूप वा सोदात्त रूप है जो कर्ता तथा कर्म-दोनों में प्रयुक्त होता था।

भा० यू० में एक आत्मने सर्वनाम था, जो पुरुषवाचक सर्वनामों की तरह विभक्तियों का प्रयोग करता था (लैटिन से sē, सिबि sibi, आदि)। स्व्-तथा स्- के बीच भिन्न पदादि ध्वनि ठीक उसी तरह है, जैसे मध्यम पुरुष-वाचक सर्वनाम में। इस विभक्तिज रूप के कुछ अवशेष अवेस्ता में हैं (सम्प्रदान एकवचन ह्वावोय hvāvōya, अर्थात् *ह्वव्य hwawya), किन्तु यह संस्कृत में नहीं रहा है। स्व 'अपना' प्रातिपदिक का प्रयोग समस्त शब्दों में (स्व-युज्- 'अपने आप को जोतने वाला', आदि), क्रियाविशेषणीभूत स्वतः 'अपने आप से' में और कतिपय तद्धित रूपों में (स्वत्व-, आदि) पाया जाता है। इन रूपों के अतिरिक्त प्रातिपदिक स्व लैटिन सूस (suus) आदि की तरह सम्बन्ध-बोधक विशेषण है। इससे सम्बद्ध एक अव्यय स्व॒यं 'अपने आप' भी है, जिसे प्रचलित सार्वनामिक तत्त्व -अम् को मूलरूप *स्वयि (*svai) (स्वे तुल० मे, ते,) के साथ जोड़कर बनाया गया था। उदात्तरहित रूप में यह मूल पदादि

२१ सं०

स्- के साथ अवेस्ता होइ (hōi), हे (hē), शे (šē), प्रा० फारसी शइय् (šaiy) में मिलता है, जो मे, ते, की तरह कार्य करता है। इस सर्वनाम का यह उदात्तरहित रूप संस्कृत में अनुपलब्ध है, किन्तु से में पुनः दिखाई पड़ता है। वैदिक उदात्तरहित पद सीम् (द्वितीयान्त) मूलतः इसी वर्ग से सम्बद्ध जान पड़ता है, यद्यपि यह रूप में अधिक भिन्न है। ईरानी में द्विवचन (अवेस्ता ही) और बहुवचन (अवे० हिश् hiš, प्राचीन फारसी शिश् šiš) के समानान्तर रूप हैं।

उत्तम तथा मध्यम पुरुषवाचक सर्वनामों पर आधृत प्राचीन सम्बन्धबोधक विशेषण (तुल० लैटिन मेउस् meus, तूस् tuus, आदि) संस्कृत में लुप्त हो गए हैं, यद्यपि ये ईरानी में (अवे० म 'मेरा', थ्व θwa- 'तेरा') सुरक्षित हैं। इस बात का संकेत ऊपर किया जा चुका है कि ऐसे विशेषणों के प्रातिपदिक किस तरह षष्ठी एकवचन के रूप में बनाए गए हैं। इनके स्थान पर संस्कृत में कतिपय नयी उत्पत्तियाँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ—वृद्धियुक्त मामक, तावक; षष्ठी एकवचन के आधार पर बने रूप, मामकीन- आदि; यौगिक (compositional) प्रातिपदिक के आधार पर बने मदीय, त्वदीय, आत्मदीय, युष्मदीय; मत्क 'मेरा' आदि।

मध्यम पुरुषवाचक सर्वनाम के एकवचन के लिये किसी-किसी आदरार्थं पद का प्रयोग कई अन्य भाषाओं के साथ संस्कृत की भी विशेषता है। कुछ हद तक बहुवचन यह कार्य ठीक अंग्रेजी आदि की तरह ही संपादित करता है (यूयम् मे गुरवः 'आप मेरे गुरु हैं',) किन्तु सामान्यतः इसके स्थान पर भवान् (प्रातिपदिक भवन्त्) 'आप' का प्रयोग क्रिया के प्रथमपुरुष एकवचनान्त रूप के साथ किया जाता है। यह शब्द भगवान् 'भाग्यवान्, सम्भ्रान्त' का अनियमित समाहृत रूप है जो इस प्रकार स्वयं भी प्रयुक्त किया जाता है। सम्बोधनबोधक भोः (<भगवः) जो और अधिक समाहृत रूप है, सम्बोधन के प्राचीन वैदिक रूप को सुरक्षित रखता है।

प्राचीन आत्मने सार्वनामिक शब्दों से स्थान पर अन्य प्रयोग तनू- 'शरीर' और आत्मन्- 'आत्मा' संज्ञा शब्दों के द्वारा संपादित किए जाते हैं। वैदिक भाषा में प्रथम शब्द का इसी तरह का प्रयोग मिलता है (सूर्ये उपाके तन्वं दधानः) 'अपने आप को सूर्य के नजदीक रखते हुए' और यह प्रयोग अवेस्ता के प्रयोगों के समानान्तर है। इस प्रकार का प्रयोग लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गया है, किन्तु इससे बने तद्धित रूप उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की परवर्ती विभाषाओं में मिलते हैं। (उत्तर-पश्चिमी प्राकृत तनुवक-, तनुअग- 'अपने आपका' तोरवाली तनु 'वही' आदि)। लौकिक संस्कृत का वैकल्पिक रूप

आत्मन्- ऋग्वेद में भी मिलता है और प्राचीन गद्य-युग से बाद में यह अन्य प्रयोग पर हावी हो गया है।

निर्देशवाचक, प्रश्नवाचक और सम्बन्धवाचक सर्वनाम

ए० व० प्रथमा पुल्लिङ्ग सः, स्त्रीलिङ्ग सा, नपुंसक तद्, द्वितीया पुल्लिङ्ग तम्, न० तद्, तृ० पु० न० तेन, स्त्री० तया, च० पु० न० तस्मै, स्त्री तस्यै, पञ्चमी पु० न० तस्मात्, स्त्री० तस्याः, षष्ठी पु० न० तस्य, स्त्री० तस्याः, सप्तमी पु० न० तस्मिन्, स्त्री० तस्याम्।

द्वि० व० प्रथमा, द्वितीया पु० तौ, स्त्री० न० ते, तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी पु०-स्त्री०-न० ताभ्याम् षष्ठी-सप्तमी पु० स्त्री० न० तयोः।

ब० व० प्रथमा पु० ते, स्त्री० ताः, न० ता, तानि, द्वितीया पु० तान्, स्त्री० ताः, न० ता, तानि, तृतीया पु० न० तैः, तेभिः, स्त्री० ताभिः, चतुर्थी-पंचमी पु० न० तेभ्यः, स्त्री० ताभ्यः, षष्ठी पु० न० तेषाम्, स्त्री० तासाम्, सप्तमी पु० न० तेषु, स्त्री० तासु।

वे निर्देशवाचक, प्रश्नवाचक तथा सम्वन्धवाचक सर्वनाम जिनके प्रातिपदिक अ विकरण से अन्त होते हैं, उपर्युक्त परिपाटी से विभक्तियों का प्रयोग करते हैं। पुंल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिंग सर्वनाम शब्द अंशतः अकारान्त संज्ञाशब्दों की तरह विभक्तियों का प्रयोग करते हैं और स्त्रीलिङ्ग शब्द अंशतः आकारान्त संज्ञाशब्दों की तरह विभक्तियों का प्रयोग करते हैं। इनके साथ ही इनके कुछ ऐसे सविभक्तिक रूप भी पाए जाते हैं, जो संज्ञाशब्दों में नहीं मिलते। ये निम्नलिखित हैं—

सर्वनाम शब्द स, एष तथा स्य के प्रथमा एकवचन के रूप व्यंजन से आरम्भ होनेवाले शब्द के परवर्ती होने पर पदान्त विसर्ग (:) से रहित पाए जाते हैं : स ददर्श 'उसने देखा' किन्तु सोऽब्रवीत् 'उसने कहा', पुरुष एषः 'यह आदमी'। कर्त्ताकारक के चिह्न -स् से रहित रूप समानान्तर ग्रीक हो (ho), गॉथिक -स (sa) में भी मिलते हैं।

नपुंसक लिंग प्र० द्वि० ए० व० द्/त् से अन्त होता है : तद् (: अवेस्ता तत् tat, ग्रीक तो < *तोद्, tó < *tod, लैटिन इस्- तुद् is-tud), एतत् (: अवे० अएतत् aētat), त्यत्, यत् (: अवे० यत्, ग्रीक होत्-ति hot-ti), कत् ऋग्वेद (अवे० कत्, kat, लैटिन क्वोद् quod), त्वत्, एनत्। संस्कृत सन्धि का नियम यह निर्णय नहीं करने देता कि इन शब्दों में पदान्त व्यञ्जन मूलतः -द् था या -त् था, किन्तु अन्य भाषाओं के साक्ष्य पर (लैटिन क्वोद् quod, गॉथिक थात pat-a) तथा संस्कृत के उन रूपों से, जहाँ

प्रातिपदिक के अन्त में फिर से अन्य प्रत्यय जोड़ा गया है : तदा, इदम् आदि के साक्ष्य पर यह स्पष्ट है कि मूल पदान्त व्यञ्जन –द् था।

पुंल्लिग नपुंसक लिंग तृतीया एकवचन लौकिक संस्कृत में संज्ञा और सर्वनाम शब्दों में अभिन्न है। वैदिक भाषा में संज्ञाशब्द में –आ विभक्ति-चिह्न भी मिलता है, जो सर्वनाम शब्दों में एना (लौकिक रूप एनेन) तथा क्रियाविशेषण रूप अना 'इस तरह' के अतिरिक्त अन्यत्र प्रयुक्त नहीं होता। यह स्पष्ट है कि –एन सर्वनाम शब्दों का अपना विशिष्ट विभक्ति-चिह्न था और यह संज्ञाशब्दों में भी स्थानान्तरित कर दिया गया है। यह रूप ध्वनियुग्मीय प्रातिपदिक (के– आदि) पर आधृत है जो अन्यत्र केवल बहुवचनान्त प्रयोग तक सीमित है। यह –न्– ठीक उसी प्रकृति का जान पड़ता है, जो पुल्लिङ्ग तथा नपुंसक लिंग के इकारान्त–उकारान्त शब्दों के तृतीया एकवचन में मिलती है। लौकिक संस्कृत –एन के विरुद्ध वैदिक भाषा में –एन तथा –एना दोनों रूप मिलते हैं, जो पदान्त –अ ? (-a H) (>– स्वर के पूर्व ह्रस्व –अ) की सन्धि के विभिन्न विकासों के कारण हैं। इन रूपों से ठीक मिलते-जुलते कोई रूप भारत-ईरानी शाखा के बाहर नहीं मिलते। ईरानी में इस अन्तस्तत्त्व –न्– वाले कतिपय रूप मिलते हैं, किन्तु वे साधारण अ– विकरण वाले प्रातिपदिक के आधार पर बनाए गए हैं, ध्वनियुग्मीय प्रातिपदिक के आधार पर नहीं : अवे० कन, प्रा० फारसी त्यना, अवना। स्त्रीलिंग तृतीया एकवचन (तया आदि) ठीक इसी तरह ध्वनियुग्मीय प्रातिपदिक पर आधृत हैं, और –न्– से रहित है। यह परिपाटी ठीक इसी तरह संज्ञारूपों के द्वारा अपना ली गयी है (सेनया)।

सर्वनाम शब्दों के प्रातिपदिक रूप चतुर्थी-पञ्चमी-सप्तमी एकवचन में एक तत्त्व –स्म् (अ)– के द्वारा बढ़ाया गया है। यह तत्त्व भा० यू० में काफी फैला हुआ है : उम्ब्रियन एस्मेइ पुस्मे (esmei pusme), गॉथिक इम्म (imma), थम्म (pamma) (–म्म्–< स्म्– -mm- <- sm-), पुरानी पर्शियन स्तेस्मु (stesmu) आदि। यह बिलकुल स्पष्ट नहीं है कि केवल –म्– जो प्रा० स्ला० तोमु, आदि में मिलता है, इसीसे विकसित हुआ है अथवा अन्य मौलिक वैकल्पिक रूप का प्रतिनिधित्व करता है। यदि –स्म्– ही मूल तत्त्व है तो इसे सम्भवतः सम–, मूल से जोड़ा जा सकता है, ताकि उदाहरण के लिए तस्मै का अर्थ मूलतः 'उसी के प्रति होगा'। चतुर्थी एकवचन में अ–विकरणयुक्त प्रातिपदिक के पुराने विभक्तिज रूप को सुरक्षित रखे है, जो संज्ञाशब्दों में विस्तारित तत्व –आय के द्वारा स्थानान्तरित कर दिया गया है। सप्तमी एकवचनान्त रूपों का व्युत्पादक –इन् अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। ईरानी में केवल –इ वाले रूप मिलते हैं : अवे० अह्मि– अह्मी (ahmī), कह्मि,

यह्मि, यह्मि, यह्मी (yahmĭ)। ये रूप स्पष्टतः अधिक मूलरूप हैं और संस्कृत का –न् निश्चित रूप में गौण समायोग है, चाहे यह किसी भी मूल से लिया गया हो। कतिपय मध्यभारतीय आर्यभाषाओं में भी अनुनासिक तत्व का अभाव मिलता है : पालि तम्हि, प्राकृत तंसि, जो प्राकृत तस्सिं के विरुद्ध है। इन रूपों को सीधे ईरानी रूपों से जोड़ा जा सकता है और ये प्रा० भारतीय आर्यभाषा में साहित्यिक भाषा के द्वारा अपना लिए गए तस्मिन् आदि के साथ-साथ विद्यमान वैभाषिक रूप *तस्मिं आदि का संकेत करते हैं।

स्त्रीलिंग शब्दों के चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी एक० में विभक्तिज रूपों के पूर्व एक तत्व –स्य्– मिलता है। यह तत्व ईरानी में (अवे० अह्याइ, ahyāi, अइङ्हाइ aiŋhāi, अइङ्हाम् aiŋhā̊, आदि) और प्राचीन प्रशियन में (सम्प्रदान एकवचन स्तेस्सिएइ stessiei, सम्बन्ध एकवचन स्तेस्सिअस्) भी मिलता है। जर्मन शाखा में इन स्थितियों में केवल –स्– मिलता है (गॉथिक सम्प्रदान एकवचन थ़िज़्ज़ाइ pizai, सम्बन्ध एकवचन थ़िज़्ज़ोस् pizōs)। इन रूपों की अत्यधिक ठीक व्याख्या यह है कि ये रूप षष्ठी एकवचन तस्य आदि पर आधृत हैं, जो मूलतः दोनों लिङ्गों में समान रूप थे, जिनमें स्त्रीलिङ्ग रूप अन्ततः विभक्तिज रूपों में अन्त में –आस् जोड़कर पुल्लिङ्ग रूपों से भेदीकृत किए जाते थे। इस आरम्भ से अन्य विभक्तिज रूप संज्ञाशब्दों के सादृश्य पर मजे से बनाए जा सकते थे।

द्विवचनान्त विभक्तिज रूप वही हैं, जो संज्ञाशब्दों के। षष्ठी-सप्तमी में ये रूप सार्वनामिक रूपों के संज्ञारूपों में स्थानान्तरण से उत्पन्न हुए हैं, जैसाकि हमें स्लावी के दो भिन्न प्रकार के विभक्तिज रूपों के परस्पर भेद से दिखाई पड़ता है (व्लुकु vluku, तोयु toju)। केवल –ओस् वाले कतिपय रूप वैदिक भाषा में मिलते हैं (अवोः, एनोः)।

पुल्लिङ्ग प्रथमा बहुवचन के रूप ध्वनियुग्मान्त प्रातिपदिक के आधार पर बनाए जाते हैं, ते, के आदि। इसी तरह अन्य भा० यू० भाषाओं में भी : ग्रीक तोइ (toi), गॉथिक थ़इ (pai), लिथुआनी तिए tie, प्रा० स्लावी ति, आदि। चूँकि प्रा० लैटिन में हमें इस प्रकार के प्रातिपदिक से बने रूपों का प्रयोग एकवचन में क्वोइ quoi (सम्बन्ध क्वोइउस् quoius, सम्प्रदान क्वोइएइ quoiei) में मिलता है और चूँकि संस्कृत में यह प्रातिपदिक बहुवचन के बाहर भी कतिपय रूपों में उपलब्ध है (तृतीया ए० व० ते– न्– अ्– (तेन), स्त्री० तय्– आ (तया), षष्ठी-सप्तमी द्विवचन तय्– ओस् (तयोः), यह अनुमान किया जाना चाहिए कि प्रातिपदिक का यह रूप मूलतः केवल बहुवचनान्त न था, पर यह धीरे-धीरे बहुवचनान्त रूपों

के लिये विशेषीकृत हो गया। प्रथमा ब० व० में उपलब्ध प्रातिपदिक रूप अन्य विभक्तिज रूपों का आधार है (तेभिः आदि), जिसका अपवाद केवल द्वि० बहुवचनान्त रूप हैं, जो निश्चित रूप में संज्ञाशब्दों के विभक्तिज रूपों से लिए गए हैं। ऋग्वेद में तृतीया विभक्ति के बहुवचन में केवल –तेभिः जैसे रूप मिलते हैं और इस प्रकार के रूपों को अपनाने की प्रवृत्ति का प्रदर्शन संज्ञाशब्दों के रूप भी करते हैं। आगे चलकर सार्वनामिक विभक्तिज रूप केवल संज्ञाशब्दों से ही नहीं निकाल दिए गए, बल्कि सार्वनामिक शब्दों में भी ये रूप संज्ञारूपों के द्वारा (तैः) हटा दिए गए। इसका एकमात्र अपवाद केवल प्रातिपदिक अ– है, जिसमें परवर्ती भाषा में तृतीया का प्राचीन रूप सुरक्षित है (एभिः : अवे० अएइबिश् aēibiš)।

पुल्लिङ्ग-नपुंसक लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग दोनों में षष्ठी ब० व० में प्रातिपदिक तथा विभक्ति-चिह्न के बीच एक –स्– मिलता है। यह –स्– अन्यत्र भी मिलता है : पुल्लिङ्ग अवे० अएशँम् (aēšąm), प्राचीन फारसी अवइशाम् (avaišām), प्रा० स्लावी तेख्रु (techŭ), प्रा० प्रशियन स्तेइसोन (steison); स्त्री० अवे० आंङ्हँम् (å̃ŋhąm), ग्रीक ताओन् (taōn), लैटिन इस्तारुम् (istārum), ऑस्कन एइज़ाज़न्–क् (eizazun–c)। इस तथ्य को मानते हुए कि जर्मन (एग्लो–सेक्सन द्वार ðāra) और स्लावी (तेख्रु tĕchŭ) भाषाओं में इस कारक के रूपों में स्त्री० रूपों का स्थान पु० रूपों ने ले लिया है, स्त्री० में पु० की अपेक्षा –स्– वाले रूप स्पष्टतः अधिक विस्तृत हैं (उदाहरणार्थ : ग्रीक ताओन् taōn, किन्तु तोन् tōn)। यह तथ्य यह संकेत अच्छी तरह कर सकता है कि स्त्री० में यह विभक्तिज रूप अधिक मूल रूप है और यदि ऐसा ही है तो यह –स्– प्र० ब० व० ताः (= tās तास्) का –स्– है, जिसके साथ षष्ठी बहुवचनान्त विभक्त्यंश जोड़ दिया गया है। पुल्लिङ्ग रूपों में षष्ठी ब० व० के अलावा स्त्री० के विभक्तिज रूप संज्ञाशब्दों के विभक्तिज रूपों से भिन्न नहीं हैं।

अ– विकरणयुक्त वे सार्वनामिक प्रातिपदिक, जो संस्कृत में मिलते हैं, निम्न हैं :—स/त 'वह'; (पुं० स्त्री० नपुं०) एष/एत– 'यह', स्य/त्य– 'वह', एन– 'उसे', अम– 'यह', अव– 'वह', त्व– 'एक-एक, दूसरा', क– 'कौन, कैसा ?', य– 'जो', सम– 'कोई, हरेक', सिम– 'स्वयं', नेम– 'एक निश्चित व्यक्ति', अ–, अन– और इम– 'यह'।

प्रातिपदिक –स– और –त– दोनों एक ही शब्द के रूपनिर्माण में सम्मिलित हैं और उनका विभाजन इस तरह हुआ है कि जहाँ पुंल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग के प्र० ए० व० में –स– मिलता है, वहाँ अन्यत्र –त–। इस दृष्टि से संस्कृत ईरानी (अवे० हा, हो, हा, तत्, hā, hō, hā, tat̰, आदि), हे, हे, तो, ho, hē,

to, आदि) और जर्मन (गॉथिक स, सो, थत sa, sō, pat आदि) से मिलती है। यह परम्परा भारत-यूरोपीय स्थिति का प्रचलन है और जहाँ इन दो कारकों में त्– मिलता है (लिथुआनी तस् , त, tas, ta, प्रा० स्ला० तु, त tŭ, ta) वहाँ यह नवीन रूप है। पुल्लिङ्ग कर्त्ता एकवचन में प्रथमान्त विभक्ति-चिह्न विसर्ग (स्) का अभाव इस सर्वनाम की मूल विशेषता भी थी। संस्कृत में वाक्य के अन्त में आने पर यह रूप (सः) पाया जाता है और स्वर के पूर्व होने पर सन्धि में इसे सः (स आह, सोऽद्य) की तरह समझा गया है। ग्रीक में भी एक रूप होस् hos 'वह' मिलता है, जो प्रायः उपवाक्य के अन्त में पाया जाता है और इस बात का संकेत करता है कि कर्त्ता ए० व० का यह वैकल्पिक रूप भारतीय-यूरोपीय काल तक जाता है। अन्य रूपों में इन सार्वनामिक शब्दों के विभक्तिज रूपों में त–नियत रूप से मिलता है, जिसका सम्भाव्य अपवाद ऋग्वेद में प्राप्त सप्तमी एकवचनान्त रूप सस्मिन् है। चूँकि इस पद का अर्थ कुछ प्रकरणों में 'वही एक' मालूम होता है, इसे सम्भवतः सार्वनामिक शब्द की अपेक्षा भारत-यूरोपीय मूल रूप सेम्– 'एक' के साथ जोड़ना अधिक ठीक होगा।

प्रातिपदिक एष–/ एत और स्य / त ठीक स / त की तरह ही एक-दूसरे के वैकल्पिक रूप हैं। इसमें से प्रथम सन्धिज ए है, जो अयम् सार्वनामिक शब्द के अय्– और उपर्युक्त प्रातिपदिक स / त के योग से बना है। यह योग अवेस्ता (पु० कर्त्ता० ए० व० अएश, अएशो aēša, aēšō; , स्त्री० अएश aēša, न० अएतत् aētat) में भी मिलता है, किन्तु भारत-यूरोपीय में अन्यत्र नहीं। सार्वनामिक शब्द स्य/त्य– खास तौर पर ऋग्वेद में मिलता है। परवर्ती प्राक्-लौकिक साहित्य में और आरम्भिक पालि-ग्रन्थों में भी (जातक त्यम्हि, त्यासु), कुछ छुटपुट प्रयोग मिलते हैं, किन्तु ये लौकिक भाषा में प्रयोग में नहीं आते, यद्यपि वैयाकरणों ने स्वीकार किए है। भारतीय आर्य शाखा के बाद इनसे मिलते-जुलते रूप केवल प्रा० फारसी य–, त्य– है, जो संस्कृत अवेस्ता य के स्थान पर सम्बन्धबोधक सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

प्रश्नवाचक सर्वनाम क– 'कौन' के विभक्तिज रूप सार्वनामिक रूपों की तरह ही नियत रूप से चलते हैं, जिसका अपवाद न० लिंग प्र०, द्वि० एकव० का किम् है, जिसके अतिरिक्त ऋग्वेद में अकारान्त प्रातिपदिक के ढंग पर नियत रूप से बनाया गया कत् (अवे० कत् , लैटिन क्वोद्, गॉथिक ह्व hʋa) भी है। भारत-यूरोपीय भाषा में अकारान्त प्रातिपदिक (संस्कृत कः, अवे० को, लिथुआनी कस् , गॉथिक ह्वस् आदि) और इकारान्त प्रातिपदिक (ग्रीक तिस् tis, लैटिन क्विस् quis, हित्ती क्विश् kwiš) दोनों मौजूद थे। भारत-ईरानी में

ठीक इसी तरह इस प्रातिपदिक के दोनों रूप थे, और यह स्थिति ईरानी में प्रचलित रही है: अवे० कर्त्ता० ए० व० चिश् čiš, कर्म० ए० व० चिम् čim, कर्ता ब० व० चयो čayo आदि। संस्कृत में सर्वनाम के इस रूप को हटा देने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ऋग्वेद से एक छुटपुट प्रश्नवाचक किः का उदाहरण दिया जाता है, जो अन्यत्र केवल न–किः और मा–किः 'न कोई' (अवे० नए–चिश् naē–čiš, मा–चिश् mā–čiš) जैसे केवल संयुक्त प्रयोगों में मिलता है।

ईम्–सीम् की तरह उसी शब्द से व्युत्पन्न एक निपात कीम् इसी स्थान पर न–कीम्, मा–कीम्[1] (तुल० अवे० नए – चीम् naē–čim, मा – चीम् ma – čim) जैसे संयुक्त रूपों में मिलता है। नियत रूपसंघटना में सुरक्षित एकमात्र कि– रूप न० प्र०-द्वि० ए० व० किम् है। यह रूप अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध रूपों से मेल नहीं खाता, जिनमें न० का साधारण सार्वनामिक चिह्न –द् है (हित्ती क्वित् kwit, लैटिन क्विद्, kwid, अवे० चित् čit, आदि)। यह रूप संस्कृत में ही उदात्तरहित निपात चित् čit (कश्चित् 'कोई') में सुरक्षित है, जिससे प्रश्नवाचक *चिद् के अस्तित्व का भाषा की प्रारम्भिक दशा में अनुमान किया जा सकता है। पदान्त –म् की व्याख्या कैसे की जाय, यह स्पष्ट नहीं है, किन्तु अवे० निपात चिम् – चीम् čim का अस्तित्व इस बात का संकेत कर सकता है कि यह भारत–ईरानी युग का है और इसका सुदूर सम्बन्ध लैटिन क्रियाविशेषण रूप इन्तेर् – इम् inter-im, ओलिम् ōlim से और संस्कृत किंचित् का आर्मीनी इन्–च् in– č से संकेतित किया गया है। सादृश्य के आधार पर तालव्य स्वर के पूर्व क्–, का पुनःसंस्थापन आरम्भिक ईरानी के विरुद्ध संस्कृत की खास विशेषता है। यह स्थिति कतिपय अ-विकरणयुक्त प्रातिपादिकों में भी हो गयी है, जिनके मूल रूप में ए स्वर था—उदा० ष० ए० व० कस्य, अवे० चह्या, čahyā, ग्रीक तॅओ teō, प्रा० स्ला० चेसो česo।

इस सर्वनाम से बने क–, कि–, और कु– इन तीन प्रातिपदिकों पर आधृत अनेक विशेषण और क्रियाविशेषण रूप मिलते हैं।

क– : कतर– 'दो में से कौन' (: अवे० कतार–, ग्रीक कोतॅरोस् kóteros, गॉथिक ह्वथर् hapar), कतम 'कई में से कौन' (अवे० कताम–), कति 'कितने' (: अवे० चइति čaiti, लैटिन कोत् quot), कथा, कथम् 'कैसे' (: अवे० कथ– कथा kaθă) 'कब' (:अवे : कदा, कद) कर्हि 'जब'।

कि– : कीवन्त्– 'कितना' (: अवे च्वन्त् čvant–), कियन्त्– 'वही'।

कु– : कूचित् 'कहीं भी' में कू, प्रश्नवाचक निपात कुव्– इत् (कुवित्)

(: अवे० कू 'कहाँ'), क्व 'कहाँ', कुहं 'वहीं' (: अवे० कुदा, प्रा० स्ला० कुदे kŭde), कुत्र 'वहीं', कुतः 'कहाँ से'।

सम्वन्धवाचक सर्वनाम य- के समानान्तर रूप ईरानी (अवे० य-), ग्रीक (होस् hōs) और फ्रीजियन (इओस्) और अन्यत्र कई रूपों में हैं। इसके रूप सामान्य सार्वनामिक शब्दों के ढंग पर (यः, या, यत् आदि) चलते हैं और इनके विषय में कोई खास टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। इससे वने अनेक शब्दों में इनका संकेत किया जा सकता है : यतर 'दोनों में से जो कोई' (: अवे० यतार्-), यतिं 'जितने' यावंन्त्- 'जितने' (: अवे० यावन्त्-), यथा 'जैसे' (: अवे० यथ्र-यथ्रा yaθă̄), यत्रं 'कहाँ' (: अवे० यथ्र-यथ्रा yaθră̄), यदा 'जव' (: अवे० यद्-यदा yadă̄), यदि 'अगर' (अवे० यद़ि, यैइद़ि yađi, yeiđi, प्रा० फारसी यदिय्)।

उदात्तरहित सर्वनाम एन- 'इसे' केवल द्वितीया विभक्ति के सभी वचनों, तृ० ए० व० और षष्ठी-सप्तमी द्वि० व० में प्रयुक्त होता है। अन्य विभक्तियों में अयम् सर्वनाम के उदात्तरहित रूपों का प्रयोग ठीक उसी वाक्यरचनात्मक प्रक्रिया के साथ होता है (अस्य, अस्मै आदि)। पुरानी ईरानी और शेष भारत-यूरोपीय में ऐसा कोई सर्वनाम शब्द नहीं मिलता, जिसकी इसके साथ तुलना की जा सके, लेकिन सम्भवतः मध्य फारसी एन् , आधु० फा० ईन्- ठीक इसी स्रोत तक जाते जान पड़ते हैं।

सार्वनामिक प्रातिपदिक अव- वैदिक भाषा में ही प्रायः लुप्त हो गया है, जो केवल तीन स्थानों पर षष्ठी-सप्तमी द्वि० व० (अवोः) तक ही सीमित है। दूसरी ओर ईरानी में यह सामान्य प्रयोग में प्रचलित रहा है (अवे०, प्रा० फारसी अव-) और इसका समानान्तर सर्वनाम स्लावी में भी मिलता है (प्रा० स्ला० ओवु)।

उदात्तरहित सर्वनाम त्व- 'कोई एक, कोई अनेक' (पुनरुक्त होने पर 'एक···दूसरा') वेद में मिलता है, किन्तु परवर्ती भाषा से लुप्त हो गया है। भारतीय-आर्य उपशाखा के बाहर क्रियाविशेषण रूप में प्रयुक्त (जैसा कि संस्कृत त्वत् भी है।) अवे० थ्वत् (θwat) न० ए० व० के साथ इसकी तुलना की जा सकती है। अवे० में एक सर्वनाम ह्वो (hvo) 'वह' भी है, जो संकेत करता है कि मूलतः स्य/त्य- की तरह इस शब्द में भी एक वैकल्पिक प्रातिपदिक *स्व/त्व था।

सर्वनाम अम 'यह' केवल एक वैदिक प्रयोग मिलता है। अन्यत्र यह प्रातिपदिक केवल प्रा० फारसी क्रियाविशेषण अमत 'वहाँ से' और सम्भवतः वैदिक क्रियाविशेषण अमा 'सानन्द' में मिलता है।

वैदिक सर्वनाम नेम– 'कोई एक' ठीक उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसमें सर्वनाम त्व– और इसे उसके साथ नेम उ त्व आह 'एक अथवा दूसरे ने कहा' जैसे उपवाक्यों में संयुक्त किया जा सकता है। यह संस्कृत नेम 'आधा' अवे० नएम– 'आधा हिस्सा' का प्रातिपदिक रूप है, जिसे विशेषण की तरह 'वह', 'वे एक ओर के व्यक्ति' प्रयुक्त है।

उदात्तरहित सम– 'कोई, हरएक' ठीक इसी तरह प्रारम्भिक भाषा तक ही सीमित है। यह अवे० हम– 'हरएक', गॉथिक सुम्स् 'कोई एक' से मिलता है और अन्ततः भारत-यूरोपीय मूल रूप सेम् 'एक' से निकला है। क्रियाविशेषण समह 'कहीं, किसी तरह' इसीसे बना है।

सर्वनाम सिम– 'अपने आप' जो भी वैदिक भाषा तक सीमित है, संस्कृत के बाहर ठीक समानान्तर कोई रूप नहीं रखता। संघटना की दृष्टि से इसकी तुलना सर्वनाम शब्द इम–, से की जा सकती है; उदा० सिम– का सीम् से ठीक वही सम्बन्ध है, जो इम– का ईम् से।

प्रातिपदिक अ– अन– और इम अयम् शब्द के विभक्तिज रूपों के अंश हैं और इनका विवेचन नीचे किया जा रहा है।

इस प्रकार के विभक्तिज रूप अनेक विशेषणीभूत प्रातिपदिकों से युक्त हैं, जिनमें कुछ सार्वनामिक व्युत्पत्तिज शब्द हैं और कुछ अन्य प्रकार के विशेषण। सार्वनामिक शब्दों के –अत् वाले नपुं० प्र० द्वि० एक० व० के रूप अन्य 'दूसरा' (अन्यत्, तुल० ग्रीक अल्लो állo, लैटिन अलिउद् aliud) तथा कतर–, कतम–, यतर–, यतम–, और इतर 'दूसरा' जैसे सार्वनामिक व्युत्पत्तिजों के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। सार्वनामिक लुप् विभक्ति किन्तु न० पुं० प्र० द्वि० ए० व० में –अम् का प्रयोग विश्व 'सब' (पु० प्र० ब० व० विश्वे, पु० न० षष्ठी ब० व० विश्वेषाम् आदि, : अवे० वीस्पे, वीस्पएशम् vispe, vīspaēšam), सर्व 'सब' (विश्व के सादृश्य पर भारतीय आर्य-विकास) एक 'एक' (तुल० अयेव 'एक से बने' अवे० अएवह्मात् aēvahmāt आदि) जैसे प्रातिपदिकों के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार के रूपों का प्रचलन जिन दूसरे विशेषणों में पाया जाता है, वे अधर–, अधम–, अन्तर–, अन्तम– अपर–, अपम– जैसे कतिपय तुलनाबोधक शब्द और पूर्व 'पहला, पूर्व दिशा', दक्षिण– 'दाहिना, दक्षिण दिशा' तथा उभय– जैसे कतिपय विशेषण-शब्द हैं। इस परवर्ती वर्ग में प्रयोग की काफी अनियतता पायी जाती है, कई स्थानों पर सार्वनामिक विभक्तिज रूप वैकल्पिक हैं और कुछ में सार्वनामिक विभक्तिज रूप का प्रयोग केवल विशिष्ट अर्थ में पाया जाता है।

सर्वनाम अयम् और असौ

शब्दरूपः—

(१) एकवचन—पु० प्र० अयम्, स्त्री० इयम्, नपुं० इदम्, पु० द्वि० इमम्, स्त्री० इमाम्, न० इदम्, पु० न० तृ० अनेन, स्त्री० अनया, पु० न० च० अस्मै, स्त्री० अस्यै, पु० न० पं० अस्मात्, स्त्री० अस्याः, पु० न० षष्ठी अस्य, स्त्री० अस्याः, पु० न० सप्तमी अस्मिन्, स्त्री० अस्याम्।

द्विवचन—पु० प्र० द्वि० इमौ, स्त्री० न० इमे, तृ० च० पं० आभ्याम्, षष्ठी, सप्तमी अनयोः।

बहुवचन—पु० प्र० इमे, स्त्री० इमाः, न० इमानि, पु० द्वि० इमान्, स्त्री० इमाः, न० इमानि पु० न० तृ० एभिः, स्त्री० आभिः, पु० न० च० पं० एभ्यः, स्त्री० आभ्यः, पु० न० षष्ठी एषाम्, स्त्री० आसाम्, पु० न० सप्तमी एषु, स्त्री० आसु।

(२) एकवचन—पु० स्त्री० प्र० असौ, न० अदः, पु० द्वि० अमुम्, स्त्री० अमूम्, न० अदः, पु० न तृ० अमुना, स्त्री० अमुया, पु० न० च० अमुष्मै, स्त्री० अमुष्यै, पु० न० पं० अमुष्मात्, स्त्री० अमुष्याः, पु० न० षष्ठी अमुष्य, स्त्री० अमुष्याः पु० न० सप्तमी अमुष्मिन्, स्त्री० अमुष्याम्।

द्विवचन—प्र० द्वि० अमू, तृ० च० पं० अमूभ्याम्, षष्ठी-सप्तमी अमुयोः।

बहुवचन—पु० प्र० अमी, स्त्री० अमूः, न० अमूनि, पु० द्वि० अमून्, स्त्री० अमूः, न० अमूनि, पु० न० तृ० अमीभिः, स्त्री० अमूभिः, पु० न० च० पं० अमीभ्यः, स्त्री० अमूभ्यः, पु० न० षष्ठी अमीषाम्, स्त्री० अमूषाम्, पु० न० सप्तमी अमीषु, स्त्री० अमूषु।

इन दोनों सर्वनाम शब्दों को सामान्य सार्वनामिक शब्दरूपों से कई बातों में भिन्न होने के कारण एक साथ लिया जा सकता है। सर्वनाम अयम् को उन अनेक प्रकार के प्रातिपदिकों के कारण अलग किया जा सकता है, जिनसे इसके शब्दरूप बनते हैं। इसमें मूल प्रातिपदिक आय् (ए-) /इ और अ- है। पु० प्र० ए० अयम् (: अवे० अएम्) प्रथम प्रातिपदिक के गुणरूप के साथ सामान्य सार्वनामिक सुप्-चिह्न -अम् (तुल० अहम् आदि) के योग से बना है। स्त्री० प्र० ए० इयम् (अवे० ईम्, *इयॅम् iyəm के लिए, प्रा० फारसी इयम् दोनों पु० स्त्री०) ठीक इसी तरह ई-<इ-? (i-<i-H) का विस्तृत रूप है। इसी ढंग से न० प्र० द्वि० ए० व० इद् (: लैटिन इद् id) का विस्तार है जो निपात के रूप में मिलता है। लैटिन में ठीक वही विस्तृत रूप इदेम् idem 'ठीक वही' एक विशेष अर्थ में मिलता है, जो संस्कृत में अनुपलब्ध है। इसी विस्तृत रूप से पुं० द्वि० ए० व० *इम् (ग्रीक इन्, अउतोन्, ín, autón, लैटिन

इम्) के साथ जोड़कर इमम् (: अवे० इमॅम् imәm, प्रा० फारसी इमम्) उत्पन्न हुआ, जिससे एक नया प्रातिपदिक इम– निकाला गया है और उससे स्त्री० द्वि० ए० व० इमाम् (अवे० इमँम् , प्रा० फारसी इमाम्), पु० प्र० द्वि० द्वि० वचन इमौ (: अवे० इम), स्त्री० न० इमे, पु० प्र० व० व० इमे (: अवे० इमे, प्रा० फा० इमम्), पु० द्वि० व० व० इमान् (: अवे० इम)। स्त्री० प्र० द्वि० व० व० इमाः (अवे० इमा (स्), प्रा० फारसी इमा), न० इमा (नि) (अवे० इमा) विस्तृत रूप वने हैं। यह प्रातिपदिक कभी-कभी वैदिक भाषा में (किन्तु लौकिक में कभी नहीं) अन्य विभक्तिज रूपों में भी विस्तारित मिलता है : इमस्य, इमस्मै; ठीक इसी तरह ईरानी (अवे० न० कर्त्ता-कर्म ए० व० इमत् imat, प्रा० फारसी संवंध व० व० (इमशाम्), मध्य-भारतीय आर्यभाषा (पालि इमस्स. आदि) और वौद्ध तथा अन्य अशुद्ध संस्कृत रूपों (इमेषु, आदि) में भी मिलता है।

प्रातिपदिक अ– चतुर्थी, षष्ठी, पञ्चमी, सप्तमी ए० व० में अवे० की तरह (अह्माइ, अह्मत्, अह्या/अहे, अह्मि, स्त्री० अह्यै (ahmāi, ahmat, ahyā/ahe, ahmi, स्त्री० ahyāi आदि) तृतीया व० व० आदि के समानान्तर रूपों के साथ (एभिः : अवे० अएविश् aēbiš; स्त्री० आभिः : अवे० आविश् ābiš, आदि) मिलता है। वैदिक भाषा में तृ० ए० व० में एना, स्त्री० अया और षष्ठी-सप्तमी रूपों में अयोः रूप मिलते हैं। दूसरी ओर लौकिक भाषा में इनके स्थान पर अनेन, अनया, अनयोः मिलते हैं। अवेस्ता में तृ० ए० व० रूप अन– अना anā̆ है, जिसे अकारान्त प्रातिपदिक से कन– आदि की तरह वनाया गया है और इससे मिलता-जुलता एक वैदिक क्रियाविशेषण अना 'इसलिये' है। यह मालूम पड़ता है कि प्रातिपदिक अ–, जिसके आधार पर उपर्युक्त संस्कृत रूप और अवे० करण व० व० अनाइश् वने हैं, इस शब्दरूप अना से विकसित हुआ है। दूसरी ओर स्लावी में एक सर्वनाम ओनु (onŭ) मिलता है, जिसके साथ इसकी तुलना की जा सकती है। यह सम्भव है कि स्लावी सर्वनाम प्रातिपदिक के सामान्यीभाव (साधारणीकरण) से उत्पन्न हुआ है, जो ठीक भारत-ईरानी अन– के ढंग पर विकसित हुआ था।

इस सर्वनाम और अन्य सामान्य सार्वनामिक शब्दरूपों के समानान्तर रूपों में परस्पर उदात्तस्वर के स्थान की दृष्टि से भेद पाया जाता है (तस्य के विपरीत अस्य, आदि), जो कि अयम् के पदान्त उदात्त स्वर के साधारणीकरण के कारण जान पड़ता है। पुनरुक्त सर्वनाम (अस्मै 'इसे' आदि) का प्रयोग होने पर अ– प्रातिपदिक के सुवन्त रूप उदात्तरहित (सर्वानुदात्त) पाए जाते हैं।

अ– और इ– सार्वनामिक प्रातिपदिकों के आधार पर कई क्रियाविशेषण रूप बनाए गए हैं : अत्र 'यहाँ' (: अवे० अथ्र– अथ्रा aθrā̆), अतः 'यहाँ से', इदा (: अवे० इद iδa), इदानीम् 'अब', इह 'यहाँ' (अवे० इद, इद (iδa), प्रा० फारसी इद), इत्थम् 'इस तरह' आदि ।

असौ सर्वनाम का एकमात्र अंश, जिससे मिलता-जुलता रूप अन्य भाषा में ढूँढा जा सकता है, प्र० ए० व० असौ है । इससे मिलता-जुलता रूप अवे० हाउ, प्रा० फारसी हाउव् है, जो संस्कृत में प्रायः लुप्त हो गया है, किन्तु दूसरे कारकों में यह प्रातिपदिक अव– का प्रयोग करता है । *साउ (*sāu) की अत्यधिक सम्भाव्य व्याख्या यह है कि इसमें स, सा सर्वनामों के साथ दूरताबोधक निपात –अउ (औ) जोड़ा गया मिलता है । ठीक इसी तरह द्वितीयान्त अमुम् को अम्– उ के स्थान पर प्रयुक्त माना जा सकता है, जो उसी निपात का अपश्रुति-जनित रूप है । अम्– सार्वनामिक प्रातिपदिक अ– का द्वि० ए० व० का चिह्न है, जिसमें सर्वनाम का विशिष्ट अर्थ ('वह दूर का व्यक्ति या वस्तु') विशेषरूप में जोड़े गए तत्त्व –उ के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है । ज्योंही एक बार इसे प्रातिपदिक के रूप में स्पष्ट कर लिया जाता है, कर्म एकवचन का सुवन्त रूप स्वभावतः अन्य सार्वनामिक प्रातिपदिकों के सादृश्य पर पूरे सविभक्तिक सार्वनामिक रूपों का आधार बन जाता है । यदि यह –उ प्रत्यययुक्त प्राचीन प्रातिपदिक होता, तो इसके विभक्तिज रूप उकारान्त शब्दों के ढंग पर होने चाहिए थे । यह तथ्य कि यह शब्द अ– विकरणवाले शब्दों (इसके सार्वनामिक शब्दों) की तरह अन्य उकारान्त प्रातिपदिकों के विपरीत सुबन्त रूपों का ग्रहण करता है, इस बात का संकेत करता है कि यह संस्कृत में परवर्तीकाल का विशिष्ट निर्माण है, जो उपर्युद्धृत पद्धति से किसी तरह विकसित हुआ है ।

संस्कृत पु० स्त्री० प्रथमा ए० व० में पदादि अ– मिलता है, जो ईरानी हाउ में अनुपलब्ध है । यह स्पष्ट है कि यह अमु– प्रातिपदिक के सादृश्य पर विकसित हुआ है और ईरानी हाउ, जो भारत-ईरानी *साउ का प्रतिनिधित्व करता है, अधिक मूलरूप है । न० प्र० द्वि० ए० व० अदः एक ऐसा रूप है, जिसके लिये अन्यत्र कहीं कोई सादृश्य नहीं मिलता । इस रूप की अधिक सम्भाव्य व्याख्या यह है कि यह मूलतः अदो था, जिसे उन संहितागत (सन्धिगत) प्रकरणों में, जहाँ –अस् (अः) –ओ हो जाता है, गलती से अदः समझ लिया गया है । इस व्याख्या की पुष्टि में ऋग्वेद से एक उदाहरण उद्धृत किया जा सकता है, जहाँ पदादि प्– के पूर्व अदो मिलता है । प्र० ब० व० रूप अमी और अन्य विभक्तिज रूप, जो इसी प्रातिपदिक पर बने हैं, सहज व्याख्यागम्य नहीं हैं । यह संकेत किया गया है, यद्यपि यह संकेत निश्चित नहीं है, कि एक सादृश्य-

जनित स्वरयुग्मान्त रूप अशुद्ध अ-विकरण युक्त सर्वनाम शब्दों के ध्वनियुग्मान्त ब० व० वाले प्रातिपदिकों (ते < तइ < तोइ, te < tai < toi, आदि) के सादृश्य पर निर्मित किया गया और चूँकि इस तरह का यौगिक रूप नया और अप्रचलित (विकसित; उ + इ का विकास वि– होता है) था, यह अस्थिर रहा और –ई के रूप में परिवर्तित हो गया।

३. अव्यय

नामिक प्रातिपादिकों के निर्माण के सम्बन्ध में कतिपय प्राचीन क्रिया-विशेषणों का जिक्र किया जा चुका है कि प्रातः (प्रातर्) 'बहुत तड़के' जैसे क्रियाविशेषण उन प्रत्ययों से बने हैं, जो मूलतः नपुं० प्रातिपदिकों के प्रयोग में आते हैं। इस प्रकार के क्रियाविशेषणों में उदात्त स्वर सामान्यतः प्रत्ययांश पर मिलता है, जो निर्विभक्तिक सप्तम्यन्त रूपों में भी उपलब्ध है, जिनके साथ ये रूप अभिन्न हैं। इनके अतिरिक्त प्रकृत्यंश पर उदात्त स्वर वाले (अन्ति आदि) रूप भी हैं, जिनमें अपरिवर्तित नपुं० प्रातिपदिक मिलता है। इस प्रकार के क्रियाविशेषणों की की तालिका प्रत्यय के आधार पर बनायी हुई निम्नलिखित है।

प्रत्ययरहित नपुं० प्रातिपदिक : युगपद् 'साथ-साथ', आनुषक् 'क्रम से'।

प्रत्यय –अर् : अवर् (अवः) 'नीचे' पुनर् (पुनः) 'फिर'।

–तर् : प्रातर् (प्रातः) 'तड़के', सनुतर् (सनुतः) 'दूर', अन्तर् (अन्तः) 'बीच में';

–तुर् : सनितुर् 'दूर';

–वर् : सस्वर् (सस्वः) 'चुपचाप';

–उर् : मुहुर् (मुहुः) 'एकाएक';

–इ : सामि 'आधा' (प्रायः समस्त पदों में तुल० ग्रीक हेमि–, लैटिन सेमि–), परि 'चारोंओर';

–ति : अन्ति 'नजदीक', प्रति 'विपरीत, ओर';

–उ : मिथु 'गलती से', मक्षु 'एकाएक' (तुल० लैटिन मोक्स्), मुहु 'एकाएक' (तुल० अवे० मॅरॅज़ु mərəzu–, ग्रीक ब्रखुस् brakhús), अनुष्ठु 'एकदम';

–अस् : मिथस् (मिथः) 'गलती से', ह्यस् (ह्यः) 'गया कल' (: ग्रीक ख्थेस् khthes, लैटिन हेरी heri अधिक प्रत्यय से युक्त) श्वस् (श्वः) 'आने वाला कल' 'अवे० सूर्– 'प्रातःकाल' में प्रयुक्त र्– प्रातिपदिक के विपरीत, अवस् (अवः) 'नीचे', अधस् (अधः) 'नीचे', प्रायस् (प्रायः) 'सामान्यतः' सद्यस्, सदिवस् (सद्यः, सदिवः) 'आज, एकदम' तिरस् (तिरः) 'तिरछे', परस् (परः) 'आगे' पुरस् (पुरः) 'पहले';

–इस् : आविस् (आविः) 'स्पष्टतः', वहिस् (बहिः) 'बाहर';

उस् : अन्येद्युस् (अन्येद्युः) दूसरे दिन', प्रायुस् (प्रायुः) 'प्रकट';

अत् : द्रवत् 'जल्दी से', द्रह्यत् 'मजबूती से' (ऋग्वेद में एक बार), ईषत् 'थोड़ा'

–इत् : प्रदक्षिणित् 'किसी चीज को ठीक तरह से (दाहिने) रखते हुए, चिकित्विद् ;

–अद् : स्मद्, सुमद् 'साथ' (: अवे० मत् mat)

–क् : ज्योक् 'बहुत देर तक' (तुल० लैटिन दिऊ)

क्रिया के उपसर्ग की तरह काम करने वाले कई क्रियाविशेषण निर्विभक्तिक अ-विकरण युक्त प्रातिपदिक है। जैसे अव 'नीचे', अप 'दूर' (: ग्रीक अपो ápo), उप 'नजदीक, तक' (: ग्रीक हुपो húpo 'नीचे') और प्र 'आगे' (ग्रीक प्रो, pró आदि)। चूंकि अ-विकरणात्मक प्रत्यय मूलतः विशेषणों के बनाने में प्रयुक्त होता था, इस प्रकार के शब्द बचे-खुचे विशेषणरूप निर्विभक्तिक प्रातिपादिक माने जा सकते हैं, जिन्होंने पुरःसर्गों और क्रिया के उपसर्गों की प्रक्रिया ग्रहण कर ली है।

उपर्युक्त क्रियाविशेषण ठीक समानान्तर नामिक प्रातिपदिकों की पद्धति पर ही बनाए जाते हैं। अन्य क्रियाविशेषणों में खास तौर पर क्रियाविशेषणों के प्रत्यय होते हैं। इनमें से अधिक महत्वपूर्ण निम्नलिखित हैं—

–तस् (तः) : यह प्रत्यय उन क्रियाविशेषणों का निर्माण करता है, जो सामान्यतः पञ्चम्यन्त अर्थ (अपादान) का बोध कराते हैं : इतः 'यहाँ से', ततः 'वहाँ से', अन्यतः 'दूसरी जगह से', दक्षिणतः 'दाहिनी ओर से, दाहिनी ओर', हृत्तः 'हृदय से' आदि। कुछ स्थानों पर इस प्रकार के रूप पंचमी विभक्ति की तरह काम करते हैं : सर्वतो भयात् 'सब प्रकार के भय से', कुतश्चिद्देशादागत्य 'किसी जगह से आकर' यह बताया जा चुका है कि इस प्रकार के रूपों की व्याख्या प्राचीन त्– कारान्त प्रातिपदिकों के पंचमी-षष्ठी के रूपों से विकसित मानकर की जा सकती है। जब केवल त् वाले रूप कम रह गए, तो दक्षिगत्-अस् (दक्षिगतः) को दक्षिग-तः आदि समझा गया और एक नया क्रियाविशेषण प्रत्यय पैदा हो गया। इससे मिलते-जुलते रूप दूसरी भारत-यूरोपीय भाषाओं में मिलते हैं : अवे० ख़्वतो xvatō 'स्वतः', अइवितो aiwitō 'चारों ओर', प्रा० फारसी हचा परुवियत (hača paruviyata) 'पुराने काल से', अमत amata 'वहाँ से' ग्रीक एक्तोस् ektos 'बाहर', लैटिन फ़ुन्दितुस् funditus, कएलितुस् caelitus आदि।

–तात् : यह रूप जो पंचम्यन्त विभक्त्यंश –आत् के साथ उपर्युक्त प्रत्यय

के समायोग से विकसित हुआ है उद्क्तात् 'ऊपर से', प्रक्तात् 'सामने से, अधस्तात् 'नीचे (से)', पुरस्तात् 'सामने' (से)' और ऐसे ही अन्य क्रियाविशेषणों में मिलता है। इसके कोई समानान्तर रूप अन्य भाषाओं में नहीं है।

—त्र, त्रा : इस प्रत्यय से सप्तम्यन्त अर्थ में संज्ञा शब्दों से (केवल वेद में) और सर्वनाम शब्दों से क्रियाविशेषण बनाए जाते हैं : देवत्रा 'देवताओं के बीच', पुरुषत्रा मनुष्यों के बीच', शयुत्रा 'शय्या पर', दक्षिणत्रा दाहिनी ओर', अत्र-अत्रा 'यहाँ', तत्र 'वहाँ', कुत्र 'कहाँ', आदि। ये रूप (तुल० —तस् वाले रूप) कभी-कभी सप्तम्यन्त रूपों के बजाय प्रयुक्त होते हैं : हस्त आ दक्षिणत्रा 'दाहिने हाथ में'। ईरानी में इस तरह के रूप अवे० वङ्हथ्र vaŋhaθra 'निवास-स्थान पर', इथ्र iθra यहाँ, अथ्र-अथ्रा aθrā̆, 'वहाँ', कुथ्र— कुथ्रा kuθrā̆ 'कहाँ' आदि हैं। जैसा कि बताया जा चुका है, ये क्रियाविशेषण —तर् (तृ) अन्त वाले लुप्त न० शब्दों के आधार पर बने हैं, (* शयुतर् (शयुतृ) 'शय्या', वसतर् (वसतृ) 'निवास-स्थान'), इन शब्दों के ये तृतीयान्त रूप हैं, जिनका प्रयोग क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त तृतीयान्त रूपों की तरह प्रयुक्त सप्तम्यन्त अर्थ में हुआ है। —अ और आ— में परस्पर अदला-बदली पदान्त —आ < अ ? (-ā < a H) की सन्धि में भिन्न प्रकार के ग्रहण से है, जिसके उदाहरण अन्यत्र दिए गए हैं।

—था, —थम् : —था प्रत्यय से प्रकारबोधक क्रियाविशेषण बनते हैं : ऋतुथा 'नियत रूप से', प्रत्नथा 'पुराने ढंग से', विश्वथा 'सब तरह से', अन्यथा 'दूसरी तरह से', तथा 'वैसे', कथा 'कैसे', इत्था 'ऐसे', आदि। इसी अर्थ में —थम् और कम मिलता है, कथम् 'कैसे', इत्थम् 'ऐसे'। इस तरह के रूप केवल ईरानी में मिलते हैं : अवे० कथ kaθa, कुथ kuθa 'कैसे', अवथ avaθa 'ऐसे', हमथ hamaθa 'उसी रूप में', आदि।

—दा, —दानीम्, दि : —दा प्रत्यय कदा 'कब', तदा 'तब', इदा 'अब', सर्वदा 'हमेशा', में है, जिसका पहला तत्त्व स्पष्टतः नपुं० सर्वनामों (तद्, आदि) का —द् है। इस तरह के रूप ईरानी, (अवे० कद, तद kaδa, taδa आदि) और लिथुआनी (कद, तद kada, tada, विसद visadà 'हमेशा') में मिलते हैं। इन रूपों को अस्पष्ट मूलवाले तत्व —नीम् को जोड़कर विस्तारित भी किया जा सकता है : इदानीम्, तदानीम्; विश्वदानीम् 'हमेशा'। ठीक यही सार्वनामिक —द् यदि 'अगर' के दि में मिलता है (: प्रा० फारसी यदिय्, अवे० येइदि yeiδi)।

—धा : यह प्रत्यय जिसका अर्थ 'हरेक अंशों में है', त्रिधा 'तीन बार', चतुर्धा 'चार बार', कतिधा 'कितने बार', बहुधा 'अनेक बार', विश्वधा 'सब तरह से', बहिर्धा, 'बाहर (से), मित्रधा 'मित्रता के ढंग से' जैसे शब्दों में

मिलता है। यह धा मूलतः प्रत्यय नहीं है, वल्कि धातु धा का पूर्ववर्ती शब्द के साथ समास करके बना है (तुल० त्रिधातु 'तीन अंश वाला', त्रिधा के अलावा), किन्तु यह ठीक प्रत्यय की तरह काम करने लगा है।

–ध, –ह : एक अन्य प्रत्यय –ध कभी-कभी मिल जाता है, उदा० वैदिक सध 'साथ (कतिपय समस्त पदों में) : प्रायः –ह के रूप में दुर्बल वना दिया जाता है : सह 'साथ'। यही प्रत्यय ठीक इसी दुर्बल रूप में इह 'यहाँ' (पालि० इध, अवे० इद iδa), कुह kuha कहाँ' (अवे० कुदा kuda प्रा० स्लावी कुदे kudé), विश्वह 'सदा' (प्रा० स्ला० विसिदे vĭsĭde 'सर्वत्र') और समह 'किसी तरह' में मिलता है।

–शः (शस्) : यह प्रत्यय संख्यावाचक तथा अन्य शब्दों से विभाजक क्रियाविशेषणों का निर्माण करता है : द्विशः (द्विशस्) 'दो बार, दो-दो', शतशः (शतशस्) 'सौ बार', सहस्रशः (सहस्रशस्) 'हजार बार', श्रेणिशः (श्रेणिशस्) 'पंक्ति बद्ध रूप में', देवशः (देवशस्) 'प्रत्येक देवता के प्रति', आदि; तुल० अवे० नवसो navasō 'नौ वार'। ग्रीक में इसका समानान्तर प्रत्यय ग्रीक –कस् (–kas) है, जो हेकस् (hekas) 'अपने आप, एक व्यक्ति के द्वारा' और अन्द्रकस् ándrakas 'प्रत्येक मनुष्य'। इस तत्त्व का अन्तिम विश्लेषण निश्चित नहीं है। (< क् न् स् (*kn̥s,) तुल० शंस्–, लैटिन केन्सेओ (censeo ?) ।

–र्हि : कर्हि 'कब', तर्हि 'तब', एतर्हि 'इस समय', यर्हि 'जब', अमुर्हि 'वहाँ या तब'। इस युग्मज प्रत्यय में प्रथम तत्त्व सार्वनामिक शब्दों से बनाए गए क्रियाविशेषणों में विभिन्न भारत-यूरोपीय भाषाओं में स्वतन्त्र रूप से मिलता है : लैटिन कुर् cur 'क्यों', गॉथिक थर् par 'वहाँ', लिथुआनियन कुर् kur̃ 'कहाँ', विसुर् visur 'हर जगह' आदि। द्वितीय तत्त्व को –धि (तुल० उपर्युक्त –ह) का दुर्बल रूप मजे से माना जा सकता है और इस –धि की तुलना –थि (thi) से की जा सकती है, जो ग्रीक में पोथि (póthi) 'कहाँ', तोथि (tothi) 'वहाँ' जैसे शब्दों में मिलता है।

क्रियाविशेपण के रूप में प्रयुक्त सविभक्तिक रूप—यह संकेत किया जा चुका है कि उपर्युक्त क्रियाविशेषणों में से अधिकांश अपने अन्तिम विश्लेषण की दृष्टि से नामिक प्रातिपदिक के सविभक्तिक रूप हैं, उदाहरण के लिये केवल नपुंसक प्रातिपदिक जो अन्यत्र प्रथमा-द्वितीया एकवचन (जातु) विभक्तिचिह्न रहित सप्तम्यन्त रूप (प्रातः) तृतीयान्त रूप, (शयुत्रा) का काम करते देखे जाते हैं। नियमतः इस तरह के क्रियाविशेषण ठीक उसी तरह बनाए जाते हैं, जैसे निम्नलिखित शब्द, किन्तु वे प्रातिपदिक जिनके आधार पर ये शब्द बनाए गए हैं, आलोच्य क्रियाविशेषणों के अतिरिक्त अन्य बिलकुल नहीं मिलते। निम्न-

लिखित सूची उन क्रियाविशेषणों की है, जो ऐसे प्रातिपदिकों से बनाए गए हैं, जिनका प्रयोग संज्ञाशब्दों और विशेषणों के रूप में भी पाया जाता है।

विशेषणों की रचना में अत्यधिक व्यवहृत विभक्तिज रूप नपुंसकलिंग प्रथमा-द्वितीया एकवचन है। इस पद्धति से प्रायः संज्ञाशब्दों से, अधिकांशतः विशेषणों से, जिनमें वे समासान्त शब्द भी शामिल हैं, जो विशेषण हैं, क्रियाविशेषणों की रचना की जाती है। इसके खास निदर्शन ये हैं—पुरु 'प्रभूत', उरु 'विशाल', महि 'महत्ता से, भूयः 'बार-बार, फिर से', रहः 'गुप्त रूप से' न्यक् 'नीचे', नाम 'नाम से' सुखम् 'सुख से', बलवत् 'मजबूती से', धृष्णु 'दृढ़ता से', सत्यम् 'सचमुच', नित्यम् 'लगातार, प्रतिदिन', चिरम् 'बहुत देर तक', सादरम् 'आदरसहित' नानारथम् 'अनेक रथों पर', प्रदान-पूर्वम् 'दान के साथ'। इनमें से वे समास जिनका पूर्वपद अव्यय है, वैयाकरणों द्वारा अव्ययीभाव माने गए हैं। इस प्रकार के समास प्रत्यग्नि 'अग्नि की ओर', अनुस्वधम् 'इच्छानुसार', प्रतिदोषम् 'शाम के समय' आदि हैं।

'समान'—अर्थ वाले क्रियाविशेषण -वत् प्रत्यय जोड़कर नपुंसक लिंग कर्ता-कर्म एकवचन में बनाए जाते हैं, जिनमें उदात्त स्वर प्रत्ययांश पर (बलवत् आदि के विरुद्ध) है: मनुष्वत् 'मनु की तरह', पुराणवत् 'पुराने की तरह' आदि।

द्वि० ए० व० के रूप भी प्रायः इसी तरह पुंल्लिङ्ग तथा स्त्री० संज्ञाशब्दों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होते हैं: कामम् 'इच्छानुसार', नक्तम् 'रात में', वशम् 'स्वतन्त्रता से या इच्छानुसार'। स्त्री० द्वितीयान्त रूप कुछ दशाओं में क्रियाविशेषण का काम करता है जहाँ क्रि० वि० के साथ तर तथा तम प्रत्यय जोड़े जाते हैं: उच्चैस्तराम् 'ऊँचे', शनैस्तराम् 'धीरे-धीरे' आदि। वैयाकरणों के द्वारा इन प्रत्ययों को समापिका क्रिया के साथ ही जोड़े जाने की छूट दी गयी है—सीदतेतराम् आदि, यद्यपि प्राचीन भाषा में इस प्रकार के प्रयोगों का कोई चिह्न नहीं मिलता। क्रियाविशेषणीभूत द्वितीयान्त रूप से एक विशेष -अम् वाला धातुज संज्ञा का रूप विकसित हुआ है: अग्निक्रामम् जुहोति '(अग्नि के) समीप जाकर होम करता है'। इस प्रकार के प्रयोग ब्राह्मणों में बहुतायत से मिलते हैं किन्तु इसके पहले बहुत कम हैं। परवर्ती भाषा में इनका केवल वीप्सागत रूप ही प्रयुक्त होता है: 'मधुकराणां क्वणितानि श्रावम्-श्रावम् परिबभ्राम' 'भौरों के गुञ्जन को बार-बार सुनते हुए वह इधर-उधर घूम रहा था'।

तृतीया विभक्ति का क्रियाविशेषणवत् प्रयोग इन उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है—सहसा 'एकाएक', अञ्जसा 'एकाएक', दिष्ट्या 'सौभाग्य से', अशेषेण 'पूरी तरह', दक्षिणेन 'दायीं ओर', शनकैः 'धीरे', उच्चैः 'ऊँचे', नीचैः 'नीचे'। -आ से अन्त होने वाले कतिपय क्रियाविशेषणीभूत तृतीयान्त रूप

करण के अर्थ की बजाय अधिकरण के अर्थ का वहन करते हैं : दिवा 'दिन में', दोषा 'रात्रि में' आदि। कभी-कभी उदात्त स्वर का परिवर्तन क्रिया-विशेषण के रूप का विशेषीकरण कर देता है : जैसे दिवा, मध्या 'बीच में' दक्षिणा 'दाहिनी ओर'। वैदिक भाषा में –अया प्रत्यय वाले क्रियाविशेषण मिलते हैं, जैसे नक्तया 'रात में', ऋतया 'ऋत से', सुम्नया पवित्रता से', स्वप्नया 'स्वप्न में'। इस तरह के रूप अवे० में भी हैं : अग्रया 'दुष्टता से', अशया 'ठीक से', आदि। ये रूप –आकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों के तृतीया एकवचनान्त रूप मालूम होते हैं, किन्तु इस तरह के कोई आकारान्त प्रातिपदिक नहीं मिलते। सम्भवतः ये प्रा० फा० दस्तया 'हाथ में' के ढंग पर आ– परसर्ग वाले सप्तमी एकवचनान्त से विकसित हुए हैं। दूसरी ओर इसी तरह के रूप (जो भी केवल वैदिक भाषा तक ही सीमित हैं) –उकारान्त प्रातिपदिक के सम्बन्ध में मिलते हैं : रघुया 'जल्दी से', धृष्णुया 'मजबूती से' आदि, तुल० अवे० आसुय 'तेजी से'। इन दोनों प्रकार के रूपों की सन्तोषजनक व्याख्या प्राप्त करना कठिन है।

अन्य रूपों के क्रियाविशेषणगत प्रयोगों के उदाहरण ये हैं : चतुर्थी (बहुत कम) अपराय 'भविष्य के लिये', चिराय 'देर तक', अह्नाय 'ठीक उसी वक्त, एकाएक'; पञ्चमी पश्चात् 'पीछे'; साक्षात् 'प्रकट रूप में', सनात् 'पुराने जमाने से' (उदात्त स्वर के परिवर्तन के साथ अधरात् 'नीचे'; षष्ठी (बहुत कम) अक्तोः 'रात में', वस्तोः 'दिन में'; सप्तमी दूरे 'दूर', रहसि 'एकान्त में', स्थाने 'ठीक तौर पर', सपदि 'तत्काल'।

फुटकल क्रियाविशेषण और निपात—ऊपर वर्गीकृत क्रियाविशेषणों के अतिरिक्त निम्नलिखित शब्दों का भी संकेत किया जा सकता है। निपात एव 'ही' को ईरानी और ग्रीक में उपलब्ध शब्द (अवे० अएव– (aēva), ग्रीक ओइओस् (oios)), के रूप में मिलनेवाले मूल शब्द से स्पष्टतः अभिन्न माना जा सकता है और एवम् 'ऐसे' सम्भवतः उसी शब्द का नपुंसक एकवचन रूप है। उपमावाचक निपातों में से इव 'समान' सार्वनामिक मूल इ– पर आधृत जान पड़ता है और इसकी व्युत्पत्ति की तुलना अव– प्रातिपदिक से की जा सकती है। वैदिक भाषा में एक निपात न, जो निषेधार्थक निपात का समध्वनि है, इस अर्थ में प्रयुक्त होता है : गौरो न तृषितः पिब 'प्यासे भैंसे की तरह पियो' आदि। इससे तुलनीय रूप कतिपय संयुक्त शब्दों में केवल उदात्त स्वररहित निपात के रूप में अन्यत्र मिलता है : अवे० यथ्न– यथ्ना (yaθanā̆), चिथ्ना (čiθənā) लैटिन क्विद्ने quidne। यह निपात संस्कृत चन (कश्चन 'कोई भी') में भी देखा जा सकता है।

निषेधार्थक न 'समान' भा० यू० मूल शब्द है : तुल० अवे० न–, प्रा० स्ला०

ने–, लिथुआनी ने–, लैटिन ने–, गॉथिक नि, आदि । समस्त पदों के पूर्वपद के रूप में यह दुर्बल रूप अ– (<न्–, <n̥–), स्वर के पूर्व *अन् के रूप में मिलता है; इसी तरह अवे०, प्रा० फा०, अ–, अन्–, ग्रीक अ–, अन्–, लैटिन इन्–, आयरिश अन्–, गॉथिक उन्– ।

क्रियाविशेषण नु, नू, नूनम् 'अव' भा० यू० में सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित परिवार से सम्बद्ध है : अवे० नू, नूरॅम् (nŭrəm), आ० फा० नून्, ऑसेटिक नुर्, प्रा० स्ला० निने nynĕ, लिथुआनी नु, ग्रीक नु, नुन्, नुन् (nu, nún, nûn), लैटिन नुन्–क् (nun–c) अंग्रेजी नाउ (now) आदि । इस शब्द का मूलतत्त्व वह है, जो विशेषण नव– 'नया'में मिलता है । क्रियाविशेषण से साक्षात् रूप में बनाए गए *नूतन्–, नूत्न 'नया, आधुनिक' संस्कृत में हैं । ग्रीक की तुलना से यह मालूम पड़ता है कि नूनम् को नून्–अम् के रूप में विश्लिष्ट किया जाना चाहिए और इस शब्द में ठीक वही अवधारणार्थक प्रत्यय है, जो प्रायः सार्वनामिक रूपों में मिलता था । संस्कृत नूनम् तथा अवे० नूरॅम् (nūrəm) का न्/र् परिवर्तन नामिक शब्द रूपों के समान उद्भव का है (तुल० ग्रीक नेअरोस् (nearós) : नेआनिअस् (neānias), आदि ।

क्रियाविशेषण नाना 'अनेक तरह से' (वेद में इसका विस्तृत रूप नानानम् भी है) अज्ञात व्युत्पत्ति का है ।

समुच्चयबोधक च 'और' अन्य सभी सम्बद्ध भाषाओं की तरह (अवे० च (čа), ग्रीक ते (te), लैटिन क्वे (que), और गॉथिक–ह) उदात्तरहित निपात है । ठीक यही बात वा 'अथवा', तुल० लैटिन वे के साथ लागू होती है । एक उदात्तरहित-भिन्न (non–enclitic) निपात परवर्ती अर्थ में उत ह 'और, अथवा' है (अवे० प्रा० फा० उत 'और') ।

विस्मयादिबोधक फुटकल निपातों में निम्नलिखित निपातों का सङ्केत किया जा सकता है : अङ्ग 'निश्चय ही', हन्त (खेदव्यञ्जक), किल 'निश्चय ही', खलु 'निश्चय' तु ''लेकिन', हि 'क्योंकि' (अवे० ज़ी (zī), घ, ह 'निश्चय ही', (परवर्ती रूप पूर्ववर्ती का ही दुर्बल रूप है; तुलनीय प्रा० स्ला० ज़े (že), वाइ 'सचमुच', वाव 'वही' (इस शब्द में दोनों अक्षर सोदात्त हैं, जिसकी व्याख्या नहीं हो पायी है) उ, अह, स्म, भल । निपात स्म वर्तमान काल के साथ प्रयुक्त होने पर उसे अपूर्ण भूत का अर्थ देता है । परवर्ती भाषा में पूर्ववर्ती भाषा की अपेक्षा निपातों का प्रयोग कम हो चला है और जो बचे रहे हैं वे अपना महत्त्व खोने लगे हैं और काव्य में केवल छन्दःपूर्ति के निमित्त साधन बन गए हैं ।

कुछ अन्य विस्मयादिबोधक निपातों की केवल तालिका दी जा सकती है :

आ, हा, अहह, हे, अयि, अये, अहो, वट्, बत, धिक्। कतिपय संज्ञा तथा विशेषण रूपों ने भी यह प्रक्रिया अपना ली है: रे, अरे, (अरि– 'शत्रु का सम्बोधन का रूप), भोः (भवः के लिये, भवन्त्– 'आप' का सम्बोधन का रूप), कष्टम् 'मुझे दुःख है', स्वस्ति 'कल्याण हो !', सुष्ठु, साधु 'ठीक बहुत अच्छा !', आदि।

पुरःसर्ग तथा परसर्ग

अन्य भारतीय आर्य-भाषाओं के विरुद्ध संस्कृत में पुरःसर्गों की विकसित माला नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त कारक सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट रूप में संकेतित करनेवाले क्रियाविशेषणीभूत रूप प्रायः उक्त कारक-विभक्ति में प्रयुक्त संज्ञा के बाद ही रखे जाते हैं—अन्य भारतीय आर्यभाषाओं की तरह उसके पहले नहीं। वैदिक भाषा की तुलना में परवर्ती संस्कृत इस प्रकार के शब्दों की दृष्टि से खासतौर पर अधिक दरिद्र है, जिससे अन्य सामान्य ढंग की भा० यू० भाषा और इस भाषा का अन्तर अंशतः प्रतिगामिता की दृष्टि से है। दूसरी ओर वैदिक भाषा में इस तरह के शब्दों से सम्बद्ध संज्ञाशब्दों के साथ इनका असंश्लिष्ट सम्बन्ध और मुक्त वाक्यगत प्रयोग ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में प्रयुक्त प्रणाली की अपेक्षा स्पष्टतः अधिक आदिम है और यह प्राचीन-भारतीय भाषा के विकास में पुरःसर्गों की प्रक्रिया के अधिक नजदीक है।

वेद में प्रयुक्त इस प्रकार के शब्दों में अन्यत्र की भाँति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वर्ग उन शब्दों का है, जो धातुओं के पूर्व उपसर्गों के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं (द्रष्टव्य नीचे)। इनमें से अधिकांश इस तरह प्रयुक्त किए जा सकते हैं, किन्तु उद्, नि, परा, प्र, अव और वि अपवाद हैं। इनका प्रमुख रूप से परसर्गात्मक प्रयोग कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है:

अति : यो देवो मर्त्यान् अति 'वह देवता जो मनुष्यों से परे हैं'।

अधि : पृथिव्याम् अध्योषधीः 'पृथ्वी पर ओषधियाँ'।

अपि : या अपाम् अपि व्रते 'जो जल के लोक में हैं'।

अनु : मम चित्तम् अनु चित्तेभिरेत 'तुम्हारे चित्त के साथ मेरे चित्त का अनुसरण करो।

अभि : याः प्रदिशो अभि सूर्यो विचष्टे 'जिन दिशाओं को सूर्य सब ओर से देखता है।

आ : मर्त्येषु आ 'मर्त्यों के बीच'।

उप : अमूर्या उप सूर्ये 'वे जो सूर्य के नजदीक हैं'।

परि : जातो हिमवतस्परि 'हिमालय से उत्पन्न'।

प्रति : अबोध्यग्निः प्रत्यायतीम् उषसम् 'अग्नि उपस्थित होती हुई उषा से मिलने के लिये जगा दिया गया है'।

सम् : ते सुमतिभिः सम् पत्नीभिर्न वृषणो नसीमहि 'हम तुम्हारी सुमति (आशीर्वाद) के साथ उसी तरह मिलें, जैसे पुरुष अपनी पत्नियों से'।

अन्तिम परसर्ग का प्रयोग बहुत कम है और इसके स्थान पर इसी मूल से सम्बद्ध सह प्रायः पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भाषा में तृतीया विभक्ति के साथ परसर्ग के रूप में प्रयुक्त मिलता है। ऊपर की तालिका में संकेतित शब्दों में से परवर्ती भाषा में इस तरह प्रयुक्त शब्द अनु, प्रति और आ हैं। इनमें प्रथम दो परसर्ग के रूप में और अन्तिम पञ्चम्यन्त पद के साथ पुरःसर्ग के रूप में 'तक' के अर्थ में प्रयुक्त होता है : आ समुद्रात् 'समुद्र तक'।

इनके अतिरिक्त अनेक क्रियाविशेषण, जिनमें प्राचीन विरासत में मिले रूप और नये क्रियाविशेषण रूप में प्रयुक्त सविभक्तिक रूप हैं, तत्तत् कारक प्रत्यय के द्वारा अभिव्यक्त सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट करने के लिये अथवा किसी ऐसे सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने के लिये, जो कि केवल सविभक्तिक पद से बोधित नहीं कराया जा सकता, प्रयुक्त किए जाते हैं। ऐसे क्रियाविशेषण ये हैं :

द्वितीया के साथ : तिरः 'ओर से', अन्तः(र्), अन्तरा 'बीच में', अवरेण 'नीचे', परेण 'पार', उत्तरेण 'उत्तर की ओर', दक्षिणेन 'दक्षिण की ओर', निकषा 'पास'; उदाहरणार्थ येऽवरेणादित्यम् , येऽपरेणादित्यम् 'जो सूर्य से नीचे है, जो सूर्य के परे है', दक्षिणेन वेदिम् 'वेदी के दाहिनी ओर' निकषा यमुनाम् 'यमुना के पास'।

तृतीया के साथ : प्रायः 'साथ' अर्थ का वहन करनेवाले शब्द उदा० सह, साकम्, सार्धम्, समम्, समया, सरथम्, किन्तु साथ ही विना 'बगैर', जो विपरीतार्थक शब्दों के सादृश्य का अनुसरण करता है।

चतुर्थी ही एक ऐसी विभक्ति है, जो पुरःसर्गात्मक प्रकृति के शब्दों के साथ प्रयुक्त नहीं होती। वैसे, जैसा कि ऊपर सङ्केत किया जा चुका है, अकारान्त प्रातिपदिक के चतुर्थी रूप आय को जो कि मूलतः स्वतन्त्र परसर्ग था, समाहृत मानने पर ही उसकी व्याख्या हो सकती है।

पञ्चमी के साथ : बहिः 'बाहर', पुरः 'सामने', अवः, अधः 'नीचे', पुरा 'पहले', परः 'बाद में, परे', विना 'बगैर', (तृतीया के साथ भी), अर्वाक् 'इस ओर', पश्चात् 'पीछे', ऊर्ध्वम् 'ऊपर', ऋते 'बगैर', आदि।

षष्ठी के साथ : नामिक शब्द तथा विशेषणों के कई सविभक्तिक रूप अपनी नामिक प्रकृति को सुरक्षित रखने के कारण इस विभक्ति का प्रयोग करते हैं। ये हैं : अग्रे 'आगे', अभ्याशे, समीपे 'नजदीक', अर्थे, कृते 'लिये', मध्ये

'बीच में'। अत्यधिक शुद्ध क्रियाविशेषण प्रकृति के शब्द, जो षष्ठी के साथ प्रयुक्त होते हैं, उपरि 'ऊपर', परस्तात् 'परे', पुरस्तात् 'आगे' आदि हैं।

सप्तमी के साथ : अन्तर्, अन्तरा 'बीच में', सचा 'साथ'।

उपसर्ग :—भा० यू० भाषा की अत्यधिक प्रचलित विशेषता धातुरूपों के साथ पुरःसर्गात्मक उपसर्गों को संयुक्त कर देना है। ये प्रायः वे ही शब्द हैं, जो सामान्य पुरःसर्गों के रूप में प्रयुक्त होते हैं, और जिन्हें क्रियारूपों के साथ संयुक्त कर दिया जाता है। यह संकेत किया जा चुका है कि संस्कृत में संज्ञाशब्दों के साथ प्रयुक्त पुरःसर्गों (अथवा परसर्गों) की प्रक्रिया सम्बद्ध भाषाओं की अपेक्षा बहुत कम विकसित है। दूसरी ओर इसी तरह के शब्दों का उपसर्गों के रूप में प्रयोग संस्कृत में ठीक वैसा ही पूरी तरह विकसित है, जैसा अन्य भा० यू० भाषा में।

इस तरह प्रयुक्त विशेष प्रचलित उपसर्ग निम्नलिखित हैं :

अति 'परे, अधिक', (अवे० अइति, प्रा० फा० अतिय्; ग्रीक ऍति 'भी, अभी', लैटिन एत्, 'और' (जो भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयुक्त होते हैं)।

अधि 'अपर', (अवे० अइदी, अइद्रि, प्रा० फा० अदिय्),

अनु 'पीछे, साथ, प्रति', (अवे० अनु, प्रा० फा० अनुव्; ग्रीक अन भिन्न प्रत्यय के साथ),

अन्तर् 'बीच में' (अवे० अन्तरॅ (antarə), प्रा० फा० अन्तर्, लैटिन इन्तेर्),

अप 'दूर, से' (अवे०, प्रा० फा०, अप, ग्रीक अपॅो, लैटिन अब्; हित्ती अप्प 'पीछा, पीछे'),

अपि 'प्रति, ऊपर' (अवे० अइपि, प्रा० फा० अपिय्, ग्रीक ऍपि; संस्कृत में इस रूप में बहुत कम, किन्तु समुच्चयबोधक अव्यय के रूप में अत्यधिक प्रयुक्त। 'भी', तुल० ग्रीक ऍति, लैटिन एत् उपरिनिर्दिष्ट),

अभि 'प्रति, ओर, विरुद्ध' (अवे० अइवि, प्रा० फा० अविय्, प्रा० स्ला० ओबु, ओबि, लैटिन ओब्),

अव 'नीचे, दूर' (अवे० प्रा० फा० अव, प्रा० प्रशियन अउ–, प्रा० स्ला० उ–, लैटिन अउ–),

आ 'प्रति, तक, पर' (अवे०, प्रा० फा० आ),

उद् 'ऊपर, सामने, बाहर' (अवे० अस्–, उज़्–, प्रा० फा० उद्–, आयरिश उद्–, ओद्–, गॉथिक ऊत् 'बाहर'),

उप 'प्रति, ओर, समीप', (अवे० उप, प्रा० फा० उपा, ग्रीक हुपो, गॉथिक उफ्),

नि 'नीचे' (अवे० नि–, प्रा० फा० नियु–),

निस् 'बाहर, सामने' (अवे० निस्–),

परा 'आगे, दूर' (प्रा० फा० परा),

परि 'इर्द-गिर्द' (अवे० पइरि, प्रा० फा० परिय्, ग्रीक पेरि),

प्र 'आगे, सामने' (अवे० प्रा० फा० फ़्र–, प्रा० स्ला० प्रो, लिथुआनियन प्र, ग्रीक प्रो, लैटिन प्रो–),

प्रति 'विरुद्ध, पीछे, बदले में' (ग्रीक प्रोति, (pròti, protí) प्रोस्, प्रा० स्ला० प्रोति, आदि),

वि 'अलग, दूर' (अवे० प्रा० फा० वि–; तुल० तोखारिश वि 'दो', इत्यादि ऊपर तृष्ठ २६०),

सम् 'एक साथ, साथ' (अवे०, प्रा० फा० हम्–, प्रा० स्ला० सेँ, सु (są, su), लिथुआनी सँ–, सु)।

ये नियमित तथा सामान्यतः प्रचलित उपसर्ग हैं। इनके अतिरिक्त अत्यधिक सीमित प्रयोगवाले कुछ और उपसर्ग हैं। वेद में अच्छ– अच्छा 'और, प्रति' काफी प्रचलित हैं, किन्तु परवर्तीकाल में यह लुप्त हो गया है। अन्य परसर्ग केवल कुछ सीमित धातुओं के साथ वेद और परवर्ती भाषा में मिलते हैं : आविः 'प्रकट अर्थ में' (भू, अस् तथा कृ धातु के साथ), प्रादुः 'वही' (उन्हीं धातुओं के साथ), तिरः 'दुवारा, पार, दृष्टि से दूर' (कृ, धा, भू धातु के साथ), पुरः 'सामने' (कृ, धा, इ तथा कुछ अन्य धातुओं के साथ)।

क्रियापद के साथ (ग्रीक आदि की तरह) एक से अधिक उपसर्ग संयुक्त किए जा सकते हैं। दो परसर्गों का संयोजन प्रायः प्रचलित है, तीन का संयोजन अप्रयुक्त नहीं है, किन्तु तीन से अधिक बहुत कम मिलते हैं। इन उपसर्गों के क्रम के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं है, किन्तु उपसर्ग आ– व्यावहारिक दृष्टि से क्रियापद से अलग कभी नहीं किया जाता।

ये सभी उपसर्ग मूलतः स्वतन्त्र क्रियाविशेषण थे। वेदों की भाषा में ये अंशतः अपनी इस प्रकृति को बनाए हुए हैं और केवल परवर्ती भाषा में ये धातु के अविभाज्य संयुक्त अङ्ग बन गए हैं। इसी प्रकार का ठीक ऐसा ही भेद होमर की भाषा और परवर्ती ग्रीक में मिलता है, जिससे यह स्पष्ट है कि सोपसर्ग क्रियाओं की परिपूर्ण प्रक्रिया का विकास विविध भाषाओं में अधिकांशतः समानान्तर विकास है।

वेद में उपसर्ग प्रायः क्रिया के ठीक पहले मिलता है, (आ गमत् 'वह आए') किन्तु यह क्रिया से किसी अन्य शब्द के द्वारा अलग भी किया जा सकता है (आ त्वा विशन्तु 'वे तुम्हारा प्रवेश करायें') और यह क्रिया के बाद भी आ सकता है (इन्द्रो गा आवृणोदप 'इन्द्र ने गायों को प्रकट किया')। उपसर्ग की स्थिति कैसी ही हो, मुख्य उपवाक्य में पुरःसर्ग नियमतः उदात्त स्वरयुक्त होता है और क्रियापद सामान्य नियम के अनुसार उदात्तरहित पाया जाता है। जब दो उपसर्गों का प्रयोग किया जाता है, ऋग्वेद में सामान्यतः दोनों ही सोदात्त होते हैं (उप प्र याहि 'यहाँ आ जाओ'), यह तथ्य इन उपसर्गों की स्वतन्त्र शब्दों के रूप में स्थिति को सुदृढ़ करता है। किन्तु इसके अतिरिक्त एक ऐसी प्रक्रिया भी विद्यमान है, जो इन उपसर्गों के अत्यधिक संश्लिष्ट रूप के परिवर्तन का सङ्केत करती है, जिसके अनुसार क्रिया के ठीक पूर्व में आने पर दो उपसर्गों में से केवल द्वितीय ही सोदात्त होता है : अथास्ताम् विपरेतन 'तो अब आप लोग अपने घर के लिये तितर-बितर हो जाइए'। अङ्गभूत उपवाक्यों में उपसर्गों की संयोजन-प्रक्रिया और अधिक आगे बढ़ी है, उपसर्ग सामान्यतः संयुक्त रूप में मिलता है, और चूँकि ऐसी स्थिति में क्रियापद सोदात्त होता है, उपसर्ग उदात्तरहित मिलता है : उदा० यद्…निषीदथः 'जब तुम दोनों बैठ जाते हो।' यहाँ भी कभी-कभी यह क्रियापद से अलग और उदात्तयुक्त पाया जा सकता है (वि यो ममे रजसी 'जिसने द्यावापृथिवी (रजसी) को माप लिया), जब कि प्रायः यह क्रिया के ठीक पूर्व में होने पर भी स्वतन्त्र शब्द के रूप में और उदात्तयुक्त माना जाता है : य आहुतिम् परि वेदा नमोभिः 'जो नमस्कारपूर्वक दी गयी आहुति को पूरी तरह जानता है'।

प्राक्-पाणिनीय (प्राग्लौकिक) गद्य ग्रन्थों में उपसर्ग अभी भी कुछ हद तक क्रिया से अलग रखा जाता है, यद्यपि अत्यधिक सीमित मात्रा में। लौकिक संस्कृत युग में इसकी स्वतन्त्रता पूरी तरह लुप्त हो गयी है और केवल उन प्रयोगों के अतिरिक्त जो परसर्गों का काम करते रहे हैं, उपसर्गों का स्वतन्त्र शब्दों के रूप में अस्तित्व लुप्त हो गया है।

धातुओं से बनी धातुज संज्ञाओं के साथ संयुक्त रूपों में उपसर्ग आरम्भ से ही पूरी तरह संश्लिष्ट मिलते हैं : अधिवास– 'वस्त्र'; अपचिति 'प्रायश्चित्त' (ग्रीक अपातिसिस् (apotisis), अभिद्रुह्– 'द्रोह करनेवाला'; अवपान 'मद्यशाला'; 'उदयन (सूर्य का) उदय'; उपश्रुति– 'अधिक सुनना', 'निधि– 'खजाना, कोष'; निरयण– 'बाहर निकलना'; प्रभञ्जिन् 'कुचलना', आदि। ऐसी स्थितियों में सामान्य नियम यह है कि उपसर्ग अपने उदात्त स्वर को

संयुक्त पद के उत्तरपद के लिये छोड़ देता है, किन्तु कुछ स्थितियों में यह नियमतः सोदात्त होता है, जैसे : (१) कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त के साथ संयुक्त होने पर, परे॑त– 'गया हुआ, मरा हुआ', अ॒न्तर्हि॑त– 'छिपा हुआ' अव॑पन्न– 'गिरा हुआ, पतित' आदि; (२) –ति से अन्त होनेवाले क्रियाबोधक धातुज संज्ञाओं के साथ, अप॑चिति, आदि । इन दोनों स्थितियों में संस्कृत तथा ग्रीक में उदात्त स्वर की दृष्टि से समानता है (अपॉब्लेतॉस् (apóblētos), अनब्लेसिस् (anáblēsis)); (३) तु– प्रत्यय से बनाए हुए तुमन्त रूपों के साथ : सं॑ह॑र्तुम् 'इकट्ठा करने के लिये', अपिधातवे 'ढँकने के लिये', अव॑गन्तोः 'उतरते हुए व्यक्ति का' ।

परिच्छेद ७

क्रियापद

धातु

हिन्दू वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट संस्कृत भाषा के धातुओं की तालिका संख्या में लगभग दो हजार है। इनमें से कम से कम आधे तो वास्तविक प्रयोग से प्रमाणित नहीं हैं, और चूँकि यह सम्भव नहीं है कि इनमें से अनेक कभी भी प्रयोग में आयेंगे, अतः इन्हें व्यावहारिक दृष्टि से मजे में छोड़ा जा सकता है। शेप में से काफी संख्या को इसलिये छोड़ा जा सकता है कि या तो वे अभ्यास रूप (दीधी–), शुद्ध धातु रूप (ऊर्णु–), नामधातु (अर्थ्-आदि) हैं या अन्य दृष्टि से आदिम रूप नहीं हैं। इन धातुओं को छोड़ देने पर आठ सौ से कुछ अधिक धातु बचे रहते हैं, जो संस्कृत की केवल तिङन्त प्रक्रिया के ही आधार नहीं बनते, अपितु संस्कृत भाषा के परम्परागत नामिक प्रातिपदिकों के अधिकांश भाग के भी आधार हैं।

मुख्यतया अपनी प्राचीनता के कारण संस्कृत भाषा अधिक सुगमता से विश्लेषणीय है, और इसके धात्वंश सम्बद्ध तत्त्वों से अधिक सरलता से अलग किए जा सकते हैं, और इस स्थिति में यह अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं की अपेक्षा अधिक सुगमता से विश्लेषणीय है। यह इसलिये है कि वे प्रत्यय जिनके द्वारा वर्तमानकालिक तथा लुङन्त प्रकृत्यंशों का निर्माण किया जाता है, सामान्यतः समापिका क्रिया के अन्य रूपों और नामिक व्युत्पत्तियों से अलग रखे जाते हैं : सुनो॑ति॑ 'रस निकालता है' : परोक्षे लिट् सुषाव, सुषुम, भविष्यत् रूप सोष्यति, कर्मवाच्य निष्ठा रूप सुत–। इतना होने पर भी संस्कृत में ऐसे रूपों का सर्वथा अभाव नहीं है, जहाँ ऐसे प्रत्यय, जिनकी मुख्य प्रक्रिया वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश बनाने की है, धातु के साथ स्थायी रूप से जुड़ गए हैं, और परिणामतः उसकी समस्त तिङन्त प्रक्रिया में उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिये भारत-यूरोपीय प्रत्यय (विकरण) –स्क्य– (–ŝke–) के द्वारा निर्मित वर्तमानकालिक रूप पृच्छति 'पूछता है' से एक विस्तारित धातु पृछ्– / प्रछ् बनाया गया है, जो लिट् पप्रच्छ में तथा अन्यत्र मिलता है। इसी प्रकार लैटिन में पोस्को (poscō), पोपोस्की (poposcī) (<पृक्य्स्क्यो, <pṛ̂kŝkō) हैं। धातु का केवल रूप लैटिन प्रेकेम् (precem) (कर्म ए० व०), प्रोकुस् (procus) और संस्कृत

प्रश्न– 'सवाल' में मिलता है। क्षणु– 'तेज करना' धातु में नु– प्रत्यय (विकरण) मिलता है, जो अन्यत्र पंचमगण (वर्ग) की वर्तमानकालिक कोटि की रचना करता है। कतिपय ऐसे वर्तमानकालिक रूपों से, जिनमें यह प्रत्यय (विकरण) थिमैटिक स्वरध्वनि के द्वारा विस्तारित मिलता है, न्व् से अन्त होने वाले विस्तारित प्रकृत्यंश (धात्वंश) विकसित होते हैं: पिन्व् 'मोटा होना', लट् (वर्तमान काल) पिन्वति, लिट् मध्यम पुरुष द्विवचन पिपिन्वथुः (पयते, आदि में केवल धातु पि– के साथ-साथ) इसी तरह के विस्तारित रूप इन्व्– 'भेजना' (: इ–) और जिन्व्– 'जल्दियाना' (: जि–) हैं। –व अन्त वाले वर्तमानकालिक धात्वंश से –व् अन्तवाले कतिपय धातु बनाए जाते हैं: जीव्– 'जीना', लट् जीवति (: गय– 'निवास, इच्छाएँ' में केवल धातु मूल), धूर्व्– हानि पहुँचाना' (: ध्वृ–), तूर्व्– 'सहन करना' (तॄ–) और भर्व्– 'चबाना', जिनके लिये कोई अतिसरल रूप नहीं है।

इस कोटि में जोड़े गए रूप अपेक्षाकृत बाद के उद्भव हैं, और यह बिलकुल स्पष्ट है कि वे तिङन्त रूपों में प्रचलित विशिष्ट धात्वंशों से किस तरह उदित हुए हैं। इनके अतिरिक्त विस्तारित धातुओं का अधिक प्राचीन तिथि से सम्बद्ध एक अन्य वर्ग है, जिसमें ऐसे रूपों को शामिल कर लिया गया है, जिनकी प्रक्रिया का पता चलाना अब अधिकांश रूप में असम्भव है। ये तत्त्व धातु के केवल रूप के सह-अस्तित्व के द्वारा अथवा केवल पदान्त तत्त्व में भिन्न समानार्थक धातुओं द्वारा बड़ी सरलता से पहचाने जा सकते हैं। ये तत्त्व उन व्यष्टि प्रत्ययों से अभिन्न हैं, जिनका विवरण नामिक प्रातिपदिकों की रचना का विचार करते समय दिया जा चुका है, और इनका सुविधा की दृष्टि से ठीक उसी क्रम में विवरण दिया जा सकता है.

–अर् / ऋः धर्– (धृ–) 'धारण करना' ('अर्थात् ध्– अर्–, तुल० धा–), 'स्वर्– 'शब्द करना' (: तुल० स्वन् 'वही वैकल्पिक –न् से युक्त)।

–अन् : क्षन्– 'क्षति पहुँचाना' (: शस्– 'काटना' : ग्रीक क्तेइनो (kteínō) *क्स्तेन्यो (kstenyō) के लिये, में संयुक्त प्रत्यय तेन् (ten) का वहन करता है, जो क्तेरेस् (ktéres) नेक्रोइ (nekroí) में –तेर्– के रूप में बदल जाता है), स्वन्– 'आवाज करना' (ऊपर देखें), खन्– 'खोदना' (अर्थात् क् ?–अन् kH– an–) : तुल० खा– न्– प्रत्यय (विकरण) से रहित, इसी तरह आखु– 'जंगली चूहा' और आखर– पुंलिंग 'बिल' वैकल्पिक र् प्रत्यय से युक्त)।

–अस् / स् : त्रस्– 'डरना', ग्रीक त्रेओ (tréō) (: लैटिन त्रेमो (tremō), भ्यस्– 'डरना' (: भी– 'वही'), ग्रस्– 'ग्रसना' (गृ–'निगलना'), ध्वस्– 'ध्वस्त करना' (धू– 'हिलाना'), श्रुष्– 'सुनना', प्रा० स्ला० श्लिशति

(slyšati), तोखारी क्लूओस् (klyos-), आदि (: अश्-, नश्- 'वही'), उच्- 'छिड़कना' (: ग्रीक हुग्रोस् hugrós 'भीजा हुआ', आदि), निच्- 'चुभाना', (: प्रा० स्ला० वु- निज़ो (vu-nizǫ) 'वही), भच् 'विदा लेना, खाना' (: भज्- 'अलग करना, बाँटना'), मिच्- 'मिलाना' (: मिश्र- 'मिला हुआ'), मृच्-'मलना' (: मृज्- 'मिटाना', ग्रीक ओमोर्ग्नूमि (ómorgnūmi), आदि), रच्- 'रक्षा करना', ग्रीक अलेज़ो (alezō) 'खतरे से रक्षा करना' (: ग्रीक अलल्केइन् (alalkein) 'वही', एँग्लो सेक्सन एअल्गिअन् (ealgian) 'वही' वच्- 'वढ़ना', ग्रीक अऍज़ो (aezō) (: लैटिन अउगेओ (augeō) 'वही', आदि), हास्- 'आगे वढ़ना' (: हा- 'वही')। बहुसंख्यक विस्तारित रूपों के विपरीत यह स् प्रत्यय (विकरण) तिङन्त प्रक्रिया में महत्त्वपूर्व कार्य करता है, और निःसन्देह यह प्रत्यय (विकरण) इस तरह के रूपों के अपेक्षाकृत अधिक प्रचलन का कारण है।

-अम् : द्रम्- 'दौड़ना', ग्रीक एद्रमोन् (édramon) (: द्रा-, ग्रीक दिद्रास्को (διδrāskō)' द्रु- वही'), गम्- 'जाना', गॉथिक क्विमन् (qiman), आदि (: गा- 'वही', ग्रीक एबा (ebā); ग्रीक वइनो (baínō), लैटिन वेनिओ (veniō), ग्व्- एन्- (g^w-en), क्षम्- 'सहन करना', *ज़्घम्- (*zgham-) के लिये वर्णविपर्यय (द्वारा, तुल० पश्तो ज़ग़ॅमॅल (zγaməl) 'वही' (: सघ्- 'किसी के समान हो जाना, सहन करना'). भ्रम्- 'घूमना, फिरना' (: भुर्- 'अव्यवस्थित गति होना')।

-इ : क्षि- 'रहना' (: ग्रीक क्तिज़ो (ktízō) 'बुनियाद डालना', ति-प्रत्ययान्त क्स्- ति- के लिये: मूल धातु सम्भवतः पदसमुदाय में पदादि व्यंजन के लोपवाला तेक्स् (teks) है, अर्थात् त्क्स्- इ, त्क्स्- ति-), क्षि- 'शासन करना' (: क्ष्-अत्र-, किसी भी इ- से रहित, ग्रीक क्तओमइ (ktáomai), ता- प्रत्यय से युक्त, अर्थात् क्स्- ता), श्रि- 'आश्रय करना', ग्रीक क्लिनो (klínō), आदि (: लिथु० अत्सिकल्ति (atsikalti) 'किसी पर निर्भर रहना' रूसी क्लोन् (klon) 'सहारा', आदि)। धातु के वैकल्पिक रूप शिव- श्- 'निवास करना', सि- (< *स् ? इ-, < *sHi-), सा-'बाँधना, और शि-, शा- 'तेज करना' में मिलता है। इन अवस्थाओं में यह प्रत्यय पूर्ण रूप से तो सम्मिलित नहीं किया गया है, पर यह इस दिशा में एक प्रवृत्ति का संकेत करता है।

-उ : श्रु- 'सुनना' : धातु का अविस्तारित रूप संस्कृत लट् शृ- णो (नो)-ति में मिलता है; अन्यत्र उ/ओ, जो इस रूप में प्रत्ययजनित सम्मिश्रण के एक भाग के रूप में उपलब्ध है, स्थायी रूप से मूल धातु के साथ जोड़ दिया गया है।

अन्य उदाहरण हैं द्रु– 'भागना' (: द्रम्– द्रा– ऊपर) और स्रु– 'वहना' (सर्– 'सरकना, वहना', तुल० सरित्– 'नदी')।

–अ ?/? : गा– 'जाना', (: गम्–ऊपर), या– 'जाना' (: इ– 'वही'), प्सा– 'ग्रसना', ग्रीक प्सोओ (psṓō) 'चवाना' (: भस्– 'ग्रस लेना'), द्रा– 'दौड़ना' (: द्रम्–, आदि), म्ना– 'संकेत करना, अभ्यास करना' (: मन्– 'सोचना'), त्रा– 'वचाना' (: तॄ– 'तरना, पार करना', प्या– 'फूलना (सूजना)' (: पि– 'वही'), ज्या–, जी– 'विजय प्राप्त करना' (जि– 'जीतना'), पी– (पीय् –) 'अपशब्द कहना' (अर्थात् पि–?– : पिशुन– 'दुष्ट, चुगलखोर', ग्रीक पिक्रोस् (pikrós) आदि)। नवमगणीय धातुओं की एक तालिका में यह दीर्घीकरण पाया जाता है। धातु का केवल रूप वर्तमानकाल में पाया जाता है, जहाँ अ ?/? (aH/H) प्रत्यय उस अन्तःप्रत्यय न् के द्वारा इससे अलग कर दिया जाता है, जिसके साथ यह संवद्ध है : उदा० प्लृ– ?–नो (pḷ-H-nó-) के लिए पूर्ण– 'भरा हुआ' के विरुद्ध प्लृ– न्–ए ?–ति के लिए पृणाति। ठीक यही वात जू– 'तेज होना' (जुनाति, जून–), पू– 'पवित्र करना' (पुनाति, पूत–), स्तॄ– 'विछाना' (स्तृणाति, स्तीर्ण–) और इसी तरह के अन्य धातुओं में है। इस दीर्घीकरण का प्रयोग पहले पहल वर्तमानकाल में मिलता है, इसलिये उदाहरणार्थ, मी 'नुकसान करना' से दोनों रूप मिनाति और मीनाति मिलता है। कुछ परिस्थितियों में वर्तमानकाल में केवल दीर्घीकरण से युक्त धातु मिलता है, उदा० श्रीणाति, अवे० व्रीनॅन्ति (brīnənti) 'काटता है', और क्रीणाति 'खरीदता है', यद्यपि वाद के उदाहरण में ऋग्वेद का छन्द क्रिणाति उच्चारण का संकेत करता है।

–त् : कृत्– 'काटना' (: ग्रीक केइरो (keírō), चित्– 'समझना' (चि– 'वही'); इ से संयुक्त, म्रित्– 'टुकड़े-टुकड़े होकर गिर जाना' (मृ– 'मार डालना', म्रद्– 'वही'), श्वित्– 'चमकदार होना' (: शुच्– 'चमकना', शुभ्– 'चमकदार होना'), उ से युक्त, द्युत्– 'चमकना' (दिन– 'दिवस' आदि में दि–)।

–थ् (अर्थात् त्– ?–) : प्रथ्– 'फैलाना' (: हित्ती पल्हिश् (palḫiš) 'चौड़ा', लैटिन प्लानुस्, आदि), व्यथ्– 'अस्थिर होना' (विज्– 'काँपना', विप्– 'वही'), श्नथ्– 'चुभोना' (: शिश्न– 'जननेन्द्रिय' में केवल धातुमूल, तुल० ग्रीक केन्तेओ (kentéō) 'चुभोना' प्रकृत्यंश पर गुण और केवल त्– प्रत्यय से युक्त); इसी तरह श्रथ्– 'शिथिल करना', ग्रथ्– 'वाँधना', मिथ्– 'परस्पर वदलना' (मि– 'वदल लेना')।

द् : छद्– 'विभक्त कर देना' (: शस्– 'काटना', तुल० क्षन्– ऊपर),

छिद्– 'काटना', लैटिन स्किन्दो (scindo), आदि (: तुल० छा–, छि– 'वही'), रुद्– 'रोना' लैटिन रुदो (rudo), ऐंग्लोसेक्सन रेओतन् (rēotan), आदि (: रु– 'चिल्लाना', प्रा० स्ला० र्‌युयो (rjujọ), आदि), मृद्– 'मिटाना, रगड़ना' (: मृ– 'रगड़ देना'), पीड्– 'दबाना' (< *पिज़्ड, < *pizd– पिष् 'पीस देना'); –न् से युक्त प्रत्ययसंयोग में, स्यन्द्– 'बहना' (: सिच्– 'उड़ेलना, सींचना', तोखारी सिक्– sik), आदि, क्रन्द्–, क्लन्द्– 'चीखना', तुल० ग्रीक कॅलादॉस् (kelados) 'चिल्लाना, शोर मचाना' (: ग्रीक कलेओ (kaléō) 'पुकारना', आदि)।

–थ् : मृथ्– 'उपेक्षा करना, लापरवाह होना', तुल० ग्रीक मल्थकॉस् (malthakós) 'मुलायम', आदि (: ग्रीक अमलॉस् (amalós) 'कोमल', आदि), एध्– 'बढना', तुल० अवे० अज़्द्य– 'समृद्धि, मोटापा', ग्रीक ऍस्थ्लॉस् (esthlós) 'अच्छा' (: भारत-यूरोपीय ऍस्– ग्रीक में ऍउस् 'अच्छा' हित्ती अश्शु– (aššu–), संस्कृत सु– (su), स्पृध्– 'स्पर्धा करना' अवे० स्परॅद् (sparəd–), तुल० गॉथिक स्पउर्द्स् (spaurds) 'घुड़दौड़ का मैदान' (: स्पृ– 'जीतना', स्पृह्– 'उत्सुक होना' ग्रीक स्पॅर्खोमइ (spérkhomai), आदि); उ– प्रत्यय से संयुक्त, क्षुध्– 'भूखा होना' (: हित्ती कश्त्– (kašt–), तोखारी अ. कश्त् (kašt), ब. कॅस्त् (kest), प्रकृत्यंश पर गुणवाला तथा दन्त्य प्रत्यय है, जिसकी ठीक-ठीक प्रकृति को विश्लेषित नहीं किया जा सकता।

प् : दीप्– 'चमकना' (: तुल० दि–, द्युत्– ऊपर), म्लुप्– '(सूर्य) अस्त होना' (: म्रुच्–, म्लुच्– 'वही'), रिप्–, लिप्– 'लीपना' (: ली– 'चिपकना, सटना', लैटिन लिनो (lino), आदि), रुप्–, लुप्– 'तोड़ना', लैटिन रुम्पो (rumpo) (: रु– 'तोड़ना', लैटिन रुओ (ruo); रुज्– 'तोड़ना'), विप्– 'कँपना' (: तुल० व्यथ्–, विज्– ऊपर), स्वप्– 'सोना', एंग्लो–सेक्सन स्वॅफन् (swefan) (: ग्रीक हॅउदो (heúdō) 'वही' < सॅउ–द्, (< seu–d)।

भ् : शुभ्– 'चमकदार होना' (: शुच् 'झलक मारना', आदि, ऊपर) स्तुभ्– 'प्रार्थना करना' (: स्तु– 'वही')।

–च : म्लुच्– 'म्लान होना' (: म्लुप्–), याच्– 'माँगना' (: अवे० यास्– भिन्न विस्तारवाला), रुच्– 'चमकना' (रुशन्त्– 'चमकदार'), सिच्– 'उड़ेलना, सींचना' (: स्यन्द्– ऊपर)।

–ज् : तर्ज्– 'तिरस्कार करना, धिक्कारना' (तुल० त्रस्–, आदि, ऊपर, लैटिन तॅर्रेओ (terreo), युज्– 'जोड़ना' (: यु– 'वही'), रुज्– 'तोड़ना', विज्– कँपना' (रुप्–, विप्–)।

ह् : स्पृह्– '(इच्छा करना) उत्सुक होना' (: स्पृध्–, आदि, ऊपर), द्रुह्– 'द्रोह करना, नुकसान पहुँचाना' (: ध्रु– 'वही')।

नामिक शब्दों की रचना का विवेचन करते समय जिन प्रत्ययों का विवरण दिया गया है, उनके साथ इन तत्त्वों की अभिन्नता स्पष्ट है और यह इस तथ्य के अनुसार है कि नामिक तथा धातुक प्रकृत्यंशों की रचना मूलतः एक से सिद्धान्तों के आधार पर की जाती है। धातुक मूलरूपों का विस्तार केवल संयुक्त किए हुए प्रत्यय हैं, और जैसा कि कभी-कभी इन्हें मान लिया जाता है, इनके पदरचनात्मक वर्गीकरण की अलग से आवश्यकता नहीं है। सभी भारत-यूरोपीय व्यंजन तथा अन्तःस्थ ध्वनियाँ इस प्रक्रिया में ठीक उसी तरह मिलती हैं, जैसे वे नामिक प्रातिपदिकों की रचना में मिलती हैं। परवर्ती स्थिति में वे तत्त्व, जो बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं, जैसा कि देखा गया है, अनिवार्यतः संख्या में सीमित हैं। विस्तारित रूपों में यह विभाजन अधिक सम है और स् तथा ? (H) के अपवाद के साथ, जोकि भारत-यूरोपीय तिङन्त प्रक्रिया में महत्त्व-पूर्ण हाथ बँटाते थे, सामान्य नामिक प्रत्यय विस्तारित रूप में अधिक बहुल नहीं हैं। उदाहरण के लिये न् और र् प्रत्यय जो कि नामिक प्रातिपदिकों की रचना में अत्यधिक महत्त्व के हैं धातु के विस्तारक तत्त्व के रूप में अति न्यूनता से मिलते हैं। यह इस बात का संकेत करेगा कि कुल मिलाकर धातुक प्रकृत्यंश के विस्तारित रूप भारत-यूरोपीय धातुरचना की अपेक्षाकृत प्राचीन स्थिति को स्पष्ट करते हैं, अर्थात् उस युग को, जब कि प्रत्ययों की अधिक संख्या में से अपेक्षाकृत कतिपय प्रत्ययों का महत्त्व उस सीमा तक नहीं बढ़ा था, जिससे हम बाद में परिचित हैं। यह भी स्पष्ट है कि क्रिया और संज्ञा के अन्तर की बढ़ती हुई स्पष्टता, जो भारत-यूरोपीय के परवर्ती प्राक्-इतिहास में विकसित हुई है, इस प्रकार के प्रत्ययों (उदाहरण के लिए र् और न्) के ग्रहण को रोकने की ओर उन्मुख हुई, जो मुख्यतः नामिक प्रत्यय माने जाने लगे थे।

इस प्रकार के धातु गुणकोटि में दो रूपों में मिल सकते हैं, एक ओर वह रूप जो चेत्– 'समझना', सेच्– 'सींचना', रोद्–'रोना', आदि में मिलता है, और दूसरी ओर वह, जो त्रस्– 'डरना', छद्– 'विभक्त करना', श्रो– 'सुनना', आदि में मिलता है। कहने का मतलब यह है, कि मूल धातु अथवा उसका विस्तारित रूप—दोनों में से किसी एक का गुण रूप हो सकता है, किन्तु भारत-यूरोपीय अपश्रुति सिद्धान्त के अनुसार यह सम्भव नहीं है कि दोनों रूपों का गुणरूप हो। गुणरूप की इन दोनों कोटियों का परस्पर भेद जहाँ तक धातुओं के अर्थ का अथवा उनकी तिङन्त प्रक्रिया का सम्बन्ध है, किसी विशेष महत्त्व से रहित है। यह केवल नामिक प्रातिपदिकों के सम्बन्ध में है कि इस तरह के अन्तर का

कोई महत्त्व है। वहाँ यह प्रक्रिया नपुंसक कर्मबोधक संज्ञाशब्द और विशेषणों अथवा कर्त्रर्थ संज्ञाशब्दों के अन्तर को उपस्थित करती है। चूँकि ये धातु आरम्भिक युग में उस समय, जब कि संज्ञा और क्रिया कम स्पष्टता के साथ एक-दूसरे से बहुत कम अलग किए जाते थे, मूलतः प्रातिपदिक रूप थे, और ठीक उतने ही नामिक रूप थे, जितने कि धातु रूप, इसलिये यह कल्पना करना उचित है कि विस्तारित धातुओं की दो कोटियों के रूपों में परस्पर अन्तर मूलतः ठीक वही था, जो नामिक शब्दों की रचना में मूलाधार है। कहने का मतलब यह है कि धातु रूप *त्रस् (trés–) (संस्कृत त्रसति) मूलतः एक नामिक प्रातिपदिक रहा होगा, जिसका अर्थ है 'डरता हुआ, डरने वाला', और इसका वैकल्पिक रूप *तेर्स् (*térs) (लैटिन तेर्रेओ (terreo) जैसा प्रातिपदिक रहा होगा, जिसका अर्थ 'डर' था।

इन परिस्थितियों में, जहाँ विश्लेषण के आधार पर मूल धातु का परिचय मिल गया है, यह दो व्यंजन ध्वनियों और गुण स्वरध्वनि (तेर्– आदि) से अधिक नहीं दिखाई पड़ता, अथवा यदि धातु स्वरध्वनि से आरम्भ होता है, तो इस ध्वनि और एक परवर्ती व्यंजन-ध्वनि (एद्–एस्) से अधिक ध्वनि तत्त्व से युक्त नहीं मिलता। इस प्रकार समाहृत धातुओं की संख्या तीन व्यंजन ध्वनियों वाले अन्य धातुओं तक इस सिद्धान्त के विस्तार को न्यायोचित सिद्ध करने में पर्याप्त है, जहाँ ह्रस्व (समाहृत) अथवा वैकल्पिक रूप सुरक्षित नहीं है। इस सम्बन्ध में सन्देह करने का कारण कम है कि उन सभी धातुओं की तृतीय व्यंजन ध्वनि को, जिनमें यह मिलती है, (बाद में) जोड़ा गया प्रत्ययांश माना जाना चाहिए।

२ समापिका क्रिया की प्रक्रिया

पद : संस्कृत क्रिया में दो पद होते हैं, परस्मैपद और आत्मनेपद, जिनका अन्तर समस्त तिङ् प्रक्रिया में पुरुष-विभक्ति-चिह्नों के दो वर्गों द्वारा दिखाया गया है। दोनों के अर्थों का परस्पर अन्तर संस्कृत वैयाकरणों द्वारा उन्हें प्रदत्त नामों, परस्मै पदम् 'दूसरे के लिये पद' और आत्मने पदम् 'अपने स्वयं के लिये पद', से अभिव्यक्त किया गया है। आत्मनेप्रद का प्रयोग तब होता है, जब क्रिया का कर्त्ता किसी न किसी तरह कर्म के फल से विशेषतः सम्बद्ध हो जाता है; जब ऐसा नहीं होता, तब परस्मैपद का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिये कटं करोति 'वह चटाई बनाता है' का प्रयोग चटाई बनाने के व्यापार में संलग्न उस मजदूर के लिये होगा, जो दूसरों के लिये चटाई बनाता है, जब कि आत्मनेपदी कटं कुरुते का प्रयोग उस आदमी के लिये होगा, जो चटाई अपने स्वयं के लिये बनाता है। ठीक यही अन्तर पचति '(रसोइया) रसोई बनाता है'

और पचते 'वह (अपने लिये खाना) पकाता है' के बीच और यजति '(पुरोहित दूसरों के लिये) यज्ञ करता है' तथा यजते '(यजमान अपने लिये) यज्ञ करता है' के बीच देखा जाता है। फिर आत्मनेपद का विशिष्ट अर्थ उन परिस्थितियों में देखा जाता है, जब क्रिया का मुख्य कर्म किसी के खुद के शरीर का एक अंग हो : नखानि निकृन्तते 'वह अपने नाखून काटता है', दतो धावते 'वह अपने दाँत साफ करता है'। धातुओं के दूसरे वर्ग में एक अन्य प्रकार का अन्तर पाया जाता है, जो सकर्मक (परस्मैपदी) और अकर्मक (आत्मनेपदी) में देखा जाता है : दृंहति 'मजबूत बनाता है', दृंहते 'मजबूत बनता है', वर्धति 'बढ़ाता है, अधिक बड़ा बनाता है', वर्धते 'बढ़ता है (अकर्मक), बड़ा बनता है', वहति '(रथ आदमी को) ले जाता है', वहते '(मनुष्य रथ पर) सवार होता है'। इससे जो विकास हुआ है, वह कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य के बीच के अन्तर से दूर नहीं है, और कर्मवाच्य अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये आत्मनेपद का प्रयोग भूतकाल और भविष्यत्काल में भी प्रचलित हो गया है, जिनमें कर्मवाच्य को स्पष्ट करने का अन्य कोई साधन नहीं है। एक विशेष अर्थ जिसे सामान्यतः आत्मनेपद व्यक्त नहीं कर पाता, वह प्रत्यक्ष आत्मने रूप है, जो द्वितीयान्त आत्मानम् के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। सभी धातुओं का दोनों पदों में प्रयोग उपलब्ध नहीं है। कुछ केवल परस्मैपद में प्रयुक्त हैं, उदा० अद्– 'खाना', अस्– 'होना', क्षुध्– 'भूखा होना', भुज्– 'झुकना', सर्प्– 'सरकना', आदि; अन्य धातु केवल आत्मनेपद में मिलते हैं; उदा० आस्– 'बैठना', सह्– 'सहन करना' लभ्– 'पाना', वस्– '(कपड़े) पहनना', सच्– 'सहयोग करना'। कभी-कभी एक भिन्न प्रकार का पद उसी क्रियापद में विभिन्न कालों में मिलता है, अत्यधिक सामान्य विकल्प परस्मैपद लिट् तथा आत्मनेपद वर्तमान में मिलता है : वर्तते : ववर्त।

परस्मैपद और आत्मनेपद का यह अन्तर भारत-यूरोपीय से आया है (तुल० समीकरण सचते, ग्रीक हेपेतइ (hepetai), लैटिन सेक्विटुर् (sequitur), और भारतीय-आर्य के बाहर स्वरूप और प्रयोग की दृष्टि से संस्कृत के साथ अत्यधिक सादृश्य वाली भाषा ग्रीक है। परवर्ती भारतीय-आर्य में यह अन्तर लुप्त हो गया है, और यह संस्कृत में पुराणों तथा संस्कृत के कुछ कम शुद्ध प्रकारों में प्रतिबिम्बित है।

काल—संस्कृत क्रिया में चार काल हैं : वर्तमान, भविष्यत्, लुङन्त भूत, परोक्ष भूत। वर्तमानकालिक धातु वर्तमान काल के अतिरिक्त तथाकथित अपूर्णभूत अर्थात् लुङन्त भूतकालिक (preterite) रूपों का आधार बनाता है। इस तरह भविष्यत् काल के आधार पर एक हेतुहेतुमद् भावे लृङ् (भूतरूप)

बनाया जाता है। वैदिक भाषा में पूर्ण भूत (perfect) के आधार पर भूतकालिक रूप बनाया जाता है। ये भूतकालिक रूप प्राचीन भाषा में भी बहुत कम मिलते हैं, और परवर्ती भाषा में तो लुप्त ही हो गये हैं। लुङ् रूप प्रकृत्यंश केवल एक ही तरह के भूतकालिक रूप को उत्पन्न करता है।

इस कुछ जटिल प्रक्रिया में अत्यधिक स्पष्ट विभाजन वह है, जो एक ओर लिट् और दूसरी ओर अन्य तीन लकारों में मिलता है। लिट् लकार अन्य कालवाचक रूपों से केवल धातुरूप की रचना की दृष्टि से ही भिन्न नहीं है, अपितु इस दृष्टि से भी कि इसमें विशेष कोटि के पुरुषवाचक तिङ् विभक्तिचिह्न मिलते हैं। लिट् तथा शेष तिङन्त रूपों में हमें स्पष्टतः भारत-यूरोपीय प्रक्रिया का अत्यधिक प्राचीन और मौलिक विभाजन मिलता है। दूसरी ओर जब हम भविष्यत् तथा सामान्य भूते लुङ् पर वर्तमानकाल की रूपप्रक्रिया के प्रभाव की दृष्टि से विचार करते हैं तो यह स्पष्ट है कि ये मूलतः एक ही कोटि की रचना के केवल विशिष्ट रूपायन हैं। उदाहरण के लिये भविष्यत् –य विकरण वाले वर्तमानकालिक धातुओं का केवल एक उपवर्ग है, जिसमें चतुर्थ गण के धातु और विविध नाम धातु सम्मिलित हैं। सामान्य भूते लुङ् और वर्तमान-कालिक प्रक्रियाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध इस तथ्य के द्वारा देखा जाता है कि कति-पय लुङन्त धातुरूप आकार की दृष्टि से कतिपय वर्तमानकालिक धातुरूपों से अभिन्न है। ऐसा उस धातु-रूप लुङ् (root aorist) (अक्रर् आदि) के साथ पाया जाता है जो धातुकोटि के अनद्यतन भूते लङ् (अहंन् , आदि) के समान बनाया जाता है, और उन अ– लुङ् (a–aorist) (अरुहत् , आदि) के साथ है, जो षष्ठ गण के अनद्यतन भूते लुङ् रूपों से मिलता है (अतुदत् , आदि)। इन दो प्रकार के रूपों की लुङ् अथवा लङ् प्रकृति केवल आकार के आधार पर ही नहीं, अपितु उसी धातुरूप के वर्तमानकालिक रूप के अस्तित्व या अनस्तित्व के आधार पर निश्चित होती है। अन्य स्थितियों में एक समय उन धातुरूपों के वर्तमानकालिक रूपों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं, जो संस्कृत में पूरी तरह लुङन्तों के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिये अभ्यासरूप लुङ् अजीजनत् से मिलता-जुलता अवेस्ता का वर्तमानकालिक रूप ज़ीज़नॅन्ति (zizanənti) है। स्-लुङ् के सम्बन्ध में भी, जो वर्तमानकालिक प्रक्रिया से अत्यधिक स्पष्टता से अलग रखा जाता है, अवेस्ता नाइस्मि (naismi), 'अपमान करता हूँ' जैसे वर्तमान रूपों का अस्तित्व इसका निर्देश करता है कि इस तरह के रूप सदा केवल लुङन्त नहीं हैं।

एक ओर लट्-लङ् का, दूसरी ओर लुङ् का परस्पर सम्बन्ध तीन कालों के अर्थ को दृष्टि में रखकर ही विवेचन का विषय बनाया जा सकता है। संस्कृत

में यह विलकुल जटिल नहीं है। लट् लकार केवल वर्तमान काल का संकेत करता है, और लङ् इसके विपरीत भूतकाल का, न अधिक और न कम : हन्ति 'वह मारता है', अहन् 'उसने मारा', आदि। संस्कृत के इस लङ् लकार में 'अपूर्ण भूत' (imperfect) के अर्थ का कोई चिह्न नहीं मिलता, और यदि कहीं इस प्रकार के अर्थ की आवश्यकता होती है, तो उसे वर्तमानकालिक रूप के साथ स्म निपात जोड़कर अभिव्यक्त किया जाता है। लङ् के विपरीत लुङ् विशेष कोटि में भूतकाल को अभिव्यक्त करता है, और यह इस दृष्टि से कि इसे उस व्यापार के वर्णन के लिये प्रयुक्त किया जाता है, जो अभी-अभी पूर्ण हुआ है : उद् असौ सूर्यो अगात् '(देखो) यह सूर्य उदित हो गया है।

लुङन्त और वर्तमानकालिक धातुरूपों में अर्थ का यह स्पष्ट अन्तर केवल इन दो कोटि के भूतकालिक रूपों में मिलता है। इनके अतिरिक्त कई विधियाँ (moods)—निर्बंधवाचक, अभिप्रायवाचक, आज्ञावाचक और विधिवाचक और परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी कृदन्तज रूप भी मिलते हैं, जो वर्तमानकालिक अथवा लुङन्त धातुरूपों से विकल्प से वनाये जाते हैं। किन्तु इन सभी परवर्ती कोटि के रूपों में वैदिक भाषा में वर्तमान के आधार पर वने रूपों और लुङ् के आधार पर वने रूपों के वीच अर्थ का कोई ठोस अन्तर नहीं ढूँढा जा सकता, उदा० करत् अभि० 'वह करेगा', धातुरूप के आधार पर वने कृण्वत् 'वही' से किसी अर्थ में भिन्न नहीं है।

भूतकालिक रूपों की दो कोटियों के वीच स्पष्ट अन्तर के विपरीत वर्तमान-कालिक तथा लुङन्त धातुरूपों के बीच इन सभी रूपों में अर्थ के अन्तर का अभाव इस निर्णय की ओर संकेत करता है कि विशेषत: इन भूतकालिक रूपों में ही लुङ् एक विशिष्ट व्याकरणिक कोटि के रूप में विकसित हो गया है। यह जान पड़ता कि है मूलतः भारत-यूरोपीय भाषा निर्देशप्रकार (indicative) में केवल वर्तमानकाल तथा भूतकाल का ही अन्तर करती थी, जिनके रूप अधिक विस्तृत कोटि के धातुरूपों से वनाये जा सकते थे। यह वस्तुस्थिति हित्ती में चली आयी है, जो अन्य भाषाओं के लुङ् से मिलते-जुलते किसी काल के अस्तित्व का कभी भी कोई चिह्न प्रकट नहीं करती। विकास की अगली सीढी दोहरे भूतकालिक रूपों का उदय है, एक वर्तमानकाल से मिलता-जुलता (लङ्) और दूसरा वर्तमान कालिक रूप से अलग हटा हुआ और विशेष अर्थवाला (लुङ्)। इस स्थिति का प्रतिनिधित्व भारत-ईरानी में मिलता है। ग्रीक में वर्तमान लुङन्त प्रक्रियाओं का यह अन्तर और अधिक आगे वढ़ाया गया है, और इसे इन दो प्रकार के धातुरूपों से बनाये गये विधिरूपों (moods), कृदन्तरूपों और धातुज संज्ञारूपों

के साथ भी लागू किया गया है। इन सभी रूपों में ये दो प्रकार के धातु-रूप भिन्न कोटि की व्यापारदशा का बोध कराते हैं, अर्थात् परिपूर्ण (लुङ्) और विद्यमान (लट्)। फलतः वर्तमानकाल के आधार पर बना भूतकालिक रूप उस 'अपूर्ण' अर्थ का ग्रहण करता है, जो हित्ती में और संस्कृत के समानान्तर सम्बद्ध रूपों में अनुपलब्ध है।

लिट् लकार रूप की दृष्टि से वर्तमान लट् / लुङ् प्रक्रिया से स्वतन्त्र है और विशिष्ट कोटि के पुरुषवाचक तिङ् विभक्तिचिह्नों के अस्तित्व की विशेषता से युक्त हैं। यह प्राचीनतम भारत-यूरोपीय तिङन्त रूपों में से एक, तथा –हि (–ḫi) अन्तवाले हित्ती क्रियारूपों के साथ कुछ संबंध रखता जान पड़ता है। उस भाषा में क्रियापद के दो रूप मिलते हैं, एक प्रथम पुरुष एकवचन का रूप –मि में (जैसे संस्कृत अस्मि, आदि) और दूसरा –हि (– ḫi) में। इन दोनों के बीच ठीक वही सम्बन्ध नहीं है, जो अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में वर्तमान तथा लिट् में पाया जाता है, अपितु –हि (–ḫi) रूपों के विभक्तिचिह्न किसी तरह संस्कृत ग्रीक आदि के लिट् विभक्तिचिह्नों से तुलनीय हैं, जिससे यद्यपि इन दो रूपों का विस्तृत सम्बन्ध अस्पष्ट बना रहता है, तथापि इस बात में विद्वानों में सामान्य मान्यता है कि इनके बीच कोई निश्चित सम्बन्ध विद्यमान था।

जैसा कि संस्कृत तथा ग्रीक की तुलना से उदित होता है, और जैसा कि अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं के साक्ष्य से पुष्ट है, लिट् का मूल अर्थ वर्तमान के द्वारा अभिव्यक्त व्यापार की प्रक्रिया के विरुद्ध व्यापार की स्थिति से सम्बद्ध है : उदा० बिभाय 'डरा हुआ है', जो कि भयते 'वह डरता है' के विरुद्ध है, चिकेत 'जानता है, उसकी जानकारी है' : चेतति 'उसे जानकारी मिलती है, ध्यान देता है'; तस्थौ '(शाश्वत) स्थित है': तिष्ठति 'ठहरता है' आदि। सतत व्यापार का इससे अत्यधिक सम्बद्ध अर्थ इन उदाहरणों में पाया जाता है : न श्राम्यन्ति न वि मुञ्चन्ति एते वयो न पप्तुः 'न तो वे थकते हैं और न ठहरते हैं, वे पक्षियों की तरह (निरन्तर) उड़ते रहते हैं।' इस तरह लिट् मूलतः वर्तमान काल का ही एक खास प्रकार है, न कि भूतकालिक रूप, और ऐसी स्थितियों में यह अंग्रेजी में सामान्यतः वर्तमान काल द्वारा अनूदित किया जाना चाहिए। भूतकाल के रूप में इसका विकास उन दो स्थितियों में होता है, जिनका वैदिक भाषा में प्रतिनिधित्व मिलता है। पहली स्थिति उस अर्थ का विकास है, जिसका अनुवाद अंग्रेजी में पूर्ण भूतकाल द्वारा उपस्थापित किया जाता है। चूँकि यह स्थिति सामान्यतः पूर्ववर्ती प्रक्रिया का परिणाम है, यह स्वाभाविक था कि लिट् का प्रयोग इस तथ्य को अभिव्यक्त करने के लिये किया जाय कि अमुक कार्य किया जा चुका है। इस प्रयोग के उदाहरण के तौर पर हम यह उद्धृत

कर सकते हैं : यत् सीम् आगः चकृमा तत् सु मृळतु 'हमने जो कुछ पाप किया है, उसे वह क्षमा कर दे', और 'यथा जघन्थ धृषता पुरा चिद्वा जहि शत्रुमस्माकमिन्द्र– 'हे इन्द्र, जैसे तुमने अतीत में साहसपूर्वक (शत्रुओं का) वध किया, उसी तरह हमारे शत्रु का वध करो।' लिट् लकार और लुङ् लकार के इस प्रयोग के बीच अर्थ में स्पष्ट रूप से अन्तर अवशिष्ट है, क्योंकि लुङ् लकार उन्हीं व्यापारों तक सीमित है, जो समीपतम अतीत में हुए हैं, जब कि लिट् लकार ठीक-ठीक काल का ध्यान रखे बगैर पूर्णता का संकेत करता है। अन्तिम स्थिति वह है, जब कि लिट् द्वारा प्राप्त यह भूतकालिक अर्थ, इस तरह के प्रकरणों में मुख्य अर्थ बन जाना है, जिसका फल यह होता है कि लिट् लकार एक ऐसा वर्णनात्मक काल हो जाता है, जिसका अर्थ सामान्यतः अनद्यतन लङ् के अर्थ से भिन्न नहीं है। यह अन्तिम प्रयोग ऋग्वेद में अत्यधिक प्रचलित हो गया है : अहन्न् अहिं मन्वपस्ततर्द '(इन्द्र ने) अहि का वध किया, उसने जल में प्रवेश किया'। यही प्रयोग इटैलिक, केल्टिक और जर्मनिक जैसे भारत-यूरोपीय वर्गों में विस्तृत रूप से विकसित हुआ है।

लिट् लकार का भूतकालबोधक आगमयुक्त रूप, अर्थात् 'प्लुपरफेक्ट' (pluperfect) रूप ऋग्वेद में भी बहुत कम मिलता है, और बाद में शीघ्र ही लुप्त हो गया है। इसका अपना कोई खास अर्थ नहीं मालूम पड़ता, जो कि नियमतः अनद्यतन भूते लङ् (वर्णनबोधक) लकार के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है, और कभी-कभी लुङ् अर्थ में।

प्रकार : संस्कृत व्याकरण में पाँच प्रकारों का संकेत किया गया है। निर्बंध प्रकार, आज्ञाप्रकार, अभिप्रायप्रकार, विधिप्रकार (विधि लिङ्), आशीष्प्रकार या आशीष् लिङ्। प्राचीन भाषा में प्रकारजनित तिङन्त रूप, आपाततः अर्थ-भेद के बिना वर्तमान, लुङ् तथा पूर्णभूत तीनों प्रकार के प्रकृत्यंशों से बनाये जा सकते हैं। शास्त्रीय संस्कृत में निर्बंध प्रकार लुङ् तक सीमित हैं और आज्ञाप्रकार तथा विधिप्रकार के रूप वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश तक, जब कि अभिप्रायप्रकार के रूप केवल उन रूपों के सिवाय जो कि आज्ञाप्रकार में सम्मिलित है, सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। परवर्ती भाषा में आशीर्लिङ् के रूप परस्मैपद में 'धातुलुङ्' से सम्बद्ध हैं और आत्मनेपद में 'इष्-लुङ् से। प्राचीन भाषा में लुङ् से सीमित होने पर भी यह प्रकार बहुसंख्यक रूपों से सम्बद्ध मिलता है।

तथाकथित निर्बंधप्रकार वस्तुतः एक भिन्न पदरचनात्मक वर्ग सर्वथा नहीं है। रूप की दृष्टि से ये लुङ् तथा लङ् के आगमरहित रूप हैं धात्, वृणक् आदि, किन्तु इस प्रकार के रूप निर्देश-प्रकार के शुद्ध भूतकालिक रूपों के लिये भी ठीक उसी तरह प्रयुक्त किये जा सकते हैं जैसे आगमयुक्त रूप।

भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि आगम वस्तुतः इन भूतकालिक रूपों की रचना में एक वैकल्पिक उपसर्ग था और आगमरहित रूप अत्यधिक प्राचीन हैं। इन रूपों का अभिप्राय अर्थ में प्रयोग अर्थात् भविष्यत्, आज्ञा तथा इच्छाबोधन के अर्थ में प्रयोग हमें भाषा की अत्यधिक असाधारण आदिमस्थिति तक ले जाता है जब कि धातुजप्रक्रिया की अविकसित प्रकृति के कारण एक ही पद को बलात् कई अर्थों की अभिव्यक्ति करनी पड़ती थी।

निबंध के इन तीन प्रमुख अर्थों को संक्षेप में कुछ उदाहरणों द्वारा निर्दशित किया जा सकता है: (१) भविष्यत् के रूप में: को नो मह्या अदितये पुनर्दात् 'हमें महती अदिति के पास फिर से कौन लौटा देगा', इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम् 'अब मैं इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करूँगा'; (२) आज्ञा के रूप में: गर्भम् आ धाः 'गर्भ को धारण करो', परि द्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात् 'दुष्ट व्यक्ति की दुष्टता से हमारा निवारण हो' या 'दुष्ट व्यक्ति की दुष्टता हमें छोड़ दे'। जहाँ कहीं मध्यम पुरुष बहुवचन आदि में आज्ञाप्रकार के विशिष्ट रूप नहीं पाये जाते, वहाँ आज्ञाप्रकार की अभिव्यंजना का एकमात्र ढंग यही बचा रहता है और इस प्रकार के रूप आज्ञारूपों की प्रक्रिया में सम्मिलित कर लिये गये हैं। निषेध की अभिव्यंजना करने के लिये रूप मा निपात के साथ सर्वथा प्रयुक्त होते हैं: मा गाः 'मत-जाओ' आदि। यह वाक्य-विन्यास शास्त्रीय संस्कृत में भी अवशिष्ट है, जहाँ केवल यही एक ऐसा निबंध प्रकार है (आज्ञाप्रकार में सम्मिलित रूपों के अतिरिक्त) जो अभी तक विद्यमान है; (३) इच्छाबोधन के लिये: अग्निम् हिन्वन्तु नो धियस्तेन जेष्म धनम्-धनम् 'हमारी प्रार्थनायें अग्नि को प्रेरणा दें, हम निरन्तर उसकी कृपा से धन को जीतते रहें'।

आज्ञाप्रकार—आज्ञाप्रकार केवल कुछ ही पुरुषों और वचनों में अर्थात् मध्यम पुरुष, प्रथम पुरुष एकवचन में तथा प्रथम पुरुष बहुवचन में भिन्न रूपों से युक्त है। इनमें प्रथम पुरुष एकवचन तथा बहुवचन के रूप मूलतः निबंध रूपों के साथ -उ जोड़कर विकसित किये गये हैं: वहत्+उ से वहतु। प्रथम पुरुष द्विवचन और मध्यम पुरुष बहुवचन के रूप अपरिवर्तित निबंध रूप हैं। परवर्ती भाषा में प्रयुक्त उत्तम पुरुष के रूप अभिप्रायप्रकार के रूप हैं जो आज्ञाप्रकार की प्रक्रिया में सम्मिलित कर लिये गये हैं; वे प्राचीन भाषा में इस प्रक्रिया से संबद्ध नहीं हैं। आज्ञाप्रकार ठीक उसी तरह आदेश की अभिव्यंजना करता है, जैसे निबंध प्रकार किन्तु यह निबंध के अन्य अर्थों में प्रयुक्त नहीं किया जाता। यह इस आदेश अर्थ में निबंध की अपेक्षा भी अधिक प्रचलित है।

अभिप्रायप्रकार—पद-रचना की दृष्टि से अभिप्राय प्रकार एक विशेष कोटि के निर्वंध (Injunctive) के विकास द्वारा उदित हुआ है, अतः यह स्वाभाविक है कि अर्थ के क्षेत्र की दृष्टि से यह सामान्यतः अभिप्राय से मिलता-जुलता होना चाहिये। निर्वंध की तरह ही अभिप्राय प्रकार भी निम्नलिखित रूपों में प्रयुक्त किया जा सकता है : (१) केवल भविष्यत् अर्थ में : प्र नु वोंचा सुतेषु वाम् 'अब मैं सोम की सवन क्रिया के समय तुम दोनों की स्तुति करूँगा', उवास उषा उच्छाच्च नु 'उषा (अतीत में) प्रकाशित होती रही है और वह अब प्रकाशित होगी। (२) आज्ञाप्रकार के समान : आ वां वहन्तु···अश्वाः, पिबाथो अस्मे मधूनि 'तुम्हारे घोड़े तुम्हें यहाँ ले आवें और तुम हमारे साथ मधु का पान करो' (३) इच्छा-बोधन के लिये : परि णो हेळो वरुणस्य वृज्याः, उरुम् न इन्द्रः कृणवदु लोकम् 'वरुण का क्रोध हमें बचायें, इन्द्र हमारे लिये अत्यधिक विस्तृत लोक की व्यवस्था करें।' यद्यपि अभिप्रायप्रकार का क्षेत्र निर्वंध प्रकार से मिलता है तथापि इनमें अवधारण की दृष्टि से यह भेद है कि अभिप्रायप्रकार में भविष्यत् वाला अर्थ अधिक प्रधान होता है। अभिप्राय प्रकार वस्तुतः वैदिक भाषा में भविष्यत् का बोध कराने का सामान्य साधन है। इन दो प्रकारों के प्रयोग में कतिपय महत्वपूर्ण वाक्य-रचनागत भेद भी हैं। उदाहरण के लिये निषेध की व्यंजना कराने के लिये मा के योग में केवल निर्वंध का प्रयोग पाया जाता है। अन्य महत्वपूर्ण भेद यह है कि निर्वंध प्रकार आश्रित उपवाक्यों (सम्वन्धवोधक, हेतुवोधक आदि में) वहुत कम प्रयुक्त होता है। दूसरी ओर अभिप्राय प्रकार का प्रयोग इस विषय में अत्यधिक विकसित है और सम्वद्ध भाषाओं में कहीं और अधिक है जहाँ से इस प्रकार की पारिभाषिक संज्ञा आई है।

विधिप्रकार—विधिप्रकार अव तक वर्णित प्रकारों से इस बात में भिन्न है कि यह या / इ प्रत्यय जोड़कर वनाये गये विशिष्ट प्रकृत्यंश के आधार पर निर्मित किया जाता है। इसका वास्तविक अर्थ इच्छा की अभिव्यक्ति जान पड़ता है (जिससे इसका नाम वनाया गया है) और यह अर्थ संस्कृत में भली प्रकार सुरक्षित है : वयं स्याम पतयो रयीणाम् 'हम सम्पत्ति के स्वामी वनें'। इसी से शक्यार्थ (Potential meaning) का उदय होता है (यह प्रकार कभी-कभी शक्य या शक्यार्थ प्रकार भी कहलाता है) जो विभिन्न भाषाओं के साक्ष्य पर भारत-यूरोपीय भाषा के युग में भली प्रकार प्रतिष्ठापित हो चुका था : यदग्ने स्यामहम् त्वम् वा घा स्या अहम् स्युष्टे सत्या इहाशिषः 'हे अग्नि, यदि मैं तुम होता और तुम मैं, तो तुम्हारी प्रार्थनायें (अवश्य) सत्य होतीं'। संस्कृत में अत्यधिक विकसित इस प्रकार का प्रयोग वह विधिमूलक है जो

धर्मशास्त्र के या ऐसे ही अन्य ग्रन्थों में अत्यधिक मिलता है : साम्वत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् '(राजा को) अपने राज्य से आप्त अधिकारियों द्वारा वार्षिक कर वसूल करवाना चाहिये'।

आशीर्लिङ् या प्रार्थनाबोधक (Precative)—आशीर्लिङ् विधिप्रकार के प्रकृत्यंश के आधार पर विधिप्रकार के प्रत्यय के साथ स् जोड़कर, इस प्रकार यास् / इष् संयुक्त प्रत्यय बनाकर निर्मित किया जाता है। इसका प्रयोग सभी स्थितियों में इच्छा की अभिव्यक्ति तक सीमित है : भगो मे अग्ने सख्ये न मृद्ध्याः 'हे अग्नि, मेरा सौभाग्य तुम्हारी मित्रता को ढीला न कर दे', यो नो द्वेष्टि अधरः सः पदीष्टा 'हमसे द्वेष करने वाला नीचे (पतन की ओर) गिर पड़े, या वह जो हमसे द्वेष करता है नीचे (पतन की ओर) गिर पड़े।'

३. धातुमूल (धातुज प्रकृत्यंश)

धातु के उपर्युक्त विश्लेषण से इस बात का पता चलता है कि किस तरह प्राचीनतम काल से ही धातु के आधार पर अपने आप वैकल्पिक तिङन्त रूप बनाये जा सकते थे। सभी परिस्थितियों में ये प्रत्यय उन संबद्ध प्रत्ययों के साथ तुल्यरूप हो सकते हैं जो संज्ञाशब्दों के रूपों में उपलब्ध हैं। प्राचीनतम कोटि के इन रूपों में प्रत्यय पूर्णतः संयुक्त हैं और इससे नये और कुछ अधिक पूर्ण धातु बनाये जाते हैं। इन प्रत्ययों के साथ-साथ एक ऐसी तालिका भी विद्यमान है, जो केवल वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश बनाने के लिये प्रयुक्त होती है, परन्तु जो अन्य धातुज क्रियारूपों में शामिल नहीं है। इसी तरह ये प्रत्यय संबद्ध नामिक प्रत्ययों के साथ तुलनीय हैं, उदा० धृष्णो/उ स्वादिगणी, धृष्- 'साहसी होना' से, जिसका विशेषणरूप धृष्णु- 'साहसी' है। नामिक और धातुज प्रकृत्यंशों की सामान्य बनावट अत्यन्त समानान्तर होती है। दोनों ही या तो केवल धातु पर आधृत हो सकते हैं, या प्रत्यय से युक्त धातु पर आधृत। ये प्रत्यय सामान्य हो सकते हैं या संयुक्त; और संयुक्त प्रत्ययों का उद्भव सर्वदा एक प्रत्यय के साथ दूसरा प्रत्यय जोड़ने से होता है। ये रचनायें अ-विकरणहीन (non-thematic) और अ-विकरण (thematic) युक्त कोटियों में विभक्त की गई हैं, दोनों ही स्थितियों में परवर्ती कोटि का महत्त्व सफलतापूर्वक परिवर्द्धमान है। धातुज प्रकृत्यंशों में धात्वंश अथवा प्रत्ययांश पर स्वराघात हो सकता है, उदा० शृणोतिं, पृणातिं के विरुद्ध विकरणहीन प्रकृति वर्मिति, जेष्म के बारे में, और विकरणयुक्त प्रकृति तुदतिं के विरुद्ध भवति के बारे में। इस तथ्य के आधार पर कि धातु रूप-प्रक्रिया में इस तरह के स्वराघातजन्य अन्तर से अर्थ में कोई फर्क नहीं पड़ता,

किन्तु नामिक रूपप्रक्रिया में इससे स्पष्ट रूप से अर्थ में अन्तर आ जाता है, यह संकेत किया जा सकता है कि ये प्रकृत्यंश मूलतः प्रारम्भ में नामिक हैं।

लौकिक संस्कृत में धातु का वर्तमानकालिक रूप विभिन्न दस प्रकारों में से केवल एक के आधार पर बनाया जाता है। वैदिक भाषा में अधिक विस्तार देखने में आता है। जब कि सामान्यतः दस वर्तमानकालिक गणों में धातुओं का वर्गीकरण परवर्ती भाषा के वर्गीकरण से सम्बन्ध रखता है, धातुओं की एक ऐसी बड़ी संख्या उपलब्ध है, जिसमें दो, तीन अथवा अधिक विभिन्न गणों के आधार पर वर्तमान काल बनता है। इन स्थितियों को इन उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है : कृष्– 'जोतना', प्रथमगणी कर्षति, चतुर्थगणी कृषति; जॄ– 'जीर्ण होना', प्रथमगणी जरति, चतुर्थगणी जीर्यति; दा– विभक्त करना', द्वितीयगणी दाति, चतुर्थगणी द्यति; धू– 'कँपाना, हिलाना', पंचमगणी धुनोति, षष्ठगणी धुवति; पॄ– पूर्ण करना', तृतीयगणी पिपर्ति, नवमगणी पृणाति; भी– 'डरना', प्रथमगणी भयते, तृतीयगणी बिभेति; ऋध्– 'समृद्धि प्राप्त करना', चतुर्थगणी ऋध्यति, पंचमगणी ऋध्नोति, सप्तमगणी हेतु० ऋणधत् ; तॄ– 'पार करना, सहन करना', प्रथमगणी तरति, तृतीयगणी कृदन्त रूप तित्रत्–, षष्ठगणी तिरति, अष्टमगणी तरुते । बहुत कुछ अधिक हद तक प्रकृत्यंश का यह विभेद किसी भी तरह की भिन्नार्थकता से सम्बद्ध नहीं है, परन्तु कभी-कभी सकर्मक और अकर्मक के बीच का अन्तर इन वैकल्पिक प्रकृत्यंशों के प्रयोग से सम्बद्ध है : जवते 'त्वरा करता है, तेज है', जुनाति 'चलता है', दबाव डालता है' तपति 'तपाता है', तप्यति 'तपता है', पचति 'पकाता है, दूसरों के लिये पकाता है' (सकर्मक), पच्यते 'पकता है' । सकर्मक अर्थ में विशेषकर चतुर्थगणी धातुओं से सम्बद्ध होने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

भारत-यूरोपीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृत्यंश की यह अस्थिरता प्रागैतिहासिक युग में भी पर्याप्त थी। अवेस्ता में तो वेद की भाषा से भी कुछ हद तक अधिक अस्थिरता दिखाई पड़ती है। इससे भी आगे विभिन्न भारत-यूरोपीय भाषाओं के बीच प्रकृत्यंशों की असंगतियों (संस्कृत रिणक्ति : ग्रीक लेइपो (leipō), आदि, आदि) से इस बात का पता चलता है कि प्राचीनतर भारत-यूरोपीय युग में वर्तमानकालिक प्रकृत्यंशों में इस सम्पूर्ण विविधता में अर्थ का कोई भी परम्परागत अन्तर विभिन्न रूपों के साथ नहीं जुड़ा था, उसी तरह जैसे कि संस्कृत में दसों वर्तमानकालिक गणों का कार्य एक समान ही है। ठीक इसी समय प्राचीन भारत-यूरोपीय में इन कतिपय शब्दरूपों में एक विशेष अर्थ और सक्रियता प्राप्त कर लेने की प्रवृत्ति का उदय हुआ। उदाहरणार्थ –स्को (sco) प्रत्यय ने एक ऐसे अपरिपक्व अर्थ का

वहन किया, जिसका विविध भाषाओं में प्रतिनिधित्व पाया जाता है। हित्ती में –नु– अन्तवाले रूपों (संस्कृत पंचम गण से संबद्ध) ने णिजन्त रूपों की तरह एक विशेष प्रक्रिया को प्राप्त किया, यह एक ऐसा विकास था, जो अन्य भाषाओं में निर्दिष्ट नहीं है। संस्कृत में एक खास अर्थ का ग्रहण करनेवाले वर्त्तमानकालिक रूप उन रूपों के आधारभूत रूप हो गये, जो गौण क्रियापद के रूप में अभिहित किये गये, उदाहरणार्थ, –अय अन्तवाले प्रकृत्यंशों से युक्त प्रेरणा-बोधक णिजन्त रूप, स् अन्तवाले अभ्यासजनित प्रकृत्यंशों से बने इच्छाबोधक सन्नन्त रूप, सबल द्वित्व तथा मूल प्रकृत्यंश अथवा य– प्रकृत्यंश वाले क्रियाधिक्यबोधक ण्यन्त रूप। ये मूलतः केवल वर्तमान पद्धति पर ही चलाये जाते रहे, और संस्कृत का यह एक विशेष प्रकार का विकास है, जो उन्हें तिङन्त प्रक्रिया के अन्य विभागों में भी चलने देता है। इनके आधार पर कर्मणि प्रयोग का वर्गीकरण अवश्य किया जाना चाहिये, जो कि चतुर्थगण का एक विशेष विकास है और जो इस वर्ग के धातुओं की सकर्मकरूपों में विशेषीकरण करने की प्रवृत्ति से उदित हुआ है।

४. धातुरूपों का स्वराघात और अपश्रुति

संस्कृत के एक ऐसे विशेष नियम के अनुसार, जिसके समानान्तर कोई नियम अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में अवशिष्ट नहीं मिलता, स्वतन्त्र (मुख्य) उपवाक्य में धात्वंश पर स्वराघात नहीं मिलता, ऐसे वाक्यांश के आरम्भ में तथा अन्य कतिपय विशेष परिस्थितियों को छोड़कर स्वतन्त्र मुख्य उपवाक्यों में यह अपना स्वराघात सुरक्षित रखता है। इस प्रकार से स्वराघातयुक्त क्रियापद में 'थिमैटिक' क्रियारूपों के सम्बन्ध में अपरिवर्तनीय स्वराघात होता है, जो कि इस मानी में नामिक थिमैटिक शब्दरूपों के साथ पूर्णतः मिलता है। 'अथिमैटिक' धातुरूपों में स्वराघात प्रकृत्यंश और तिङ् विभक्तियों के बीच अस्थिर रहता है, और यह परिवर्तनशीलता प्रकृत्यंश की गुण कोटि (कभी-कभी वृद्धिकोटि) और शून्यकोटि के बीच स्थित परिवर्तनशीलता से सम्बन्ध रखती है। सामान्य नियम तो यह है कि निर्देशप्रकार में स्वराघात प्रकृत्यंश पर होता है और परस्मैपद एकवचन के तीनों पुरुषों में गुणकोटि रहती है, और परस्मैपद के द्विवचन तथा बहुवचन में एवं आत्मनेपद के सभी रूपों में स्वराघात तिङ् विभक्तिचिह्न पर पाया जाता है और प्रकृत्यंश अपनी दुर्बल कोटि में रहता है : द्वेष्टि 'द्वेष करता है', प्रथम पुरुष बहुवचन द्विषन्ति, प्रथम पुरुष आत्मनेपदी द्विष्टे, युनक्ति 'जोड़ता है', प्रथमपुरुष बहुवचन युञ्जन्ति, प्रथम पुरुष एकवचन आत्मनेपदी युङ्क्ते। इस नियम के अपवाद अपेक्षाकृत बहुत कम मिलते हैं (उदा० स् – लुङ् में)। यह प्राचीन भारत-

यूरोपीय पद्धति अन्य भाषाओं में भी उपलब्ध है (उदा० ग्रीक ऍइमि (eimi), इमॅन् (imen), यद्यपि यह अन्यत्र इतने स्पष्ट और निरपवाद रूप से नहीं मिलती, जैसी कि संस्कृत में।

५. आगम और अभ्यास (द्वित्व)

विभिन्न कालवाचक प्रकृत्यंश बनाने के लिये प्रत्यय-प्रक्रिया की विशद विधा के अतिरिक्त भारत-यूरोपीय ने पुरःसर्ग-प्रक्रिया की दो कोटियों का उपयोग किया है, आगम और अभ्यास (द्वित्व)।

बीते हुए काल का संकेत करने के लिये विविध भूतकालिक रूपों (अपूर्णभूत (imperfect), लुङ्भूत (aorist), पूर्ण अनद्यतन भूते लङ् (pluperfect) और क्रियातिपत्ति लृङ् (conditional) के पहले आगम (भारत-यूरोपीय ऍ– (e–), संस्कृत अ–) जोड़ दिया जाता है। यह भारत-ईरानी (संस्कृत अभरत्), ग्रीक ऍफ़रॅस् (épheres), आर्मीनियन (ऍबॅर् (eber), और फ्रीजियन (ऍद्ॅअस् (eδeαs) 'निर्मित') में पाया जाता है, परन्तु इनके अतिरिक्त भारत-यूरोपीय भाषाओं में यह अनुपलब्ध है। इस तरह यह वैभाषिक वर्गीकरण की दृष्टि से भारत-यूरोपीय का एक महत्वपूर्ण लक्षण (परिचायक) है, चूँकि यह स्पष्टतः परवर्ती उद्गम का है, और चूँकि इसने अपने आपको भारत-यूरोपीय भाषाशास्त्र के क्षेत्र के केवल एक अंश के रूप में प्रस्थापित किया है, यह केवल समीपवर्ती बोलियों की ही विशेषता है। जहाँ इसने अपने आपको प्रस्थापित किया है, वहाँ यह केवल एक वैकल्पिक शब्दरूप की तरह विद्यमान है, जिसके लिये आगमयुक्त और आगमरहित रूपों का प्रयोग वैकल्पिक रूप से होता रहा है। आगमरहित रूपों का प्रयोग निःसन्देह निर्बंध प्रकार में ही किया जाता रहा है, परन्तु वे आगमयुक्त रूपों की तरह ही भूतकाल-बोधक अर्थ में भी प्रयुक्त किये जा सकते थे। आगमविहीन और आगमयुक्त भूतकालिक रूपों का सहअस्तित्व प्राचीनतम संस्कृत और प्राचीनतम ग्रीक की अपनी खास विशेषता है। यह बात तो दोनों भाषाओं की अग्रिम स्थिति में देखी जाती है कि आगम का वैकल्पिक रूप से प्रयोग बन्द होने लगता है और वह नित्य हो जाता है। ईरानी में प्राचीन फारसी में आगम का प्रयोग नियत रूप से मिलता है, परन्तु अवेस्ता में वह अत्यन्त विरल है, जहाँ कि भूतकालिक रूपों की आगमविहीन कोटि प्रधानतः प्रचलित है। भारतीय-आर्य की प्राचीन स्थिति में, जहाँ अपूर्ण भूत लङ् और लुङन्त रूपों से निर्मित एक प्राचीन भूतकालिक कोटि अब भी सुरक्षित है, प्रयोग की प्राचीन

वैदिक स्वच्छन्दता बनी हुई है, किन्तु आगमयुक्त रूपों की बजाय आगमविहीन रूप अत्यधिक प्रचलित हो गये हैं।

ऐसा लगता है कि आगम मूलतः एक स्वतन्त्र शब्द रहा है, उदाहरणार्थं 'वहाँ, तब' अर्थवाला एक निपात ए́ है, जो बाद में क्रिया के साथ संयुक्त हो गया है। जब कभी क्रियांश पर स्वराघात होता है, यह नियत रूप से उदात्त स्वर का वहन करता है। जब धातु किसी अव्यय या पुरःसर्ग (उपसर्ग) के साथ संयुक्त होता है, यह हमेशा उस अव्यय और धात्वंश के बीच रहता है : सु॒मभ॑रत्, आदि, और ठीक यही बात ग्रीक में पायी जाती है। अनियत संधि ऐसी स्थिति में होती है, जब यह इ, उ अथवा ऋ से शुरू होने वाले धातु के साथ संयुक्त होता है (इ॒च्छति॑, ऊ॒र्णोति॑, ऋ॒ध्नोति॑ से ऐच्छ॑त् 'इच्छा की', औ॒र्णो॑त् 'आच्छादित किया' आध्नो॑त् 'समृद्धि प्राप्त करना', जिनमें अपेक्षित गुण के बजाय वृद्धि है), और यह इस बात का संकेत करता है कि परवर्ती काल तक इसका उच्चारण पदच्छेद करके अलग-अलग अक्षर की तरह किया जाता रहा है (ऐच्छत, उ० अइच्छत् आदि)। दूसरी ओर आदि अ के साथ इसका संयोग (भारत-यूरोपीय ए́, अ, ओ́) बहुत प्राचीन मालूम पड़ता है, ग्रीक और संस्कृत के बीच समानान्तर रूपों की तुलना से यह बात समझ में आती है (संस्कृत आस् 'था', ग्रीक दोरिक ए̄स् (ēs), संस्कृत आजत् 'चलाया', ग्रीक दोरिक अगे́ (ãge))। व्, य्, न् और र् आदि वाले धातुओं के पहले वैदिक भाषा में आगम दीर्घ आ के रूप में दिखाई पड़ सकता है (आवृ॑णक्, आयु॑नक्, आदि)। इसका कोई कारण बहुत स्पष्ट तो नहीं है, परन्तु पदादि व् के सम्बन्ध में ठीक ऐसा ही एक स्थल ग्रीक में पाया जाता है होमरिक ए- (व्) ऐ́इदे (ē- (v) eidō), दोरिक ए́देइ (ẽdei)।

सामान्यतः धातु के ऐसे स्वर से युक्त पदादि व्यंजन के द्वित्व होने से अभ्यासरूप बनता है, जो प्रकृत्यंशगत स्वर के सदृश हो सकता है, या नहीं भी हो सकता। यह वर्तमान काल के एक गण (तृतीय गण), द्वित्व से युक्त लुङ्, परोक्ष लिट्, सन्नन्त और अतिशयबोधक (intensive) में दिखाई पड़ता है। ये विभिन्न कोटियाँ, जिनका विवरण स्वतन्त्र शब्दरूपों के साथ आगे दिया जायगा, निम्नलिखित हैं :

(१) अ (भारत-यूरोपीय ए́ (e)) स्वर वाली अभ्यासकोटि : द॒धाति॑ 'रखता है', ततान 'फैलाया', तुल० ग्रीक गे́गो́ने (gegone), लैटिन पेपिगी (pepigī), आदि।

(२) दीर्घ आ वाली अभ्यासकोटि : जागर्ति, जा॒गार॑ 'जग गया है', तुल० ग्रीक देदे́क्सतइ (dēdéxatai) 'वे स्वागत करते हैं', आदि।

(३) इ स्वरवाली अभ्यासकोटि, जब कि यह धात्वंशगत स्वर नहीं है : तिष्ठति 'खड़ा है', दिदृक्षते 'देखना चाहता है', तु० ग्रीक हिस्तेमि (hístēmi), गिगुओमइ (giguomai), लैटिन सिस्तो (sisto), आदि।

(४) दीर्घ ई वाली वैसी ही अभ्यासकोटि : अजीजनत् 'जन्म दिया', तुल० अवे० ज़ीज़नॅन्ति (zīzanənti) ।

(५) दो-दो पदांश वाले धातुओं के स्वर के दुर्बल रूप से युक्त अभ्यासकोटि जुहोति 'हवन करता है',, बिभेद 'भेदन किया', तुल० लैटिन पुपुगी (pupugi), स्किकिदी (scicidī) ।

(६) ऐसे धातुओं के गुणस्वरवाला विस्तारित अभ्यास रूप तथा द्वित्व-वाले पदान्त र्, न् आदि से युक्त वैसी ही अभ्यासकोटि : नेनिक्ते 'धोता है', देदिष्टे 'निर्देश करता है', वर्वर्तति 'वे (बार-बार) घूमते हैं)'; तुल० अवे० नएनिझ़इति (naēnižati), दएदोइश्त् (daēdoišt), आदि। केवल दो व्यंजनों वाले धातुओं की पूर्ण आवृत्ति इसी कोटि के अन्तर्गत आ जाती है : नोनाव 'शक्तिभर दहाड़ता है', जङ्घन्ति 'हिंसतापूर्ण ढंग से मारता है' ।

(७) द्वित्व बनाने वाले अक्षर के साथ संयुक्त ई प्रत्यय वाली वैसी ही विकसित अभ्यासकोटि : भरीभर्ति प्रथम पुरुष ए० व०, भरिभ्रति प्रथम पुरुष ब० व० । कभी-कभी ऐसी कोटि के स्थान पर वैकल्पिक रूप से एक ऐसी कोटि आ जाती है, जिसमें ई धातु के बाद जोड़ा जाता है : जोहवीति 'जोर से पुकारता है', आदि ।

(८) आदि अ को द्वित्वयुक्त बनाया जा सकता है, जो आ को उत्पन्न करता है (आस 'था') अथवा कोई इससे भी कुछ अधिक कठिन उलझन वाली प्रक्रिया भी मिल सकती है ।

दो व्यंजनों से शुरू होने वाले धातुओं में पहला व्यंजन अभ्यस्त (द्वित्वयुक्त) होता है, जिसमें स्- + स्पर्श का संयोग अपवाद स्वरूप है : शुश्राव 'सुना', तुल० अवे० सुस्रुम (susruma), ग्रीक केक्लुते (kéklute), शिश्रिये 'विश्राम किया', तुल० ग्रीक केक्लितइ (kéklitai), सस्मार 'स्मरण किया' सस्नौ 'स्नान किया', आदि । जब धातु स्- और स्पर्शध्वनि के संयोग से शुरू होता है, तब संस्कृत में स्पर्शध्वनि की आवृत्ति होती है : तिष्ठति 'खड़ा रहता है', चस्कन्द 'उछला, उगा', पस्पर्श 'स्पर्श किया' । दूसरी ओर ईरानी और ग्रीक में ऐसी अवस्थाओं में द्वित्ववाले पदांश में स् (<ह्) दिखाई पड़ता है। अभ्यास की यही कोटि लैटिन सिस्तो (sisto) और केल्टिक (आयरिश सेस्कइन्द् (sescaind) स्किन्निम् (skinnim) 'कूद जाना' से तुल० संस्कृत स्कन्द्-) में मिलती है। इन समुदायों के बारे में अभ्यास-प्रक्रिया की अन्य

कोटियाँ (अ) लैटिन स्तेती (stetī), स्किकिदी (scicidī), स्पोपोन्दी (spopondī) कोटि के भूतकालिक रूपों में मिलती हैं, जो अभ्यासवाले पदांश में हल् व्यंजनसंघात को सुरक्षित रखती हैं, परन्तु धातु में इसे साधारणीकृत कर देती हैं, (व) गॉथिक में, जहाँ धातु और अभ्यास दोनों में पूर्ण कोटि दिखाई पड़ती है : स्कइस्कइप् (skaiskaip) (स्कइदन् (skaidan) 'काटना' । इस अनियमितता की दृष्टि से यह असम्भव है कि भारत-यूरोपीय युग में कोई समग्र रूप से समान और अनुरूप प्रयोग रहा हो ।

संस्कृत में कुछ हलके-फुलके परिवर्तनों का प्रभाव अभ्यासजनित रूपों पर पड़ा है । उस नियम के अनुसार, जो दो महाप्राण हल् व्यंजनों के एक साथ प्रयोग में रुकावट डालता है, अल्पप्राण अक्षर का प्रतिनिधित्व अभ्यास-प्रक्रिया में महाप्राण के लिये किया गया है : दधा॑ति, आदि । ह् < भारत-यूरोपीय घ्य् (ĝh) के बारे में अल्पप्राण वाला रूप ज् के रूप में मिलता है : जुहार॑ । चूँकि अ अभ्यास वाले अक्षर में मूलतः ऍ था, इसके पहले प्राचीन कण्ठ्य कोटि का तालव्यीकरण हो गया है : चुका॒र॑, जगा॒र्स, जघा॒न॑ । ठीक यही व्यवस्था तब नियमित रूप से पायी जाती है, जब अभ्यासजनित अक्षर की स्वरध्वनि इ हो (चिकी॒र्षति) और यही बात सादृश्य के आधार पर उ के सम्बन्ध में भी लागू होती है : चुको॒प॑ ।

६. पुरुषबोधक तिङ् विभक्तिचिह्न

आदिम भारत-यूरोपीय की तरह संस्कृत में भी पुरुष-विभक्तिचिह्नों के दो वर्ग हैं, एक परस्मैपद के लिये और एक आत्मनेपद के लिये । आगे चलकर इन्हीं दो वर्गों ने कई उपवर्गों का भी ग्रहण कर लिया है, जो तिङन्त रूपप्रक्रिया के विभिन्न भागों में उपलब्ध होते हैं। वर्तमान लुङ्प्रक्रिया में तथाकथित प्रधान अन्तवाले रूप वर्तमानकाल और भविष्यकाल में मिलते हैं, जब कि एक अलग तालिका, गौण अन्तवाले रूपों की, अपूर्ण भूत, लुङ् और विध्यर्थक में उपलब्ध है । अभिप्राय रूप में दोनों में से कोई भी वैकल्पिक रूप से मिलता है । पूर्णभूत अन्तवाले रूप, जहाँ उपर्युक्त प्रक्रिया से भिन्न होते हैं, एक दूसरे से अधिक मौलिक रूप से भिन्न हैं, अपेक्षाकृत प्रधान और गौण अन्तवाले रूपों से । लोट् लकार में केवल मध्यम पुरुष के एक वचन और प्रथम पुरुष के एकवचन तथा बहुवचन में एक खास पदान्त विभक्तिचिह्न होता है, जो प्राचीन है, और कुछ खास आत्मनेपदी विभक्तिचिह्न हैं, जो भारतीय नवीन रूप है । प्रधान, गौण और परोक्ष लिट् के विभक्तिचिह्न निम्नलिखित तालिका[1] में दिखाये गये हैं :

१. आज्ञा तथा निर्बंध प्रकार के विभक्तिचिह्नों की तालिका उन-उन स्थलों पर देखें ।

अ. प्रधान विभक्तिचिह्न

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	ए० व०	द्वि० व०	व० व०	ए० व०	द्वि० व०	व० व०
उ० पु०	मि	वस्	मस्	ए	वहे	महे
म० पु०	सि	थस्	थ	से	आथे	ध्वे
प्र० पु०	ति	तस्	अन्ति	ते	आते	अन्ते, अते

ब. गौण विभक्ति चिह्न

उ० पु०	अम्, म्	व	म	इ, अ	वहि	महि
म० पु०	स्	तम्	त	थास्	आथाम्	ध्वम्
प्र० पु०	त्	ताम्	अन्, उर्	त	आताम्	अन्त, अत, रन्

स. परोक्षे लिट् विभक्ति चिह्न

उ० पु०	अ	व	म	ए	वहे	महे
म० पु०	थ	अथुस्	अ	से	आथे	ध्वे
प्र० पु०	अ	अतुस्	उर्	ए	आते	रे

परस्मैपदी विभक्ति चिह्न : उ० पु०, ए० व० वर्तमाने लट् संस्कृत अस्मि 'मैं हूँ', ग्रीक एइमि (eimí), लियु० ऐस्मि (esmi), हित्ती ऐश्मि (ešmi); ऐमि 'मैं जाता हूँ', ग्रीक ऐइमि (eími); ददामि 'मैं देता हूँ', ग्रीक दिदोमि (dídōmi), आदि । यह विभक्तिचिह्न मूलतः अथिमैटिक वर्गों तक ही सीमित रहा, और एक भिन्न विभक्तिचिह्न –ओ– (–ओ–? (o H–) ने थिमैटिक वर्गों में पदार्पण किया : ग्रीक फेरो (phérō), लैटिन फेरो (fero), गॉथिक बइर (baíra) । इस तरह के कुछ रूप ईरानी में सुरक्षित हैं (अवे० स्पस्या spasyā); लैटिन स्पेकिओ (specio), परन्तु सामान्यतः ईरानी में और संस्कृत में हमेशा अथिमैटिक धातुओं से संबंध मि को एक अधिक प्राचीन रूप के साथ जोड़ दिया जाता है, संस्कृत भरामि, अवे० बरामि (barāmi)। संस्कृत अभरम्, ग्रीक ऐफेरोन् (épheron), अगाम्, ग्रीक ऐबेन् (ébēn), स्याम् 'हूँ' । प्रा० लैटिन सिऐम् (siem) । अथिमैटिक धातुओं में इससे अधिक पूर्ण विभक्तिचिह्न होता है –अम्, आसम् 'मैं था', प्रा० पर्शियन आहम्, जो ग्रीक अ < मृ (a<m̥) होमरकी ग्रीक में म (m̊a) के विरुद्ध है। दो भाषाओं के बीच का ठीक ऐसा ही भेद अथिमैटिक प्रातिपदिकों के कर्म ए० व० के सम्बन्ध में पाया जाता है। पूर्ण विभक्तिचिह्न संस्कृत वेद, ग्रीक ओइद (oida); ददर्श, ग्रीक देदोर्क (dedo-rka) । वैदिक संस्कृत में या तो आ मिलता है अथवा आनि, ब्रवा 'मैं बोलूँगा', भराणि 'मै वहन करूँगा' । शास्त्रीय संस्कृत में, जहाँ ये शब्दरूप अज्ञार्थ

(लोट्) प्रक्रिया में प्रवेश कर चुके हैं। केवल पूर्णतर आनि विभक्तिचिह्न का प्रयोग किया जाता है। –आ विभक्तिचिह्न –ओ के अनुरूप है, जो अन्य भाषाओं में थिमैटिक धातुओं के वर्तमान निर्देशात्मक के साथ-साथ अभिप्राय में भी उपलब्ध है : ग्रीक अगो (ágō), फेरो (phérō), आदि। विस्तारित रूप –नि केवल भारत-ईरानी में मिलता है और इसका कोई उद्गम निश्चित नहीं है।

मध्यम पु० ए० व० मूल विभक्तिचिह्न एषि 'तुम जाते हो', लिथु० एइसि (eisí) भरसि 'तुम वहन करते हो', अवे० बरहि (barahi), तुल० प्रा० रूसी वॆलिशि (veliši) 'तुम आज्ञा देते हो', हित्ती इयशि (iyaši) 'तुम करते हो'। संस्कृत अस्थाः, ग्रीक ऍस्तेस् (éstēs), अभरः, ग्रीक ऍफॆरॆस् (épheres), भरेः (bharés), ग्रीक फॆरोइस (phérois), गॉथिक बइरइस् (baírais)। लिट् वेत्थ, ग्रीक ओऍस्थ (oèstha), गॉथिक वइस्त् (waist), ददाथ, अवे० ददाथा (dadāθa)। लोट् रूप इहि 'जाओ' (< *इधि) अवे० इदी (idī), ग्रीक इथि (ithi), जहि 'मार डालो' (हन्–), अवे० जइदि (jaidi), विद्धि 'जानो', ग्रीक इस्थि (ísthi)। थिमैटिक धातुओं में केवल धातुरूप ही लोट् के एकवचन मध्यम पुरुष का काम कर देता है : भर, ग्रीक फॆरॆ (phére), गॉथिक बइर् (bair); लैटिन लॆगॆ (lege), आदि।

प्रथम पुरुष ए० व०, मूल विभक्तिचिह्न, लिथु० ऍस्ति (ěsti), ग्रीक ऍस्ति (ésti), हित्ती ऍस्ज़ि (eszi), (ज़ि<ति) (zi–<ti); हन्ति 'मारता है', अवे० जइन्ति (jainti), हित्ती कुऍन्जि (kuenzi); भरति, अवे० बरइति (baraiti), प्रा० स्ला० बॆरॆति (bereti) (बॆरॆतु, beretŭ भी)। गौण विभक्तिचिह्न अभरत्, स्यात्, तुल० अवे० बरत् (barat), ग्रीक (–त् के लोप वाला) ऍफॆरॆ (éphere), फॆरोइ (phéroi), लैटिन ऍरत् (erat), सीत् (sīt) (प्रा० लैटिन सिऍद् sied), आदि। लिट् विभक्तिचिह्न ददर्श, ग्रीक दॆदोर्के (dédorke)। लोट् रूप अस्तु, हित्ती ऍश्तु (eštu), ऍतु (etu) 'उसे जाने दो', भरतु, प्रा० पर्शियन बरतु (baratu)। एक वैकल्पिक विभक्तिचिह्न –तोद् (–tod) ग्रीक और लैटिन में मिलता है (ऍस्तो (éstō), ऍस्तो (द्) (estō) (d))। इससे सम्बद्ध रूप संस्कृत में भी पाए जाते हैं, उदा० वित्तात् (=ग्रीक इस्तो (ístō) पर उनका प्रयोग मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष दोनों के लिये तथा सभी वचनों के लिये किया जाता है।

मध्यम तथा प्रथम पुरुष एकवचन की प्रारम्भिक मूल विभक्तियों में विभक्तिचिह्न की एक अलग कोटि ग्रीक थिमैटिक धातुरूपों में पायी जाती है : मध्यम पुरुष अगेइस् (ágeis), प्रथम पुरुष अगेइ (ágei)। लिथु० वेदि (vedi) 'लो, तुम लेते हो' के साथ तुलना से इस बात का पता चलता है कि मध्यम

पुरुष एकवचन का स् बाद में जोड़ा गया है, और दोनों पुरुष-रूप मूल रूप में एक से थे। उनमें कोई पुरुष विभक्तिचिह्न नहीं मिलता, केवल वर्तमानकाल का संकेत करने वाला इ है, जो बाद में इसमें मिला दिया गया है। किसी भी तरह की पुरुष विभक्ति से असंयुक्त इस तरह का इ विभक्तिचिह्न –हि (-ḫi) वर्ग के हित्ती धातुओं में मिलता है : अकि 'मरता है', दाइ 'ग्रहण करता' है। संस्कृत ने ऐसे स्थल पर मि– संयोग वाले विभक्तिचिह्न जोड़कर नवीनीकरण किया है, ठीक उसी तरह जैसे कि उत्तम पुरुष ए० व० में होता है, परन्तु इस बात में इस नवीनीकरण को अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं ने भी विस्तार से अपना लिया है, लैटिन अगिस् (agis), अगित् (agit), गॉथिक बइरिस् (bairis), बइरिथ् (bairip), आदि।

उत्तम पुरुष ब० व० मूल विभक्तिचिह्न (अ) इ॒मः 'हम जाते हैं', भरा॒मः 'हम सहन करते हैं', तुल० ग्रीक दोरिक इ॒मेस् (ímes), फे॒रो॒मे॒स् (phéromes), लैटिन ईमुस् (īmus) फेरि॒मुस् (ferimus), प्रा० स्ला० दमु (damŭ), नेसेमु (nesemŭ) आदि, (ब) स्मसि, 'हम हैं', प्रा० पर्शियन अमहि (amahi), भरामसि, अवे० बरामहि (barāmahi), तुल० प्रा० आयरिश अम्मि (ammi) बे॒र्मइ (bermai), बे॒र्मि (bermi) 'हम सहन करते हैं।' गौण और पूर्ण विभक्तिचिह्न अभराम, स्याम, अवे० ह्यामा (hyāmā), विद्म 'हम जानते हैं', गॉथिक वितुम् (witum)। वैदिक भाषा में खासकर भूतकाल (विद्मा आदि) में उपलब्ध दीर्घ स्वरध्वनि वाले रूप प्राचीन मालूम पड़ते हैं और उनमें केवल छन्दोगत दीर्घता नहीं है, कारण कि अन्य भाषाओं में उनके सदृश रूप भी विद्यमान हैं : लिथु० सु॒कोमेस् (sukomēs) (स्वार्थबोधक), गॉथिक बइरइम (baíraima) वैकल्पिक रूप (°मे (°mē) अथवा °मो (mō) से बाहर)।

भारत-यूरोपीय मे॒स् (mes) और –मो॒स् (–mos) में जो अस्थिरता है, वह स्वराघात के अन्तर के कारण है, जैसी कि सम्बन्ध एकवचन में ठीक इसी तरह की विशिष्टता पायी जाती है; मूल रूप *इमे॒स् (*imés) परन्तु *भे॒रो॒मो॒स् (*bheromos) है। वैकल्पिक विभक्तिचिह्न –मसि वैदिक भाषा में मस् के साथ पाया जाता है, परन्तु लौकिक भाषा में अव्यवहृत है। ईरानी में सम्बद्ध महि (mahi) का प्रयोग साधारण ढंग से मूल विभक्तिचिह्न की तरह होने लगा है। ग्रीक में एक वैकल्पिक विभक्तिचिह्न –मे॒न् (–men) है, जो मूल और गौण दोनों तरह के विभक्तिचिह्नों के रूप में प्रयुक्त होता है। इस रूप के पदान्त –न् को विस्तारक तत्त्व और इस ग्रीक विभक्तिचिह्न को संस्कृत गौण विभक्ति-चिह्न के साथ समीकृत मानने की धारणा प्रचलित थी, परन्तु अब हित्ती

से यह स्पष्ट हो गया है कि ऐसी बात नहीं थी। हित्ती विभक्तिचिह्न ये हैं: मूल चिह्न वॅनि (weni), मॅनि (meni) (संस्कृत मसि की तरह बाद में जोड़े गए इ वाला), गौण चिह्न वॅन् (wen), मॅन् (men)। व्– वाले विविध रूप अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं के द्विवचनान्त विभक्तिचिह्नों से संम्बद्ध हैं; म्– वाले रूप उ के बाद मिलते हैं (अर्नुम्मॅनि arnummeni) 'हम ले आते हैं', आदि) और गौण रूप –मॅन् (–men) ग्रीक विभक्तिरूप से ठीक-ठीक मिलता है। भारत-ईरानी में विभक्तिचिह्न का यह रूप खोतानी में खोजा जा सकता है: हमामॅने (hämāmane) 'हम हो सकते हैं' (हेतुमत् आत्मनेपदी)।

मध्यम पुरुष ब० व० मूल विभक्तिचिह्न (अ) भरथ, तुल० अवे० ख़्शयथा (xšayaθā), (ब) वदेयन 'तुम लोग बोलते हो'। गौण विभक्तिचिह्न (अ) अभरत (अनद्यतन भूत), भरत (लोट्), तुल० ग्रीक फॅरॅतॅ (pherete), लैटिन फॅर्तॅ (ferte) (लोट्), गॉथिक बइरिथ् (bairip), प्रा० स्ला० बॅरॅतॅ (berte), (ब) अजहातन 'तुम लोगों ने त्याग दिया है' हन्तन 'आप मारें' (लोट्), तुल० हित्ती कुऍन्तॅन् (kuenten) भूतकालिक और आज्ञार्थे (कुऍन्– (kuen–) 'आप मारें')'। पूर्ण विभक्तिचिह्न चक्र (कृ- 'करना'), विद। महाप्राणध्वनि वाले मूल विभक्तिचिह्न (–थ<त्? एं) भारत-ईरानी के बाहर नहीं मिलते। अन्य भाषायें सामान्यत: एक रूप का वहन करती हैं, जो मौलिक और गौण दोनों तरह के विभक्तिचिह्नों का काम कर लेता है, और यह रूप भारत-ईरानी के गौण विभक्तिचिह्न से संबंध रखता है। मूल और गौण विभक्तिचिह्न के इस अन्तर को हित्ती ने एक अलग ढंग से विस्तारित किया है (मूल चिह्न तॅनि (teni), गौण चिह्न तॅन् (ten)। विस्तृत (दीर्घ) रूपों का विश्लेषण थ–न और त–न के रूप में किया गया है, जिनमें न बाद में जोड़ा गया निपात माना गया है, और समग्र रूप संस्कृत का नवीनीकृत रूप है। हित्ती की दृष्टि से हमें तॅन् ((–ten) को वस्तुत: –तन्–अ के रूप में विश्लेषित करना चाहिए, जिसका तन भाग हित्ती –तॅन् से बिलकुल ठीक-ठीक सम्बद्ध है, और अ भाग एक थिमैटिक विस्तार मात्र है, जैसा कि वह अन्यत्र शब्दरचना में पाया जाता है। परोक्ष भूतकालिक रूप सामान्यत: विभक्तिचिह्न रहित है, और भारत-ईरानी के बाहर इस तरह की कोई बात नहीं पायी जाती।

प्रथम पुरुष ब० व० मूल चिह्न भरन्ति, ग्रीक दोरिक फॅरोन्ति (phéronti), सन्ति, ग्रीक ऍन्ति (enti), लैटिन सुन्त् (sunt), गॉथिक सिन्द् (sind), प्रा० स्ला० सॅाँति (sǫti) (सॅाँतु (sǫtŭ) भी), हित्ती अशन्ज़ि (ašanzi);

घ्नन्ति 'वे वध करते हैं', हित्ती कुनन्ज़ि (kunanzi); ददति 'वे देते हैं', तुल० ग्रीक कथॆस्ताकति (kathestákăti), (होमरी) लॆलोङ्ख़ासि (lelogkhāsi)। गौण चिह्न (अ) अभरन् , अवे० बरॅन् (barən) ग्रीक ऍफॆरोन् (épheron); (ब) अददुः (भूत), अयुः (लुङ् भूत), स्युः (लिङ्)। तुल० अवे० आदरॅ (ādarə) 'उन्होंने बनाया' ह्यारॅ (hyārə) 'वे हो सकते', जम्यारॅश् (jamyārəš) 'वे आ सकते', हित्ती वॆकिर् (wekir) 'उन्होंने चाहा', ऍकुऍर् (ekuer) 'उन्होंने मद्यपान किया'। लिट् आसुः 'वे थे', तुल० अवे० अन्हरॅ (aŋharə), चिकितुः 'उन्हें जानकारी है', तुल० अवे० चिकोइ- तॅरॅश् (čikōitərəš)। लोट् रूप भरन्तु, तुल० हित्ती इयन्दु (iyandu)।

विभक्तिचिह्न के इस रूप ने ओन्ति (onti) और --एन्ति (-enti) के बीच स्वराघात प्रक्रिया के आधार पर भिन्न रूप धारण कर लिया है, जैसा कि परिवर्तन उत्तम पुरुष ब० व० में मॆस् (-mes) और -मोस् (-mos) के बीच है। स्वर के कारण भी यह रूप -न्ति (-n̥ti) < अति (ati) के रूप में दुर्बल बना दिया गया है, जो संस्कृत और ग्रीक में पाया जाता है। गौण विभक्तिचिह्न, -अत् < न्त् (-at < n̥t) का एक संबद्ध रूप ईरानी में मिलता है : अवे० ददत् (dadat), ज़ीगॅरॅज़त् (zīgərəzat)। ऐसी अवस्था में संस्कृत में हमेशा वैकल्पिक विभक्तिचिह्न -उर् मिलता है। गौण विभक्ति- चिह्न मूलतः -अन्त् था, जो अधिकांश संबद्ध भाषाओं (ग्रीक -ओन्- < ओन्त् (-on < ont), आदि) की ही तरह संस्कृत में ध्वनिशास्त्रीय विकास के सामान्य कारणवश -अन् के रूप समाहृत हो गया है।

वैकल्पिक गौण विभक्तिचिह्न -उर् अभ्यास कोटि के अपूर्ण भूत (अदधुः) में, -आ अन्त वाले धातुओं के अपूर्ण (अयुः : याति 'जाता है') में, अथिमैटिक लुङ् में तथा परोक्ष भूत में उपलब्ध है। भारत-ईरानी के बाहर प्रथम पुरुष ब० व० के र्- अन्त वाले विभक्तिचिह्न हित्ती, लैटिन (दिक्सॆरॆ (dixere) और तोखारी (कात्कर् (kātkar) 'वे उठे', म्रसर् (mrasar) 'वे भूल गये') में मिलते हैं। ईरानी में इस र् को एक अतिरिक्त तत्व स् के द्वारा विस्तारित किया जा सकता है (चिकोइतॅरॅश् (čikōitərəš), आदि)। संस्कृत विभक्तिचिह्न इस बात का संकेत करता है कि यह भी इस तरह के विस्तार का वहन करता था, क्योंकि यहाँ ऋश् (r̥š) से -उर् का विकास ठीक उसी तरह हुआ है, जैसा कि यह पितुर् < *पितृश् में किया गया है। ईरानी में सुरक्षित र् रूपप्रक्रिया की विभिन्न कोटियों में से एक कोटि संस्कृत में प्रचलित हो गयी है, और बाकी कोटियाँ लुप्त हो गयी हैं।

उत्तम पुरुष द्वि० व० मूल विभक्तिचिह्न भरावः, तुल० गॉथिक बइरोस्

(bairōs) (< *भेरोवेस्, bherōwes), स्वः 'हम दोनों हैं'। ईरानी में संबद्ध विभक्तिचिह्न विस्तृत –वहि (तुल० मसि, साथ-साथ मस् भी) है : अवे० उस्वहि (usvahi) 'हम दोनों चाहते हैं'; संस्कृत में मसि की प्रक्रिया के आधार पर वसि रूप नहीं मिलता। गौण और पूर्ण विभक्तिचिह्न; अनद्यतन भूत अभराव, विधिलिङ् भराव, परोक्ष भूत विद्व, तुल० अवे० ज्वाव (ˇjvāva) 'हम दोनों रहते थे', लिथु० पूर्ण भूत सुकोव (sukova) –वो– स् (–vō– s); प्रा० स्ला० वर्तमान जेस्वे (jesvě), वेज़ेवे (vezevě), लुङन्त रूप वेज़ोव (vezově), गॉथिक विधिलिङ् विन्दइव (bindaiwa)। प्रथम पुरुष बहुवचन की तरह मूल और गौण विभक्तिचिह्नों का अन्तर केवल भारत-ईरानी में दिखाया गया है। दीर्घ और ह्रस्व स्वरध्वनि के बीच की अस्थिरता बहुवचन में भी परिलक्षित होती है। द्वित्व का प्रथम पुरुष केवल भारत-ईरानी, बाल्टो-स्लावी और जर्मन में पाया जाता है। हित्ती में एक ऐसा विभक्तिचिह्न मौजूद है, जो इन रूपों के साथ ताल्लुक रखता है : पूर्ण विभक्तिचिह्न वेनि (weni), गौण चिह्न वेन् (wen), परन्तु इसका प्रयोग अत्यधिक कम उपलब्ध –मेनि / मेन् (meni / men) के साथ-साथ बहुवचन के रूप में पाया जाता है। इसका अत्यधिक संतोषजनक स्पष्टीकरण यह है कि मूलतः भारत-यूरोपीय में व् अथवा म् से शुरू होने वाले इसके समानान्तर शब्द रूप विद्यमान थे, जिनका प्रयोग प्रथम पुरुष बहुवचनान्त विभक्तिचिह्नों के रूप में विकल्प से होता रहा है। हित्ती ने इस वस्तुस्थिति को सुरक्षित रखा है परन्तु वहाँ उ अन्त वाले प्रातिपदिकों के मेन्– (men–) विभक्तिचिह्न का प्रयोग नहीं होता था। उपर्युक्त भाषाओं में दोनों प्रकार की विभक्तिचिह्न की कोटियाँ पायी जाती हैं, किन्तु उनमें व्– प्रकार का द्विवचनान्त के रूप में विशेषीकरण कर दिया गया है। शेष भारत-यूरोपीय भाषाओं के बारे में प्रत्यक्ष प्रमाण न रहने से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

मध्यम, प्रथम पुरुष द्विवचन मूल चिह्न म० पु० भरथः, प्र० पु० भरतः, तुल० अवे० यूइद्यथो (yūidyaθō), बरतो (baratō), गॉथिक बइरत्स् (bairats)। अवेस्ता में म० पु० द्वि० व० नहीं पाया जाता, विभक्तिचिह्न –तो (–tō) और –थो (–θō) प्रथम पुरुष विभक्तिचिह्न की तरह मिले-जुले प्रयुक्त होते हैं, जिसमें दोनों रूपों की अव्यवस्था सी होने लग जाती है। गॉथिक रूप केवल म० पु० द्वि० व० के लिये प्रयुक्त होता है। गौण विभक्तिचिह्न म० पु० अभरतम्, ग्रीक ऐफेरेतोन् (epheréton), प्र० पु० अभरताम्, ग्रीक ऐफेरेतेन् (epherétēn), लिट् विभक्तिचिह्न म० पु० चक्रथुः; प्र० पु० चक्रतुः, तुल० अवे० यएततरॅ (yaētatarə)।

म० पु०, प्र० पु० द्वि० व० के मूल विभक्तिचिह्नों के साथ लैटिन लॅगितिस् (legitis), आदि के –तिस् (–tis) (> तॅस् (> tes)) की तुलना करना सम्भव है, जिसका प्रयोग म० पु० ब० व० में होता है। उ० पु० की तरह द्विवचनान्त प्रातिपदिक, ब० वचनान्त के अस्थिर रूप के द्विवचन के रूप में विशेषीकरण द्वारा उद्भूत मालूम पड़ते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि त् और थ् के बीच की अनियमितता दोनों वचनों में बिलकुल भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करती है, द्विवचन में मध्यम पुरुष का प्रथम पुरुष से भेद बतलाती है, और ब० व० में गौण विभक्तिचिह्न से मूल चिह्न का अन्तर बतलाती है। दोनों अवस्थाओं में गौण रूपादान ही इस भेद का कारण माना जाता है। प्रथम पुरुष द्वि० व० स्वतन्त्र उद्गम का नहीं है, परन्तु केवल म० पु० द्वि० व० के रूप में अनियत है। जैसा कि ग्रीक मूल विभक्तिचिह्न में है (फॅरॅतान् (phéreton), दोनों के लिये एक ही रूप पाया जा सकता है। बाल्टो-स्लावी में एक –ता अन्त वाला विभक्तिचिह्न मिलता है, जो कि लिथुआनी के केवल म० पुरुष (सुकत (sukata), सुकतॉ –स् (sukato –s)) में और स्लावी में दोनों पुरुषों में (प्रा० स्ला० म० पु०, उ० पु० वॅज़ॅत (vezeta) है। यह संस्कृत में प्रथम पुरुष के गौण विभक्तिचिह्न के साथ संबद्ध है (–ताम् : ग्रीक –तेन् (–ten), दोरिक –तान् (–tan), जिसमें –म् गौण संयोग है। पूर्ण विभक्ति-चिह्न भारत-ईरानी –उर् वाला भारत-ईरानी निर्माण (ईरानी अर् (ar)) है, जो प्र० पु० ब० व० में प्रयुक्त है।

आत्मनेपदी विभक्तिचिह्न

उ० पु० ए० व० मूल विभक्तिचिह्न ब्रुवे 'मैं बोलता हूँ', अवे० म्रूये (mruye), यजे 'मैं पूजा करता हूँ' अवे० यज़े (yaze)। मि–धातुओं के परस्मैपद की तरह –म– से युक्त एक अलग रूप- रचना ग्रीक में मिलती है : फॅरॉमइ (phéromai), आदि। गौण विभक्तिचिह्न अथिमैटिक, अदुहि 'मैंने दुहा', अक्रि 'मैंने किया', अवे० अओजी (aojī)=(अओग् (aog) 'कहना'), मॉन्ग़ी (mə̄nghī) = संस्कृत (अ) मंसि (मन्– 'सोचना', स् लुङ्)। थिमैटिक प्रातिपदिकों में प्रारम्भिक मूल विभक्तिप्रक्रिया की तरह ए (–e) मिलता है, अभवे, आदि। ग्रीक में इससे बिलकुल भिन्न विभक्तिचिह्न मिलता है : ऐफॅरॉमेन् (epheromēn), दोरिक °मान् (°mān)। पूर्ण विभक्तिचिह्न शुश्रुवे, अवे० सुस्रुये (susruye), मूल विभक्ति-प्रक्रिया में उपलब्ध उसी विभक्तिचिह्न वाला। हेतुमत् मंसै, अवे० मॉन्ग़ाइ (mə̄nghāi) यजै, अवे० यज़ाइ (yazāe), लिङन्त तन्वीय, अवे० तनुय (tanuya)।

म० पु० ए० व० मूल विभक्तिचिह्न भरसे, तु० अवे० पॅरॅसहे (pərəsahe) 'तुम पूछते हो', ग्रीक फरेअइ (phereai), फरे (pherē), गॉथिक दिदोसइ (didosai)। गौण विभक्तिचिह्न अकृथाः, अभरथाः, आदि। संस्कृत के विरुद्ध, ईरानी और ग्रीक दोनों भाषायें भारत-यूरोपीय –सो (–so) का प्रतिनिधित्व करने वाले रूपों को वहन करने में समान हैं: अवे० ज़यङ्ह (zayaŋha), ग्रीक एफरेओ (ephéreo), एफरोउ (ephérou)। ये रूप मूल विभक्ति चिह्न –सइ (–sai) के साथ वही सम्बन्ध रखते हैं, जो कि उ० पु० ए० व० गौण विभक्तिचिह्न –तो का मुख्य चिह्न –तइ (–तइ) के साथ है। पूर्ण विभक्तिचिह्न वही हैं, जो मूल विभक्तिचिह्न हैं, रिरिचे, दुधिषे, तुल० ग्रीक लेलेइप्सइ (leleipsai), देदोसइ (dedosai)। लोट् भरस्व, अवे० बरङुह (baraŋuha)।

उ० पु० ए० व० मुख्य विभक्तिचिह्न भरते, ग्रीक फेरेतइ (phéretai), गॉथिक बइरद (bairada), आस्ते 'बैठता है', ग्रीक हेस्तइ (hēstai)। वैदिक भाषा में ऐसे –त्– विभक्तिचिह्न से रहित कुछ रूप विद्यमान हैं, जो पूर्ण विभक्तिचिह्न की तरह उ० पु० के विभक्तिचिह्न के तत्सम हैं: दुहे, शये, सृण्वे, आदि। हित्ती की दृष्टि से एश (eša), किश (kiša) (तुल० अदुह नीचे) कोटि के प्रथम पुरुष के आत्मनेपदी रूप हैं, यह कोटि अवश्य ही प्राचीन मानी जानी चाहिये, न कि पूर्ण विभक्तिचिह्न प्रक्रिया से आयात। गौण विभक्तिचिह्न अभरत, ग्रीक एफरेतो (ephéreto), लिङन्त भरेत, ग्रीक फेरोइतो (pheroito)। हित्ती में मूल विभक्तिचिह्न के रूप में उपलब्ध –त (अर्तरि, कित्तरि के साथ-साथ अर्त 'खड़ा रहता है', कित्त 'लेटता है') संस्कृत गौण विभक्तिचिह्न के तुल्य है। वर्तमानकालिक दुहे, आदि रूपों के साथ सम्बद्ध त् रहित रूप ये हैं, ऐष और अदुह (ईश्– 'शासन करना', दुह्– 'दुहना'), तुल० हित्ती मूल विभक्तिचिह्न वाले रूप एश (eša), किश (kiša), आदि। पूर्ण विभक्तिचिह्न दुधे, चक्रे, आदि। दूसरी ओर ग्रीक में, वर्तमानकाल की तरह, –त्– मिलता है, देदोतइ (dedotai), आदि। लोट् भरताम्, धत्ताम्, तुल० अवे० वॅरॅज़्यतम् (vərəzytaąm)। यह रूप और सम्बद्ध ब० व० अन्ताम् / अताम् रूप भारत-यूरोपीय के बाहर कोई समानान्तर रूप नहीं रखते। निर्देशात्मक विभक्तिचिह्न मुख्य –ए, गौण –अ से संबद्ध, –त्– विरहित एक रूप कभी-कभी वेद में मिलता है: दुहाम्।

उ० पु० बहुवचन मुख्य, पूर्ण विभक्तिचिह्न, अवे० यज़मइदे (yazamaide) ब्रूमहे 'हम लोग कहते हैं' अवे० म्रूमइदे (mrūmaide), चकृमहे, आदि। गौण विभक्तिचिह्न अभरामहि, तुल० अवे० वरॅमइदि (varəmaidi) (वर्–

'वरण करना, चुनना') आदि। जैसा कि लोट् विभक्तिचिह्न –हि, आदि में होता है, संस्कृत –ह– –ध– से विकसित हुआ है, मूल भारत-यूरोपीय विभक्तिचिह्न *–मधइ (*madhai) और –मधि (–madhi) हैं। इन रूपों से अत्यधिक सम्बद्ध, रूप ग्रीक –मॅथ ∠ *मॅध (–metha ∠ *medha) है, परन्तु यह पदान्त स्वर के बारे में उनसे भिन्न है और मूल तथा गौण दोनों तरह के विभक्तिचिह्नों का काम करता है: फॅरॅमॅथ (pherometha), एफॅरॅमॅथ (epherometha)। ग्रीक में एक इससे भी पूर्ण विभक्तिचिह्न –मॅस्थ (–mestha) है, जिसके साथ हित्ती –वश्त (–wašta) की तुलना की जा सकती है, वहाँ भी म् / व् का ठीक वैसा ही परिवर्तन होता है, जैसा कि परस्मैपद (मॅन् / वॅन्) में उपलब्ध है।

प्र० पु० ब० व० मुख्य विभक्तिचिह्न (अ) भरन्ते, ग्रीक फॅरॉन्तइ (pherontai), आसते 'वे बैठते हैं', ग्रीक होमरी हेअतइ (héatai) (∠ *एस्नृतइ, ∠ *esn̥tai); (व) शेरे 'वे लेटते हैं', अवे० सोइरे (sōire), सएरे (saēre), दुह्रे, सुन्विरे, इनमें ठीक पूर्ण चिह्न की तरह विभक्तिचिह्न हैं, अ और व का संयोग शेरते, दुह्रते में मिलता है। गौण विभक्तिचिह्न (अ) अभरन्त, ग्रीक एफॅरॉन्तो (ephérento), आसत 'वे बैठे', ग्रीक होमरी हेअतो (héato); (व) –र् विभक्तिचिह्न के तीन प्रकार मिलते हैं: (१) –र: अदुह्र, (२) –रन्: अदुह्रन्, अशेरन्, विधिलिङ आसीरन्, भरेरन्, (३) –रम्: अससृग्रम्, तुल० अवे० वओज़िरॅम् (vaozirəm) (वज़्– 'ले जाना')। (२) और (३) प्रकार स्पष्टतः (१) प्रकार के ही विस्तारित रूप हैं, जिन्हें अवश्य ही अत्यधिक मौलिक माना जाना चाहिये। (अ) और (व) कोटि के संयोग से –रन्त और –रत विभक्तियों का उदय हुआ है: अवव्रृत्रन्त (वृत्– 'घूमना'), भरेरत। –एरन्, –ईरन् अन्त वाले विधिलिङन्तों के बाहर र्– विभक्तिचिह्न अपेक्षाकृत बहुत कम उपलब्ध हैं और वैदिक भाषा में सामान्य न्त्– रूपों के साथ-साथ प्राचीन रूप हैं। ये रूप करीब-करीब पूर्णतः शास्त्रीय संस्कृत से अलग कर दिए गए हैं। आगे इस बात पर विचार किया जायगा कि यह र् उस र् के समान है, जो परस्मैपद के प्र० पु० ब० व० में मिलता है, इसके साथ जोड़ा गया यह वही तत्त्व है, जो विभक्तिचिह्नों को आत्मनेपदी के रूप में विशेषीकृत करता है (दुह्रे, आदि में –ए, अदुह्र में –अ)। पूर्ण विभक्तिचिह्न अधिकतर –र् अन्तवाले हैं: दुदुह्रे, चक्रे, आदि, तुल अवे० चाख्रे (čāxrare) (–अरइ (arai) कोटि जो संस्कृत में नहीं दिखाई पड़ती है, तुल० अवे० –अरॅ (arə) परस्मैपद, जो कि उसी तरह संस्कृत में भी नहीं मिलता।)

उ० पु० द्वि० व० मुख्य तथा पूर्ण विभक्तिचिह्न भरा॑वहे, चकृ॒वहे॑, गौण अभ॑रावहि। अवेस्ता में केवल –वइदी (vaidi) मिलता है: द्वइदी (dvaidī) (द्व्–, अर्थात् दु– वइदि (du- vaidi))। हित्ती ब० व० वश्त (wašta) का उपचारतः भारत-ईरानी –वधि (-vadhi) के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा कि ग्रीक मेस्थ (mestha) का –मधि (-madhi) के साथ।

म० पु० प्र० पु० द्वि० व० मूल, लिट् विभक्तिचिह्न थिमैटिक म० पु० भरे॑थे, चरे॑थे, तुल० अवे० प्र० पु० द्वि व० चरोइथे (čarōithe), प्र० पु० भरे॑ते, तुल० अवे० वीसएते (vīsaēte); अथिमैटिक म० पु० ब्रुवाथे॑, मु॒म्नाथे॑, प्र० पु० ब्रुवाते॑, मु॒म्नाते॑। गौण विभक्तिचिह्न थिमैटिक म० पु० अभ॑रेथाम्, प्र० पु० अभ॑रेताम्, तु० अवे० जसएतॅम् (jsaētəm) (संस्कृत में दीर्घ स्वर के विपरीत विभक्तिचिह्न के ह्रस्व स्वर से युक्त); अथिमैटिक म० पु० अश्रु॑वाथाम् (श्रु– 'सुनना'), प्र० पु० अश्रु॑वाताम्, अवे० अस्रवातॅम् (asrvātəm)। ईरानी –तम् (-tam) और प्र० पु० में संस्कृत –ताम् के बीच के अन्तर का सम्बन्ध परस्मैपद (अवे० जसतॅम् (jasatəm), संस्कृत अग॑च्छताम्) में उपलब्ध वैसे ही अन्तर के साथ है। भारत-ईरानी के बाहर संबद्ध विभक्तिचिह्न नहीं मिलते। ग्रीक विभक्तिचिह्न, मुख्य म० पु०, उ० पु० –स्थोन् (sthōn), गौण म० पु० –स्थेन्, प्र० पु० स्थेन् (sthēn), आत्मनेपदी म० पु० ब० व० से सम्बद्ध हैं। दूसरी ओर भारत-ईरानी रूप द्विवचन के परस्मैपदी विभक्तिचिह्नों से सम्बद्ध हैं। ध् और त् के बीच ठीक ऐसा ही अन्तर मूल विभक्तिचिह्न में इन दोनों पुरुषों में उपलब्ध है, और आत्मनेपद में तो यह गौण विभक्तिचिह्नों में भी पाया जाता है। मुख्य विभक्तिचिह्नों का पदान्त ए आत्मनेपद को विशेषीकृत करने वाला वही ए है, जो समस्त मुख्य विभक्तिचिह्न प्रक्रिया में मिलता है। आत्मनेपद के इस ए का प्रभाव ही थिमैटिक प्रातिपदिकों के अ के स्थान पर ए के प्रतिनिधित्व के लिये जिम्मेदार है (परस्मैपद अभ॑वताम् के विरुद्ध अभ॑वेताम्, अवे० जसतॅम् (jasatəm) के साथ जसएतॅम् (jásaētəm)। अथिमैटिक धातुओं का अन्तर आत्मनेपदी विभक्तिचिह्न आ द्वारा दिखाया जा सकता है, किन्तु अवे० दज़्दे (dazde) प्र० पु० द्वि० व० पूर्ण विभक्तिचिह्न और संस्कृत चिकेथे जैसे उदाहरण इस बात का संकेत करते हैं कि यह एक नवीनीकरण है। यह केवल दु॒धाते, दु॒दाते जैसे आकारान्त धातुओं के शब्दरूपों से ही आया है, जहाँ आ मूलतः धातु का ही एक अंश है, जैसे कि म० पु०ए० व० दु॒दाथ॑ (दु॒द्थि भी) और म० पु० ब० व० दधा॑तन (धत्तन भी) में है।

७. तिङ्विभक्ति प्रक्रिया का स्वरूप और उद्गम

मुख्य और गौण विभक्तिचिह्नों की तुलना से इस बात का पता चलता है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उनका नामकरण ग़लत ढंग से हुआ है। "गौण" विभक्तिचिह्न ही वस्तुतः मुख्य हैं और "मुख्य" गौण हैं। –म्,–स, –त्, –अन् (त्) वाले रूपों का मूल –मि, –सि, –ति, –अन्ति वाले रूपों के साथ सम्बन्ध का स्पष्टीकरण केवल इस आधार पर किया जा सकता है कि बाद की कोटियों में वर्त्तमानकाल बोधक –इ निपात गौण रूप से जोड़ दिया गया है। ठीक इसी तरह आज्ञार्थक लोट् विभक्तिचिह्न –तु, –अन्तु में उन्हीं मूल विभक्तिचिह्नों के साथ –उ निपात जोड़ दिया गया है। अन्य परिस्थितियों में यह बात इस तथ्य के आधार पर स्पष्ट की गई है कि ये –इ और –उ तत्त्व ऐसे शब्द रूपों की रचना में भी मिल सकते हैं, जिसमें पुरुष विभक्तिचिह्न नहीं हैं, उदा० ग्रीक फॅरॅइ (फॅरॅ + इ), (pherei) (phere–i), हित्ती शक्कि (śakkī) "जानता है" में, और –हि–(hi) कोटि के हित्ती अज्ञार्थक रूपों में: अकु (aku), दाउ (dāu) (अक्– 'मरना', दा– 'लेना')। –त् से साथ –इ आदि का यह संयोग एक प्राचीनकाल को समेट कर लेता है जब कि केवल गौण विभक्तिचिह्न विद्यमान थे; 'मूल' पद्धति, इसी के आधार पर वर्तमान-काल भूतकालिक रूपों की 'गौण' पद्धति के आधार पर बनाया जाता है। आगम-विहीन भूतकाल और निर्बंध प्रकार भारत-यूरोपीय वर्तमानकालिक लुङ् पद्धति की प्रारम्भिक बुनियाद का निर्माण करता है।

ऐसा मालूम नहीं पड़ता है कि मूल और गौण विभक्तिचिह्नों के बीच का यह अन्तर समग्र भारत-यूरोपीय काल में काम करता रहा होगा उदाहरणार्थ, उत्तम पुरुष बहुवचन और मध्यम पुरुष बहुवचन में। ग्रीक में इस तरह का कोई अन्तर नहीं है (–मॅन् (–men)), और अन्य भाषाओं में भी ग्रीक की तरह यही विशेषता पायी जाती है (प्रा० स्ला० नॅसॅमु (nesemu), नॅसोमु (nesomu), गॉथिक बिन्दम् (bindam), वितुम् (witum), बुदुम् (budum)। हित्ती और भारत-यूरोपीय में यह अन्तर पाया जाता है, परन्तु इस पर बिलकुल भिन्न तत्त्वों का प्रभाव पड़ा है। हित्ती में –वॅन् (–wen), –मॅन् (–men) के साथ-साथ –वॅनि (–weni), –मॅनि (meni) स्पष्टतः एक नया रूप है, जो वर्तमानकाल के तीनों पुरुषों और उत्तम पुरुष ब० व० के आधार पर बनाया गया है। भारत-ईरानी में यह अन्तर प्रत्यय के दो अलग-अलग रूपों के चुनाव से प्रभावित हुआ है (मस् / म (mus / ma), इसी तरह वि० व० वस् / व (vas / va)) और इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि यह भेद भारत-यूरोपीय काल में गौण और मूल के बीच के अन्तर

के साथ सम्बद्ध है। सम्भवतः –म उस काल के रूपों में पदान्त –अ की प्रचुरता की दृष्टि से मूलतः अन्तिम (पूर्ण) विभक्तिचिह्न था (वेद, वेत्थ, वेद, म० पु० ब० व० विद) । नवीनीकृत संस्कृत रूप –मसि, अवे० –महि (mahi), अवे० –वहि (–wahi) हित्ती विकास का अनुकरण करता है, परन्तु यह पूर्णतः स्वतन्त्र है, और इस तरह के किसी अन्तर को अभिव्यक्त नहीं करता। मुख्य मस् और मसि जो हित्ती मुख्य –मेनि (–meni), –वेनि (weni), गौण मेन् / वेन् (men/wen) के विरुद्ध है) । हित्ती में म० पु० ब० व० का प्रयोग इसी रूप में मिलता है (तेन् / तेनि (ten / teni)) और फिर संस्कृत में यह अन्तर एक विल्कुल अलग ढंग से दिखाया गया है (–त / थ) । अन्य सभी भाषाओं में यह अन्तर नहीं पाता जाता । अन्य भाषाओं से समर्थन के अभाव के बावजूद यह तथ्य कि –त् और –थ के बीच का यह अन्तर एक पूर्णतः अलग उद्देश्य के लिये सम्बद्ध द्वि० व० विभक्तिचिह्नों में प्रयुक्त हुआ है, इस बात को सर्वथा असंभव बना देता है कि प्रत्यय के दो रूपों के बीच का का अन्तर शुरू से ही मूल और गौण विभक्तिचिह्न के बीच के अन्तर के साथ सम्बद्ध था।

आत्मनेपद में गौण विभक्तिचिह्नों की प्राथमिकता कम स्पष्ट नहीं है। सभी मूल विभक्तिचिह्नों के अन्त में –ए आता है, और तुलनात्मक प्रमाण के आधार पर इस बात का पता चलता है कि आत्मनेपद के सभी मूल पुरुष विभक्तिचिह्नों के रूप में इस –ए का विस्तार एक खास भारत-ईरानी विकास है। ग्रीक में जो कि भारत-ईरानी के अत्यन्त निकट है, तिङ् विभक्ति-प्रक्रिया में केवल एक-वचन के तीनों पुरुषों और उत्तम पुरुष के ब० व० में सम्बद्ध –अइ (–ai) पाया जाता है। अन्यत्र (–स्थोन् (sthon), मेथ (metha), –स्थे (–sthe)) ये विभक्ति चिह्न इस तथ्य के द्वारा विशेषीकृत नहीं किए गए हैं, जहाँ एक ही विभक्तिचिह्न मूल और गौण विभक्तिचिह्नों का काम करता है। यह निश्चित है कि इस विषय में ग्रीक अत्यधिक मौलिक वस्तु-स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है और यह कि संस्कृत में –महे और –ध्वे (ठीक यही बात द्वि० वचनान्त विभक्तिचिह्नों में भी लागू है) महि और ध्वे रूपों के आधार पर बने नये रूप हैं—जो मूलतः समान रूप से मूल और गौण विभक्तिचिह्नों की तरह प्रयुक्त होते थे। संस्कृत और हित्ती के बीच तुलना करने से इस बात का निश्चय हो जाती है। हित्ती ग्रीक की अपेक्षा संस्कृत से अधिक भिन्न है, और इसमें इटैलिक, केल्टिक और तोखारी की तरह आत्मनेपद विभक्तिचिह्नों में एक तत्त्व र् मिलती है जिसे संस्कृत और ग्रीक ने स्वीकार नहीं किया है। फिर भी इन दोनों भाषाओं में ऐसे रूप विद्यमान हैं जिनकी साक्षात् तुलना

की जा सकती है और ये रूप नियत रूप में संस्कृत में गौण विभक्तिचिह्नों वाले हैं: हित्ती प्र० पु० ए० व०, ब० व० अर्ते (arta): तुल० संस्कृत अकृत; प्र० पु० व० व० पह्हश्दुम (pahhašduma): तुलनीय संस्कृत अभरध्वम्। सभी हित्ती विभक्तिचिह्न वर्तमान (मूल) पद्धति से सम्बद्ध हैं, जो संस्कृत में तत्सम रूपों के विरुद्ध हैं, जिनमें गौण विभक्तिचिह्न प्रक्रिया पायी जाती है। आत्मनेपदी विभक्तिचिह्नों की रचना का, जैसा कि संस्कृत रूपों की समीक्षा से स्पष्ट है, विशेषतः आपस में कोई मेल नहीं है और भारत-यूरोपीय में इन दो भिन्न कोटियों की सत्ता के कारण इस बात का पता लगाना अत्यधिक जटिल हो गया है, एक (हित्ती, इटैलिक, केल्टिक, तोखारी) जो कि अपनी रचना में र् तत्त्व का विस्तारित प्रयोग करती है, और दूसरी (भारत-ईरानी, ग्रीक, जर्मन) जो कि इस तत्त्व को स्वीकार नहीं करती। साथ ही रूपों का एक ऐसा उद्गम भी है, जैसा कि हम ऊपर उदाहृत कर चुके हैं, जो इन दो कोटियों के अन्तर को समाप्त कर देता है। प्राचीनतम रूपों में हमें कतिपय कोटियाँ मिलती हैं। (१) प्रथम पुरुष में एक ही प्रत्यय का थिमैटिक रूप आत्मनेपद विभक्तिचिह्न का काम करता है: अक्रर (त्): अकृत; अभरन् (त्): अभरन्त; दुह्नः: अदुह। (२) उत्तम पुरुष द्वि० व० और ब० व० में आत्मनेपदी विभक्तिचिह्न परस्मैपदी विभक्तिचिह्न के रूप के साथ निपातों को जोड़ कर (संस्कृत –हि < *धि, ग्रीक थ < *ध (tha < *dha)) बनाया जाता है। ग्रीक वैकल्पिक रूप –मॅथ / –मॅस्थ (–metha / –mestha) से जो अपने प्रथम तत्त्व के रूप में परस्मैपद विभक्तिचिह्न के दो भिन्न रूपों के साथ सम्बद्ध है (तु० संस्कृत –मस् और –म), यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। हित्ती –व्– (–w–) से युक्त वश्ते (wašte) का जो अन्यत्र (द्वि० व० रूप में पाया जाता है, परन्तु हित्ती में बहुवचन रूप में, स्पष्टीकरण स्वभावतः ठीक उसी ढंग पर किया जाना चाहिए, जैसा कि ग्रीक –मॅस्थ (–mestha) का किया जाता है। (३) म० पु० बहुवचन में एक ऐसा विभक्तिचिह्न प्रयुक्त होता है जो परस्मैपद विभक्तिचिह्न से बिलकुल भिन्न है। इसी तरह म० पु० ए० व० –थास परस्मैपदी –स् से बिलकुल भिन्न है, परन्तु यह स्पष्ट रूप से परोक्षभूत परस्मैपदी विभक्तिचिह्न –थ से सम्बद्ध है। पदान्त –स् को गौण संयोग के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है, क्योंकि –स् अन्यत्र मध्यम पुरुष को विशेषीकृत करता है। *–था और –थ के बीच का सम्बन्ध स्पष्टतः ठीक वैसा ही है जैसा कि उ० पु० ब० व० के मा और म (भारत-यूरोपीय मे / मॅ (mē / me) में है।

हित्ती में प्र० पु० आत्मनेपद विभक्तिचिह्न का एक अत्यन्त सामान्य रूप ह् (–ḫa) है ज़्हह्रियह्ह् (zaḫḫiyaḫḫa)), जो अत्यधिक प्रसिद्ध

–हुरि (–hari), हहरि (hahari) के साथ-साथ बहुत कम उपलब्ध है। इस विभक्तिचिह्न का संस्कृत लिङन्त (भवेय) प्र० पु० आत्मनेपद में प्रतिनिधित्व पाया जाता है। अन्यत्र एक गौण विभक्तिचिह्न –इ (अदुहि, आके) है, जिसके लिये भारत–ईरानी (अवेस्ता अओज़ि (aoǰi), मॅन्घी(mənghī)) के बाहर समानान्तर रूप नहीं मिलते।

संस्कृत और हित्ती के बीच सामंजस्य से यह स्पष्ट है कि आत्मनेपदी विभक्तिचिह्नों का प्राचीनतम मूल अत्यधिक प्रचलित भारत–यूरोपीय सम्पत्ति है। इस आधार पर होने वाले अग्रिम विकास महत्वपूर्ण भेद की ओर संकेत करते हैं, क्योंकि हित्ती में इटैलिक, केल्टिक और तोखारी की तरह एक तत्त्व र् मिलता है जो कि संस्कृत और ग्रीक में अज्ञात है। हित्ती में यह र्, जो वर्त्तमान के मूल –इ के संयोग के साथ मिलता है, वैकल्पिक है। उदा० प्र० पु० ए० व० अर्त और अर्तरि, प्र० पु० ब० व० अरन्त और अरन्तरि। यह स्पष्ट है कि यह भारत-यूरोपीय में ठीक उसी तरह का वैकल्पिक रहा होगा, और यह कि अग्रिम विकास के दौरान में इटैलिक-केल्टिक और तोखारी में यह एक आवश्यक तत्त्व के रूप में प्रस्थापित हुआ है, और दूसरी ओर यह भारत-यूरोपीय के उस भाषिक क्षेत्र में प्रयोग के बाहर हो गया, जिससे भारत-ईरानी और ग्रीक का विकास हुआ है।

संस्कृत के मूल आत्मनेपद विभक्तिचिह्न परस्मैपद की ही तरह गौण विभक्तिचिह्नों के साथ –इ के संयोग से प्रथम स्थान में उदित होते हैं: भरत + इ > भरते। ग्रीक में –ए से सम्बद्ध रूप –अइ (ai) मिलता है। इस ध्वनिप्रक्रिया को अत्यधिक सामान्य ढंग से, जैसे कि प्र० पु० के विभक्ति-चिह्न द्वारा (–ʔ अ + इ > अइ (–Ha + i > ai)) स्पष्ट किया जा सकता है जिससे यह अपश्रुति के द्वारा अन्य पुरुषों में भी प्रचलित हो गया है। संस्कृत में यह पदान्त –ए सभी प्रारंभिक रूपों में मिलता है, परन्तु द्वि० व० और उ० पु० एवं ब० व० के (म० पुरुष) में इसकी सत्ता पूर्णतः अपश्रुति के कारण ही है, और इन्हें इस प्रक्रिया के अत्याधुनिक अंशों के रूप में माना जाना चाहिए।

भूतकालिक परस्मैपद विभक्तिचिह्न ए० व० में आत्मनेपद विभक्तिचिह्नों के प्राचीनतम रूपों के सदृश हैं: (१) –ʔ अ > अ (–Ha > a), वेद, तुल० भवेय; (२) –थ, तुल० –था –स्, हित्ती –त; (३) –अ (भा० यू० –ए), वेद, तुल० अदुह, हित्ती एश (eša)। बहुत सी ऐसी अवस्थाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह बात कोई आकस्मिक नहीं है, जिनमें सकर्मक अर्थ वाले परस्मैपद भूतकालिक रूप अन्य कालों में आत्मनेपद रूपों के साथ-साथ

मिलते हैं, उदा० संस्कृत वर्तते : ववर्त, ग्रीक गिग्नोमइ (gignomai) : गेगोन (gegona), आदि। ऐसा लगता है कि भूतकाल में मूलतः इन दो पदों का कोई अन्तर नहीं है, और स्वरूप और अर्थ की दृष्टि से परस्मैपद की अपेक्षा यह काल आत्मनेपद के अधिक समीप है। अलग-अलग आत्मनेपद रूपों के विकासों को परवर्ती भारत-यूरोपीय स्वरूप के रूप में माना जा सकता है। संस्कृत में ये भूतकालिक विभक्तिचिह्न वर्तमानकालिक विभक्तिचिह्नों के सदृश हैं, और ये रूप, जैसा कि अक्सर देखा जाता है, सम्बद्ध गौण विभक्तिचिह्नों की अपेक्षा परवर्ती रूप हैं।

पुरुषवाचक विभक्तिचिह्नों के स्वरूप के अनुसार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सम्बद्ध पुरुषवाचक सर्वनाम शब्दों से इन्हें कोई मतलब नहीं है। यह सिद्धान्त कि ये विभक्तिचिह्न प्रत्यययुक्त सर्वनाम शब्दों के स्वरूप हैं, भारत-यूरोपीय अध्ययन के संदर्भ में पर्याप्त रूप से सामने रखा जाता है, किन्तु विस्तृत तुलनाओं के रूप में सुदृढ़ प्रमाण का पर्याप्त अभाव है। उ० पु० ए० व० के विभक्तिचिह्न में –म्– और प्र० पु० ए० व० में –तु—के पाए जाने की संभावना है, जो कि ऐसे अक्षर हैं जो सम्बद्ध सर्वनामिक रूपों में मिलते हैं (द्वि० ए० मा : –त), परन्तु इसके अतिरिक्त सक्रिय रूप में और कोई बात नहीं है। चूँकि एक अथवा दो सामान्य अक्षरों की तुलना पर कोई दृढ़ सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता, प्रत्यययुक्त सर्वनामों के रूप में पुरुष विभक्तिचिह्नों को स्पष्ट करने का प्रयास छोड़ देना पड़ेगा। विभक्तिचिह्नों का विश्लेषण उतने ही विस्तार में किया जाता है जितना कि तुलनात्मक प्रमाण से पुष्ट हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे तत्त्व, जिनसे इस पद्धति का निर्माण किया गया है, मुख्यतः विकास के उन प्रत्ययों के सदृश हैं जो कि नामिक शब्दों की रूप रचना में प्रयुक्त हुए हैं। स्पष्ट रूप से यही बात थिमैटिक शब्द रूपों में भी है जिनमें सामान्य अर्थ में कोई विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता है: म० पु० ए० व० लोट् अर्ज, प्र० पु० ए० व० अनद्यतने लङ् आत्मनेपद अदुह, म० पु० व० व० परोक्षभूत भिद। इन रूपों को किसी प्रकार से भी सामान्य थिमैटिक नामिक प्रातिपदिकों से अलग नहीं किया जाना चाहिए। ठीक यही सम्बन्ध सामान्यतः प्र० पु० ब० व० के विभक्तिचिह्न (संस्कृत –अन् (त्) / अन्ति, भारत-यूरोपीय –ऐन्त् / –ओन्त् (ent/ –ont)) और उस प्रत्यय के बीच देखा जाता है जो वर्तमान कृदन्त रूपों (संस्कृत भरन्त्–लैटिन फेरेन्स् (ferens)) का निर्माण करता है। साथ ही साथ इस बात का संकेत किया जा चुका है कि प्र० पु० ब० व० में विभक्तिचिह्न की दो कोटियों का सम्बन्ध, ऊपर और जिनमें र् तत्त्व विद्यमान है अथवा सम्बद्ध है, र् और न् / न् त् के बीच नामिक प्रातिपदिकों में पाए जाने वाले

विकल्प का स्मरण दिलाता है : ग्रीक हुदोर् (hudor), हुदतोस् (hudatos), आदि। अन्यत्र भी तिङ्– विभक्तिप्रक्रिया में ऐसी विशेषतायें हैं, जो नामिक प्रत्ययों के विभक्तिचिह्नों का स्मरण दिलाती हैं। ऐसा लगता है कि उ० पु० ए० व० ((अ) कर् (त्), (अ) कृत) के परस्मैपद और आत्मनेपद विभक्ति-चिह्नों के बीच ठीक वही सम्बन्ध है, जो कृत्– : कृत– में नामिक प्रत्ययों में पाया जाता है। म० पु० ब० व० के प्रत्यय में एक –त भी है जिसकी तुलना सम्बद्ध नामिक प्रत्यय (भरत, तुल० नामिक प्रातिपदिक भरत) से की जा सकती है। केवल भारत-ईरानी में एक अलग –थ– विभक्तिचिह्न विद्यमान है जो मूल विभक्तिचिह्न का काम करता है। संभवतः इस बात में कोई मेल नहीं है कि भारत-ईरानी ही केवल एक ऐसी शाखा है, जो नामिक शब्द रूपों में –त के साथ-साथ –थ प्रत्यय, का संकेत करती है (यजथ– 'पूजा', यजत– 'पूजनीय')।

उ० पु० ब० व० के प्रत्यय के कार्य से कतिपय आधारों पर संबद्ध नामिक प्रत्यय का स्मरण हो आता है। प्रथम स्थान में दो रूपों का सहअस्तित्व, एक व् से शुरू होने वाला और दूसरा म् से, जो कि हित्ती में देखा जाताहै, उन्हीं तत्त्वों से संबद्ध तुमन्त रूपों से तुलनीय है जिनमें इसी तरह की द्विरूपता मिलती है : तियवर् (tiyawar), तियवन्ज़ि (tiyawanzi); तर्नुम्मर (tarnummar), तर्नुम्मज़ि (tarnummanzi)। इसी तरह संस्कृत में –वन्त् और –मन्त प्रत्यय साथ-साथ और समान कार्य करते हुए पाए जाते हैं। धातुक और नामिक रूपों के बीच अन्य सादृश्य प्रत्यय के नामिक अंश के अन्तर में देखा जाता है : भारत-यूरोपीय वेन् / वेस् (wen / wes), मेन् / मेस् (men / mes)। यह नामिक विभक्ति रूपों में विविधताओं द्वारा समीकृत किया जाता है, उदा० सम्बोधन में ऋतावस् , पत्नीवस् , तुविष्मस् , जो प्रातिपदिक ऋतावन्–, पत्नीवन्त्– और तुविष्मन्त् से विकसित हुए हैं।

इस तरह के सम्बन्धों से तिङ् विभक्तिचिह्नों के अत्यधिक अंश का मौलिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। रूपादान की कुछ प्रक्रिया के द्वारा, जिसके उद्गम को खोज निकालना सम्भव नहीं है, कुछ नामिक रूप किन्हीं खास पुरुषों तथा वचनों के साथ संयुक्त हो गए हैं, और इस तरह कम से कम विद्यमान पुरुष विभक्तिचिह्नों के बहुत से रूपों का उद्भव हुआ।

८. दस वर्तमान गण

हिन्दू वैयाकरणों ने संस्कृत भाषा के धातुओं को दस गणों में नियोजित किया है, इसमें उन्होंने उसी पद्धति का अनुकरण किया है, जिसमें वे वर्तमान प्रक्रिया

को बनाते हैं, और उस-उस वर्ग का नामकरण उस गण के एक खास धातु के नाम से किया है। जिस क्रम में ये गण रखे गये हैं, वह किसी खास अनुसंधेय वैयाकरणिक सिद्धान्त से सम्बद्ध नहीं है, और इनके स्पष्टीकरण की सुविधा के लिए यह आवश्यक है कि इन्हें फिर से नये क्रम में बैठाया जाय। ये धातु दो प्रधान कोटियों में विभक्त किए गए हैं, (अ) विकरणरहित (२, ३, ५, ७, ८, ९ गण) और (ब) विकरणयुक्त (१, ४, ६, १० गण)।

अ. अथिमैटिक वर्त्तमान

धातुगण—(द्वितीय अथवा अदादि गण)।

उदाहरण—(द्विष्– 'द्वेष करना')।

वर्तमान, परस्मैपद, ए० व० उ० पु० द्वेष्मि, म० पु० द्वेक्षि, प्र० पु० द्वेष्टि, द्वि० व० उ० पु० द्विष्वः, म० पु० द्विष्ठः, प्र० पु० द्विष्टः, ब० व० उ० पु० द्विष्मः, म० पु० द्विष्ठ, प्र० पु० द्विषन्ति।

आत्मनेपद ए० व० उ० पु० द्विषे, म० पु० द्विक्षे, प्र० पु० द्विष्टे, द्वि० व० उ० पु० द्विष्वहे, म० पु० द्विषाथे, प्र० पु० द्विषाते, ब० व० उ० पु० द्विष्महे, म० पु० द्विड्ढ्वे, प्र० पु० द्विषते।

अनद्यतन भूत, परस्मैपद, ए० व० उ०पु० अद्वेषम्, म०पु० अद्वेट्, प्र०पु० अद्वेट्, द्वि० व० अद्विष्व, म० पु० अद्विष्टम्, प्र० पु० अद्विष्टाम्, ब० व० उ० पु० अद्विष्म, म० पु० अद्विष्ट, प्र० पु० अद्विषन्।

आत्मनेपद, ए० व० उ० पु० अद्विषि, म० पु० अद्विष्ठाः प्र० पु० अद्विष्ट, द्वि० व० उ० पु० अद्विष्वहि, म० पु० अद्विषाथाम्, प्र० पु० अद्विषाताम्, ब० व० उ० पु० अद्विष्महि, म० पु० अद्विड्ढ्वम्, प्र० पु० अद्विषत।

संस्कृत में इस कोटि के तिन्त रूपङ करीब-करीब १३० धातुओं से बनाए जाते हैं। अधिकांश भारत-यूरोपीय भाषाओं में यह कोटि विशेषतः लुप्त हो गयी, है, और थिमैटिक शब्दरूपों ने इसका स्थान ले लिया है। फलस्वरूप अन्य भाषाओं के रूपों के साथ साक्षात् तुलना कुछ ही प्रचलित धातुओं तक सीमित हैं: अस्ति 'है', ग्रीक ऐस्ति (ésti), लैटिन ऐस्त् (est), आदि; एमि 'मैं जाता हूँ', इमः 'हम लोग जाते हैं', ग्रीक ऐइमि (eîmi), इमेन् (imen), लिथु० ऐइमि (eimi), आदि; अत्ति, 'वह खाता है', लैटिन ऐस्त् (est), रूसी जेस्त्' (jĕst'); आस्ते 'बैठता है', ग्रीक हेस्तइ (hēstai); शेते 'सोता है', ग्रीक केइतइ (keitai), हित्ती कित्त (kitta), कित्तरि (kittari)। संस्कृत के अलावा हित्ती ही एक ऐसी भाषा है जिसमें शब्दरूप की यह कोटि भलीभाँति सुरक्षित है, और उसमें आगे भी समानान्तर रूप उपलब्ध है: हन्ति

'वह वध करता है', घ्नन्ति 'वे वध करते हैं', हित्ती कुएन्ज़ि (kuenzi), कुनन्ज़ि (kunanzi); वष्टि 'वह चाहता है' (वश्–),हित्ती वेक्ज़ि (wekzi) (ग्रीक केवल कृदन्त रूप हेकोन् (hekṓn) सस्ति 'सोता है', हित्ती शेश्ज़ि (šešzi) ।

उपर्युक्त नियत विभक्तिचिह्नों के अलावा एक अनियत अलग कोटि भी विद्यमान है: परस्मैपद, प्र० पु० व० व० चक्षुः, दुह्रुः, आत्मनेपद प्र० पु० ए० व० वर्तमाने लट् दुह्रे, खिते, दुहे, ब्रुवे, शये, विदे, प्र० पु० व० व० दुह्रे, शेरे; दुहते, शेरते; अनद्यतन लङ् प्र० पु० ए० व० ऐप, अदुह, प्र० पु० ब० व० अदुह्र; अदुह्रन् , अशेरन् ; अशेरत; लोट् प्र० पु० दुहाम् , विदाम्, शयाम्, प्र० पु० व० व० दुह्राम्, दुह्रताम् , शेरताम् । ये रूप (जिनके लिये देखें ऊपर§ ६) शी– 'सोना' धातु के अपवाद के साथ वैदिक भाषा तक ही सीमित हैं, जो लौकिक संस्कृत में इस तरह के विभक्ति रूपों को सुरक्षित रखे हैं (प्र० पु० व० व० शेरते) । यह तालिका महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इस बात का संकेत करती है कि धातुज प्रकृति के विषय में मूलतः विभक्तिरूपों की दो कोटियाँ थीं, जो हित्ती –मि और –हि (–hi) से सम्बद्ध हैं। संस्कृत ने मि– कोटि का परस्मैपद में सामान्यीकरण कर दिया है, आत्मनेपद में वैदिक भाषा इस प्राचीन दोहरी प्रक्रिया को सुरक्षित रखे हैं ।

कतिपय अपवादों को छोड़कर स्वराघात और अपश्रुति की सामान्य पद्धति इस वर्ग में अत्यधिक पायी जाती है, अर्थात् धातु परस्मैपद के तीनों पुरुषों में गुण और स्वराघात का वहन करता है, जबकि अन्यत्र यह अपने दुर्बल रूप में पाया जाता है और स्वराघात विभक्त्यंश पर होता है : हन्ति : घ्नन्ति; वश्मि : उश्मसि; अस्मि : स्मः, आदि । हलन्त विभक्तिचिह्न से प्रारंभ होने वाले उकारान्त धातु सबल रूपों में गुण के बदले वृद्धि का ग्रहण करते हैं ; स्तौति 'स्तुति करता है', यौति 'जोड़ता है'; तथा कुछ अन्य भी उदा० मार्ष्टि 'मिटाता है'; प्र० पु० ब० व० मृजन्ति । बहुत से धातु सर्वत्र गुण और स्वराघात को ऐसे कारणों से सुरक्षित रखे हैं, जो कि स्पष्ट नहीं हैं : उदा० शेते 'सोता है', वस्ते 'कपड़े पहनता है' । दीर्घ स्वरध्वनि वाले कुछ धातु, जहाँ कि यह प्रयुक्त है, उदा० आस्ते 'बैठता है', ईष्टे 'शासन करता है', शायद पूर्ण विभक्तिचिह्न पद्धति से लिए गए हैं (आस्–, मूलतः अस्– 'होना' का परोक्ष लिट् प्रकृत्यंश)। वैदिक भाषा में धातुओं का सबल रूप म० पु० ब० व० में वैकल्पिक है : वर्तमान नेथ, लोट् स्तोत, अनद्यतन लङ् अब्रवीत । प्र० पु० ब० व० आत्मनेपद विभक्तिचिह्न का दुर्बल रूप (द्विषन्ति के विरुद्ध द्विषते) मूल पदान्त स्वराघात का संकेत करता है, जो कभी-कभी वेद में सुरक्षित है : दुह्रते, रिहते ।

शास्- धातु में परस्मैपद में भी दुर्बल विभक्तिरूप पाया जाता है (शासति प्र० पु० ब० व०), जो अपने प्रकृत्यंशगत स्वराघात का अनुकरण करता है।

इस वर्ग की विभक्ति प्रक्रिया अन्तरिम सन्धि के कारण हुए परिवर्तनों से अत्यन्त जटिल हो गई है। चूँकि यह पदरचनागत की अपेक्षा ध्वनिविज्ञान का विषय अधिक है, कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे : दुह्- 'दुहना', दोह् + सि > धोक्षि, दोह् + ति- > दोग्धि; लिह्- 'चाटना', लेह + ति > लेढि; शास् + धि > शाधि। सादृश्य ही प्रथम पुरुष ए० व० अनद्यतन लङ् रूप अशात् (< *अशास् < *अशास्त् के बदले) के लिये उत्तरदायी है और इसी तरह अलेट् के लिये भी। कभी-कभी कई ऐसे विभिन्न शब्दरूपों का प्रतिनिधित्व मिलता है, जहाँ ध्वनिशास्त्रीय नियमों ने रूप को अत्यधिक ह्रस्व रख छोड़ा है अथवा वह अत्यन्त अस्पष्ट है : अद्- 'खाना' से थिमैटिक स्वरध्वनिवाला प्र० पु० ए० व० अनद्यतनभूत आदत्, अस्- 'होना' से वैदिक रूप आः के साथ-साथ -ई- वाला आसीत्।

इस वर्ग के कुछ धातुओं का विस्तार हो जाता है, उदा० त्रा- 'रक्षा करना, बचाना', शा-स्- 'आज्ञा देना', व्- अस्- 'कपड़ा पहना', जिसका तात्पर्य यह है कि मूलतः ये विस्तार धातुगण से संबद्ध नहीं था। इस तरह के धातु स्वराघात और अपश्रुति के बारे में अव्यवस्थित मालूम पड़ते हैं। कुछ द्वित्ववाले रूपों का यहाँ वर्गीकरण किया गया है, उदा० जक्ष्- (१) 'हँसना' (हस्-), (२) 'खाना' (घस्-) जो द्वित्ववाले विभक्तिरूपों के कुछ लक्षणों को सुरक्षित रखे है (प्र० पु० ब० व० आत्मनेपदी जक्षति), और निंस्- 'बहुत नजदीक से स्पर्श करना, चुंबन लेना' (नस्-); इसी तरह कुछ यङन्त शब्दरूप हैं, जिनका प्रयोग वैयाकरणों ने धातुओं के रूप में किया है : जागर्ति 'जगाता है', दरिद्राति 'भटकता है, गरीब है', दीदेति 'चमकता' है।

यहाँ कतिपय ऐसे वर्गीकृत धातु हैं, जो इ प्रत्यय के जरिये प्रकृत्यंश बनाते हैं, उदाहरणार्थ, लौकिक संस्कृत में; रुद्- 'रोना', स्वप्- 'सोना', अन्- 'साँस लेना', श्वस्- 'साँस लेना' और जक्ष्- 'खाना' : प्र० पु० ए० व० वर्तमान रोदिति, स्वपिति, आदि। आगे वैदिक भाषा में कुछ उदाहरण मिलते हैं : वमिति 'उलटी करता है', जनिश्व 'उत्पन्न हो', वसिष्व 'पहनो', श्नथिहि 'टुकड़े-टुकड़े करो', स्तनिहि 'गर्जो', और महाभारत में शोचिमि रूप मिलता है। यह शब्दरूप कपिओ (capio) (कपिस्, capis, कपित्, capit, कपिउन्त् capiunt) कोटि के लैटिन प्र० पु० विभक्तिरूप वाले धातुओं से संबद्ध है। अन्य विकरणरहित वर्गों की तरह इसमें भी स्वराघात और अपश्रुति में परिवर्तन दिखाई पड़ता है (उ० पु० ब० व० रुदिमः), किन्तु मूलतः इसका

धातुगण के साथ कोई संबंध नहीं था, और यह एक स्वतन्त्र रूप था। परन्तु यह एक ऐसा शब्दरूप है, जो कि भाषा के प्राचीनतम काल से लुप्त होने के मार्ग पर रहा। उद्धृत रूपों में से अत्यधिक रूप अलग किये हुये हैं और पूर्ण उदाहरणों के अंश नहीं हैं। अत्यन्त ठोस वर्ग में भी, जिसे लौकिक भाषा सुरक्षित रखे हैं, किसी स्वर से शुरू होनेवाले विभक्तिचिह्नों के पहले इ- प्रत्यय अनुपलब्ध है (प्र० पु० व० व० रुदन्ति) और म० पु० तथा प्र० पु० ए० व० अनद्यतन भूत में इसके स्थान पर या तो दीर्घ ई (आनीत्) आ गया है, अथवा थिमैटिक शब्दरूप (आनत्)। यह कोटि एक पूर्ण अलग वर्ग नहीं बनाती है, और इस प्रत्यय को संस्कृत स्वर इ (इट्) के रूप में अभिव्यक्त कर, और इसे धातुगण के साथ जोड़कर ही वैयाकरण इसकी बहुत सी विशेषताओं की व्याख्या कर सके हैं।

ई प्रत्यय ब्रू- 'बोलना' धातु के रूपों में दिखाई पड़ता है, परन्तु केवल किसी व्यञ्जन से प्रारम्भ होनेवाले विभक्तिचिह्नों के पहले सबल रूपों में (ब्रवीति, अब्रवीत्; अब्रवम्, ब्रुवन्ति)। संबद्ध अवेस्ता धातु में यह कहीं नहीं मिलता : प्र० पु० ए० व० म्रओइते (mraoite), अनद्यतन भूत म्रओत् (mraot)। यह प्रत्यय अन्यत्र धातुरूपों की रचना में महत्त्वपूर्ण है, उदाहरणार्थ लैटिन (अउदीरे (audire) और स्लावी में (प्रा० स्ला० सुपितु (supitū) 'सोता है', म्लुवितु (mluvitū) 'सोते हुए बड़बड़ाता है।' उपर्युक्त ह्रस्व इ की तरह यह संस्कृत में लुप्तप्राय है, और ब्रू- के अतिरिक्त केवल कुछेक धातु ऐसे उपलब्ध हैं, जो वैदिक भाषा में इसका ग्रहण करते हैं : अमीति (अम्- 'हानि पहुँचाना'), तवीति (तू- 'मजबूत होना'), शमीष्व (शम्- 'परिश्रम करना')।

अभ्यासयुक्त (द्वित्वयुक्त) गण (तृतीय अथवा जुहोत्यादि गण)

रूप : (हु- 'हवन करना')

वर्तमान, परस्मै० ए० व० उ० पु० जुहोमि म० पु० जुहोषि, प्र० पु० जुहोति,
द्वि० व० उ० पु० जुहुवः, म० पु० जुहुथः, प्र० पु० जुहुतः,
ब० व० उ० पु० जुहुमः, म० पु० जुहुथ, प्र० पु० जुह्वति।
आत्मने० ए० व० उ० पु० जुह्वे, म० पु० जुहुषे, प्र० पु० जुहुते,
द्वि० व० उ० पु० जुहुवहे, म० पु० जुह्वाथे, प्र० पु० जुह्वाते,
ब० व० उ० पु० जुहुमहे, म० पु० जुहुध्वे, प्र० पु० जुह्वते।
अनद्यतनभूतेलङ् परस्मै० ए० व० उ० पु० अजुहवम्, म० पु० अजुहोः, प्र० पु० अजुहोत्,

द्वि० व० उ० पु० अजुहुव, म० पु० अजुहुतम्, प्र० पु० अजुहुताम्,
ब० व० उ० पु० अजुहुम, म० पु० अजुहुत, प्र० पु० अजुहवुः ।
आत्मने० ए० व० उ० पु० अजुह्वि, म० पु० अजुहुथाः, प्र० पु० अजुहुत,
द्वि० व०उ०पु० अजुहुवहि, म० पु० अजुह्वाथाम्, प्र०पु० अजुह्वाताम्,
ब० व० उ० पु० अजुहुमहि, म०पु० अजुहुध्वम्, प्र०पु० अजुह्वत ।

इस गण के अनुसार लगभग ५० धातुओं के ऊपर वर्णित रूप बनाए जाते हैं, किन्तु शास्त्रीय भाषा में केवल १६ धातुओं के ही रूप हैं। ग्रीक में भी यह प्रक्रिया भलीभाँति दिखायी पड़ती है : ग्रीक पिप्लेमि (पिम्प्लेमि) (pi(m)-plēmi), पिप्लमेन् (पिम्प्लमेन्) (pi(m)plamen)।

संस्कृत पिपर्मि, पिपृमः; एइस्पिफनइ (eispiphanai) 'परिचय कराना",

तुल० संस्कृत बिभर्मि, बिभृमः; दिदोमि (didōmi), संस्कृत ददामि; तिथेमि (tithēmi), संस्कृत दधामि; हिस्तेमि (histēmi), संस्कृत तिष्ठामि (थिमैटिक वर्ग में परिवर्तित)। अन्यत्र यह प्रक्रिया तुलनात्मक दृष्टि से कम होती जाती है।

धातु के इ और उ स्वरध्वनियों के रखने पर द्वित्व की स्वरध्वनि मूल स्वरध्वनि के अनुरूप हो जाती है : चिकेति 'देखता है', जिह्रेति 'लज्जित है', विवेष्टि 'क्रियाशील है', बिभेति 'डरता है', निनिक्त लोट् मध्यम पुरुष वहुवचन 'साफ करो'; युयोति 'अलग करता है'। दूसरे धातुओं में यह कभी इ और कभी अ होता है।

(अ) जिघर्ति 'छिड़कता है', पिपर्ति 'भरता है', बिभर्ति 'वहन करता है', जिगाति 'जाता है', मिमाति 'राँभता है', शिशाति 'तेज करता है', सिषक्ति 'अनुगमन करता है'।

(ब) ददाति 'देता है', दधाति 'रखता है', जहाति 'छोड़ता है', बभस्ति 'खाता है', ववर्त्ति 'घूमता है', ससस्ति 'सोता है', सश्चति 'वे साथ देते हैं'।

यह ग्रीक के प्रतिकूल है जिसमें द्वित्व अक्षर में सर्वत्र –इ– मिलता है।

इस गण के धातुओं का उदात्तस्वर कुछ-कुछ अस्थिर है। सबल रूपों (जुहोति, आदि) में यह धात्वंश पर मिलता है जो धातु की गुण कोटि के अनुरूप है या कुछ धातुओं में द्वित्व अक्षर पर (दधाति, आदि)। वैदिक भाषा में परवर्ती कोटि अत्यधिक प्रचलित है, जहाँ परवर्ती भाषा में धात्वंश पर उदात्तस्वर मिलता है (बिभर्ति : बिभर्ति)। ग्रीक में भी उदात्तस्वर द्वित्व अक्षर पर मिलता है (दिदोमि didōmi, आदि), किन्तु अपश्रुति यह संकेत करती है कि धात्वंश वाला उदात्त परस्मैपद के तीनों पुरुषों के एक वचन में मूल स्वराघात होना चाहिए। दूसरी ओर परस्मैपद के प्रथम पुरुष बहुवचन में

द्वित्व अक्षर पर उदात्तस्वर प्राचीन जान पड़ता है, जहाँ धातु और तिङ्चिह्न दोनों दुर्बल रूप में मिलते हैं; द॑दति, स॑श्चति। दुर्बलरूपों में तिङ्चिह्न पर सामान्य स्वराघात मिलता है, इस अपवाद के साथ कि तिङ् चिह्न के स्वरध्वनि से आरंभ होने पर स्वराघात द्वित्व अक्षर पर पीछे फेंक दिया जाता है (जु॑ह्वे, विभ्रे, आदि)। यह रूप वैदिकोत्तरयुग में (वैदिक जुह्वे) प्रथम पुरुष बहुवचन के सादृश्य पर विकसित हुआ है।

धातु की मूलस्वरध्वनि का दुर्बलीकरण व्यच्- ('विविक्तः) और ह्वर्- (जुहूर्थाः) में सम्प्रसारण के रूप में और सच्- तथा भस्- में (प्रथम ब० व० सश्चति, वप्सति) अक्षरलोप के रूप में परिणत हुआ है। दीर्घ आकारांत धातु विविध रूप में व्यवहृत होते हैं। अत्यधिक सामान्य, दा- तथा धा- में धातु को पूरी तरह संकुचित कर दिया जाता है और स्वरध्वनि को लुप्त कर दिया जाता है : दद्वः, दद्मः; दध्वः, दध्मः, आदि। अन्य धातुओं में यह कोटि उनके द्वारा आक्रांत कर ली गयी है जिनमें धातु के संकुचित रूप और तिङ् चिह्न के बीच स्वरध्वनि -इ- अथवा अधिकतर दीर्घ -ई- जोड़ दी जाती है। ह्रस्व -इ-; हा- 'छोड़ना' धातु के कुछ रूपों में मिलता है : जह् -इ- मस् (जहिमः), जहिहि, आदि। इस द्वित्वजनित रूप की तुलना धातुरूप गण (अदादि गण) के स्वपिति कोटि से की जा सकती है। सामान्यतः स्वरध्वनि दीर्घ मिलती है; शिश् -ई- हि (शिशीहि) (शा- 'तेजकरना') मीमीते (मा- 'मापना'), ररीथाः (रा- 'कृपा करना'), आदि। दीर्घस्वरध्वनि का प्रचलन लयात्मक कारणों से है और विकरणात्मक -ई धात्वंश के आ- का संतुलन इस तरह से करता है कि दोनों ने धातु के सबल तथा दुर्बल रूपों की आकृति को अपना लिया है।

नु- तथा -उ- गण (पंचम तथा अष्टम, स्वादि तथा तनादि गण) वर्तमान, परस्मैपद, एकवचन, उत्तमपुरुष सुनो॑मि, मध्यम पुरुष सुनो॑षि, प्रथम पुरुष सुनो॑ति, द्विवचन उत्तम पुरुष सुनुवः, आदि······बहुवचन प्रथम पुरुष सुन्व॑न्ति, आत्मनेपद, एकवचन उत्तम पुरुष सुन्वे, मध्यम पुरुष सुनुषे··· बहुवचन प्रथम पुरुष सुन्व॑ते।

अनद्यतन लङ्, परस्मैपद, एकवचन, उत्तम पुरुष असुनवम्, मध्यम पुरुष असु॑नोः, प्रथम पुरुष असुनोत्, द्विवचन उत्तम पुरुष असु॑नुव······बहुवचन प्रथम पुरुष असु॑न्वन्, आत्मनेपद एकवचन उत्तम पुरुष असु॑न्वि, मध्यम पुरुष असु॑नुथाः, प्रथम पुरुष असुनुत, द्विवचन उत्तम पुरुष असु॑नुवहि······बहुवचन प्रथम पुरुष असु॑न्वत।

लगभग ५० धातु इस गण के अनुसार वर्तमानकाल के रूप बनाते हैं।

शास्– धातु में परस्मैपद में भी दुर्बल विभक्तिरूप पाया जाता है (शासति प्र० पु० ब० व०), जो अपने प्रकृत्यंशगत स्वराघात का अनुकरण करता है।

इस वर्ग की विभक्ति प्रक्रिया अन्तरिम सन्धि के कारण हुए परिवर्तनों से अत्यन्त जटिल हो गई है। चूंकि यह पदरचनागत की अपेक्षा ध्वनिविज्ञान का विषय अधिक है, कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे : दुह्– 'दुहना', दोह् + सि > धोक्षि, दोह् + ति– > दोग्धि; लिह्– 'चाटना', लेह + ति > लेढि; शास् + धि > शाधि। सादृश्य ही प्रथम पुरुष ए० व० अनद्यतन लङ् रूप अशात् (< *अशास् < *अशास्त् के बदले) के लिये उत्तरदायी है और इसी तरह अलेट् के लिये भी। कभी-कभी कई ऐसे विभिन्न शब्दरूपों का प्रतिनिधित्व मिलता है, जहाँ ध्वनिशास्त्रीय नियमों ने रूप को अत्यधिक ह्रस्व रख छोड़ा है अथवा वह अत्यन्त अस्पष्ट है : अद्– 'खाना' से थिमैटिक स्वरध्वनिवाला प्र० पु० ए० व० अनद्यतनभूत आदत्, अस्– 'होना' से वैदिक रूप आः के साथ-साथ –ई– वाला आसीत्।

इस वर्ग के कुछ धातुओं का विस्तार हो जाता है, उदा० त्रा– 'रक्षा करना, बचाना', शा–स्– 'आज्ञा देना', व्– अस्– 'कपड़ा पहना', जिसका तात्पर्य यह है कि मूलतः ये विस्तार धातुगण से संबद्ध नहीं था। इस तरह के धातु स्वराघात और अपश्रुति के बारे में अव्यवस्थित मालूम पड़ते हैं। कुछ द्वित्ववाले रूपों का यहाँ वर्गीकरण किया गया है, उदा० जक्ष्– (१) 'हँसना' (हस्–), (२) 'खाना' (घस्–) जो द्वित्ववाले विभक्तिरूपों के कुछ लक्षणों को सुरक्षित रखे है (प्र० पु० ब० व० आत्मनेपदी जक्षति), और निंस्– 'बहुत नजदीक से स्पर्श करना, चुंबन लेना' (नस्–); इसी तरह कुछ यङन्त शब्दरूप हैं, जिनका प्रयोग वैयाकरणों ने धातुओं के रूप में किया है : जागर्ति 'जगाता है', दरिद्राति 'भटकता है, गरीब है', दीदेति 'चमकता' है।

यहाँ कतिपय ऐसे वर्गीकृत धातु हैं, जो इ प्रत्यय के जरिये प्रकृत्यंश बनाते हैं, उदाहरणार्थ, लौकिक संस्कृत में; रुद्– 'रोना', स्वप्– 'सोना', अन्– 'साँस लेना', श्वस्– 'साँस लेना' और जक्ष्– 'खाना' : प्र० पु० ए० व० वर्तमान रोदिति, स्वपिति, आदि। आगे वैदिक भाषा में कुछ उदाहरण मिलते हैं : वमिति 'उलटी करता है', जनिश्व 'उत्पन्न हो', वसिष्व 'पहनो', श्नथिहि 'टुकड़े-टुकड़े करो', स्तनिहि 'गर्जो', और महाभारत में शोचिमि रूप मिलता है। यह शब्दरूप कपिशे (capio) (कपिस्, capis, कपित्, capit, कपिउन्त् capiunt) कोटि के लैटिन प्र० पु० विभक्तिरूप वाले धातुओं से संबद्ध है। अन्य विकरणरहित वर्गों की तरह इसमें भी स्वराघात और अपश्रुति में परिवर्तन दिखाई पड़ता है (उ० पु० ब० व० रुदिमः), किन्तु मूलतः इसका

धातुगण के साथ कोई संबंध नहीं था, और यह एक स्वतन्त्र रूप था। परन्तु यह एक ऐसा शब्दरूप है, जो कि भाषा के प्राचीनतम काल से लुप्त होने के मार्ग पर रहा। उद्धृत रूपों में से अत्यधिक रूप अलग किये हुये हैं और पूर्ण उदाहरणों के अंश नहीं हैं। अत्यन्त ठोस वर्ग में भी, जिसे लौकिक भाषा सुरक्षित रखे हैं, किसी स्वर से शुरू होनेवाले विभक्तिचिह्नों के पहले इ- प्रत्यय अनुपलब्ध है (प्र० पु० ब० व० रुदन्ति) और म० पु० तथा प्र० पु० ए० व० अनद्यतन भूत में इसके स्थान पर या तो दीर्घ ई (आनीत्) आ गया है, अथवा थिमैटिक शब्दरूप (आनत्)। यह कोटि एक पूर्ण अलग वर्ग नहीं बनाती है, और इस प्रत्यय को संस्कृत स्वर इ (इट्) के रूप में अभिव्यक्त कर, और इसे धातुगण के साथ जोड़कर ही वैयाकरण इसकी बहुत सी विशेषताओं की व्याख्या कर सके हैं।

ई प्रत्यय ब्रू- 'बोलना' धातु के रूपों में दिखाई पड़ता है, परन्तु केवल किसी व्यञ्जन से प्रारम्भ होनेवाले विभक्तिचिह्नों के पहले सबल रूपों में (ब्रवीति, अब्रवीत्; अब्रवम्, ब्रुवन्ति)। संवद्ध अवेस्ता धातु में यह कहीं नहीं मिलता : प्र० पु० ए० व० म्रओइते (mraoite), अनद्यतन भूत म्रओत् (mraot)। यह प्रत्यय अन्यत्र धातुरूपों की रचना में महत्त्वपूर्ण है, उदाहरणार्थ लैटिन (अउदीरे (audire) और स्लावी में (प्रा० स्ला० सुपितु (supitū) 'सोता है', म्लुवितु (mluvitū) 'सोते हुए बड़बड़ाता है।' उपर्युक्त ह्रस्व इ की तरह यह संस्कृत में लुप्तप्राय है, और ब्रू- के अतिरिक्त केवल कुछेक धातु ऐसे उपलब्ध हैं, जो वैदिक भाषा में इसका ग्रहण करते हैं : अमीति (अम्- 'हानि पहुँचाना'), तवीति (तू- 'मजबूत होना'), शमीष्व (शम्- 'परिश्रम करना')।

अभ्यासयुक्त (द्वित्वयुक्त) गण (तृतीय अथवा जुहोत्यादि गण)

रूप : (हु- 'हवन करना')

वर्तमान, परस्मै० ए० व० उ० पु० जुहोमि म० पु० जुहोषि, प्र० पु० जुहोति,
द्वि० व० उ० पु० जुहुवः, म० पु० जुहुथः, प्र० पु० जुहुतः,
ब० व० उ० पु० जुहुमः, म० पु० जुहुथ, प्र० पु० जुह्वति।

आत्मने० ए० व० उ० पु० जुह्वे, म० पु० जुहुषे, प्र० पु० जुहुते,
द्वि० व० उ० पु० जुहुवहे, म० पु० जुह्वाथे, प्र० पु० जुह्वाते,
ब० व० उ० पु० जुहुमहे, म० पु० जुहुध्वे, प्र० पु० जुह्वते।

अनद्यतनभूतेलङ् परस्मै० ए० व० उ० पु० अजुहवम्, म० पु० अजुहोः, प्र० पु० अजुहोत्,

द्वि० व० उ० पु० अजुहुव, म० पु० अजुहुतम्, प्र० पु० अजुहुताम्,
ब० व० उ० पु० अजुहुम, म० पु० अजुहुत, प्र० पु० अजुहवुः।
आत्मने० ए० व० उ० पु० अजुह्वि, म० पु० अजुहुथाः, प्र० पु० अजुहुत,
द्वि० व०उ०पु० अजुहुवहि, म० पु० अजुह्वाथाम्, प्र०पु० अजुह्वाताम्,
व० व० उ० पु० अजुहुमहि, म०पु० अजुहुध्वम्, प्र०पु० अजुह्वत।

इस गण के अनुसार लगभग ५० धातुओं के ऊपर वर्णित रूप बनाए जाते हैं, किन्तु शास्त्रीय भाषा में केवल १६ धातुओं के ही रूप हैं। ग्रीक में भी यह प्रक्रिया भलीभाँति दिखायी पड़ती है: ग्रीक पिप्लेमि (पिम्प्लेमि) (pi(m)-plēmi), पिप्लमेन् (पिम्प्लमेन्) (pi(m)plamen)।

संस्कृत पिपर्मि, पिपृमः; एइस्पिफनइ (eispiphanai) 'परिचय कराना", तुल० संस्कृत बिभर्मि, बिभृमः; दिदोमि (didōmi), संस्कृत ददामि; तिथेमि (tithēmi), संस्कृत दधामि; हिस्तेमि (histēmi), संस्कृत तिष्ठामि (थिमैटिक वर्ग में परिवर्तित)। अन्यत्र यह प्रक्रिया तुलनात्मक दृष्टि से कम होती जाती है।

धातु के इ और उ स्वरध्वनियों के रखने पर द्वित्व की स्वरध्वनि मूल स्वरध्वनि के अनुरूप हो जाती है: चिकेति 'देखता है', जिह्रेति 'लज्जित है', विवेष्टि 'क्रियाशील है', बिभेति 'डरता है', निनिक्त लोट् मध्यम पुरुष बहुवचन 'साफ करो'; युयोत्ति 'अलग करता है'। दूसरे धातुओं में यह कभी इ और कभी अ होता है।

(अ) जिघर्ति 'छिड़कता है', पिपर्ति 'भरता है', बिभर्ति 'वहन करता है', जिगाति 'जाता है', मिमाति 'राँभता है', शिशाति 'तेज करता है', सिषक्ति 'अनुगमन करता है'।

(ब) ददाति 'देता है', दधाति 'रखता है', जहाति 'छोड़ता है', बभस्ति 'खाता है', ववर्त्ति 'घूमता है', ससस्ति 'सोता है', सश्चति 'वे साथ देते हैं'।

यह ग्रीक के प्रतिकूल है जिसमें द्वित्व अक्षर में सर्वत्र –इ– मिलता है।

इस गण के धातुओं का उदात्तस्वर कुछ-कुछ अस्थिर है। सबल रूपों (जुहोति, आदि) में यह धात्वंश पर मिलता है जो धातु की गुण कोटि के अनुरूप है या कुछ धातुओं में द्वित्व अक्षर पर (दधाति, आदि)। वैदिक भाषा में परवर्ती कोटि अत्यधिक प्रचलित है, जहाँ परवर्ती भाषा में धात्वंश पर उदात्तस्वर मिलता है (बिभर्ति : बिभर्ति)। ग्रीक में भी उदात्तस्वर द्वित्व अक्षर पर मिलता है (दिदोमि didōmi, आदि), किन्तु अपश्रुति यह संकेत करती है कि धात्वंश वाला उदात्त परस्मैपद के तीनों पुरुषों के एक वचन में मूल स्वराघात होना चाहिए। दूसरी ओर परस्मैपद के प्रथम पुरुष बहुवचन में

द्वित्व अक्षर पर उदात्तस्वर प्राचीन जान पड़ता है, जहाँ धातु और तिङ्चिह्न दोनों दुर्बल रूप में मिलते हैं; दर्दति, सश्चति। दुर्बलरूपों में तिङ्चिह्न पर सामान्य स्वराघात मिलता है, इस अपवाद के साथ कि तिङ् चिह्न के स्वरध्वनि से आरंभ होने पर स्वराघात द्वित्व अक्षर पर पीछे फेंक दिया जाता है (जुह्वे, बिभ्रे, आदि)। यह रूप वैदिकोत्तरयुग में (वैदिक जुह्वे) प्रथम पुरुष बहुवचन के सादृश्य पर विकसित हुआ है।

धातु की मूलस्वरध्वनि का दुर्बलीकरण व्यच्– (विविक्तः) और ह्वर्– (जुहूर्थाः) में सम्प्रसारण के रूप में और सच्– तथा भस्– में (प्रथम ब० व० सश्चति, बप्सति) अक्षरलोप के रूप में परिणत हुआ है। दीर्घ आकारांत धातु विविध रूप में व्यवहृत होते हैं। अत्यधिक सामान्य, दा– तथा धा– में धातु को पूरी तरह संकुचित कर दिया जाता है और स्वरध्वनि को लुप्त कर दिया जाता है : दद्वः, दद्मः; दध्वः, दध्मः, आदि। अन्य धातुओं में यह कोटि उनके द्वारा आक्रांत कर ली गयी है जिनमें धातु के संकुचित रूप और तिङ् चिह्न के बीच स्वरध्वनि –इ– अथवा अधिकतर दीर्घ –ई– जोड़ दी जाती है। ह्रस्व –इ–; हा– 'छोड़ना' धातु के कुछ रूपों में मिलता है : जह् –इ– मस् (जहिमः), जहिहि, आदि। इस द्वित्वजनित रूप की तुलना धातुरूप गण (अदादि गण) के स्वपिति कोटि से की जा सकती है। सामान्यतः स्वरध्वनि दीर्घ मिलती है; शिश् –ई– हि (शिशीहि) (शा– 'तेजकरना') मीमीते (मा– 'मापना'), ररीथाः (रा– 'कृपा करना'), आदि। दीर्घस्वरध्वनि का प्रचलन लयात्मक कारणों से है और विकरणात्मक –ई धात्वंश के आ– का संतुलन इस तरह से करता है कि दोनों ने धातु के सबल तथा दुर्बल रूपों की आकृति को अपना लिया है।

नु– तथा –उ– गण (पंचम तथा अष्टम, स्वादि तथा तनादि गण) वर्तमान, परस्मैपद, एकवचन, उत्तमपुरुष सुनोमि, मध्यम पुरुष सुनोषि, प्रथम पुरुष सुनोति, द्विवचन उत्तम पुरुष सुनुवः, आदि······बहुवचन प्रथम पुरुष सुन्वन्ति, आत्मनेपद, एकवचन उत्तम पुरुष सुन्वे, मध्यम पुरुष सुनुषे··· बहुवचन प्रथम पुरुष सुन्वते।

अनद्यतन लङ्, परस्मैपद, एकवचन, उत्तम पुरुष असुनवम्, मध्यम पुरुष असुनोः, प्रथम पुरुष असुनोत्, द्विवचन उत्तम पुरुष असुनुव······बहुवचन प्रथम पुरुष असुन्वन्, आत्मनेपद एकवचन उत्तम पुरुष असुन्वि, मध्यम पुरुष असुनुथाः, प्रथम पुरुष असुनुत, द्विवचन उत्तम पुरुष असुनुवहि······बहुवचन प्रथम पुरुष असुन्वत।

लगभग ५० धातु इस गण के अनुसार वर्तमानकाल के रूप बनाते हैं।

निदर्शनात्मक उदाहरण हैं : ऋ॒णोति॑ 'उदय होता है' (तुल० ग्रीक ओर्नूमि órnūmi), स्तृ॒णोति॑ 'फैलाता है' (तुल० ग्रीक स्तोर्नूमि stórnūmi), क्षि॒णोति॑ 'नष्ट करता है' (तुल० ग्रीक फ्थिनो, phthínō; फ्थिनुथो, phthinúthō), मि॒नोति॑ 'हानि पहुँचाता है, कम करता है' (तुल० लैटिन मिनुओ, minuo), धु॒नोति॑– धू॒नोति॑– 'कँपाता है या हिलाता है' (तुल० ग्रीक थूनो, thúnō 'परेशान करना'), तृ॒प्णोति॑ 'सन्तुष्ट होता है', ऋ॒ध्नोति॑ 'फलता फूलता है', आ॒प्नोति॑ 'पहुँचता, प्राप्त करता है', अ॒श्नोति॑ 'प्राप्त करता है', आदि। यह विकरण जो न् और उ के संमिश्रण से बना है, इन्हीं धातुओं से बने संज्ञा शब्दरूपों में भी मिलता है, उदा० धृ॒ष्णोति॑ 'निर्भीक है', के साथ-साथ धृ॒ष्णु 'निर्भीक'। धातुओं की एक कोटि में नो / नु के साथ-साथ वैकल्पिक विकरण ना (नवम गण) मिलता है : वृ॒णोति॑, वृ॒णाति॑; स्तृ॒णोति॑ : स्तृ॒णाति॑; क्षि॒णोति॑, क्षि॒णाति॑।

संवद्ध रूपों में प्रायः न् से रहित केवल उ विकरण मिलता है : ऋ॒णोति॑ तुल० ग्रीक ओरोउओ (oroúō); स्तृ॒णोति, तुल० गाथि० स्त्रउयन (straujan); वृ॒णोति॑ 'ढँकता है', तुल० वस्त्र–; धृ॒ष्णोति॑ 'निर्भीक है', तुल० ग्रीक थ्रसुस (thrasús), द॒भ्नोति॑ 'हानि पहुँचाता है, धोखा देता है', तुल० अद्भुत– (जिसे हानि नहीं पहुँचायी जा सकती, दैवी), आश्चर्यमय', जिनोति॑ 'जीवित करता है', तुल० जी॒व– 'जीवित'; सा॒ध्नोति॑ 'किसी कार्य को साधता है', तुल० सा॒धु 'सीधा, भला'। क्षु॒र– 'छुरा' और क्ष्णौति 'तेज करता है' के बीच ठीक वही संबंध विद्यमान है, जहाँ विकरण के समग्र समावेश ने इसे अदादि गण में स्थानांतरित कर दिया है। श्रु– 'सुनना' (निष्ठा रूप श्रु॒त, ग्रीक क्लुतोस् klutós– आदि) में यह उ वर्तमानकाल (शृ॒णोति॑, भा० यू० *क्लृ –न्– एउ– ति, *kl̥– n– eu– ti) के अतिरिक्त धातु में सर्वत्र समाविष्ट कर दिया गया है। ईरानी में परवर्ती आदेश के द्वारा यह यहाँ भी मिलता है (अवे० सुरुनओइति, surunaoiti)।

इससे मिलते-जुलते धातुगण ग्रीक (ओर्नूमि órnūmi, आदि) और हित्ती में मिलते हैं, जहाँ इस रूप ने विशिष्ट प्रेरणार्थक अर्थ का विकास कर लिया है (अर्नुम्मि, arnummi आदि), किन्तु संस्कृत में पूर्णतः सुरक्षित प्राचीन अपश्रुति इन दोनों स्थलों में से किसी में भी नहीं है। अन्यत्र इस कोटि के रूपों का स्थान थिमैटिक रूपों ने ग्रहण कर लिया है (आयरिश रो क्लुइनेथर्, ro cluinethar 'सुनता है', आदि)। इस विकरण पर आधृत थिमैटिक रूप मिलते हैं : पिन्वति 'मोटा होता है' (तुल० पिनुते, अवे० पिनओइति pinaoiti), इन्वति 'चलाता है, आक्रमण करता है' (तुल० इ॒नोति॑),

'हिन्वति 'वाध्य करता है' (तुल० हिनोति), जिन्वति 'जिलाता है' (तुल० जिनोति)।

स्वराघात और अपश्रुति की दृष्टि से यह गण सामान्य वैदिक अनियमितताओं के साथ सामान्य कोटि का अनुसरण करता है, उदा० मध्यम पुरुष बहुवचन में विकरण का सबल रूप (अकृणोत (न)) और प्रथम पुरुष बहुवचन आत्मनेपद में पदांत अक्षर पर स्वराघात (कृण्वते, वृण्वते, आदि)। तिङ् चिह्नों के रूप की दृष्टि से यह संकेत किया जा सकता है कि विकरण का उ उत्तम पुरुष द्विवचन और बहुवचन में विकल्प से लुप्त किया जा सकता है (सुन्वः, सुन्मः; यह प्रवृत्ति वस्तुतः उत्तम पुरुष द्विवचन में आरंभ हुई है) और कि –नुव्–, स्वरध्वनि वाले विभक्ति चिह्न के पूर्व व्यंजन से अन्त होने वाले धातुओं के बाद न्व– के स्थान पर मिलता है (शक्नुवन्ति 'वे समर्थ हैं')। आत्मनेपदी प्रथम पुरुष एकवचन का विभक्ति चिह्न –ए (शृण्वे 'सुना जाता हैं', सुन्वे 'दवाया जाता है') और प्रथम पुरुष बहुवचन का –रे (शृण्विरे, सुन्विरे आदि) वेद में छिटफुट रूप में मिलता है और परवर्ती रूप सदा संयोजक स्वरध्वनि –इ– से युक्त। यह संयोजक स्वरध्वनि वैदिक शृण्विषे मध्यम पुरुष एकवचन आत्मनेपद में भी मिलता है।

आठवें गण में कुछ ऐसे धातु वर्गीकृत हैं जो नो / नु के स्थान पर केवल ओ/उ विकरण के द्वारा बनाए जाते हैं। इनमें न् अन्तवाले कतिपय धातु हैं : तन्– 'फैलाना' प्र० पु० एकवचन तनोति, इसीतरह सनोति 'जीतता है' (तुल० ग्री० अनूमि ánūmi 'प्राप्त करना') वनोति 'जीतता है', मनुते 'सोचता है', क्षणोति 'चोट पहुँचाता है' और कृ– धातु 'करना' : प्रथम पुरुष एकवचन करोति। न अन्तवाले धातुओं से बने रूपों की व्याख्या में कुछ अनिश्चितता है, क्योंकि यह तर्क करना संभव है कि यहाँ विकरण वस्तुतः नो/नु है, जिसके पूर्व अ धातु के संकुचित रूप में मिलने वाले न् (n̥) के लिये स्थित है (त्न-नेउ–ति, tn̥–neu–ti)। समग्र रूप में सरलतर मत को ग्रहण करना अधिक उचित जान पड़ता है और इसका प्रमाण वैदिक तरुते के अस्तित्व में देखा जा सकता है जो मनुते के ठीक समानांतर प्रतीत होता है।

इस गण में वर्गीकृत अन्य महत्वपूर्ण धातु कृ– 'करना' (करोति, कुरुते) भी एक समस्या उपस्थित करता है क्योंकि वैदिक भाषा तथा ईरानी दोनों नु– विकरण वाले धातु के रूप में इसके रूप बनाने में समान हैं (वैदिक कृणोति कृणुते, अवे० कॅरॅनओइति (kərənaoiti), प्रा० फा० अकुनवम् < अकृणवम्)। यह संकेत किया जा सकता है कि शास्त्रीय रूप (प्राकृतीकृत) हैं, किन्तु यह मान्यता इस तथ्य के द्वारा असंभाव्य सिद्ध कर दी जाती है कि मध्य भारतीय

आर्य में ऋण् का अर् /उर् के रूप में ध्वन्यात्मक विकास पूरी तरह अनियमित है (तुल० तृर्ण 'घास > तर्ण–, तिण, आदि, और इस धातु के वैदिक रूप से प्राकृत कुणइ)। इसलिये यह रूप वास्तविक और प्राचीन वैभाषिक रूप माना जाना चाहिये, जो तरुते की तरह केवल उ विकरण के द्वारा बनाया गया है, और जो वैदिक नपुंसक संज्ञा शब्द करुर्ण 'कर्म' में भी मिलता है। धातु का दुर्बल रूप कुछ जटिलता उपस्थित करता है, क्योंकि सामान्यतः या तो पूर्ण संकोच (क्र्) अथवा तरुते की तरह गुणकोटि का आदान अपेक्षित हो सकता है। चूँकि अन्यत्र दुर्बल कोटि (गुरु, आदि) में –उर– को उत्पन्न करनेवाले विकरण ? (H) का प्रश्न ही यहाँ नहीं उठता, दुर्बल कोटि के रूप की व्याख्या करने के लिये केवल इसी परिकल्पना का सिद्धांत बचा रहता है कि मूलतः यह धातु कंठोष्ठ्य (व्यंजन) ध्वनि से आरम्भ होता है! तब कुर्– रूप को उन बचे खुचे रूपों के साथ वर्गीकृत किया जा सकता है जिनमें यह ओष्ठ्य तत्त्व स्वरध्वनि का काम करता मिलता है (ग्रीक गुने gunē, हित्ती कुनंज़ि, kunanzi, आदि देखिये पृ० ७४)। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह जान पड़ता है कि भा० यू० धातु क्वेल्– (k^wel) भारत-ईरानी में द्वितीय तालव्यीभाव के परिणामस्वरूप दो धातुओं को उत्पन्न करने में विभक्त हो गया, एक ओर अकर्मक चर्– 'घूमना, जाना' और दूसरी ओर सकर्मक कृ– 'करना, बनाना'।

इस धातु का उ विकरण हमेशा लुप्त कर दिया जाता है जब कि नु– धातुओं में ऐसा लोप वैकल्पिक है (कुर्मः, आदि)। यह विधिलिङ् के परस्मैपदी रूप में भी लुप्त कर दिया जाता है : कुर्वीय के प्रतिकूल कुर्याम्। ये वे मूलधातुज रूप हैं, जो इस तिङंत प्रक्रिया में सम्मिलित कर लिए गए हैं।

ना–गण (नवम अथवा क्र्यादि गण)

वर्तमान, परस्मैपद, एकवचन उत्तम पुरुष क्रीणामि, मध्यम पुरुष क्रीणासि, प्रथम पुरुष क्रीणाति, द्विवचन उत्तम पुरुष क्रीणीवः, मध्यम पुरुष क्रीणीथः, प्रथम पुरुष क्रीणीतः, बहुवचन उत्तम पुरुष क्रीणीमः, मध्यम पुरुष क्रीणीथ, प्रथम पुरुष क्रीणन्ति।

आत्मनेपद, बहुवचन, उत्तम पुरुष क्रीणे, मध्यम पुरुष क्रीणीषे, प्रथम पुरुष क्रीणीते, द्विवचन उत्तम पुरुष क्रीणीवहे, मध्यम पुरुष क्रीणाथे, प्रथम पुरुष क्रीणाते, बहुवचन उत्तम पुरुष क्रीणीमहे, मध्यम पुरुष क्रीणीध्वे, प्रथम पुरुष क्रीणते।

अनद्यतन लङ्, परस्मैपद, एकवचन, उत्तम पुरुष अक्रीणाम्, मध्यम पुरुष अक्रीणाः, प्रथम पुरुष अक्रीणात्, द्विवचन उत्तम पुरुष अक्रीणीव, मध्यम पुरुष

अक्रीणीतम्, प्रथम पुरुष अक्रीणीताम्, बहुवचन उत्तम पुरुष अक्रीणीम, मध्यम पुरुष अक्रीणीत, प्रथम पुरुष अक्रीणन् ।

आत्मनेपद, एकवचन, उत्तम पुरुष अक्रीणि, मध्यम पुरुष अक्रीणीथाः, प्रथम पुरुष अक्रीणीत, द्विवचन उत्तम पुरुष अक्रीणीवहि, मध्यम पुरुष अक्रीणाथाम्, प्रथम पुरुष अक्रीणाताम्, बहुवचन उत्तम पुरुष अक्रीणीमहि, मध्यम पुरुष अक्रीणीध्वम्, प्रथम पुरुष अक्रीणत ।

इसी गण की तरह ऊपर वर्णित पचास धातुओं के वर्तमानकालिक रूप होते हैं। कुछ उदाहरण ये हैं : क्रीणाति 'खरीदता है' (तुल० आयरिश क्रेनइद् crenaid), लिनाति 'चिपकता है' (तुल० आयरिश लेनइद् 'वही' lenaid), शृणाति 'नष्ट करता है', (तुल० आय० अर्- ख्रिनत् ara chrinat प्रथम पुरुष बहुवचन 'गिर पड़ना-') जीनाति 'जीतता है, ' मृणाति 'कुचलता है' पृणाति 'भरता है', आदि ।

यह विकरण न् और आ (-अ ?-, -aH-) का मिश्रण है और ये तत्व प्रायः संबद्ध रूपों में अलग-अलग मिलते हैं। इष्णाति में मिलने वाला न्, इषणत् और इषण्यति में अन्य तत्वों के संबंध में मिलता है। न् से रहित आ विकरण -आय- वाले कतिपय समानांतर रूपों में उपलब्ध है; गृभ्णाति आदि के साथ-साथ गृभायति, मथायति, स्कभायति। आ विकरण प्रायः धातुओं में अंशतः सम्मिलित कर लिया गया है, उदा० वर्तमानकालिक जिनाति, पृणाति के साथ-साथ ज्या- 'नुकसान पहुँचाना' प्रा- भरना में; तुल० ठीक यही प्रक्रिया, यद्यपि अधिक पूर्ण, शृणोति के साथ-साथ श्रु-/श्रो में है। विकरण के दुर्बल रूप के योग के साथ ह्रस्व इ, उ, ऋ अन्तवाले धातु दीर्घ ई, ऊ, ॠ अन्तवाले हो जाते हैं। इसी रूप में वे सामान्यतः दिए जाते हैं, और इसी रूप में वे सामान्यतः वर्तमानकालिक प्रक्रिया के बाहर मिलते हैं : प्रीत- 'प्रसन्न', पूत- 'पवित्र' (पुनाति), पूर्ण- 'भरा हुआ' (पृणाति)। काल रचना में दो प्रकार का व्यवहार मिलता है : (अ) -ना- के पूर्व धातु का अविस्तारित रूप मिलता है. उदा० जिनाति, पुनाति, मृणाति; (ब) इस रूप में भी धातु का विस्तारित रूप उपस्थित कर दिया गया है, उदा० प्रीणाति, श्रीणाति, यह प्रक्रिया केवल इ अन्तवाले धातुओं के संबंध में मिलती है। ब्ली- धातु 'दबाना' दोनों तरह के रूपों की रचना करता है और पालि में संस्कृत क्रीणाति के प्रतिकूल किणाति 'खरीदता है' (केल्टिक रूप से मिलता-जुलता) है ।

-ना- विकरण के सबल रूप का दुर्बल रूपों में -नी- के साथ परिवर्तन संस्कृत से बाहर नहीं मिलता। ग्रीक में दीर्घ तथा ह्रस्व स्वरध्वनि के बीच परिवर्तन है; दम्नेमि, दम्नामेन् (dámnēmi, damnāmen)। अवेस्ता में

दुर्बल कोटि में आ का पूर्ण लोप मिलता है, जो नियमित भारत-ईरानी ध्वन्यात्मक विकास है : प्रथम पुरुष, एकवचन, आत्मनेपद वॅरॅन्ते, °स्तॅरॅन्ते (vərəntē, °stərəntē)। संस्कृत में यह कोटि एक अधिक विकरण –ई– से युक्त कोटि के द्वारा तृतीय गण में व्यवहृत पद्धति के समान ढंग में स्थानान्तरित कर दी जाती है, उदा० वृणीते का अवेस्ता वॅरॅन्ते (vərəntē) के साथ वही संबंध है, जो संस्कृत मिमीते आदि का दुत्ते के साथ। यह ई केवल व्यंजनध्वनिवाले तिङ् चिह्नों के पूर्व प्रयुक्त होता है, स्वरध्वनियों के पूर्व इस विकरण का केवल संकुचित रूप मिलता है : जानते, तुल० अवेस्ता ज़ानइते (zānaitē)।

नासिक्य-अंतःप्रत्यय युक्त गण (सप्तम, रुधादि गण)

वर्तमान, परस्मैपद, एकवचन उत्तम पुरुष युनज्मि, मध्यम पुरुष युनक्षि, प्रथम पुरुष युनक्ति, द्विवचन उत्तम पुरुष युञ्ज्वः, मध्यम पुरुष युङ्क्थः, प्रथम पुरुष युङ्क्तः, बहुवचन उत्तम पुरुष युञ्ज्मः, मध्यम पुरुष युङ्क्थ, प्रथम पुरुष युञ्जन्ति। आत्मनेपद ए० व० उ० पु० युञ्जे, म० पु० युङ्क्षे, आदि···ब० व० म० पु० युङ्ग्ध्वे, प्र० पु० युञ्जते, अनद्यतन लङ् परस्मैपद ए० व० उ० पु० अयुनजम्, म० पु० अयुनक्, प्र० पु० अयुनक्, द्वि० व० उ० पु० अयुञ्ज्व, आदि···ब० व० प्र० पु० अयुञ्जन्। आत्मनेपद, एकवचन, उत्तम पुरुष अयुञ्जि, मध्यम पुरुष अयुङ्क्थाः, बहुवचन, मध्यम पुरुष अयुञ्जत।

लगभग तीस धातुओं के इसी तरह रूप चलते हैं। प्रचलित उदाहरण ये हैं : रिणक्ति 'छोड़ता है' (लैटिन लिन्क्वो linquo), छिद्– 'काटना', छिनत्ति (लैटिन स्किन्दो scindo), भिद्– 'तोड़ना', भिनत्ति (लैटिन फिन्दो findo), पिष्– 'कुचलना', पिनष्टि (लैटिन पिंसो pinso), अञ्ज्– 'आँजना', अनक्ति (लैटिन अंगुओ unguo), भुज्–, भुनक्ति 'लाभान्वित होता है', भुङ्क्ते 'भोग करता है' (लैटिन फुंगोर् fungor)।

भारत-ईरानी से बाहर अधिकांश भाषाओं में सबल रूपों के स्थान पर निर्बल रूप अपना लिए गए हैं, और संपूर्ण कोटि थिमैटिक वर्ग में स्थानांतरित कर दी गयी है। ठीक यही प्रवृत्ति अवेस्ता विनस्ति के प्रतिकूल संस्कृत विन्दति में दिखायी देती है, और भारतीय-आर्य के परवर्ती इतिहास में इस प्रकार के रूपों ने पूरी तरह प्राचीन रूपों का स्थान ले लिया है (पालि युञ्जति, आदि) हित्ती में इससे मिलते-जुलते गण में दो नासिक्य अंतःप्रत्यय मिलते हैं और अपश्रुतिगत परिवर्तन नहीं मिलता, उदा० हर्निंक– (ḫarnink–) 'नष्ट करना'; ये दोनों विशेषतायें संस्कृत के द्वारा सुरक्षित नियमित भा० यू० कोटि से विकसित, हित्ती के विशिष्ट विकास हैं।

यह कोटि पूर्ववर्ती दो कोटियों से भिन्न प्रतीत होती है, जहाँ वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश विकरण-प्रक्रिया के स्थान पर अन्तःप्रत्यय-प्रक्रिया के द्वारा बनाया जाता है। अंततः ये कोटि वास्तविक दृष्टि से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि इस गण के अधिकांश धातुओं में पदांत व्यंजनध्वनि को विस्तृत रूप माना जा सकता है, अर्थात् मूलतः एक प्रत्यय (विकरण), जो समय पाकर धातु में घुलमिल गया है। उदाहरण के लिये युज्– 'जोड़ना' धातु के साथ-साथ एक सरल धातु यु– (यौति) ठीक उसी अर्थ के साथ मिलता है। इस प्रकार का प्रमाण अन्य धातुओं के संबंध में भी उपलब्ध है। उदा० छिद्– 'काटना', तुल० छ्यति 'काटता है', छित 'काटा हुआ', रिच्– 'छोड़ना', रिणक्ति, तुल० रिणाति 'बहने देता है', तृद्– 'घुसना', तृणत्ति, तुल० तृर्ण– 'घास' अंग्रेजी थ़ॉर्न, कृत्– 'बुनना', कृणत्ति, तुल० लैटिन कोलुस् (colus) 'कपड़ा बुनने का डण्डा (वेमा)'। इन उदाहरणों में इस गण के रूपों का विश्लेषण ठीक वैसा ही है जैसा अन्य दो नासिक्य गणों का : ५ क्लृ– न– एव्– ति (kl̥– n– éw– ti) (शृणोति), ९ प्लृ– नू– ए ?– ति (pl̥– n– éH– ti) (पृणाति), ७ यु– नू– एग्– ति (yu– ú– ég– ti) (युनक्ति)।

इसके साथ ही सभी रूपों को इस तरह विश्लिष्ट नहीं किया जा सकता, उदा० अनक्ति 'अंजन लगाता है'। एक बार अंतःविकरण से युक्त गण द्वितीय विकरण के द्वारा प्रतिष्ठापित कर दिया गया, तो इसने कई ऐसे धातुओं को आकर्षित कर लिया जो इस मूल केंद्र से संबद्ध नहीं थे।

ब थिमैटिक वर्तमान

धात्वंश पर उदात्त स्वर वाला गण (प्रथम अथवा भ्वादिगण)

वर्तमान, परस्मैपदी, एकवचन, उत्तम पुरुष भवामि, मध्यम पुरुष भवसि, प्रथम पुरुष भवति, द्विवचन उत्तम पुरुष भवावः, मध्यम पुरुष भवथः, प्रथम पुरुष भवतः, बहुवचन उत्तम पुरुष भवामः, मध्यम पुरुष भवथ, प्रथम पुरुष भवन्ति।

आत्मनेपदी, एकवचन, उत्तम पुरुष भवे, मध्यम पुरुष भवसे, प्रथम पुरुष भवते, द्विवचन उत्तम पुरुष भवावहे, मध्यम पुरुष भवेथे, प्रथम पुरुष भवेते, बहुवचन उत्तम पुरुष भवामहे, मध्यम पुरुष भवध्वे, प्रथम पुरुष भवन्ते।

अनद्यतन् लुङ् परस्मैपदी, एकवचन उत्तम पुरुष अभवम्, मध्यम पुरुष अभवः, प्रथम पुरुष अभवत्, द्विवचन उत्तम पुरुष अभवाव, मध्यम पुरुष अभवतम्, प्रथम पुरुष अभवताम्, बहुवचन उत्तम पुरुष अभवाम, मध्यम पुरुष अभवत, प्रथम पुरुष अभवन्।

आत्मनेपदी एकवचन उत्तम पुरुष अभवे, मध्यम पुरुष अभवथाः, प्रथम

पुरुष अभंवत, द्विवचन उत्तम पुरुष अभंवावहि, मध्यम पुरुष अभंवेथाम्, प्रथम पुरुष अभंवेताम्, बहुवचन उत्तम पुरुष अभंवामहि, मध्यम पुरुष अभंवध्वम्, प्रथम पुरुष अभंवन्त।

संस्कृत में यह गण सभी वर्तमान गण की अपेक्षा अधिक प्रचलित है, जो इस भाषा के लगभग आधे धातुओं से बनाया जाता है। थिमैटिक रूपों का महत्त्व ठीक नामिक प्रातिपदिकों जैसा है और यह अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं में भी उपलब्ध है। संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के साक्षात् समान रूप, जो भा० यू० रूपों को प्रमाणित करते हैं, अन्य गणों की अपेक्षा अधिक प्रचलित हैं। उदाहरण ये हैं :—

प्लवंते, प्रवंते, 'बहता है', ग्रीक 'प्लेंवो (ple(w)ō)'; स्रवंति 'बहता है', ग्रीक 'ह्रेंइ (hreei)'; स्वनंति 'ध्वनित होता है' प्राचीन लैटिन सोनित् (sonit); स्तनंति 'गरजता है', ग्रीक 'स्तेनेइ (stenei)'; भरंति 'वहन करता है', ग्रीक 'फेरो (pherō)', लैटिन फ़ेरो (fero), गाथिक बइरिथ् (bairip), आयरिश बेरिद् (berid), प्राचीन स्लावी० वेरेतु (beretŭ); चरंति 'जाता है', ग्रीक 'पेलोमइ (pelomai)', लैटिन कोलो (colo); बोधंति 'समझता है', ग्रीक 'पेउथोमइ (peuthomai)'; जोषंते 'आनन्द लेता है' ग्रीक गेउओमइ (geuomai)' 'गाथि० 'किउसिथ् (kiusip)' रोधंति, रोहंति 'उठाता है' 'गाथि० लउदिथ् (liudip)' ओषति 'जलता है' ग्री० हेउओ (heuō) लैटिन ऊरो (ūro); वर्तते 'घूमता है' लैटिन वेर्तितुर् (vertitur); पर्दते ग्रीक 'पेर्देतइ (pérdetai;)'; सर्पति रेंगता है', ग्रीक 'हेर्पेइ (hérpei)', लैटिन सेर्पित् (serpit); यसंति 'उबलना', ग्रीक ज़ेओ (zéō); वहंति 'ले जाता है'; ग्रीक वेखो (wekhō), लैटिन वेहित् (vehit), प्रा० स्लावि० वेज़ेतु (vezetŭ); वसंति 'निवास करना', गाथि० विसिथ् (wisip); नसंते 'आश्रय लेना', ग्रीक नेओमइ (néomai) 'लौटना', गाथिक गनिसिथ् (ganisip) 'रक्षित है'; मज्जति 'डूबता है', लैटिन मेर्गित् (mergit); त्रसंति 'काँपता है' ग्रीक त्रेओ (treō); पतंति 'गिरता है, उड़ता है', ग्रीक पेतोमइ (pétomai); स्थगति 'ढँकता है', ग्रीक स्तेगइ (stégai); लैटिन तेगित् (tegit); सचते 'सम्बन्ध रखता है', ग्रीक हेपेतइ (hépetai), लैटिन सेक्वितुर् (sequitur), 'वही;' दहंति, लिथु० देगु (degù); पचति 'पकाता है', लैटिन कोक्वित् (coquit); प्रा० स्लावी० पेचेतु (pečetŭ); तक्षति (बढ़ई) 'जोड़ता है काटता है' लैटिन तेक्सित् (texit); ह्वयते 'पुकारता है', अवे० ज़वइति (zavaiti), प्रा० स्लावी ज़ोवेतु (zovetŭ); अजति 'चलाता है', ग्रीक 'अगेइ' (ágei), लैटिन अगित्

(agit), आयरिश अद्–अइग् (ad–aig); अनिति 'स्वाँस लेता है', (अनिति के साथ), गाथिक उज़निथ् (uzanip) 'साँस छोड़ता है, मरता है'।

इस गण के अधिकांश धातु सामान्य कोटि का अनुगमन करते हैं, प्रकृत्यंश उदात्त स्वरयुक्त धातु के गुणरूप से युक्त होता है, जो थिमैटिक स्वरध्वनि के द्वारा अनुगत होता है। कुछ धातुओं में गुण के स्थान पर वृद्धि रूप मिलता है; बाधते 'तकलीफ देता है', भ्राजते 'चमकता है', धावति 'दौड़ता है' (ग्रीक थेओ, théō गुण कोटि के साथ), क्रामति 'डग भरता है' (आत्मनेपदी क्रमते के अतिरिक्त), आचामति 'आचमन करता है'। यह गण धात्वंश अथवा आदि अक्षर पर उदात्तस्वर से युक्त विविध थिमैटिक रूपों से युक्त है जो मूलतः इस गण से संबद्ध नहीं थे : उदा० (१) नासिक्य अंतस्तत्व से युक्त एक रूप निन्दति 'निन्दा करता है' (तुल० निद्– 'वेइज्जत करना', ग्रीक ओनेइदोस् oneidos); इस कोटि के रूप षष्ठ गण में अधिक प्रचलित हैं; (२) –व विकरण से युक्त रूप जीवति 'जीता है', तूर्वति 'वश में करता है'. आदि; इन उदाहरणों में अपश्रुति से यह ज्ञात होता है कि आद्य अक्षर का स्वराघात मूल स्वराघात नहीं है; (३) गौण धात्वंशगत स्वराघात से युक्त भा० यू० अविकसित विकरण –स्के/स्को– (>च्छ–) वाले धातु : गच्छति 'जाता है', ग्रीक बस्को, (báskō), यच्छति 'ग्रहण करता है'; (४) द्वित्वयुक्त थिमैटिक रूप : तिष्ठति 'ठहरता है' (स्था–), तुल० लैटिन सिस्तित् (sistit), पिबति 'पीता है' (पा–), आयरिश इबिद् (ibid), जिघ्रति 'सूँघता है' (घ्रा–); सीदति 'बैठता है' लैटिन सीदो (sido) (भा० यू०) सद्– से सिज़्द्–) में सामान्य ध्वन्यात्मक विकास से संस्कृत में ड् होना चाहिए था, किन्तु तिङंत-प्रक्रिया के अन्य रूपों के प्रभाव से यहाँ भी द् मिलता है।

विकरण पर उदात्त स्वर वाला गण (षष्ठ अथवा तुदादि गण)

इस गण तथा परवर्ती दो गण के रूप ठीक उसी तरह चलते हैं जैसे पूर्ववर्ती गण के। षष्ठ गण अधिक प्रचलित है और लगभग डेढ़ सौ धातुओं के रूप इस तरह चलते हैं। निदर्शनात्मक उदाहरण : रुजति 'तोड़ता है', विशति 'घुसता है', तुदति 'ढकेलता या प्रेरित करता है', दिशति 'संकेत करता है' मृशति 'थपथपाता है', स्पृशति 'छूता है' सुवति 'प्रेरित करता है', किरति 'बिखेरता है', सृजति 'सर्जन करता है, जाने देता है'। संस्कृत के प्रतिकूल यह कोटि अधिकांश भा० यू० भाषाओं में बहुत कम उपलब्ध है क्योंकि पूर्ववर्ती गण थिमैटिक धातुओं में सामान्य प्रचलन में चल पड़ा है। ग्रीक में प्रकृत्यंश की यह कोटि प्रायः केवल सामान्य भूते लुङ् के प्रयोग में मिलती है, जहाँ यह

सामान्य थिमैटिक वर्तमानकालिक रूपों के साथ अपश्रुतिगत विभिन्नता रखती है, फेउग्गो : एफुगान् (pheúgō : éphugon)। जैसा कि इस कोटि के ऐसे वर्तमानकालिक रूपों में उपलब्ध है, उदात्त स्वर धात्वंश पर स्थानांतरित कर दिया गया है (ग्लुफो glúphō)।

इस गण की सामान्यतः अधिक प्रचलित उपकोटि नासिक्य अन्तःप्रत्यय के प्रयोग द्वारा बनायी जाती है : सिञ्चति 'सींचता है', मुञ्चति 'छोड़ता है', विन्दति 'पाता है', कृन्तति 'काटता है', लुम्पति 'तोड़ता है', लिम्पति 'लीपता है', इनमें से कुछ स्पष्टतः सप्तम गण के स्थानांतरित रूप हैं, उदा० उनत्ति, युनक्ति के साथ-साथ उन्दति, युञ्जति, और यह संभव है कि यह संपूर्ण उपकोटि इसी तरह उदित हुई थी।

उदात्त स्वरयुक्त विकरण –च्छ (भा० यू० –स्क) इच्छति 'चाहता है', उच्छति 'चमकता है', ऋच्छति 'जाता है', (धातु–, इष्–, वस्–, ऋ) में मिलता है। पृच्छति 'पूछता है' (लैटि० पॉस्कित् poscit) में यह धातु में सम्मिलित कर लिया गया है (परोक्षे लिट् पप्रच्छ), किन्तु कभी-कभी नामिक शब्दों में अविस्तारित धातु मिलता है : प्रश्न 'सवाल'।

य– गण (चतुर्थ या दिवादि गण)

चतुर्थ गण में लगभग १३० धातु हैं जो अपने वर्तमानकालिक रूप य-विकरण के द्वारा बनाते हैं : उदा० कुप्यति 'क्रोधित होता है', क्रुध्यति 'वही', तुष्यति 'प्रसन्न होता है', युध्यति 'लड़ता है', विध्यति 'बेधता है' (व्यध्–) दीव्यति '(जुआ) खेलता है', हृष्यति 'प्रसन्न होता है', तप्यते 'गर्म होता है', पश्यति 'देखता है', नह्यति 'बाँधता है'। यह विकरण नामधातुओं की रचना में भी प्रयुक्त होता है, और कर्मवाच्य के रूप इस गण के आत्मनेपदी रूपों से केवल विकरणांश पर उदात्त स्वर का वहन करने की दृष्टि से भिन्न है। यह रूप हित्ती (वेमिएज़्ज़ि, wemiezzi 'ढूँढ़ता है', ज़ह्हिएज़्ज़ि zahhiezi 'युद्ध करता है') और ग्रीक (मइनेतइ meinetai 'पागल है' तुल० संस्कृत मन्यते 'मानता है', बइनो baínō, स्तिज़्ज़ो stízō, आदि) में मिलता है। दूसरी ओर लैटिन में इन रूपों के बजाय –इ अन्तवाले अथिमैटिक प्रकृत्यंश मिलते हैं (संस्कृत कुप्यति के प्रतिकूल कुपिओ, cupio, कुपित्, cupit)। संस्कृत में अथिमैटिक रूप स्तनिहि के साथ-साथ वर्तमानकालिक स्तन्यति 'गरजता है' (प्रा० स्लावी स्तेन्यों stenjǫ) का अस्तित्व इस बात का निदर्शन करता है कि यह रूप इकारांत प्रकृत्यंश के थिमैटिक विस्तार के द्वारा उसी तरह उदित हुआ होगा जैसे नामिक प्रातिपदिकों में (°क्रवि° : क्रव्य आदि)। अधिकांश

रूपों की अपश्रुति मूल विकरणगत स्वराघात का संकेत करती है, जैसा कि कर्मवाच्य रूपों में मिलता है। दूसरी ओर वृद्धीकृत धातु से युक्त कतिपय रूप हैं, उदा० –मार्यति 'मस्त होता है', श्राम्यति 'थकता है', जिनमें आरंभ से ही धात्वंश पर स्वराघात रहा होगा, जिससे यह मालूम होता है कि इस गण में मूलतः दो कोटियाँ सम्मिलित थीं।

कतिपय आकारांत धातु जो इस गण से संबद्ध हैं, उदा० गा– 'गाना' (गायति), ग्ला– 'कुम्हलाना' (ग्लायति) त्रा– 'रक्षा करना' (त्रायते) और ध्या– 'सोचना' (ध्यायति), वैयाकरणों द्वारा गै–, आदि धातुओं की सर्वथा अनावश्यक कल्पना करके प्रथम गण के साथ संबद्ध कर दिए गए हैं। चूंकि इनके धातु निश्चित रूप में गा– आदि स्थिर करने होंगे, ये वर्तमानकालिक रूप इस गण से संबद्ध किए जाने चाहिएँ, जिसमें इनका रूप और स्वराघात नियमित है।

–आ अन्तवाले कुछ ऐसे धातु हैं जो उदात्तस्वरयुक्त विकरण –य के पूर्व इस स्वरध्वनि का लोप कर देते हैं: दा– 'बाँधना' (द्– यति = द्यति), छा– 'काटना' (छ्यति), शा– 'तेज करना' (श्यति) और सा– 'बाँधना (स्यति : तुल० हित्ती इश्हिय išḫiya 'बाँधना')। ये धातु इस गण के उपरिसंकेतित मूल स्वराघात को सुरक्षित रखते हैं, क्योंकि धात्वंश के अक्षर के पूर्णतया संकोच ने धात्वंश पर स्वराघात के स्थानांतरण को सर्वथा असंभाव्य बना दिया है।

दशम गण (चुरादि गण)

इसका विकरण –अय है। यह सामान्यतः प्रेरणार्थक धातुओं की रचना में विशेषीकृत हो गया है, किन्तु यह सर्वथा इसी के लिये प्रयुक्त नहीं होता, और कुछ ऐसे रूपों का केन्द्र बचा रहता है जो गौण तिङंतप्रक्रिया की अपेक्षा मुख्य तिङन्तप्रक्रिया से संबद्ध है। वेद की भाषा में प्रेरणार्थक अर्थ से रहित –अयं विकरण वाले उन वर्तमानकालिक रूपों में, जिनमें धात्वंश का सबलीकरण (गुण अथवा वृद्धि) नहीं होता, और सामान्यतः उन प्रेरणार्थक रूपों में जिनमें इसका सवलीकरण होता है, परस्पर अत्यधिक स्पष्ट भेद मिलता है। पूर्ववर्ती रूपों के उदाहरण है। चितय– 'ध्यान देना, चेतना', इषय– 'फलना, फूलना', तुरय 'जल्दी आना, वेग से चलना'; द्युतय– 'चमकना', रुचय 'वही', शुभय– 'सुशोभित होना', मृडय– 'कृपा करना', स्पृहय– 'इच्छा करना', पतय– 'इधर-उधर उड़ना'। ह्वयति 'पुकारता है', श्वयति 'फूलता है', घ्– अयति (घयति) 'चूसता है', जैसे वर्तमानकालिक रूप मूलतः इसी गण से संबद्ध हैं जिन्हें

वैयाकरणों ने श्वि–, ह्वे–, धे– धातुरूपों की कल्पना करके प्रथम गण से जोड़ दिया है।

शास्त्रीय भाषा में इस गण में वर्गीकृत धातु अनेक प्रकार के हैं और उनमें नामधातु तथा प्रेरणार्थक उद्भव के विविध रूप सम्मिलित हैं : कामयते 'चाहता है या इच्छा करता है', चोरयति 'चुराता है', छादयति 'ढँकता है', अवलोकयति 'देखता है', दूषयति 'नष्ट करता है', भूषयति 'सजाता है', ताडयति 'पीटता है', आदि।

९. भविष्यत् काल

भविष्यत्कालीन प्रकृत्यंश –स्य– प्रत्यय के जरिये, अथवा संयुक्त –इ– स्वरध्वनि जोड़कर –इष्य– के द्वारा बनाया जाता है। यह –स्य– गुणयुक्त धात्वंश के साथ जोड़ा जाता है, और मुख्यतः इसके रूप ठीक उसी ढंग पर चलते हैं, जैसे कि विकरणयुक्त वर्तमानकालिक रूप : दास्यति 'वह देगा', धोक्ष्यति 'वह दुहेगा', भविष्यति 'वह होगा', करिष्यति 'वह करेगा', आदि। इस तरह के कोई सामान्य नियम नहीं हैं जिनके द्वारा इन दोनों रूपों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया जा सके। ईरानी में –स्य– अन्तवाला एक संवद्ध रूप विद्यमान है (अवेस्ता वख्श्या (vaxšya) 'मैं कहूँगा'), परन्तु –इष्य– से संबद्ध कोई रूप नहीं मिलता। लिथुआनी में ठीक ऐसा ही रूप मिलता है, दुओसिउ (duosiu) 'मैं दूँगा'। दूसरी ओर ऐसा लगता है कि ग्रीक भविष्यत् रूप (देइज़ो (deizō) आदि) केवल सो– (so–) प्रकृत्यंश पर आधृत हैं। संस्कृत भाषा के प्रारंभिक युग में भविष्यत्काल तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम उपलब्ध है, जैसा कि वह अवेस्ता में है, भविष्यत्काल के अर्थ को अधिकतर अभिप्राय प्रकार (subjunctive) के रूप में स्पष्ट किया गया है, परन्तु यह शीघ्र प्रचलित हो गया है। भविष्यत्कालिक रूप वर्त्तमानकालिक प्रकृत्यंश का विशेषीकृत रूप है, और यह –य– अन्तवाले विभिन्न नामिक शब्द रूपों से संबद्ध है। यह भूतकालिक रूपों को ठीक उसी ढंग से बना सकता है, जैसे वर्त्तमानकालिक प्रकृत्यंश सामान्यतः बनाते हैं। यह रूप क्रियातिपत्ति लृङ् के रूप में भी आता है : यद् एवं नावक्ष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत् 'अगर तुम इस तरह न बोले होते तो तुम्हारा मस्तक गिर गया होता'। ऋग्वेद में क्रियातिपत्ति लृङ् (conditional) का केवल एक उदाहरण मिलता है और यह भाषा के किसी भी युग में अत्यधिक प्रचलित नहीं था। सामान्य भविष्यत्काल के अलावा संस्कृत ने एक गौण अथवा सहायक क्रियावाले भविष्यत्कालिक रूप का निर्माण किया है, जो –तर् अन्तवाले कर्त्रर्थ संज्ञा शब्दों पर आधृत है। प्रथम

पुरुष में इस तरह के संज्ञाशब्दों के प्रथमा ए० व०, द्वि० व० और व० व० बिना किसी संयोग के इस गौण भविष्यकाल का काम करते हैं : कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः। उत्तम और मध्यम पुरुष में द्वि० व० व० व० के साथ ए० व० में 'होना' क्रिया के रूप कर्त्रर्थक संज्ञा शब्दों के रूपों के साथ जोड़ दिए जाते हैं : कर्तास्मि, कर्तासि; कर्तास्वः, कर्तास्मः। गौण भविष्यत्काल का कार्य किसी खास समय के साथ संयुक्त भविष्यत्काल को निर्दिष्ट करना है : श्वो व्रष्टा 'कल वर्षा होगी', आदि। भविष्यत्काल का यह रूप सर्वप्रथम ब्राह्मण युग में प्रयुक्त मिलता है, और परवर्ती काल में भी इसका प्रयोग होता रहा है, यद्यपि यह मुख्य भविष्यत्काल की तरह कभी भी प्रचलित नहीं रहा। एक संबद्ध आत्मनेपद भी बनाया गया है, जो अत्यधिक कम प्रयुक्त है, क्योंकि यह जीवन्त भाषा में बहुत ही सीमित काल के लिये ही प्रचलित रहा है। विशेष आत्मनेपद रूप जो उ० पु० और म० पु० के लिये ही प्रयुक्त होते हैं, निम्नलिखित हैं : ए० व० उ० पु० कर्ताहे, म० पु० कर्तासे, द्वि० व० उ० पु० कर्तास्वहे, म० पु० कर्तासाथे, व० व० उ० पु० कर्तास्महे, म० पु० कर्ताध्वे।

१०. सामान्य भूते लुङ्

लुङ् रूप सात विभिन्न कोटियों द्वारा बनाया जाता है, जिन्हें स्पष्टतः दो वर्गों में रखा जाता है, स्- युक्त और स्- रहित। स्- रहित रूपों में धातुलुङ् (अधात्) और अ- लुङ् का रूपरचना की दृष्टि से संबद्ध वर्तमान गणों के लङ् रूपों (अयात्, अतुदत्) से कोई अन्तर नहीं है। इस बात का संकेत किया जा चुका है कि भूतकाल की दो कोटियाँ सामान्यभूत लुङ् और अनद्यतनभूत लङ्, एक अविभेदीकृत प्रक्रिया के विशेषीकरण से उदित हुई हैं, और दोनों में प्रचलित रूपों की आगे भी सत्ता इस बात के सूचक रूप में अवशिष्ट है। इन दोनों के कार्य का अन्तर इस बात पर निर्भर करता है कि कोई संबद्ध वर्तमान रूप है या नहीं। द्वित्वयुक्त लुङ् संबद्ध वर्तमान प्रकृत्यंशों से बहुत अधिक संबद्ध नहीं है और इसने खुद के विशेष विकासों का वहन किया किया है, परन्तु यह मूलतः वर्तमान के अभ्यासजनित रूपों से अलग नहीं हो सकता। दूसरी ओर विभिन्न लुङन्त स्- प्रकृत्यंश ऐसे रूप हैं जो इस प्रयोग तक सीमित हैं, इसमें बहुत कम अपवाद मिलते हैं (अवेस्ता नाइस्मि (nāismi) स्- लुङन्त प्रातिपदिक से विकसित वर्तमान रूप है)।

धातुलुङ्

धातुलुङ् का वैदिक भाषा में प्रभूत प्रतिनिधित्व मिलता है। यहाँ अपश्रुति उससे भिन्न है, जो अनद्यतनभूत में नियत रूप से पायी जाती है और जो प्र० पु०

ब० व० के कतिपय अपवादों को छोड़कर परस्मैपद के सभी पुरुषों में सामान्यतः धात्वंश के गुण रूप में पायी जाती है। धातु का सामान्य दुर्बल रूप आत्मनेपद में मिलता है। मुख्य रूप ये हैं: ए० व० उ० पु० अश्रॆवम्, अगाम्, अकरम्, म० पु० अगाः, अश्रोः, अकः (अकरः के लिये) प्र० पु० अश्रोत्, अस्थात्, अकः (अकर्त् के लिये), तुल० अवेस्ता चोरॅत् (čōrẹṭ), द्वि० व० म० पु० अगातम्, कर्तम्, प्र० पु० अकर्ताम्, अधातान्, ब० व० प्र० पु० अकर्म, अदाम, अहेम, म० पु० अकर्त, अगात, अहेतन, उ० पु० (अ) अक्रन्, अवृन्, (घस्-), अग्मन्, (ब) अधुः, अस्थुः, अक्रमुः।

आत्मनेपदः ए० व० उ० पु० अक्रि, अयुजि, म० पु० अकृथाः, अगथाः, अयुक्थाः, प्र० पु० अकृत, अमंत (मन्), अयुक्त, द्वि० व० उ० पु० गन्वहि (गम्-), ब० व० उ० पु० अगन्महि, अमन्महि (धातु के सबल रूप वाला), अयुज्महि, असृमहि, म० पु० अच्चिध्वम्, अयुग्ध्वम्, प्र० पु० (अ) अक्रत, अग्मत, (ब) अदृश्रन्, अबुध्रन्, (स) अदृश्रम्, अबुध्रम्।

भू धातु का मूल लुङ् रूप (जो कि केवल परस्मैपद में ही चलता है) सर्वत्र नियत रूप से दुर्बल कोटि का वहन करता है: अभूवम्, अभूः, अभूत, ···अभूत, अभूवन्।

कतिपय धातुलुङ् इस तरह के संबद्ध रूपों जैसे कि संस्कृत अस्थात्, ग्रीक ऍस्ते (éstē); अगात्, ग्रीक ऍबे (ébē); अगमम्, अगन्, अगत, आदि, तुल० आर्मीनियन ऍक्न् (ekn) प्र० पु० ए० व०, ग्रीक बतेन् (bátēn) प्र० पु० द्वि० व०; प्र० पु० ए० व० आत्मनेपद अक्षत, ग्रीक ऍक्ततो (éktato); लोट् रूप क्षिधि, 'तुम नष्ट करो', तुल० ग्रीक ऍफ्थितो (ephthito), फ्थिमॅनोस् (phthimenos) के द्वारा भारतयूरोपीय के रूप में प्रमाणित किए गए हैं। धातुलुङ् का अनियत रूप भू- ग्रीक में भी मिलता है, प्र० पु० ए० व० ऍफू (éphū), आदि। कभी-कभी धातुलुङ् के रूप में किसी एक भाषा में जो रूप मिलता है वही अन्य भाषा में अनद्यतनभूत के रूप में मिलता है, यह इस बात का संकेत करता है कि दो कालों के बीच में इन मूल प्रकृत्यंशों का विभाजन भारतयूरोपीय काल में पूर्णतः नियत नहीं था : संस्कृत अहत प्र० पु० ए० व० आत्मनेपद, अनद्यतनभूत, तुल० ग्रीक अपॅफतो (ápephato); अपॅथनॅन् (apéthanen) (लुङ्); क्षेति 'रहता है', ग्रीक क्तिमॅनोस् (ktimenos) (लुङ्- प्रकृत्यंश); इसके विपरीत संस्कृत अवृत, लुङ्, लैटिन वुल्त् (vult) वर्तमान से तुल०।

यहाँ उपलब्ध दीर्घ स्वरवाले धातुओं के ग्रीक लुङ् रूप परस्मैपद के ब० व० में धातु के दुर्बल रूप का संकेत करते हैं (ऍदोमॅन् (édomen), ऍथॅमॅन्

(éthemen)) जो कि संस्कृत के विपरीत है (अदा॑म, अधा॑म), परन्तु चूँकि यह रूप धातुज अपश्रुति के सामान्य स्वरूप का अनुकरण करता है, यह निस्संदेह अधिक मौलिक है। आत्मनेपद में उपलब्ध दुर्बल रूप (ἔδοτο (édoto), ἔθετο (étheto)) संस्कृत प्रयोग के आधार पर हैं, परन्तु आकारान्त धातुओं के विषय में संस्कृत में अपनी सामान्य प्रक्रिया के आधार पर आत्मनेपद रूपों में एक संयुक्त स्वर –इ– प्रयुक्त है जो रूपप्रक्रिया की सहायता करता है। अ–ध्–इ–थास्, अधित; अदिथाः, अदित ; अस्थि॑थाः, अस्थित, अस्थिरन्। कुछ परिस्थितियों में यह संयुक्त स्वर ई– के रूप में मिलता है (तुल० वर्तमान ब्रव्–ई–ति तथा अन्यत्र –ई–) : अ–ध्–ई–महि, अदीमहि (दा– 'काटना'), अ–श्–ई–त (शा– 'तेज करना')। इस तरह के धातुओं के बाद इस परिस्थिति में सबल रूपों के बाद, धातुलुङ् के लिङन्त– (परस्मैपद) रूपों में, ऐसे एक –इ– की कल्पना करना भी आवश्यक मालूम पड़ता है, : धेयाम्, देयाम्, स्थेयाम्, आदि (स्त ?–इ–य) (stah–i–yā–), आदि), अन्यथा धातु क्षा से युक्त मिलना चाहिए (जैसे वर्तमान के यायाम्, आदि)।

ध्वनिशास्त्रीय प्रवृत्तियों ने, जिनसे प्राचीनतम भारतीय आर्य में पदान्त व्यंजनसंघात का समाहार हुआ है, धातुलुङ् के परस्मैपद प्र० पु० और म० पु० को अत्यधिक प्रभावित किया है, जो ऐसे रूपों को उत्पन्न करती हैं जो व्याकरणिक दृष्टि से निस्संदिग्ध और स्पष्टार्थक नहीं रहे : उदा० अकर्, अथवा उपयुक्त संधियों में, अकः, आदि; –नश्+स् और नश्+त् के लिये केवल आनट्; अघस् म० पु० और प्र० पु०; स्कन्द्–त्, के लिये स्कन्, आदि। इसके अलावा जब धातु स्पर्शध्वनि से अन्त होता है और विभक्तिचिह्न स्पर्श ध्वनि से शुरू होता है (अभक्त, आदि), केवल उस रूप के आधार पर धातुलुङ् और स्– लुङ् के बीच के अन्तर को बताना संभव नहीं है, क्योंकि इस परिस्थिति में स्– का लोप हो जाता है। प्राग्वैदिक काल में धातुलुङ् एक तीव्र लोप-प्रक्रिया का वहन करता है, और इस बात में बहुत कम संदेह है कि यह ध्वनिशास्त्रीय अनियतता और फलस्वरूप अनिश्चितता इस विकास के लिये अत्यधिक उत्तरदायी है। शास्त्रीय भाषा में धातुलुङ् का जो कुछ अवशेष बचा है, वह कतिपय आकारान्त धातुओं (अदा॑त्, आदि) और भूधातु (अभू॑त्) का परस्मैपदी विभक्तिचिह्न है।

साथ ही साथ धातुलुङ् के आत्मनेपद म० पु० और उ० पु० के कतिपय रूप ऐसे भी हैं (जहाँ वैयाकरणों की दृष्टि से धातु ह्रस्व स्वरध्वनि वाले विभक्तिचिह्न को धारण करता है) जो भाषा के परवर्ती इतिहास में नियम के विरुद्ध स्– लुङ् के साथ जोड़ दिए गए हैं, उदा० हमें उ० पु० ए० व० अवृ॑षि

और प्र० पु० ब० व० अवृपत के साथ ठीक उसी रूप रचना के अंश के रूप में म० पु० ए० व० अवृथाः और प्र० पु० ए० व० अवृत के रूप मिलते हैं। ठीक इसी तरह –इ– स्वरध्वनि से युक्त दा–, धा–, स्था– धातुओं से बने ऊपर उदाहृत आत्मनेपद रूप ए० व० उ० पु० अ–स्थ्–इष्–इ (अस्थिषि), म० पु० अ– स्थ्– इ्–थास् (अस्थिथाः), म० पु० अस्थित जैसी कोटियाँ बनाने के लिये –इष्– लुङ् के साथ संयुक्त कर दिए गए है।

अ– लुङ्

अ– लुङ्, रूप और विभक्त्यंश की दृष्टि से स्वराघातयुक्त अ– वर्ग वाले अनद्यनतन लङ् की तरह पाया जाता है : असिंचम्, असिंचः, असिंचत्, आदि, तुल० अतुंदम्, अतुंदः, अतुंदत्, आदि। तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम उदाहरणों में जहाँ आगमरहित लुङ् रूप स्वराघात का वहन करते हैं, प्रकृत्यंशों में अपश्रुति और स्वराघात में भी समानता पायी जाती है : ए० व० उ० पु० रुहम्, म० पु० विदः, प्र० पु० धृषत्, विदत्, ब० व० प्र० पु० ध्वसन्, विदन्, तृपन्; कृदन्त रूप तृपन्त्–, धृषन्त्–, शुचन्त्–, आदि, आत्मनेपद, शुचमान–, आदि में नियत रूप से।

अन्य भाषाओं में उपलब्ध समानताओं के कारण इस तरह के बहुत से रूपों का भा० यू० काल प्रमाणित होता है : अविदत्, ग्रीक इदोन् (ídon), तुमन्त रूप इदेइन् (idein), आरमीनियन एगित् (egit); दृशन्, ग्रीक एद्रकोन् (édrakon); अरिचत्, तुल० ग्रीक एलिपोन (élipon), आरमीनियन एलिक्‘ (elik‘); बुधन्त, तुल० ग्रीक एपुथोन्तो (epúthonto)। साथ ही साथ कभी-कभी अनद्यतनभूत अथवा लुङ् के साथ किसी रूप को जोड़ने में विभिन्न भाषाओं में मतभेद पाया जाता है : संस्कृत अदंशत्, अनद्यतनभूत : ग्रीक एदकोन् (édakon) लुङ्; संस्कृत अभुंजत् अनद्यतनभूतः ग्रीक एफुगे (éphuge) लुङ्। ग्रीक में प्रत्ययांश पर स्वराघात कृदन्त और तुमन्त रूपों में (लिपोन् (lipón), लिपेइन् (lipeîn)) सुरक्षित है।

इस नियत कोटि के अतिरिक्त संस्कृत में अ– लुङ् के बहुत से ऐसे रूप हैं जो स्वरूप की दृष्टि षष्ठगण की अपेक्षा प्रथमगण (भ्वादि) के अनद्यतन भूत रूपों के समान हैं, क्योंकि ये धात्वंश पर गुण का वहन करते हैं : उदा० अशकम, असनम, असरम्, अकरः, अगमत्, अतनत्, असदत्। दो व्यंजनों और विकरणयुक्त स्वरध्वनि वाले धातुओं के लिये यह रूप अ– लुङ् का एक सामान्य रूप है। आगे भी जहाँ स्वराघात विद्यमान है, ये रूप प्रथम वर्तमान गण के प्रकृत्यंशों की तरह स्वराघात का वहन करते हैं। इसके उदाहरण

करः, सनत्, सरत्, दर्शम् (=ग्रीक वर्त्तमान प्रातिपदिक देर्कोमइ (dérkomai), गमन्, सदतम् हैं- और कृदन्त रूप सदन्त्-, सनन्त् (ये रूप कुछ हद से अधिक नियत कोटि को अभिभूत भी करते हैं, जिससे कभी कभी रुहत् की तरह स्वराघात युक्त रूप विद्यमान हैं) हैं।

यहाँ गिनाये गये बहुत से प्रकृत्यंश सम्भवतः धातुलुङ् रूपों के विकरणीकृत रूप हैं और ये प्राचीन रूप नहीं हैं। उदाहरणार्थ अ- लुङ् अगमत् भाषा के इतिहास में धातुलुङ् अगन् की अपेक्षा परवर्ती जान पड़ता है। दूसरी ओर कुछ रूप स्पष्टतः प्राचीन हैं (उदा० असदत्), और चूँकि यह रूप ग्रीक में मिलता है (एगनेतो (egéneto), ग्रीक गनेस्थइ (gēnesthai)) अतः भारत-यूरोपीय से सम्बद्ध किया जाना चाहिए।

अ- लुङ् ने ऐसे कई अभ्यासयुक्त रूपों को अपना लिया है जो मूलतः इससे सम्बद्ध नहीं थे, उदाहरण के लिये अपप्तत् (पत्- 'गिरना'), अवोचत् (अवव्च्- के लिये, वच्-'बोलना') और जिसके साथ परोक्षभूत में यह अभ्यास का प्रतिनिधि बन जाता है, नेशत् (नश्- 'नष्ट होना')।

द्वित्वयुक्त लुङ् रूप

परस्मैपद ए० व० उ० पु० अजीजनम्, म० पु० अजीजनः, प्र० पु० अजीजनत्...ब० व० प्र० पु० अजीजनन्। आत्मनेपद, ए० व० उ० पु० अजीजने, म० पु० अजीजनथाः प्र० पु० अजीजनत... ब० व० प्र० पु० अजीजनन्त। इसकी विशिष्ट द्वित्वकारक स्वरध्वनि ई- है परन्तु द्वित्व निम्नलिखित परिवर्तनों का विषय है: (१) यदि धातु दो व्यंजनों से शुरू होता है तो द्वित्व में इ- हो जाता है: अचिक्षिपत्, अपिस्पृशत्। (२) यदि धातु उ स्वरवाला है तो द्वित्व वाला स्वर वैसी ही परिस्थितियों में ऊ अथवा उ होता है: अबूबुधत्, अचुक्रुदत्। (३) यदि धातु दीर्घ अक्षर वाला है तो दो प्रक्रियायें पायी जाती हैं: (अ) धातु में कोई परिवर्तन नहीं होता और द्वित्व में ह्रस्व स्वर होता है: अदिदीक्षम्, अबुभूषम्; जहाँ प्रकृत्यंशगत स्वरध्वनि अ के बाद दो व्यंजन अथवा दीर्घ आ हो तो द्वित्व वाला स्वर अ होता है: अददक्षम्, अदधावम्; (ब) इस लुङ् में अपेक्षित लय को सुरक्षित रखने के लिये दीर्घ अक्षर वाले धातु दुर्बल किए जा सकते हैं: अवीवशम् (वाश्-) अचिक्रदत् (क्रन्द्-)। यह बात इस सिद्धान्त के अनुरूप है कि धातु या तो गुणयुक्त या दुर्बल रूप में पाए जाते हैं: अजीजनत् परन्तु अवीवृधत्। -आप्- अन्तवाले णिजन्त प्रकृत्यंश बनाने वाले धातु द्वित्वयुक्त लुङ् रूप में -इप्- का प्रयोग करते हैं: अतिष्ठिपत् (स्थापयति)। (४) स्वर ध्वनि से आरंभ होने

वाले धातु या तो समस्त धातु की आवृत्ति कर देते हैं– (आम्नत्) अथवा, बाद में इ वाले पदान्त हल् की पुनरावृत्ति कर देते हैं (अर्दिपत्)।

वैदिक भाषा में ऐसे बहुत से विकरणहीन रूप हैं जो कि द्वित्वयुक्त लुङ् के साथ संयुक्त हैं : अजीगः, अशिश्नत्, दीधः, आदि। ये रूप द्वित्वयुक्त लुङ् की एक ऐसी वैकल्पिक कोटि का प्रतिनिधित्व करते हैं जो पहले विकरणयुक्त कोटि की बहुतायत के कारण छोड़ दी गयी थी।

द्वित्वयुक्त लुङ् रूप लुङ् के अन्य रूपों से बाहर स्थित है, क्योंकि यह न केवल धातु से संयुक्त है अपितु णिजन्त रूप से भी संबद्ध है; अजीजनत्, जनयति का लुङ् रूप है, अवीवृधत्, वर्धयति का और इसी तरह और भी। इसलिये ऐसा लुङ् रूप उन सभी धातुओं से बनाया जाता है जो अपने सामान्य लुङ् रूपों के अलावा नियत रूपों का वहन करता है। यह व्यवस्था आवश्यक रूप से भारतीय-आर्य का विकास है, यद्यपि इसके मूल भारत-ईरानी में भी पीछे जाते हैं। अन्य भा० यू० भाषाओं में ऐसी कोई बात नहीं है जिनकी ठीक ठीक तुलना की जा सके। स्वरूप की दृष्टि से द्वित्व वाले लुङ् का प्रकृत्यंश द्वित्वयुक्त वर्तमान रूप (बिभर्ति) से संबद्ध है, और बहुत नजदीक से उसी की थिमैटिक विविधता से संबद्ध है (तिष्ठति; ग्रीक गिग्नोमइ (gignomai); लैटिन गिग्नित् (gignit), सिस्तित् (sistit)) परन्तु यह स्वयं का विकसित रूप है, उदाहरणार्थ कतिपय रूपों में धातु के गुण और द्वित्व का दीर्घ होना (अजीजनत्)। द्वित्व की इस कोटि से युक्त कुछ संबद्ध प्रातिपदिकों में देखा जाने वाला अकर्मक अर्थ (लैटिन गिग्नित (gignit), आदि प्रचलित हो गया है और परिणामतः वह पूर्ण प्रेरणार्थ में विकसित हो गया है।

इन रूपरचना के इतिहास के बारे में संबद्ध ईरानी रूप कुछ दिलचस्प जानकारी प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि इसमें ठीक उसी ढंग पर बने वर्तमान प्रकृत्यंश भी हैं : ज़ीज़नेन्ति (zizanənti) प्र० पु० ब० व०, आदि (विकरणहीन ज़ीज़न्ति (zizənti) प्र० पु० ए० व०, तुल० संस्कृत रूप अजीगः)। इस से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूलतः यह ऐसे प्रकृत्यंश का रूप था जो वर्तमान प्रक्रिया के विभिन्न शब्द रूपों के वज़न पर वर्तमान और भूत दोनों तरह के रूप बनाता था। यह देखा गया है कि यह लुङ् कुछ भूतकालिक शब्दरूपों के विशेषीकरण के द्वारा विकसित हुआ है और मूलतः यही बात है। पहले पहल हम इन दो शब्दयुग्मों की कल्पना कर सकते हैं *जीजनति : अजीजनत् और जनयति : अजनयत्, जो निश्चित रूप से उसी अर्थ का वहन करते हैं। अग्रिम विकास में जनयति का प्रयोग मोटे तौर पर वर्तमान में हो चला और मूलतः सामान्यभूत (अपूर्णभूत) रूप

अजीजनत्, अलग पड़ जाने पर लुङ् प्रक्रिया में एक पूर्ण रूप को प्राप्त करता है।

शास्त्रीय संस्कृत में कुछ धातु ऐसे भी हैं जो अपने मूल प्रारंभिक विभक्ति रूप के एक हिस्से के रूप में इस लुङ् का ग्रहण करते हैं, उदा० अशिश्रियत् और अदुद्रुवत् जो श्रि– 'शरण लेना' और द्रु– 'दौड़ना' से विकसित हुए हैं। वेद में और भी उदाहरण हैं (उदा० अचिक्रदत्, जो क्रन्द् 'चीखना' से है) और कुछ विकरणविहीन रूप भी हैं जो बिलकुल द्वित्व वाले वर्ग के अनद्यतनभूत की तरह बनाए जाते हैं : अशिश्रेत्, अदुद्रोत्। अ– लुङ् के साथ संयुक्त कतिपय द्वित्वयुक्त प्रातिपदिकों का जिक्र ऊपर किया जा चुका है। ये रूप उस भा० यू० प्रयोग को चलाए हुए हैं जो अपने प्रारंभिक रूप में द्वित्व वाले लुङ् रूपों का वहन करता है और किन्हीं ऐसे रूपों का वहन नहीं करता जो निश्चित रूप से णिजन्त हैं : तुल० ग्रीक एपेफ्नान् (épephnon), एक्रेक्लेतो (ekékleto), आदि।

स्– लुङ्

परस्मैपदी

एकवचन,	उ० पु० अनैषम्,	म० पु० अनैषीः,	प्र० पु० अनैषीत्,
द्विवचन,	उ० पु० अनैष्व,	म० पु० अनैष्टम्,	प्र० पु० अनैष्टाम्
बहुवचन,	उ० पु० अनैष्म,	म० पु० अनैष्ट,	प्र० पु० अनैषुः

आत्मनेपदी

एकवचन,	उ० पु० अनेषि,	म० पु० अनेष्ठाः,	प्र० पु० अनेष्ट,
द्विवचन,	उ० पु० अनेष्वहि,	म० पु० अनेषाथाम्,	प्र० पु० अनेषाताम्
बहुवचन,	उ० पु० अनेष्महि,	म० पु० अनेढ्वम्,	प्र० पु० अनेषत।

स्– लुङ् प्रकृत्यंश अन्य धातुज प्रकृत्यंशों से इस बात में भिन्न है कि इसमें द्विवचन और बहुवचन में, साथ ही एकवचन में भी परस्मैपदी रूपों में सर्वत्र वृद्धि कोटि पायी जाती है। आत्मनेपदी रूपों में मध्यग इ, उ, ऋ स्वरध्वनियाँ दुर्बल कोटि में मिलती हैं (अच्छित्सि, अरुत्सि, असृक्षि); साथ ही पदान्त ऋ वाले धातुओं में (अकृषि); और पदान्त नासिक्य ध्वनि से युक्त कतिपय धातुओं में वेद में यह प्रवृत्ति है, उदा० गम्– से अगस्महि और मन्– विधिलिङ् उत्तम पु० एकवचन मसीय (तुल०अवे० मॉह्मइदी (mə̄hmaidī) । अन्यत्र गुण कोटि है। अभिप्राय प्रकार (subjunctive) के रूप परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों में गुणकोटि का ग्रहण करते हैं (स्तोषानि, आदि) और यह कोटि निर्बन्ध प्रकार (injunctive) के कतिपय रूपों तक विस्तारित कर दी गयी है (जेष्म)।

स्पर्श व्यंजनध्वनियों से आरम्भ होने वाले विभक्तिचिह्नों से पूर्व, जब कि धातु के अन्त में स्पर्श व्यंजन ध्वनि है, लुङ् का यह विकरण 'स्' सामान्य ध्वन्यात्मक नियम के अनुसार लुप्त कर दिया जाता है, अरौध्- स्- त् का विकास अरौद्ध, आदि होता है। यह विकास इस लुङ् और शुद्ध धातुरूप लुङ् के बीच कुछ गड़बड़ी पैदा करता है, किन्तु वैदिकोत्तर युग में इसे कतिपय धातुओं के अतिरिक्त अन्यत्र शुद्ध धातुरूप लुङ् के अप्रयोग के द्वारा अधिकांशतः हटा दिया गया है। ध्वन्यात्मक लोप ने परस्मैपदी मध्यम पुरुष और प्रथम पु० एकवचन के रूपों को भी अत्यधिक प्रभावित किया है जिसके फलस्वरूप कालबोधक चिह्न स् और विभक्तिचिह्न दोनों प्रायः लुप्त हो जाते हैं। अभार- स्- त्- और अभार्- स्- स्- दोनों के लिये अभाः (अभार्), इसी तरह अरैक्, अश्वैत् आदि। वैदिकोत्तर काल में ये असुविधाजनक और अस्पष्ट रूप छोड़ दिए गए हैं और इनका स्थान समायोजक स्वर स्वनि -ई- का ग्रहण करने वाले नये रूपों ने ले लिया है : अनैषीत्, अच्छैत्सीत्, आदि।

स्- लुङ् और स्- विकरण वाले लुङ् के अन्य रूप अन्य प्रकार की लुङ् कोटियों से इसलिये स्पष्टतः भिन्न किये जाते हैं कि इस तरह कोई वर्तमानकालिक-अनद्यतनभूते लङ् प्रकृत्यंश नहीं बनाये जाते। वैसे वेद में इस प्रकार बनाये गये कतिपय छिट-फुट वर्तमानकालिक रूप निश्चित मिलते हैं (स्तुषे, हिषे, कृषे) साथ ही कुछ ऐसे स् तत्व से युक्त विचित्र रूप भी हैं, जिन्हें स्- लुङ् प्रकृत्यंश से नहीं जोड़ा जा सकता (i अर्चसे, ऋञ्जसे, ii गृणीषे, पुनीषे), किन्तु ये आपाततः मनमाने प्रयोग जान पड़ते हैं, जो प्राचीन प्रक्रिया के बचे खुचे अवशेषों के अतिरिक्त अधिक आगे विकसित न हो पाये।

स्- लुङ् ग्रीक (ऍज़ेउज़ ézeuza, ऍदेइज़ édeiza, आदि) और स्लावी (वेसु vĕsŭ, श्लूछु sluchŭ आदि) में मिलता है। लैटिन में स्- लुङ् रूप पूर्णभूत के रूपों के साथ एक ही काल की रचना में घुलमिल गये हैं (पूर्णभूत दीक्सी (dīxī) दूक्सी (dūxī), आदि)। आयरिश में स्- लुङ् के निर्बन्ध प्रकार तथा अभिप्राय प्रकार के (स्- वाले अभिप्राय) रूप सुरक्षित हैं। जर्मन शाखा में इसका कोई चिह्न नहीं मिलता। लैटिन और स्लावी के द्वारा मूलधातु की स्वरध्वनि ह्रस्व ऍ की वृद्धिकोटि प्रमाणित है (लैटिन वेक्सी (vēxī), प्रा० स्ला० वेसु vĕsŭ) संस्कृत वह्- से अवाक्षम्) : ध्वनियुग्मांत धातुओं के लिये कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं है। हित्ती में अन्य प्रकार के लुङ् की अपेक्षा कोई स्- लुङ् नहीं है किन्तु मध्यमपुरुष तथा प्रथम पुरुष एकवचन में कतिपय ऐसे भूतकालिक रूप हैं जिनमें पदान्त श् (š) है : मध्यम पुरुष एकवचन द्- अ- अश् 'तुमने लिया', तर्न्- अ- श् 'तुमने धारण किया', द्- इश् 'तुमने रखा', प-इश् 'तुमने दिया', प्रथम

पुरुष एकवचन, द्-अ-अश् 'उसने लिया', द्-अ-इश् 'उसने रखा', अग्-ग-अश् 'वह मरा', आदि। इन रूपों में स् विकरण के द्वारा विस्तारित प्रकृत्यंश है और ये किसी भी विशिष्ट पुरुषवाचक विभक्तिचिह्न का वहन नहीं करते, इनके अतिरिक्त इस तरह के रूप भी हैं जिनके साथ गौण रूप में पुरुषवाचक विभक्तिचिह्न जोड़े गये हैं : मध्यम पुरुष एकवचन में द्- इश् के साथ-साथ द्-इश्-त, प्रथम पुरुष एकवचन में न-इ-इश् के साथ-साथ न-इश्-त 'ले गया'। इन रूपों की तुलना अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओं के स्- लुङ् से की जाती है, किन्तु यह असम्भव जान पड़ता है कि ये रूप केवल परिपूर्णतः विकसित भारत-यूरोपीय स्- लुङ् प्रक्रिया के अवशेष हैं। पहले तो हम इस बात को मान लेने का तर्क देख चुके हैं कि सामान्यतः लुङ् का उदय अवशिष्ट भूतकाल के विशेषीकरण से हुआ है और इस दृष्टि से हित्ती को अधिक प्राचीन वस्तुस्थिति का प्रतिनिधित्व करना चाहिये। साथ ही इस बात में हित्ती तथा तोखारी दोनों में कुछ समानता है क्योंकि परवर्ती भाषा में भी प्रथम पुरुष एकवचन में स्- प्रकृत्यंश के कतिपय भूतकालिक रूप हैं : अ० प्रकस् (präkäs), ब० प्रेक्स (preksa) 'उसने पूछा', और यह समानता आकस्मिक नहीं जान पड़ती। इन बातों को ध्यान में रखते हुए हम भारत-यूरोपीय स्- लुङ् को स्- विकरण की सम्पूर्ण संघटना के विस्तार पर आधृत पश्च-हित्ती (Post-Hittite) रूप विश्लेषित कर सकते हैं जो मूलतः धातुओं के एक वर्ग में कतिपय पुरुषों (खास तौर पर प्रथम पुरुष एकवचन) के भूतकाल तक सीमित था।

इष्-लुङ्

परस्मैपदी

एकवचन, उ० पु० अपाविषम्, म० पु० अपावीः, प्र० पु० अपावीत्
द्वि० वचन उ० पु० अपाविष्व, ………………………………
बहुवचन……………………………………प्र० पु० अपाविषुः;

आत्मनेपदी

एकवचन उ० पु० अपविषि, आदि……बहुवचन प्र० पु० अपविषत।

यह लुङ् परस्मैपद में स्वर ध्वनि से युक्त विभक्तिचिह्न होने पर धातु के वृद्धि रूप का वहन करता है (अपाविषम्, अतारिषम्, अशायिषम्) और मध्यग इ, उ, ऋ होने पर गुण रूप का (अरोचिषम्, आदि)। स्वरमध्यग अ वाले धातुओं से बने दोनों कोटि के रूप मिलते हैं : अकानिषम्, अवधीत्। आत्मनेपद में धातु सामान्यतः गुणरूप मिलता है, किन्तु कहीं-कहीं दुर्बल कोटि

के रूप भी दिखायी पड़ते हैं; रोचिषीय, ग्मिषीय, और इषिषीमहि के साथ-साथ नुदिष्ठाः, (विधि प्रकार) रुचिषीय ।

जिस प्रकार स्‌– लुङ् उन कतिपय स्‌– प्रकृत्यंशों के आधार पर बनाया जाता है जो समापिका क्रिया के रूपों का कार्य करते हैं, उसी प्रकार इष्– लुङ् संयुक्त विकरण –इ –स् वाले प्रकृत्यंश के आधार पर बनाया जाता है, तुल० रोचिष्– 'प्रकाश' के साथ-साथ अरोचिष्ट । ईरानी में इस प्रकार के बहुत कम रूपों (ख़श्नॅवीश xšnəvīša 'मैं संतुष्ट होऊंगा', चॅवीशी čəvīšī 'मैं अपेक्षा करता हूँ') से यह निर्णय करना ठीक होगा कि इन रूपों की प्रवृत्ति अधिक प्रचलित नहीं थी, किंतु भारत-ईरानी में यह प्रवृत्ति अधिक सर्वसामान्य हो गयी जो उस प्रवृत्ति के अनुसार थी जो क्रियाओं के सेट् रूपों में सर्वत्र दिखायी देती है । कतिपय भिन्न किन्तु घनिष्ठतया संबद्ध रूप इष्– लुङ् के साथ जुड़ गये हैं । (१) –ईष्– विकरण (ह्रस्व इ वाले –इष्– के प्रतिकूल) ग्रभ्- 'पकड़ लेना' धातु के साथ प्रयुक्त होता है : अग्रभीष्म । (२) स् रहित केवल –ई– वाले रूप (तुल० वर्तमानकालिक प्रक्रिया के अब्रवीत्, आदि) मिलते हैं : अग्रभीम्, अग्रभीन्, अगृहीताम्, अगृहीथाः । इष्– लुङ् का सामान्य मध्यम पुरुष प्रथम पुरुष एकवचन इसी रूप से अपना लिया गया है, क्योंकि –इस्– स्– और –इस् –त् से क्रमशः –ईस् (ईः) और –ईत् का विकास ध्वन्यात्मक दृष्टि से नहीं हो सकता । (३) ह्रस्व –इ– वाले कतिपय भूतकालिक प्रकृत्यंश (वमिति कोटि के वर्तमानकालिक रूपों से तुलना कीजिये) इस लुङ् में समाविष्ट कर दिये गये हैं : अतारिम, अवादिरन्, वाधिथाः, वधित, आदि ।

ऋग्वेद का अकेला अस्पष्ट रूप वनुषन्त मनोरंजक है, क्योंकि यह ठीक उसी तरह –उष्– प्रकृत्यंश के आधार पर बना है, जैसे यह लुङ् –इष्– प्रकृत्यंश के आधार पर बना है, किन्तु –इष्– प्रकृत्यंश की तरह यह तिङंत प्रक्रिया के रूप निर्माण में विकास न पा सका ।

आकारांत धातुओं से बने लुङ् रूप स्थेषम्, स्थेषुः, देष्म, ज्ञेषम्, धेषम्, आदि को नियमित इष् लुङ् रूप मजे से स्पष्ट किया जा सकता है (स्त ? –इस्–, staH –is–, आदि) । ऊपर उद्धृत उदाहरणों के दुर्बल कोटि वाले समानांतर आत्मनेपदी रूप ये हैं : अस्थ्– इष्– इ (अस्थिषि), अस्थिषत, आदि । इन्हीं के साथ कतिपय स्– रहित रूपों को जोड़ा जा सकता है, जिनका संकेत शुद्ध धातु रूप लुङ् के संबंध में किया जा चुका है : अस्थ्-इ–त (अस्थित), आदि ।

सिष्–लुङ्

यह लुङ् जिसके रूप ठीक पूर्ववर्ती रूपों की तरह चलते हैं, (अयासिषम्, अयासीः, अयासीत्, आदि) उपर्युक्त दोनों विकरणों के मिश्रण से उदित

हुआ है। यह शुद्ध भारतीय आर्य नवीनीकरण है जो ईरानी में अज्ञात है और ऋग्वेद में केवल दो धातुओं से बने रूपों के द्वारा उदाहृत किया जा सकता है (गा– 'गाना', या 'जाना')। कुछ और उदाहरण परवर्ती काल में मिलते हैं, किंतु यह अत्यधिक प्रचलित नहीं हैं। शास्त्रीय संस्कृत में इसे केवल परस्मैपद में आकारांत धातुओं और नम्– 'झुकना', यम्– 'निग्रह करना', रम्– 'संतुष्ट होना' से बनाने की छूट है।

स–लुङ्

स– लुङ् सामान्य थिमैटिक रूप और दुर्बल प्रकृत्यंश का वहन करता है। आगमरहित रूपों में उदात्त स्वर प्रत्ययांश पर (धुक्षन्) पाया जाता है जो अपश्रुति नियम के अनुसार है। यह लुङ् केवल मध्यग स्वरध्वनि इ, उ, ऋ वाले धातुओं से और उन धातुओं से जिनमें पदांत व्यंजन ध्वनि विकरण के स् के साथ मिलकर –क्ष्– बनाती है, बनाया जाता है: अदिक्षत्, अमृक्षत्, अमृक्षन्त, अवृक्षम्, अधुक्षत् परवर्ती अधुक्षत्, जो क्रमशः दिश्– 'संकेत करना', मृश्– 'छूना', मृज्– 'साफ करना' वृह्– 'चीरना', दुह्– 'दुहना' से बने हैं। यह रूप ऋग्वेद में बहुत कम उपलब्ध हैं (उदाहरण केवल सात धातुओं से बने रूपों के हैं) जो यह संकेत कर सकता है कि यह नवीनीकरण है, यद्यपि ईरानी (प्रा० फा० नियपिशम् niyapišam 'मैंने लिखा') से यह कम से कम भारत-ईरानी काल का जान पड़ता है। इससे ठीक तुलनीय कोई भी रूप अन्य भा० यू० भाषाओं में नहीं मिलता।

–इ विकरण से युक्त कर्मवाच्य लुङ्

–इ विकरण से युक्त एक कर्मवाच्य लुङ् रूप केवल प्रथम पुरुष एकवचन में प्रयुक्त मिलता है, जो उपर्युक्त लुङ् प्रकृत्यंशों से सर्वथा स्वतंत्र है: अज्ञायि 'जाना गया', अदर्शि 'देखा गया', आदि। आगमरहित रूप (जो निर्देश प्रकार और निर्बंध प्रकार दोनों में मिलते हैं) सदा धात्वक्षर (root syllable) पर उदात्तस्वर का वहन करता है: श्रावि, पादि, आदि। मध्यग इ, उ, ऋ स्वरध्वनि वाले धातु गुणकोटि में मिलते हैं (अचेति, अबोधि, असर्जि); अन्यत्र सामान्यतः वृद्धि रूप मिलता है (अगामि, अकारि, अस्तारि, अश्रायि), गुण रूप बहुत कम (अजनि, अवधि)। यह रूप ऋग्वेद में लगभग ४० धातुओं से बनाया जाता है, इसके परवर्ती युग में अन्य धातु जोड़ दिये गये हैं। यह ईरानी में भी मिलता है (अवे० स्रावी (srāvī) प्रा० फा० अदारिय् (adāriy) = संस्कृत श्रावि, अधारि), किन्तु भा० यू० में अन्यत्र नहीं।

आगम तत्व की ओर विशेष ध्यान न देते हुए जो भा० यू० में भूतकालिक

रूपों के साथ गौण तथा वैकल्पिक तत्व था, यह स्पष्ट है कि ये रूप विना किसी विभक्तिचिह्न से युक्त प्राचीन इकारांत नपुंसक प्रातिपदिकों से अधिक नहीं हैं, जिन्हें तिङन्त प्रक्रिया में अपना लिया गया है।

११. परोक्षे लिट्

परस्मैपदी एकवचन उत्तम पुरुष चक्रर, चकार, मध्यम पुरुष चकर्थ, प्रथम पुरुष चकार ; द्विवचन उत्तम पुरुष चकृव, मध्यम पुरुष चक्रथुः, प्रथम पुरुष चक्रतुः ; बहुवचन उत्तम पुरुष चकृम, मध्यम पुरुष चक्र, प्रथम पुरुष चक्रुः।

आत्मनेपदी एकवचन उत्तम पुरुष चक्रे, मध्यम पुरुष चकृषे, प्रथम पुरुष चक्रे, द्विवचन उत्तम पुरुष चकृवहे, मध्यम पुरुष चक्राथे, प्रथम पुरुष चक्राते ; बहुवचन उत्तम पुरुष चकृमहे, मध्यम पुरुष चकृध्वे, प्रथम पुरुष चक्रिरे।

परोक्षे लिट् धातु रूप प्रकृत्यंश से बनाया जाता है, किन्तु इसकी विशेषता (१) अभ्यास या द्वित्व और (२) तिङ् चिह्नों की विशिष्ट सारिणी है। द्वित्व के सामान्य सिद्धान्तों का विवरण विस्तार से दिया जा चुका है (§ ५)। वहाँ वर्णित कोटियों में से एक जो परोक्षे लिट् के लिये प्रयुक्त की जाती है वह है, जिसमें अभ्यासजनित अक्षर में अ स्वरध्वनि (भारत-यूरोपीय ए) प्रयुक्त होती है जिसका अपवाद यह है कि संस्कृत में (ग्रीक आदि के प्रतिकूल) इ तथा उ स्वरध्वनि वाले धातुओं के पूर्व इ तथा उ स्वरध्वनि अपनायी जाती है (ततान : पिपेष, बुभोज)। उपर्युक्त अभ्यासगत विशेषताओं के अतिरिक्त लिट् के अभ्यास-जनित रूप के विशिष्ट लक्षण निम्नलिखित हैं : (१) वेद में धातुओं का एक वर्ग वह है जो दीर्घ स्वरध्वनि से युक्त द्वित्व का वहन करता है : दाधार, जागार, मामृजे, पीपाय, तूताव। यह मुख्यतः क्रियातिशयबोधक द्वित्व है, किन्तु कुछ उदाहरणों में सामान्य द्वित्व का अ धातु के आरम्भ के पूर्व अन्यत्र लुप्त तत्व के के साथ घुलमिल गया है, उदा० गृ- 'जगाना' मृज्- 'साफ करना' के लिट् रूपों में; तुल० ग्रीक एगेइरो (egeírō), ओमोर्ग्नूमि (omórgnūmi)। (२) दो ऊकारान्त धातु सामान्य उ के स्थान पर अभ्यासजनित अक्षर में अ ध्वनि का वहन करते हैं और दोनों में यह परस्मैपद के एकवचन में धातु के अनियमित दुर्बल रूप से सम्बद्ध है। भू- 'होना', सू- 'पैदा करना' से बभूव, ससूव। (३) अ से आरम्भ होने वाले धातु सामान्यतः लिट् में आ (अ + अ) उदा० अद्- 'खाना' और अस्- 'होना' से आद, आस। अञ्ज्- 'आँचना' और अस्- प्राप्त करना' के परोक्षे लिट् में एक भिन्न कोटि मिलती है, जहाँ इस धातु का अंशभूत न् द्वित्व रूप में पुनरुक्त होता है : आनञ्ज, आनंजे; आनंश, आनशे (तुल० आयरिश त्-आन्-अइक् (t-ān-aic) 'वह आया'। सादृश्य

के आधार पर यह कोटि ऋ अन्त वाले कतिपय धातुओं के साथ अन्य धातुओं तक फैल गयी है : ऋच् अथवा अर्च्– 'स्तुति करना' से आनर्च, आनृचे। (४) इ अथवा उ से आरम्भ होने वाले धातु इन स्वरध्वनियों के साथ अभ्यास रूप निष्पन्न करते हैं जो परस्मैपद के सवल रूप में धातु के गुणरूप से अन्तर्वर्ती –य– और –व– ध्वनियों के साथ आरम्भ में जोड़े जाते हैं और दुर्बल कोटि में धातु की मूल स्वरध्वनि के साथ दीर्घ ई तथा ऊ की निष्पत्ति में घुलमिल जाते हैं : इष्– 'इच्छा करना' और उच्–'अनुकूल होना' से इयेष, ईषे, उवोच, ऊचे। (५) ठीक इसी तरह का द्वित्व रूप य– से आरम्भ होने वाले एक धातु के साथ और व– से आरम्भ होने वाले कतिपय धातुओं के साथ अभ्यासरूप अक्षर में इ तथा उ से युक्त मिलता है। धातु के दुर्बल रूप में ये इ– तथा उ– के साथ दीर्घ ई– तथा ऊ– को उत्पन्न करने में मिल जाते हैं : यज्– 'यज्ञ करना' (कर्मवाच्य इज्यते आदि में दुर्बल रूप इज्–) से इयाज, ईजे, वच्– ('वोलना' (उच्यते, उक्त आदि में दुर्बल रूप उच्–) से उवाच, ऊचे; वप्– 'वोना', वद्– 'वोलना', वह्– 'ढोना' से ठीक ऐसे ही रूप। (६) वे धातु जिनमें एकाकी व्यंजन के पूर्व मध्यग अ है और जो ऐसी व्यंजन ध्वनि से आरम्भ होते हैं जिसे अभ्यासरूप में अपरिवर्तित रखा जाता है, केवल सबल रूप में ही सामान्य द्वित्व का वहन करते हैं : तन्– 'फैलाना', पत्– 'गिरना' से ततान, पपात; परोक्षे लिट् के दुर्बल रूप धातु के अ के लिये –ए– रखकर वनाये जाते हैं : तेने, तेनुः, पेचे, पेचुः। यह संस्कृत का नवीन रूप है जो वैदिक युग तक किसी तरह परिपूर्ण नहीं हुआ है; अधिक मूलरूप जो वेद में मिलते हैं, पप्तिम, तत्ने, मम्नाते, आदि हैं। यह कोटि उन कतिपय धातुओं में उदित हुई है जिन्होंने सामान्य ध्वन्यात्मक विकास के द्वारा ऐसे रूपों को ग्रहण कर लिया है, खासतौर पर सद्– 'वैठना' धातु, जहाँ सेदुः नियमतः प्राचीनतर रूप *सज़्दुर् (*sazdur) तुल० अवेस्ता हज़्द्यात् (hazdyāt) लिट् के आधार पर बना विधिरूप) और य– से आरंभ होने वाले धातु (*यय्मुर् (yaymur) के लिये येमुः)। (७) विद्– 'जानना' धातु का द्वित्व रूप नहीं होता और यह सम्बद्ध भाषाओं के समान प्रवृत्ति है : संस्कृत वेद, ग्रीक ओइद (oida), गाथिक वइत्, (wait) आदि। वेद में द्वित्वरहित परोक्षे लिट् के अन्य छिटफुट स्थल भी हैं, उदा० तक्षथुः, तक्षुः, स्कम्भथुः, स्कम्भुः, और द्वित्वरहित परोक्षे लिट् पर आधृत तीन कृदन्त रूप भी बनाये गये हैं : दाश्वः– 'पवित्र', मीढ्वः– 'उदार' और साह्वः– 'वश में करता'।

अपश्रुति में परोक्षे लिट् तिङन्त रूपों की सामान्य कोटि का अनुगमन करता है अर्थात् परस्मैपद के तीनों पुरुषों के एकवचन में धातु का सबल रूप मिलता है, अन्यत्र दुर्बल रूप। सामान्यतः सबल कोटि गुण है (ववर्त, चिकेत, बुबोध)

किन्तु जहाँ कहीं सबल रूप में एकाकी व्यंजन ध्वनि के पूर्व मध्यग अ (उत्तम पुरुष एकवचन परस्मैपद तुतर्प, बिभर्थ, चकर, आदि) मिलता है, प्रथम पुरुष एकवचन में तथा परवर्ती भाषा में विकल्प से उत्तम पुरुष में वृद्धिरूप की स्थापना की जाती है : तुताप, बिभार्थ, चकार, आदि । यह विशेषता भारत-ईरानी से बाहर नहीं मिलती; अधिकांश भाषायें केवल गुणकोटि का और समानता की दृष्टि से धातु की ओ- कोटि का प्रदर्शन करती है : ग्रीक गेगोने (gégone), आदि । मूल ओ- कोटि संस्कृत के द्वारा भी प्रमाणित है, क्योंकि कतिपय धातु जो द्वितीय तालव्यीभाव से प्रभावित हुए हैं इन परोक्षे लिट् रूपों में मूल कण्ठ्यध्वनि को सुरक्षित रखते हैं : चि- 'चयन करना', चित्- 'ध्यान देना', जि- 'जीतना' और हन्- 'मारना' से चिकाय, चिकेत, जिगाय, जघान ।

धातु के दुर्बल रूप वे सामान्य रूप हैं, जो गुण स्वर ध्वनि के लोप से उदित हुए हैं : चक्रे, जघ्ने, जग्मुः, बुबुधे, आदि । आ अन्त वाले धातु सामान्यतः दुर्बल रूपों में इस स्वर ध्वनि को बिलकुल लुप्त कर देते हैं (द-ध्-उर्, दधुः), किन्तु व्यंजन से आरम्भ होने वाले तिङ् विभक्तिचिह्नों के पूर्व वर्तमानकालिक रूपों के प्रतिकूल अनिवार्यतः संयोजक स्वर ध्वनि इ का अन्तर्योजन कर देते हैं (दध्-इ-रे, दधिरे) । व्यध्- निवेदन करना' और स्वप्- 'सोना' जैसे धातुओं में सम्प्रसारण मिलता है (विविधुः, सुषुपुः; इनकी द्वित्वगत स्वरध्वनि इस रूप का अनुगमन करती है । सबल रूप में नासिक्य तत्व से युक्त कतिपय धातुओं में दुर्बल रूप इस नासिक्य तत्व के अभाव से युक्त है : क्रन्द्- 'शोर मचाना' से चक्रदे । तेन्- कोटि के दुर्बल रूपों के लिये ऊपर देखें ।

पुरुषवाचक तिङ् विभक्तिचिह्नों के लिये देखिये §६ । इसमें अधिक जटिलता नहीं है । सामान्य तिङन्तचिह्नों के बजाय अकारान्त धातु परस्मैपद के प्रथम पुरुष उत्तम पुरुष एकवचन में -औ विभक्तिचिह्न का वहन करते हैं : दा- 'देना', धा- 'धारण करना', स्था- 'ठहरना', ज्ञा- 'जानना' से ददौ, दधौ, तस्थौ, जज्ञौ (भा० यू० *देदो ? -उ (dedō H -u), आदि, कंठनालिक ध्वनि के पूर्व वृद्धि से युक्त) । पदांत उ- तत्त्व जो यहाँ पुरुषवाचक तिङ् चिह्न के स्थान पर मिलता है, लैटिन में भी कतिपय पूर्णभूतकालिक रूपों में सम्मिलित मिलता है : नोवित् (nōvit) 'जाना', तुल० संस्कृत जज्ञौ; प्लेवित् (plēvit) 'भरा', तुल० पप्रौ ।

परोक्षे लिट् धातु रूपों की एक विशेषता व्यंजन से आरंभ होने वाले तिङ् चिह्नों से पूर्व संयोजक स्वरध्वनि की निरन्तर उपलब्धि है : मध्यम पुरुष एकवचन बुबोधिथ, उत्तम पुरुष द्विवचन बुबुधिव, उत्तम पुरुष बहुवचन बुबुधिम,... प्रथम पुरुष बहुवचन आत्मनेपद बुबुधिरे, आदि । परवर्ती भाषा में प्रथम पुरुष

बहुवचन आत्मनेपद का –रे इसका सदा प्रयोग करता है। अन्य प्रकार के व्यंजनरूप तिङ् चिह्नों के पूर्व मध्यम पुरुष एकवचन परस्मैपद के अतिरिक्त अधिकांश धातु इसका ग्रहण करते हैं। मध्यम पुरुष एकवचन परस्मैपद में व्याकरण के द्वारा सम्मत अनिट् रूप बहुसंख्यक हैं और कतिपय धातु विकल्प से दोनों रूपों को अपनाते हैं, निनेथ, निनयिथ। आकारांत धातु इस वैकल्पिक प्रक्रिया का आश्रय लेते हैं किन्तु –इ– का ग्रहण करते समय वे दुर्बल रूप में मिलते हैं और उदात्त स्वर तिङ् चिह्न पर हटा दिया जाता है, ददाथ, ददिथ। वेद में इस समायोजक स्वरध्वनि का प्रयोग शास्त्रीय संस्कृत की अपेक्षा कम विस्तृत है। सामान्य नियम के अनुसार यह व्यंजनध्वनि से अंत होनेवाले धातुओं के बाद मिलता है, बशर्ते प्रकृत्यंश का अन्तिम अक्षर गुरु हो : ततन्थ, युयुज्म आदि के प्रतिकूल विवेदिथ, ऊचिम, पप्तिम, आदि। आकारान्त धातु भी इसका ग्रहण करते हैं (ददिम, दधिम), किन्तु मध्यम पुरुष एकवचन की ददिथ कोटि प्राचीन प्रयोग में अज्ञात है। ईरानी में सहायक स्वरध्वनि का प्रयोग अत्यधिक कम है जो यह स्पष्ट करता है कि मुख्यतः लिट् में (तिङंत प्रक्रिया में अन्यत्र की तरह) इसका प्रयोग भारतीय आर्य की नवीन परिकल्पना है।

पूर्णभूत या परोक्षेलिट् का प्रतिनिधित्व भारतीय आर्य में विस्तार से पाया जाता है, केवल आर्मीनी और बाल्टोस्लावी में लुप्त कर दिया गया है। संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के समान लिट् (पूर्णभूत) रूपों को निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा निर्दशित किया जा सकता है : जजान (जन्– 'पैदा करना') : ग्रीक गॅगोने (gegone) ददर्श (दृश्– 'देखना') : ग्रीक दॅदोर्के (dédorke); चिच्छेद, चिच्छिदे (छिद्– 'टुकड़े करना') : लैटिन स्किकिदी (scicidī), गाथि० स्कइस्कइप (skaískaip), दिदेश, दिदिशे (दिश्– 'संकेत करना') : ग्रीक दॅदॅखइ, दॅदॅइग्मइ (dédeikha, dédeigmai) गाथि० ग–तइह् (ga-taih); रिरेच, रिरिचे (रिच्– 'छोड़ना') ग्रीक लॅलॅाइप (léloipa), लैटिन लीक्वी (līquī), गाथि० लइह् (laih); निनेज, निनिजे (निज्– 'साफ करना'), आय० नॅनइग् (nenaig); तुतोद, तुतुदुः (तुद्– 'धक्का देना') लैटिन तुतुदी (tutudī) गाथि० स्तइस्तउत् (staistaut); ववर्त (वृत्– 'मुड़ना'), लैटिन० वोर्ती (vortī), वॅर्ती (vertī), गाथि० वर्प (warp); दधर्ष (धृष्– 'निर्भीक होना'), गाथि० ग–दर्स (ga-dars); जघान (हन्– 'मारना'), आयरिश उत्तम पुरुष एकवचन गॅगोन् (gegon), प्रथम पुरुष एकवचन –गॅगोइन् (gegoin)।

कतिपय भाषाओं, खासतौर पर लैटिन तथा जर्मन, में पूर्णभूतकालिक रूपों की रचना में द्वित्व आवश्यक अंश नहीं है। यह कुछ धातुओं में मिलता है और

दूसरों में अनुपलब्ध है। यह स्थिति भा० यू० की मूल वस्तुस्थिति से अधिक निकटता से मिलती-जुलती है। आरम्भ में द्वित्व पूर्णभूत रूपों का अनिवार्य अंश ठीक वैसे ही नहीं था, जैसे लुङ् तथा लङ् का आगम। ग्रीक तथा भारत-ईरानी में इस विशेषता का साधारणीकरण उन अनेक वैभाषिक साम्यों में से एक है जो भा० यू० परिवार के बीच इन दो शाखाओं को संयुक्त करता है। ये भी वेद्- 'जानता है' के रूप में द्वित्वरहित पूर्णभूत की प्राचीन कोटि को सुरक्षित रखे हैं।

अन्यत्र की तरह यहाँ भी हित्ती भाषा सामान्य भा० यू० कोटि से अधिक अंतर का प्रदर्शन करती है। हित्ती में पूर्णभूत सर्वथा नहीं है, किन्तु वर्तमानकालिक तिङंत प्रक्रिया की एक विशिष्ट कोटि, हि्- (ḫi) तिङंतज रूप है, जिनकी तुलना इनके साथ की गयी है और जो सामान्य भा० यू० पूर्णभूत के समान कतिपय विशेषताओं का वहन करते हैं। इसके साथ ही इस खाई को पाटना सरल नहीं है, क्योंकि ये रूप एक ओर विशिष्ट अर्थ (स्थिति और परिणाम) से युक्त विशिष्ट काल का बोध कराते हैं जो वर्तमान काल के अतिरिक्त अधिकांश धातुओं के द्वारा निष्पादित किया जाता है और दूसरी ओर कतिपय धातु वर्तमानकाल के वैकल्पिक रूप में इसका ग्रहण करते हैं। यह संभव है कि इस संबंध में हित्ती भाषा प्रमुख नवीन परिकल्पना की निर्मात्री है, किन्तु हित्ती हि्- तिङन्त प्रक्रिया को भा० यू० पूर्णभूत से सम्बद्ध प्रक्रिया मात्र से व्युत्पन्न मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि हित्ती से बाहर भी कतिपय वर्तमानकालिक रूप ऐसे हैं जो इसका अनुगमन करते हैं: खासतौर पर (१) ऊपर वर्णित अदुह कोटि के संस्कृत रूप (२) थिमैटिक धातुओं के ग्रीक तिङन्त रूप (लेगो légō, लेगेइस् légeis, लेगेइ légei)।

संस्कृत तथा ग्रीक में पूर्णभूत परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों तिङन्त प्रक्रिया का अनुगमन करता है। इस मान्यता का कारण है कि यह गौण व्यवस्था है। संस्कृत में परोक्षे लिट् के आत्मनेपदी तिङ् चिह्न उन परस्मैपदी तिङ् चिह्नों के प्रतिकूल जो वर्तमानकालिक तिङ् चिह्नों से भली प्रकार भिन्न हैं, मुख्यतः वर्तमानकाल के स्पष्ट अनुकरण हैं। साथ ही इस बात का संकेत पहले ही किया जा चुका है कि परस्मैपदी लिट् रूप आत्मनेपदी वर्तमानकालिक रूपों से निरन्तर मिलते-जुलते हैं और परस्मैपद के तिङ् चिह्न अन्य परस्मैपद तिङ् चिह्नों की अपेक्षा कतिपय आत्मनेपद तिङ् चिह्नों से घनिष्ठतया सम्बद्ध हैं। ये सब संकेत हमें इस धारणा की ओर ले जाते हैं कि पूर्णभूत (परोक्षे लिट्) के रूपों में परस्मै तथा आत्मने दोनों पदों का अस्तित्व धातुज (तिङन्त) प्रक्रिया के अन्य अंशों की अपेक्षा अधिक परवर्ती उत्पत्ति है।

यह साक्ष्य इस निर्णय का भी संकेत करता है कि पूर्णकाल (Perfect) आरम्भ में सम्बद्ध भूतकाल के साथ उदित नहीं हुआ था। विविध भाषाओं में उपलब्ध इस प्रकार के रूपों को स्वतन्त्र नवीन परिकल्पना के रूप में वर्गीकृत करना होगा। संस्कृत तथा ग्रीक दोनों के साथ, पूर्ववर्ती भाषा के साथ कहीं अधिक सीमा में, यह बात लागू होती है, क्योंकि जहाँ ग्रीक ने अन्ततः अपने विशिष्ट अर्थ वाले पूर्णभूत (Pluperfect) का विकास कर लिया, वहाँ संस्कृत में इस तरह के वर्गीकृत रूप वे मुख्यतः छिटफुट और अस्थायी रूप हैं जो वैदिक भाषा में मिलते हैं, किन्तु परवर्ती भाषा में प्रयुक्त नहीं किए जाते। इस प्रकार के रूप एकवचन उत्तम पुरुष अजग्रभम्, प्रथम पुरुष अजगन्, द्विवचन मध्यम पुरुष अमुमुक्तम्, बहुवचन प्रथम पुरुष अबीभयुः, आत्मनेपद बहुवचन प्रथम पुरुष अजग्मिरन् हैं। इन रूपों और जुहोत्यादि (द्वित्व) गण के अनद्यतन भूते लङ् रूपों के बीच स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता। इनका अर्थ सामान्यतः भूतकाल मात्र का है।

१२. निर्बंध प्रकार तथा अभिप्राय प्रकार

तथाकथित निर्बंध प्रकार कोई भिन्न पदरचनात्मक कोटि नहीं है, अपितु यह पारिभाषिक संज्ञा उन आगमरहित लङ् अथवा लुङ् रूपों के लिये प्रयुक्त की जाती है जो अभिप्राय अथवा आज्ञा के अर्थ के साथ प्रयुक्त होते हैं (§ २)। ऋग्वेद में आगमरहित रूप आगमयुक्त रूपों की तरह उपलब्ध हैं तथा संख्या में आधे से अधिक हैं और वे बिना किसी भेद के भूतकालिक अथवा निर्बन्धात्मक अर्थ में मिल सकते हैं। इस प्रकार के रूप लङ् तथा लुङ् दोनों प्रकार के प्रकृत्यंशों से बने मिलते हैं, अधिकतर परवर्ती प्रकृत्यंश से बने। अथर्ववेद के परवर्ती अंश में इस प्रकार के रूपों का अनुपात कम है और जो कुछ मिलते हैं उनमें अधिकांश लुङ् प्रकृत्यंश के आधार पर बनाए गए हैं। वैदिकोत्तर संस्कृत में निर्बन्ध प्रकार केवल एक प्रयोग को छोड़कर अन्यत्र लुप्त हो गया है। निषेध की अभिव्यंजना आगमरहित लुङ् रूपों के साथ मा का प्रयोग कर की जाती है : मा भैषीः 'मत डरो', मा गाः 'मत जाओ', आदि।

अभिप्राय प्रकार, निर्देश प्रकार के प्रकृत्यंश के साथ अ स्वरध्वनि जोड़कर बनाया जाता है, और इस दशा में इस प्रकार के प्रकृत्यंश का गुण रूप प्रयुक्त होता है यदि इसका अस्तित्व है : दोह्–, जुहो–, युनज्, निर्देशात्मक प्रकृत्यंशों से बने दोह–, जुहव, युनज–, आदि। यह अ, थिमैटिक प्रकृत्यंश के अ के साथ मिलकर दीर्घ आ बनाता है : भवा–, तुदा–, उच्या। अथिमैटिक धातुज प्रकृत्यंशों से बने अभिप्राय प्रकार के तिङन्त रूप निम्न तालिका के द्वारा उदाहृत किए जाते हैं।

परस्मैपदी, एकवचन, उत्तम पुरुष अयानि, अया, मध्यम पुरुष अयासि, अयाः, प्रथम पुरुष अयाति, अयात् ।

द्विवचन, उत्तम पुरुष अयाव, मध्यम पुरुष अयथः, प्रथम पुरुष अयतः । बहुवचन, उत्तम पुरुष अयाम, मध्यम पुरुष अयथ, प्रथम पुरुष अयन् ।

आत्मनेपदी, एकवचन, उत्तम पुरुष आसै, मध्यम पुरुष आससे, आसासै, प्रथम पुरुष आसते, आसातै ।

द्विवचन उत्तम पुरुष आसावहै, आसावहे, मध्यम पुरुष आसैथे, प्रथम पुरुष आसातै।

बहुवचन, उत्तम पुरुष आसामहै,आसामहे, मध्यम पुरुष, आसध्वे, आसाध्वै, प्रथम पुरुष आसन्ते, आसन्त, आसान्तै ।

यह पता चलेगा कि अभिप्राय प्रकार के तिङ् चिह्न अंशतः गौण और अंशतः मुख्य हैं । उत्तम पुरुष द्विवचन, उत्तम पुरुष बहुवचन और प्रथम पुरुष बहुवचन के परस्मैपदी रूपों में गौण तिङ् चिह्न प्रयुक्त किए जाते हैं, मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष द्विवचन और मध्यम पुरुष बहुवचन में मुख्य तिङ् चिह्न; मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष एक वचन में या तो मुख्य या गौण तिङ् चिह्न प्रयुक्त होते हैं । आत्मनेपद में गौण तिङ् चिह्न युक्त रूप बहुत कम हैं, सामान्यतः केवल प्रथम पुरुष बहुवचन में ।

परस्मैपदी उत्तम पुरुष एकवचन का रूप अपने विशिष्ट तिङ् चिह्न का वहन करता है, –आनि, जिसके अतिरिक्त प्राचीन भाषा में केवल –आ भी मिलता है, जिसकी तुलना –ओ के साथ की जा सकती है, जो ग्रीक में अभिप्राय प्रकार के के साथ-साथ थिमैटिक धातुओं के परस्मैपदी उत्तम पुरुष एकवचन में भी मिलता है (अगो, ágō) । आत्मनेपदी उत्तम पुरुष एकवचन का तिङ् चिह्न –ऐ अभिप्राय प्रकृत्यंश के अ के तिङ् चिह्न के –ए के साथ संकुचित होने के कारण उदित हुआ है। यह –ऐ फिर आत्मनेपदी रूपों के अन्य अंशों तक विस्तारित कर दिया गया है और परिणामतः इस तरह के सामान्य रूप बन गए हैं । इस प्रकार के तिङ् चिह्न अथिमैटिक धातुओं के अभिप्राय प्रकार में भी अपने पहले आ स्वरध्वनि का वहन करते हैं ।

थिमैटिक प्रकृत्यंशों से बने अभिप्राय प्रकार के तिङन्त रूप ऊपर जैसे ही हैं, किन्तु कालबोधक प्रकृत्यंश के अ और अभिप्राय प्रकार के अ की सन्धि से उदित आ वाले प्रकृत्यंश पर आधृत हैं :

परस्मैपदी, एकवचन, उत्तम पुरुष भवानि, मध्यम पुरुष भवासि, भवाः, प्रथम पुरुष भवाति, भवात् ।

द्विवचन, उत्तम पुरुष भवाव, मध्यम पुरुष भवाथः, प्रथम पुरुष भवातः ।

बहुवचन, उत्तम पुरुष भवा॑म, मध्यम पुरुष भवा॑थ, प्रथम पुरुष भवा॑न् ।

आत्मनेपदी, एकवचन उत्तम पुरुष भवै॑, मध्यम पुरुष भवा॑से, भवा॑सै, प्रथम पुरुष भवा॑ते, भवा॑तै ।

द्विवचन उत्तम पुरुष भवा॑वहै, मध्यम पुरुष भवै॑थे, प्रथम पुरुष भवै॑ते ।

बहुवचन उत्तम पुरुष भवा॑महै, मध्यम पुरुष भवा॑ध्वै, प्रथम पुरुष भवा॑न्तै ।

वैदिक भाषा में अभिप्राय प्रकार वर्तमान, लुङ्, तथा परोक्षे लिट् तीनों प्रकार के प्रकृत्यंशों के आधार पर बनाया जा सकता है। यह रूपवैविध्य किसी प्रकार के अर्थवैविध्य से जुड़ा नहीं है : शृण्वत्, श्रवत् और शुश्रवत् सभी का अर्थ 'वह सुनेगा' अथवा 'वह सुने' है, और कालबोधक प्रकृत्यंशों से सम्बद्ध कोई परस्पर भेद इनमें नहीं मिलता। लुङ् के आधार पर बने अभिप्राय रूप धातुरूप लुङ् (करत्, गमत्, यमत्, वरत्, करति, जोषति, भेदति, आदि) और स्-लुङ् से (जेषत्, नेषत्, मत्सत्; नेषति, पर्षति, आदि) से सामान्यतः बनाए जाते हैं; स्- लुङ् से बने रूप बिलकुल नहीं मिलते। परोक्षे लिट् प्रकृत्यंश से बने अभिप्राय प्रकार के उदाहरण ये हैं : जघनत्, जुजोषत्, पस्पर्शत्; जुजोषति, दिदेषति, बुबोधति, आदि ।

अभिप्राय प्रकार उत्तर-वैदिक युग (ब्राह्मण तथा उपनिषद्) में प्रयोग में प्रचलित था, किन्तु आज्ञार्थे लोट् में अपनाए गए उत्तम पुरुष के रूपों के अतिरिक्त यह शास्त्रीय भाषा में लुप्त हो गया है।

रूप तथा अर्थ की दृष्टि से संस्कृत के अभिप्राय प्रकार से मिलता जुलता प्रयोग ग्रीक में मिलता है। यहाँ मुख्य तिङ् चिह्न सर्वथा प्रयुक्त किए जाते हैं और थिमैटिक प्रकृत्यंश से सम्बद्ध दीर्घ स्वरध्वनि वाले रूप महत्वपूर्ण हो गए हैं। इस स्वरध्वनि की प्रकृति (जहाँ संस्कृत में आ मिलता है) निर्देश प्रकार के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होती है (अगोमेन्, ágōmen, अगेन्ते ágēnte)। कतिपय प्राचीन ह्रस्व स्वरध्वनि वाले अभिप्राय रूप भविष्यत् के रूप में (एदोमइ édɔmāi, पिओमइ píomai) सुरक्षित हैं और स्- भविष्यत् रूपों की सरलतम व्याख्या यह है कि ये स्- लुङ् के अभिप्राय रूप हैं। लैटिन भविष्यत् एरित् (erit) संस्कृत अभिप्राय रूप असत् (इ) (असति) से मिलता जुलता है और इटैलिक तथा केल्टिक दोनों शाखाओं में स्- लुङ् वाले अभिप्राय से बने रूप हैं (लैटिन फ़ाक्सो (faxō), ऑस्कन दइवस्त् (deivast), आयरिश, उत्तम पुरुष एकवचन, -तिअस्, प्रथम पुरुष बहुवचन-तिअस्सत्, तिअगु (tiagu) 'जाना' से)। ये दोनों शाखायें आ- अभिप्राय प्रकार के रूप भी रखती हैं जो ग्रीक अथवा संस्कृत में नहीं मिलते।

अभिप्राय प्रकार भारत-यूरोपीय के अधिकतर भाग में अनुपलब्ध है और

अपेक्षाकृत परवर्ती रूप मालूम होता है। इसे निर्वन्ध प्रकार से विकसित बताया जा सकता है, जिसके कुछ रूप स्वतन्त्र तिङ् प्रक्रिया के रूप में विकसित हो गए हैं। संस्कृत में मुख्य तथा गौण तिङ् चिह्नों के बीच अनिश्चितता उस प्राचीन प्रक्रिया से जिसमें तिङ् चिह्न गौण थे (जैसे निर्वन्ध प्रकार में), एक नई प्रक्रिया के प्रति—जिसमें मुख्य तिङ् चिह्न मुख्यतः अपने भविष्यत् अर्थ के लिये अधिक उपयुक्त प्रयोग में चल पड़े हैं—परिवर्तन (संक्रमण) का प्रतिनिधित्व करती है। यह संक्रमण ग्रीक में पूरा हो चुका है। ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरध्वनि वाले अभिप्राय प्रकारों में पूर्ववर्ती अधिक प्राचीन और अधिक मूल रूप है। पहले से ही थिमैटिक प्रत्यय से युक्त प्रकृत्यंश के साथ थिमैटिक प्रत्यय के योग की प्रक्रिया के समानांतर रूप भारत-यूरोपीय प्रकृत्यंश की रचना में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता और यहाँ इसका अस्तित्व उस सादृश्य के कारण है, जिसने भवा-, आदि को व्युत्पन्न किया है, जिसका सम्बद्ध भव- से ठीक वही है, जो अस- का अस्- से। गौण तिङ् चिह्नों से युक्त ह्रस्व स्वरध्वनि वाले अभिप्राय रूप (करत्, गमत्) ऐसे रूपों का वहन करते हैं, जिन्हें अपने आप में थिमैटिक प्रकृत्यंशों के निर्वन्ध रूपों (आगमरहित भूतकालिक रूपों) से अलग नहीं किया जा सकता। इनका अभिप्राय रूप होना प्रकृत्यंश की अपनी प्रकृति पर आधृत नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के प्रकृत्यंश सामान्यतः वर्तमान/अपूर्णभूत की रचना में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु तिङन्त-प्रक्रिया में अन्य रूपों के साथ इन रूपों के संबंध पर आधृत हैं। अभिप्राय प्रकार के अत्यधिक मौलिक वर्ग में किसी भेदक रूप का अभाव इसके गौण उद्भव का स्पष्ट सूचक है।

१३. आज्ञार्थे लोट्

परस्मैपदी

एकवचन उ० पु० भवानि, अयानि, म० पु० भव, इहि, प्र० पु०, भवतु, एतु,
द्विवचन उ० पु० भवाव, अयाव, म० पु० भवतम्, इतम्, प्र० पु० भवताम्, इताम्,
बहुवचन उ० पु० भवाम, अयाम, म० पु० भवत, इत, प्र० पु० भवन्तु, यन्तु।

आत्मनेपदी

एकवचन उ० पु० भवै, आसै, म० पु० भवस्व, आस्व, प्र० पु० भवताम्, आस्ताम्,
द्विवचन उ० पु० भवावहै, आसावहै, म० पु० भवेथाम्, आसाथाम्, प्र० पु० भवेताम्, आसाताम्,
बहुवचन उ० पु० भवामहै, आसामहै, म० पु० भवध्वम्, आद्ध्वम्, प्र० पु० भवन्ताम्; आसताम्।

ये रूप मिश्रित हैं। प्रथम पुरुष के तीनों वचन के रूप शुद्ध अभिप्राय प्रकार के रूप हैं। निर्वन्ध प्रकार के रूप मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष द्विवचन और मध्यम पुरुष वहुवचन में प्रयुक्त किए जाते हैं। विशिष्ट आज्ञार्थे रूप मध्यम पुरुष एकवचन तथा प्रथम पुरुष एकवचन और वहुवचन में मिलते हैं। मध्यम पुरुष एकवचन में थिमैटिक धातुओं का प्रकृत्यंश सम्बद्ध भाषाओं की तरह संस्कृत में विना किसी योजक तत्व के आज्ञा अर्थ का द्योतन कराता है: भर॑, अवे० वर (bara), ग्रीक फॅरॅ (phere), आर्मीनी वॅर (ber), गाथिक वइर (bair), आयरिश वेइर् (beir); पृच्छ 'पूछो' लैटिन पोस्के (posce), अज॑ 'खदेड़ो या हाँको', ग्रीक अगॅ (age), लैटिन अगॅ (age), आदि। अथिमैटिक (non-thematic) धातुओं के साथ यह तिङ् विभक्तिचिह्न –हि, मूलतः –धि है: इहि, अवे० इदी (idī), ग्रीक इथि (ithi)। संस्कृत में मूल –धि व्यंजनांत धातुओं के वाद (विद्धि 'जानो', ग्रीक इस्थि (isthi), दुग्धि 'दुहो') और कभी-कभी अन्यत्र मिलता है, अस्– होना', से *अज़्धि (तुल० अवे० ज़्दी (zdī) के लिये एधि, हु– 'हवन करना', से जुहुधि। वेद में अन्य उदाहरण भी हैं: श्रुणुधि 'सुनो', गधि 'जाओ', वृधि 'ढँक दो'।

प्रथम पुरुष एकवचन तथा बहुवचन के रूप गौण तिङ् चिह्न के साथ –उ तत्त्व जोड़कर बनाए जाते हैं: भवत् –उ (भवतु), आदि। इससे मिलते-जुलते रूप हित्ती में मिलते हैं: प्रथम पुरुष एकवचन –ऍश्तु (eštu): संस्कृत अस्तु, कुऍन्दु (kuendu), : संस्कृत हन्तु; प्रथम पुरुष बहुवचन अशन्दु (ašandu), संस्कृत, सन्तु, कुनन्दु (kunandu), संस्कृत, घ्नन्तु आदि। उन हि– धातुओं में जिनमें वर्तमान के प्रथम पुरुष एकवचन में कोई त्– विभक्तिचिह्न नहीं मिलता, आज्ञा प्रथम पु० एकवचन में अकेला उ तत्व मिलता है: अक्– 'मरना', अर्– 'पहुँचना' से अकु (aku), अरु (aru), वर्तमान प्रथम पुरुष एकवचन अकि (aki), अरि (ari)।

आत्मनेपद में मध्यम पुरुष एकवचन का विभक्तिचिह्न –स्व है। इससे मिलता-जुलता रूप केवल ईरानी में मिलता है, ईरानी, वरङुह (baraŋuha), संस्कृत भरस्व; कॅरॅश्वा (karəšvā), संस्कृत कृष्व, आदि। यह –स्व आत्मार्थे सर्वनाम शब्द का प्रातिपदिक माना गया है। प्रथम पुरुष एकवचन बहुवचन के रूप गौण तिङ् चिह्नों के साथ –आम् जोड़कर बनाए जाते हैं और यहाँ भी सम्बद्ध रूप केवल ईरानी में मिलते, वॅरॅज़्यतँम् (verəzyatąm), ख्रओसॅन्तँम् (xraosə-ntąm)। कतिपय धातु जिनमें परस्मैपदी प्रथम पुरुष एकवचन में त् तत्व से रहित विभक्तिचिह्न मिलते हैं (दुहे, अदुह), इस विशेषता को आज्ञा प्रथम पुरुष एकवचन में भी बनाए रखते हैं: दुहाम्, शयाम्। प्रथम पुरुष बहुवचन में निर्देश

प्रकार की तरह वे र् तत्त्व से युक्त –राम् का वहन करते हैं : दुह्राम्–तुल० आत्मनेपद प्रथम पुरुष बहुवचन दुह्रे। इन्हीं के आधार पर बने रूप ये हैं : दुह्रताम् और शेरताम्।

उपर्युक्त सामान्य तिङ् विभक्तिचिह्नों के अतिरिक्त प्राचीन भाषा में खास तौर पर एक और विभक्तिचिह्न –तात् मिलता है। यह परस्मैपद तथा आत्मनेपद के भेद के प्रति उदासीन है और अधिकांशतः मध्यम पुरुष एकवचन के रूप में प्रयुक्त मिलता है : ब्रूतात् 'कहो', धत्तात् 'रखो', धावतात् 'दौड़ो', वित्तात् 'जानो', आदि। यह अन्य पुरुषों और वचनों में भी प्रयुक्त हो सकता है : उ० पु० एकवचन : जागृतादहम् 'मुझे जगा रहने दो', प्र० पु० एकवचन : राजा मूर्धानं वि पातयतात् 'राजा को उसका सिर गिरा देने दो', मध्यम पुरुष बहुवचन : आपः···देवेषु नः सुकृतो ब्रूतात् 'हे आपोदेवता, आप लोग देवताओं के समक्ष हमें सत्कर्मा घोषित करें'। परवर्ती भाषा में प्रथम पुरुष एकवचन के रूप में इसका प्रयोग अधिक है, किन्तु समग्र उदाहरण प्राचीन भाषा की तुलना में कम हैं।

आज्ञा प्रकार का यह रूप ग्रीक (प्रथम पुरुष एकवचन में) और लैटिन में (मध्यम पुरुष प्रथम पुरुष एकवचन में) भी मिलता है : इस्तो (ísto) 'उसे जानने दो', सं० वित्तात्, दोतो (dótō), इतो (ítō), एस्तो (éstō) आदि, लै० वेहितो (vehitō), सं० वहतात्, पोस्कितो (poscitō), हाबेतो (habētō), एस्तो (estō), आदि, प्रा० लै० एस्तोद् (estōd), आदि, तुल० ऑस्कन लिकितुद् (likitud), एस्तुद् (estud)।

वेद में आज्ञा अर्थ वाले कतिपय मध्यम पुरुष एकवचन रूप –सि तिङ् चिह्न से युक्त हैं : धक्षि 'जलाओ', यक्षि 'पूजन करो', पर्षि 'पार करो', प्रासि 'भरो', श्रोषि 'सुनो', आदि। यह चिह्न निर्देशात्मक वर्तमान के मध्यम पुरुष एकवचन के चिह्न से अभिन्न हैं, किन्तु ये आज्ञार्थ रूप स्पष्टतः भिन्न हैं, क्योंकि वर्तमान काल के रूप भिन्न प्रकार से बनाए जाते हैं। (दहसि, शृणोषि, आदि)। इसका कोई भी तुलनीय रूप भारतीय आर्य से बाहर नहीं मिलता।

शास्त्रीय संस्कृत में आज्ञार्थ रूप केवल वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश से बनाए मिलते हैं। वैदिक भाषा में आज्ञार्थ रूप वर्तमान, लुङ् और परोक्षे लिट् तीनों प्रकार के प्रकृत्यंशों के आधार पर बनाए जा सकते थे और अन्य प्रकारों की तरह इनमें भी परस्पर अर्थ का कोई भेद नहीं मिलता। लुङ् के आधार पर बने आज्ञा रूपों के उदाहरण हैं : कृधि, श्रुधि, गहि, गन्तु, युक्ष्व; सद, सन्, सदतु; वोचतात्, वोचतु; लिट् के आधार पर बने आज्ञा रूप ये हैं : चिकिद्धि, मुमुग्धि, शशाधि, दिदेष्टु, वव़ृत्स्व। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आज्ञा रूप

सामान्यतः स्-लुङ् से नहीं बनाए जाते। मध्यम पुरुष एकवचन नेष, प्रथम पुरुष एकवचन नेषतु, और आत्मनेपदी प्रथम पुरुष एकवचन रासताम् जैसे कुछ रूप हैं जो सभी थिमैटिक रूप हैं और इसलिये इन्हें स्-लुङ् से ठीक तौर पर सम्बद्ध नहीं किया जा सकता।

१४. विधिलिङ् और आशीर्लिङ्

अथिमैटिक :

परस्मैपदी, एकवचन, उत्तम पुरुष दुह्याम्, मध्यम पुरुष दुह्याः, प्रथम पुरुष दुह्यात्।

द्विवचन, उत्तम पुरुष दुह्याव, मध्यम पुरुष दुह्यातम्, प्रथम पुरुष दुह्याताम्।

बहुवचन, उत्तम पुरुष दुह्याम, मध्यम पुरुष दुह्यात, प्रथम पुरुष दुह्युः।

आत्मनेपदी, एकवचन उत्तम पुरुष दुहीय, मध्यम पुरुष दुहीथाः, प्रथम पुरुष दुहीत।

द्विवचन उत्तम पुरुष दुहीवहि, मध्यम पुरुष दुहीयाथाम्, प्रथम पुरुष दुहीयाताम्।

बहुवचन उत्तम पुरुष दुहीमहि, मध्यम पुरुष दुहीध्वम्, प्रथम पुरुष दुहीरन्।

थिमैटिक :

परस्मैपदी, एकवचन, उत्तम पुरुष भवेयम्, मध्यम पुरुष भवेः, प्रथम पुरुष भवेत्।

द्विवचन, उत्तम पुरुष भवेव, मध्यम पुरुष भवेतम्, प्रथम पुरुष भवेताम्।

बहुवचन उत्तम पुरुष भवेम, मध्यम पुरुष भवेत, प्रथम पुरुष भवेयुः।

आत्मनेपदी, एकवचन, उत्तम पुरुष भवेय, मध्यम पुरुष भवेथाः, प्रथम पुरुष भवेत।

द्विवचन, उत्तम पुरुष भवेवहि, मध्यम पुरुष भवेयाथाम्, प्रथम पुरुष भवेयाताम्।

बहुवचन उत्तम पुरुष भवेमहि, मध्यम पुरुष भवेध्वम्, प्रथम पुरुष भवेरन्।

विधिलिङ् के अथिमैटिक रूप सामान्य तिङन्त-प्रक्रिया से अपश्रुति में भिन्न हैं। प्रत्यय का सबल रूप केवल परस्मैपद के तीनों पुरुषों के एकवचन तक ही सीमित नहीं है, अपितु प्रथम पुरुष बहुवचन के अतिरिक्त सभी परस्मैपदी रूपों तक विस्तारित कर दिया गया है। यह रूप नवीनीकरण है, यह बात लैटिन से स्पष्ट है, जिसमें 'होना' धातु के संबंध में दोनों कोटियाँ सुरक्षित हैं : प्राचीन लैटिन सीमुस् (sīmus) के अतिरिक्त परवर्ती सिम् (sim), सित् (sit)

के लिये प्राचीन लैटिन सिएम् (siēm), सिएत् (siet)। सबल रूप का ऐसा ही विस्तार आकारांत धातुओं के रूप में भी पाया जाता था : उत्तम पुरुष बहुवचन वर्तमान यामः 'हम जाते हैं', लुङ् अधाम 'हमने रखा या धारण किया'। थिमैटिक वर्ग में विधि लिङ् का ध्वनियुग्मांत प्रकृत्यंश (भरेः, भरेत्, आदि=ग्रीक फेरोइस् (phérois), फेरोइ (phéroi), गाथि० बइरइस् (bairais), बइरइ (bairai) थिमैटिक प्रत्यय (विकरण) और विधि लिङ् प्रत्यय (विकरण) के दुर्बल रूप के संकोच (o + ī) से बनाया जाता है।

विधि लिङ् के तिङ् चिह्न मुख्यतः सामान्य गौण चिह्न हैं। आत्मनेपदी उत्तम पुरुष एक वचन में विशिष्ट चिह्न मिलता है जिसका संकेत किया जा चुका है (§ ६), और प्रथम पुरुष बहुवचन का –रन् अल्पसंख्यक भूतकालिक रूपों में मिलता है (अदुह्रन्, 'आदि')। प्रथम पुरुष एकवचन का विचित्र वैदिक रूप दुहीयत् (जिसके अनुसार प्रथम पुरुष बहुवचन दुहीयन् है) *दुहीय पर आधृत जान पड़ता है, जो निर्देशप्रकार (दुहे, अदुह) के ढंग पर –त्– के विना बनाया गया है। शास्त्रीय भाषा में विधि लिङ् वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश से बनाया जाता है। वैदिक भाषा में यह वर्तमानकालिक, लुङन्त तथा परोक्ष लिट् तीनों प्रकार के प्रकृत्यंशों से बनाया जाता है और अभिप्राय प्रकार की तरह इन विविध रूपों के भेद के साथ कोई अर्थभेद संबद्ध नहीं है। धातुरूप लुङ् प्रकृत्यंश से बने विधिरूप अधिक प्रचलित है : अश्याम्, ऋध्याम्, गम्याः, भूयात्, आत्मनेपदी अशीय, आदि। अ–लुङ् और अभ्यासजनित लुङ् में ये रूप बहुत कम मिलते हैं। स्–लुङ् से विधि प्रकार के रूप केवल आत्मनेपद में बनाए जाते हैं और मध्यम पुरुष और प्रथम पुरुष एकवचन नियत रूप से आशीर्लिङ् वाले स् का ग्रहण करते हैं। मसीय (मन्– 'सोचना'), मंसीष्ठाः, मंसीष्ट, गिमिषीय, जनिषीष्ट, यासिषीष्ठाः, आदि। परोक्ष लिट् में विधि रूप सामान्यतः प्रचलित हैं : जगम्याम्, रिरिच्याम्, ववृत्याः, निनीयात्, पपत्यात्, ववृतीय, चक्षमीथाः जग्रसीत, आदि।

विधि प्रकार की प्राचीनतम कोटि वह है, जो धातुरूप प्रकृत्यंश, वर्तमान, अथवा लुङ् प्रकृत्यंश से सम्बद्ध है। यहाँ प्रत्यय (विकरण) धातु के साथ विविध वर्तमानकालिक प्रकृत्यंशों की तरह जोड़ा जाता है और उसके साथ सामान्य गौण तिङ् चिह्न संयुक्त कर दिए जाते हैं : क्री–णा–म् की तरह गम्–या–म्। यह प्रकृत्यंश इसके साथ जुड़े हुए विशिष्ट अर्थ के कारण अपनी निजी पद्धति पर विकसित हुआ है। विधिप्रकार को अपने अन्तिम रूप में उत्पन्न करने वाले मुख्य विकास (१) वर्तमानकालिक प्रक्रिया में विधि लिङ् का ग्रहण (अश्यात् को हटाकर अश्नुयात्), आदि और (२) विधि प्रकार के विकरण के दुर्बलरूप

को जोड़कर थिमैटिक प्रकृत्यंश से विधि रूपों का निर्माण है। प्रथम प्रक्रिया वेद में अभी अपरिपूर्ण है। इस सिद्धान्त के अनुसार विधिप्रकार को बिलकुल स्वतन्त्र प्रकृत्यंश से विकसित होना था और विविध कालबोधक प्रकृत्यंशों के साथ इसका सम्बन्ध गौण है। परोक्षे लिट् के आधार पर विधिरूप इसी दृष्टिकोण के अनुसार माने जाने चाहिए। प्राचीन भारत-यूरोपीय में अभ्यास या द्वित्व, तिङन्त प्रक्रिया के अनेक अंशों में पायी जाने वाली विशेषता थी और दूसरी ओर यद्यपि यह मुख्यतः परोक्षे लिट् से सम्बद्ध हो गयी, यह इस प्रक्रिया की अनिवार्य विशेषता के रूप में आरम्भ नहीं हुई थी। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट है कि अभ्यासजनित विधिरूप अपने मूल में परोक्षे लिट् प्रक्रिया से सम्बद्ध नहीं है। हमें कालबोधक प्रकृत्यंशों से मूलतः स्वतन्त्र विधि प्रकृत्यंश (गम्या-म्) मिलता है, और इसके अलावा मूलतः इतना ही समान स्वतन्त्र अभ्यासजनित विधि प्रकृत्यंश भी (जगम्या-म्)। विधिप्रकार के विविध काल-बोधक प्रकृत्यंशों में अन्तर्भावन के साथ ये अभ्यासजनित विधिरूप आकृत्या परोक्षे लिट् से सम्बद्ध हो गए, किन्तु अर्थ की दृष्टि से इन्होंने कभी भी परोक्षे लिट् की विशेषताओं का ग्रहण नहीं किया। वर्तमानकालिक प्रक्रिया से सम्बद्ध विधि रूपों के अतिरिक्त अन्य सभी विधिरूपों का परवर्ती भाषा में लोप इन विविध रूपों के बीच परस्पर अर्थ-भेद के अभाव के कारण उदित हुआ है।

शास्त्रीय भाषा में आशीर्लिङ् के रूप निम्नलिखित हैं :

परस्मैपदी, एकवचन, उ० पु० भूयासम् , म० पु० भूयाः, प्र० पु० भूयात्।

द्विवचन, उ० पु० भूयास्व, म० पु० भूयास्तम् , प्र० पु० भूयास्ताम्।

बहुवचन, उ० पु० भूयास्म, म० पु० भूयास्त, प्र० पु० भूयासुः।

आत्मनेपदी, एकवचन, उ० पु० भविषीय, म० पु० भविषीष्ठाः, प्र० पु० भविषीष्ट।

द्विवचन, उ० पु० भविषीवहि, म० पु० भविषीयास्थाम्, प्र० पु० भविषीयास्ताम्।

बहुवचन, उ० पु० भविषीमहि, म० पु० भविषीध्वम्, प्र० पु० भविषीरन्।

परस्मैपदी रूप सदा विधिप्रकार के विकरण को स्- से विस्तारित कर उसे जोड़कर सीधे धातु से बनाए जाते हैं। परस्मैपदी प्रथम पुरुष एकवचन का प्राचीन रूप भूयाः था, जो वैदिक भाषा में सुरक्षित है। आत्मनेपदी रूप स्- लुङ् के प्रकृत्यंश से बनाए जाते हैं और इनमें उत्तम पुरुष के सभी वचनों में और प्रथम पु० के ब० व० में आशीर्लिङ् का विकरण स्-अनुपलब्ध है। आशीर्लिङ् ही वर्तमानेतर प्रकृत्यंश से बना एकमात्र प्रकार है, जिसे शास्त्रीय संस्कृत ने सुरक्षित रखा है।

आशीर्लिङ् का प्रयोग शास्त्रीय संस्कृत में सामान्यतः प्रचलित नहीं है और इसके तिङन्त रूपों का परिचय वैयाकरणों के विवरणों पर आधृत है। प्राक्-शास्त्रीय भाषा में वैयाकरणों के द्वारा दिए गए अधिकांश परस्मैपदी रूप इस अपवाद के साथ मिलते हैं कि प्रथम पुरुष एकवचन में प्राचीन रूप प्रयुक्त होता है। आत्मनेपद में वेद में विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ् के बीच कोई अन्तर नहीं है। स्- लुङ् से बना विधिरूप मध्यम पुरुष और प्रथम पुरुष एकवचन में आशीर्लिङ् के विकरण स्- को नियत रूप से अन्तर्भुक्त करता है और यह स्- इस लकार के रूपों में अन्यत्र कहीं भी प्रयुक्त नहीं होता। वेद में आशीर्लिङ् के विकरण स्- से युक्त इस तरह के विधिरूप प्रायः अन्य प्रकृत्यंशों से भी बनाए जाते हैं : धातु लुङ्, पदीष्ट, मुचीष्ट, अ- लुङ् विदेष्ट, अभ्यास-लुङ् रीरिषीष्ट, परोक्षे लिट् सासहीष्ठाः।

परवर्ती वैदिक साहित्य के प्रतिकूल ऋग्वेद में बहुत कुछ ऐसी ही वस्तुस्थिति परस्मैपदी रूपों में प्रचलित है। धातुलुङ् से बने आशीर्लिङ् रूप मध्यम पुरुष एकवचन (जिन्हें इस दशा में सामान्य विधिरूपों से अलग नहीं किया जा सकता) और प्रथम पुरुष एकवचन में बहुसंख्यक हैं। प्रथम पुरुष एकवचन में आशीर्लिङ् रूपों से इतर रूप सर्वथा नहीं मिलते। इन दो पुरुषों से बाहर केवल उत्तम पुरुष एकवचन भूयासम् और उत्तमपुरुष ब० व० क्रियास्म (केवल एक-एक बार) मिलते हैं। अन्यथा मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष एकवचन से बाहर केवल -या वाले रूप मिलते हैं। यह स्पष्ट है कि उत्तम पुरुष के दोनों आशीर्लिङ् रूप परवर्ती ऋग्वेदिक काल के नवीनीकरण हैं और मूल स्- वाले रूप केवल मध्यम पुरुष और प्रथम पुरुष एकवचन से सम्बद्ध थे और वहाँ आत्मनेपद की तरह सदा प्रयुक्त होते थे। इसलिये इन रूपों की उपर्युक्त हित्ती धातुरूपों के साथ तुलना की जा सकती है (§ १० √एकवचन, उत्तम पुरुष तर्नहुन् (tarnahun), मध्यम पुरुष तर्नश् (tarnaš), प्रथम पुरुष तर्नश् (tarnaš) बहुवचन उत्तम पुरुष तर्नुमेन् (tarnumen) मध्यम पुरुष तर्नतिन् (tarnatin), प्रथम पुरुष तर्निर् (tarnir)), जिनमें स्- मध्यम पुरुष प्रथम पुरुष एकवचन के सामान्य चिह्न का काम करता है, किन्तु अन्य पुरुषों में नहीं मिलता। अपने प्राचीनतम रूप में संस्कृत आशीर्लिङ् जिसे धातु लुङ् के विधिरूप से, अथवा आत्मनेपद में स्- लुङ् के विधिरूप से अलग नहीं किया जा सकता, गौण तिङ् चिह्नों की एक कोटि की इस प्राचीन विशेषता को सुरक्षित रखता है। दूसरी ओर इस लकार के शेष रूपों में इन दो पुरुषों में विधि लिङ् ने सामान्य गौण तिङ् चिह्नों को अपना लिया है। इस प्रकार आशीर्लिङ् संस्कृत व्याकरण के अत्यधिक आर्ष रूपों में से एक है।

१५. गौण तिङन्त प्रक्रिया

गौण तिङन्त प्रक्रिया के अंतर्गत वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश के उन कतिपय रूपों को वर्गीकृत किया जाता है, जो वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश की साधारण कोटियों से इसलिये भिन्न हैं कि (१) उन्होंने विशिष्ट अर्थ का ग्रहण कर लिया है और (२) ये सामान्यतः अपने साधारण वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश के अतिरिक्त धातुरूप के द्वारा गृहीत होते हैं। गौण तिङन्त प्रक्रिया की चार कोटियाँ हैं : (१) कर्मवाच्य प्रक्रिया, (२) पौनःपुन्यबोधक या यङन्त प्रक्रिया, (३) प्रेरणार्थक या णिजन्त प्रक्रिया और (४) इच्छार्थक या सन्नन्त प्रक्रिया । ये सभी अनिवार्यतः वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश हैं और कतिपय अपवादों के साथ अन्य काल तथा प्रकारों में उनकी तिङन्त प्रक्रिया कम-ज्यादा नवीनीकरण से युक्त हैं।

(१) कर्मवाच्य प्रक्रिया—कर्मवाच्य रूपों की रचना चतुर्थगण के वर्तमानकालिक रूपों से घनिष्ठतया संबद्ध हैं। उक्त गण के आत्मनेपदी रूपों से यह केवल स्वराघात की स्थिति की दृष्टि से ही भिन्न है। कर्मवाच्य में स्वराघात कर्मवाच्य के प्रत्यय य पर होता है, जबकि चतुर्थ गण के रूपों में यह प्रकृत्यंश पर पाया जाता है : मन्यते 'सोचता है', किन्तु बध्यते 'बाँधा जाता है'। यह भेद गौण है, क्योंकि चतुर्थ गण में धात्वंश अपने दुर्बल रूप में मिलता है (इष्यति, इष्यते) और यह वास्तविक प्रत्ययांश वाले स्वराघात का संकेत करता है। इनके अलावा कुछ ऐसे प्राचीन अकर्मक (कर्मवाच्य नहीं) रूप हैं, जिनमें प्रत्ययांश पर स्वराघात है : म्रियते 'मरता है', ध्रियते 'स्थिर है'। कतिपय कर्मवाच्य और अकर्मक रूपों में भी स्वराघात का स्थान-परिवर्तन मिलता है, मुच्यते और मुच्यते 'मुक्त किया जाता है', क्षीयते और क्षीयते 'नष्ट किया जाता है', जीयते और जीयते 'जीता जाता है', पच्यते और पच्यते 'पकाया जाता है'।

इस रूप में कर्मवाच्य ईरानी में भी मिलता है (अवे० किर्यइन्ते kiryeintē = क्रियन्ते), किन्तु अन्यत्र नहीं। यह चतुर्थ गण के आधार पर बनाया गया नवीन भारत-ईरानी रूप है और इसका उद्गम उक्त गण में विशेष रूप से आत्मनेपदी विभक्तिचिह्न से युक्त अकर्मक धातुओं के बहुप्रचलन के कारण है : जायते 'पैदा किया जाता है', पच्यते 'पकता है', तप्यते 'तपता है' आदि। चूँकि इनमें से कुछ धातु इनके अतिरिक्त सकर्मक वर्तमानकालिक रूपों को भिन्न प्रकार से बनाते थे (तपति 'गरम करता है' आदि), ये मजे से वह मूल केन्द्रविन्दु बन सके, जिससे कर्मवाच्य-प्रक्रिया विकसित हुई। कर्मवाच्य में प्राचीन स्वराघात के संरक्षण के द्वारा भेदीकरण किया गया, जिसके स्थान पर चतुर्थ गण के रूपों में धात्वंश पर उदात्त स्वर अपना लिया गया था। उपर्युक्त वे

उदाहरण, जिनमें स्वराघात का परिवर्तन मिलता है, मुख्यतः प्राचीन अकर्मक रूप हैं, जो कर्मवाच्य के रूप में अपना लिए गए हैं (मुच्यते 'मुक्त होता है' आदि)। संस्कृत में इन रूपों में आत्मनेपदी तिङन्त चिह्न सार्वत्रिक है (कुछ प्राचीन और अशुद्ध पौराणिक आर्ष रूपों के अलावा; दृश्यति 'दिखाई देता है' आदि) किन्तु ईरानी में परस्मैपदी रूप अप्रचलित नहीं है, अवे० बइर्येइति (bairyeiti) 'ले जाया जाता है', प्रा० फ़ारसी श़ह्यामह्य् (ƨahyāmahy) 'हम बुलाये जाते हैं', आदि। संभवतः आरंभ में यह प्रयोग अनिश्चित था और आत्मनेपदी का एकमात्र प्रयोग आगे चलकर भारतीय-आर्य में विशेषीकृत हो गया।

कर्मवाच्य के तिङन्त रूप केवल वर्तमानकालिक प्रक्रिया में चलते हैं। परोक्षभूते लिट् और भविष्यत् में आत्मनेपदी रूप बहुधा कर्मवाच्य का कार्य करते हैं : चक्रे 'किया गया', करिष्यते 'किया जायगा'। लुङ् रूप की प्रक्रिया में स्वतन्त्र संघटना का कर्मवाच्य प्रथम पुरुष एकवचन रूप (अकारि) है, जिसका विवेचन पहले ही किया जा चुका है। ठीक प्राक्पाणिनीय-युग में अन्य रूपों को जोड़कर इसे विस्तारित करने की प्रवृत्ति थी, जो अधिक दूर तक नहीं बढ़ी। वैदिक साहित्य में इनमें से कोई रूप नहीं मिलते, किन्तु वैयाकरण स्वर ध्वनियों से अन्त होने वाले धातुओं और ग्रह्–, दृश्–, हन्– धातुओं के लिये इन पर आधृत विशिष्ट कर्मवाच्य लुङ् रूपों का संकेत करते हैं, उदा० उत्तम पुरुष एकवचन अदायिषि, प्रथम पुरुष ब० व० अघायिषत, आदि : प्रथम पुरुष ए० व० अदायि, अघानि। इस प्रकार का प्रकृत्यंश आगे चलकर भविष्यत् तक बढ़ा दिया गया; उत्तम पुरुष ए० व० दायिष्ये, प्रथम पुरुष ए० व० घानिष्यते, आदि। ऐसे रूप शास्त्रीय संस्कृत में अत्यधिक न्यूनता से उपलब्ध होते हैं और ये सब व्याकरण से लिये गये पांडित्यपूर्ण प्रयोग हैं।

समापिका क्रिया रूपों के अतिरिक्त कर्मवाच्य अर्थ का बोधन कर्मवाच्य निष्ठा प्रत्यय –त और भविष्यत्कालिक कर्मवाच्य प्रत्यय –तव्य के द्वारा कराया जा सकता है। भारतीय आर्य के परवर्ती इतिहास में, प्राकृत-काल में, कर्तृवाच्य भूतकालिक तिङन्त प्रक्रिया के समस्त रूप लुप्त हो गए और उनका स्थान –त प्रत्यय वाले कर्मवाच्य वाक्यविन्यास ने ले लिया। यह प्रक्रिया परवर्ती संस्कृत साहित्य में प्रतिबिम्बित है ; अहं ब्राह्मणं अपश्यम् 'मैंने ब्राह्मण को देखा' के स्थान पर मया ब्राह्मणो दृष्टः 'मेरे द्वारा ब्राह्मण देखा गया' यह सामान्य वाक्यविन्यास चल पड़ा। इसी से संबद्ध भाववाच्य रूपों का बढ़ता हुआ प्रयोग है : इह स्थीयताम् 'यहाँ बैठिये' (शब्दार्थ 'यहाँ ठहरा जाय') तेन भवितव्यम् 'वह होगा' (उसके द्वारा होना चाहिये) आदि। इस प्रकार

की परवर्ती संस्कृत भाषा अधिकांशतः प्रच्छन्न प्राकृत है। इस पद्धति ने पाणिनीय तिङन्त पदरचना की समृद्धिमत्ता की अत्यधिक अवहेलना की और यह सरलीकृत संस्कृत जनसामान्य के समझने योग्य बन गयी।

(२) पौनःपुन्यबोधक या यङन्त—यङन्त प्रक्रिया वर्तमानकालिक धातुओं का वह रूप है, जिसमें धातु के द्वारा अभिव्यंजित क्रियातिशय या पुनरुक्ति के भाव का बोध कराया जाता है। यह वैदिक भाषा में ९० से अधिक धातुओं द्वारा प्रमाणित होने के कारण सामान्य प्रचलन से युक्त है। शास्त्रीय संस्कृत में वैयाकरणों द्वारा प्रत्येक धातु से बनाये जाने की स्वीकृति होने पर भी, इसका अत्यधिक न्यून प्रचलन पाया जाता है। इसमें धातु के सबल द्वित्व (अभ्यास) से युक्त प्रकृत्यंश की स्थिति पायी जाती है। इकारांत तथा उकारांत धातुओं में द्वित्व रूप में संबद्ध गुण स्वर-ध्वनि पायी जाती है : प्रथम पुरुष एक-व० परस्मैपदी नेनेक्ति, वेवेत्ति, आत्मनेपदी नेनिक्ते, देदिष्टे (निज्– 'साफ करना', विद्– 'जानना', दिश्– 'संकेत करना'); प्रथम पुरुष ए० व० परस्मैपद जोहवीति, नोनवीति, उत्तम पुरुष ब० व० नोनुमः (ह्वे– 'बुलाना' नु– 'गरजना')। जहाँ मूलधातु की स्वरध्वनि अ है, वहाँ द्वित्व अक्षर में संबद्ध दीर्घ स्वरध्वनि मिलती है : प्रथम पुरुष ब० व० चाकशीति, पापतीति, प्रथम पुरुष ब० व० नानदति (काश्– 'मालूम होना', पद्– 'गिरना', नद्– 'गरजना') जहाँ धातुओं में र् (ल्) अथवा अनुनासिक ध्वनि है, वहाँ द्वित्व अक्षर में इस व्यंजनध्वनि की भी पुनरुक्ति होती है : उत्तम पुरुष ए० व० चर्कर्मि, मध्यम पुरुप ए० व० दर्दर्षि, प्रथम पुरुष ए० व० जङ्घन्ति, चल्चलीति, विषमीकरण के साथ अलर्ति, प्रथम पुरुष आत्मनेपद नन्नते (कृ– 'उत्सव मनाना', दृ– टुकड़े-टुकड़े करना', हन्– 'मारना', चल्– 'चलना', अर्– 'उदित होना, जाना', नम्– झुकना')। इस कोटि के धातुओं के साथ कभी-कभी दीर्घ आ वाला वैकल्पिक द्वित्व भी प्रयुक्त किया जाता है : जागर्ति 'जगा है' आदि। बहुधा सबल द्वित्व और धातु के बीच इ–ई जोड़ दिया जाता है; प्रथम पुरुष एकवचन वरीवर्ति, कनिक्रन्ति, गनीगन्ति, प्रथम पुरुष बहुवचन दविद्युतति, भरिभ्रति (वृत्– 'लौटना', क्रन्द् 'चिल्लाना', गम्– 'जाना', द्युत्– 'चमकना', भृ– 'ले जाना')। धातु की अपश्रुतिगत स्थिति सामान्य प्रक्रिया का अनुगमन करती है; यह परस्मैपद के तीनों पुरुषों में सबल है, किन्तु अन्यत्र दुर्बल : प्रथम पुरुष एकवचन परस्मैपद नेनेक्ति बहुवचन नेनिजति, प्रथम पुरुष एकवचन आत्मनेपद नेनिक्ते। जब परस्मैपद एक-वचन में धातु के बाद ई जोड़ा जाता है, तो धात्वंश में ही गुण होता है, जहाँ यह दीर्घ अक्षर को उत्पन्न नहीं करता : जोहवीति, किन्तु वेविदीति। शास्त्रीय व्याकरण के अनुसार सबल रूपों और प्रथम पुरुष बहुवचन में स्वराघात द्वित्व अक्षर पर

है, (वेवेत्ति, वेविदति), अन्यत्र तिङ् विभक्त्यंश पर (वेविद्म आदि), किन्तु वैदिक प्रयोग में अस्थिरता पायी जाती है; तेतिक्ते आदि के अतिरिक्त प्रथम पुरुष एकवचन आत्मनेपद नेनिक्ते, आदि ।

इसके तिङ् विभक्तिचिह्न (द्वित्व गण के प्रथम पुरुष बहुवचन में –अति विभक्तिचिह्न के साथ) सामान्यतः वे ही हैं। इसका सामान्य लक्षण संयोजक स्वरध्वनि ई का प्रयोग है। यह तत्त्व शुद्ध धातुरूप (अदादि) गण में भी देखा गया है (ब्रवीति, आदि), किन्तु यह क्रियातिशयबोधक रूपों में अत्यधिक प्रचलित है : जोहवीति, तर्तरीति, दर्दरीति आदि । जब इसी प्रकार का ई द्वित्व के बाद मिलता है, तो यह तत्त्व प्रयुक्त नहीं होता। इसका प्रयोग तीनों पुरुषों के एकवचनांत रूपों में और केवल एक बार द्विवचनांत रूप (तर्तरीथः) में किया जाता है। आत्मनेपदी प्रथम पुरुष एकवचन में –ए विभक्तिचिह्न उतना ही बहुतायत से मिलता है जितना –ते विभक्तिचिह्न : चंक्रिते, जुगुवे, योयुवे आदि। अनद्यतन भूते लङ् के प्रथम और मध्यम पुरुष एकवचन में सामान्य ध्वनिलोप मिलता है : मध्यम पुरुष एकवचन *अदर्दर्–स और प्रथम पुरुष एकवचन अदर्दर्–त् के लिए अदर्दः (अदर्दर्)। लङ् में संयोजक स्वरध्वनि –ई– प्रथम पुरुष एकवचन में (अजोहवीत्) और प्रथम पुरुष द्विवचन में एकबार (अवावशीताम्) मिलता है। परस्मैपदी प्रथम पुरुष बहुवचन का विभक्तिचिह्न जुहोत्यादि (द्वित्व) गण की तरह –उः (उर्) है : अजोहवुः (अजोहवुर्)।

क्रियातिशयबोधक हेतुमत् प्रकार के रूपों की रचना सामान्यतः गौण विभक्तिचिह्नों के द्वारा करता है। धातुज प्रकृत्यंश का गुणरूप तभी मिलता है, जब यह दीर्घ स्वरध्वनि को निष्पन्न नहीं करता; प्रथम पुरुष एकवचन जङ्घनत्, बोभवत्, चकृपत्, दविद्युतत्। आज्ञार्थे लोट् के रूप भी अप्रचलित नहीं हैं : मध्यम पुरुष एकवचन दर्दृहि, चर्कृधि, प्रथम पुरुष एकवचन वेवेष्टु, दधर्तु, मध्यम पुरुष बहुवचन जागृत; –तात् के साथ मध्यम पुरुष एकवचन चर्कृतात्, जगृतात्। संयोजक स्वरध्वनि ई से युक्त कतिपय रूप ये हैं : जङ्घनीहि, जोहवीतु। विधिलिङ् के रूप अधिक न्यून हैं (वेविष्यात्– अथर्ववेद)।

कतिपय क्रियातिशयबोधक रूप लिट् विभक्तिचिह्नों से युक्त मिलते हैं। ये रूप उपर्युक्त रूपों के परोक्षभूते प्रयोग नहीं हैं, किन्तु लिट् के प्राचीन अर्थ के अनुसार वर्तमानकाल की ही वैकल्पिक कोटि है। इस प्रकार के क्रियातिशय-बोधक वर्तमान के सामान्य अर्थ से युक्त रूप ये हैं : दविधाव, नोनाव, दोद्राव, लेलाय।

उपर्युक्त ढंग से ही द्वित्व रूप में निष्पन्न क्रियातिशयबोधक रूपों की द्वितीय कोटि भी है, किन्तु यह अपना प्रकृत्यंश स्वराघात युक्त –य– प्रत्यय (विकरण)

को जोड़कर बनाती है और केवल आत्मनेपदी प्रक्रिया में रूपनिर्माण करती है : मर्मृज्यते, देदीप्यते, दोधूयते आदि (मृज्- साफ करना' दीप्- 'चमकना' धू- 'कँपाना या हिलाना')। यह कोटि वैदिक भाषा में कम मिलती है, किन्तु शास्त्रीय संस्कृत में मूल कोटि की अपेक्षा अधिक प्रचलित है।

संस्कृत की मूलकोटि से सम्बद्ध क्रियातिशयबोधक रूप प्राचीन ईरानी में प्रचलित थे : तुल० अवेस्ता ज़ओज़आमि (zaozaomi), चरॅकॅरॅमहि (čarəkərəmahi), (विधिरूप) दर्दइर्यात् (dardairyāt) दएदोइश्त् (daēdōšit), (थिमैटिक) नएनिझ़इति (naēnižaiti), जो संस्कृत क्रियातिशयबोधक प्रकृत्यंश जोहव्-, चर्कर्-, दर्दर्, देदिश्- और नेनिज्- से मिलते जुलते हैं। यद्यपि यह रूप भारत-ईरानी से बाहर अभिलिखित नहीं है, तथापि भारत-यूरोपीय में स्पष्टतया प्राचीन है। इस रूप के अन्यत्र न मिलने का कारण अधिकांश भारत-यूरोपीय भाषाओं में अथिमैटिक धातुरूपों का सामान्य परित्याग है। इसके प्रतिकूल यद्यपि द्वितीय कोटि के यङ्लुङन्त रूप (देदीप्यते) प्राचीन संस्कृत में बहुत कम मिलते हैं, तथापि अन्यत्र खासतौर पर ग्रीक में समानान्तर रूप रखते हैं : पोर्फूरो (porphūrō) 'घूमते रहना' (सं० भुर्-), पम्फइनो (pamphaínō) 'तेजी से चमकना', दर्दप्तो (dardáptō) 'फाड़ देना', मर्मइरो (marmaírō) 'चमचमाना', आदि।

३. णिजन्त या प्रेरणार्थक रूप

णिजन्त या प्रेरणार्थक प्राचीन युग से ही गौण तिङन्त प्रक्रिया में सबसे अधिक उत्पादक रूप रहा है। प्रेरणार्थक प्रकृत्यंश धातु के साथ -अय- प्रत्यय (विकरण) के समायोग के द्वारा बनाया जाता है, जो साधारणतः अपने सकल रूप में मिलता है और धातु के दशम गण के प्रकृत्यंश से अभिन्न है। विशेषतः आरम्भिक भाषा में -अय- विकरणयुक्त तिङन्त रूपों की एक बहुत बड़ी संख्या है, जो प्रेरणार्थक प्रक्रिया का वहन नहीं करती। इनमें से कुछ पौनः-पुन्यबोधक अर्थ से युक्त हैं (पतयति 'इधर-उधर उड़ता है', आदि) जो तुलनात्मक साम्य के आधार पर प्राचीन है (ग्रीक पोतेओमइ poteomai)। -अय- प्रकृत्यंश के साथ जोड़े गये अनेक प्रयोगों में से प्रेरणार्थक प्रयोग अन्यतम है, किन्तु समय पाकर यह प्रमुख बन बैठा है। आरम्भिक भाषा में सबल धात्वंश वाले प्रेरणार्थक प्रकृत्यंशों में और निर्बल धात्वंशों वाले प्रेरणारहित प्रकृत्यंशों में भेद है : द्युतय-, रुचय- 'चमकना', 'प्रकाशित होना', : द्योतय-, रोचय-, 'चमकाना या प्रकाशित करना' आदि, इसी प्रकार पतय- 'इधर-उधर उड़ना', पातय 'किसी को गिराना' में गुण और वृद्धि में भेद है। यह भेद पूर्ण नहीं है

क्योंकि प्रेरणार्थक भाव का बोधक कराने वाले निर्बल धात्वंशयुक्त रूप भी मिलते हैं (दृंहय–'दृढ़ करना') और इसके विरुद्ध प्रेरणारहित अर्थ वाले सबल धात्वंशयुक्त रूप भी मिलते हैं (मादय– 'नशे में होना')। परवर्ती भाषा में अधिकांश प्रेरणारहित रूप लुप्त हो गए हैं और जो कुछ बच रहे हैं, वे दशम गण की रचना में नाम धातुओं की प्रक्रिया के साथ जोड़ दिए गए हैं।

प्रेरणार्थक रूपों में धात्वंश की सदा गुण कोटि पायी जाती है, जहाँ यह दीर्घ अक्षर को उत्पन्न करती है : तृप्– 'संतुष्ट होना', वृध्– 'बढ़ना', क्लृप्– 'बनाना या जमना', बुध्– 'जानना', चित्– 'ध्यान देना' से तर्पयति, वर्धयति, कल्पयति, बोधयति, चेतयति। वे धातु जो अपने सबल रूपों में नासिक्य तत्त्व को जोड़ते हैं, प्रेरणार्थक में भी गुण कोटि के साथ इसका प्रयोग करते हैं : मन्दयति 'खुश करता है', स्रंसयति 'गिराता है' आदि। जिन धातुओं में गुणकोटि में लघु अक्षर मिलता है (कर्– आदि), उनमें प्रेरणार्थक में सामान्यतः वृद्धि रूप का प्रयोग होता है : कारयति 'कराता है', त्रासयति 'डराता है', नाशयति 'नष्ट करता है', च्यावयति 'गिराता है', आदि। किन्तु इस प्रकार के धातुओं में से कुछ अपने गुणरूप को सुरक्षित रखते हैं : गमयति 'जाने को प्रेरित करता है; त्वरयति 'जल्दी आता है', नमयति 'झुकाता है', आदि। धातु का असबलीकृत रूप उन धातुओं के साथ मिलता है, जिनका दूसरा रूप नहीं पाया जाता (गुह्– 'छिपाना' से गूहयति), अन्यत्र केवल न्यूनतया उपलब्ध है (गिरयति, स्फुरयति)। दूषयति 'बिगाड़ता है' (अकर्मक दुष्यति, नामिक शब्द दोष–) में दीर्घ स्वरध्वनि सामान्य सबलीकरण के बजाय है। पूरयति 'पूर्ण बनाता है' जैसा असामान्य रूप निष्ठारूप पूर्ण– के द्वारा प्रभावित है।

आकारांत धातु सामान्यतः णिजन्त प्रत्यय (विकरण) के पूर्व –प्– जोड़ देते हैं। दा 'देना', स्था 'ठहरना', मा 'मापना' से दापयति, स्थापयति, मापयति आदि। यह –प्– एक प्राचीन विकरण या विस्तार है जो तुलनात्मक साध्य से इस प्रकार के कतिपय धातुओं के साथ जोड़ा हुआ जान पड़ता है (लिथु० स्तपीतिस् stapytis 'निश्चल खड़े रहना'), और यह णिजन्त में पूरे वर्ग के साथ विस्तारित कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग ऋकारांत धातु (अर्पयति) और कुछ इकारांत धातुओं के साथ जोड़ा जाता है : अधि + इ 'पढ़ना' से अध्यापयति आदि। रोपयति 'उगाता है, रोपता है' (रुह्– 'उगना') में यह तत्त्व धातु के पदांत व्यंजन को हटा कर उसका स्थान ले लेता है। मध्यभारतीय आर्यभाषा में णिजन्त का यह प्रकार तब तक बढ़ता रहा, जब तक कि इसने सामान्य रूपों को हटा नहीं दिया। इस प्रकार के कतिपय प्राकृतीकृत रूप

परवर्ती संस्कृत में मिलते हैं (क्रीडापयति 'खेलने की प्रेरणा देता है', जीवापयति 'जिलाता है' आदि)।

णिजन्त प्रत्यय के पूर्व कतिपय अन्य छिट-फुट अंतःप्रत्यय मिलते हैं जैसे –ल्– : पालयति 'रक्षा करता है' (पा–); प्रीणयति 'खुश करता है' (प्री–, प्रीणाति) में न्; भीषयते 'डराता है' में स्; घातयति 'हत्या करवाता है' (हन्–) में –त्– ।

वर्तमानकालिक प्रक्रिया से बाहर के लकारों के रूप अन्य गौण तिङन्तप्रक्रिया की अपेक्षा णिजन्त रूपों से कहीं अधिक बनाए जाते हैं। भविष्यत्कालिक रूप (वर्धयिष्यति, आदि) ऋग्वेद में बहुत कम मिलते हैं, किन्तु आगे चलकर नियमित रूप में बनाया जाने लगे। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है लुङन्त रूपों में प्रेरणार्थक भाव के द्योतन के लिये अभ्यासरूप या द्वित्व लुङ् का प्रयोग चल पड़ा है। इसके अतिरिक्त पुरानी भाषा में कुछ छिट-फुट इष्– लुङ् के रूप मिलते हैं (अवादयिष्ठाः, आदि)। परोक्षभूते लिट् के लिये सहायक क्रिया के योग से बनाया हुआ रूप प्रयुक्त होता है। गमयां/चकार (गमयाञ्चकार), गमयां/आस (गमयामास)। कर्मवाच्य की रचना उस धातु रूप के साथ सीधे कर्मवाच्य प्रत्यय (विकरण) य् जोड़कर की जाती है, जो णिजन्त प्रक्रिया में मिलता है; कार्यते, स्थाप्यते, आदि, (शुद्ध कर्मवाच्य रूप; क्रियते, स्थीयते)। णिजन्त प्रकृत्यंश से बने नामिक रूप ये हैं; –त प्रत्यय वाले निष्ठारूप कारित–, भविष्यत्कालिक कृदन्त कारयितव्य–, कार्य–, कारणीय–, तुमन्त, कारयितुम्, पूर्वकालिक रूप, कारयित्वा। पूर्वकालिक प्रत्यय –य सीधे धातु के साथ जोड़ा जाता है, जहाँ यह णिजन्त में सबल कर दिया जाता है (–कार्य), अथवा णिजन्त प्रत्यय अय् के साथ जोड़ा जाता है (–गमय्य)।

–अय अन्त वाले वर्तमानकालिक रूप नामिक इकारान्त प्रातिपदिकों से घनिष्ठतया सम्बद्ध हैं (रोचि– / रोचय्–, रोचयति)। प्रेरणार्थक प्रकृत्यंश इस प्रत्यय के थिमैटिक विस्तार से युक्त है जो उस कोटि का है जो नामिक पदों की रचना में बहुत कम मिलता है। यह रूप गुण स्वरध्वनियों की कोटि का वहन करने के कारण भारत-यूरोपीय में सम्भवतः अत्यधिक प्राचीन नहीं है, किन्तु, यह काफी विस्तार से मिलता है। ग्रीक त्रोपेओ (tropéō), स्त्रोफेओ (strophéō), त्रेपो (trepō) स्त्रेफो (stréphō), लैटिन स्पोन्देओ (spondeo) (ग्रीक स्पेन्दो spendō), मोनेओ (moneo), गॉथिक नस्यन् (nasjan), द्रउस्यन् (drausjan) (ग–निसन् (ga–nisan, द्रिउसन् driusan), आदि। वहाँ इसका अर्थ प्रायः ग्रीक की तरह पौनःपुन्यवाचक है अथवा प्रेरणार्थक है। परवर्ती अर्थ जर्मन शाखा में (नस्यन् (nasjan) 'रक्षा करना, बचाना',

ग–निसन् (ga–nisan) 'बचाया जाना') और स्लावी शाखा में सामान्यतः प्रचलित है। जहाँ वर्नर का नियम लागू होता है, वहाँ जर्मन शाखा संस्कृत की तरह प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर की स्थिति को पुष्ट करती है : वइर्पन् (wai-rpan) : फ़्रवर्द्यन् (frawardjan)। संस्कृत –इत वाले निष्ठा प्रत्यय से मिलते-जुलते कृदन्त रूप भी मिलते हैं; फ़्रवर्दिप्स् (frawardips) जो इस प्रकार पुराने दिग्दर्शित किए गए हैं। स्लावी में संस्कृत की तरह वृद्धि से युक्त प्रेरणार्थक रूपों की एक तालिका मिलती है और यह उन खास विशेषताओं में से एक है जो इन दो शाखाओं को भारत-यूरोपीय से जोड़ती है। प्राचीन स्लावी सादिति '(पेड़) रोपता है' तुल० संस्कृत सादयति 'बिठाता है या ठहराता है, स्लाविति 'स्तुति करना', तुल० संस्कृत श्रावयति 'सुनने की प्रेरणा देता है, सुनाता है'।

४. इच्छार्थक या सन्नन्त : इच्छार्थक या सन्नन्त प्रकृत्यंश धातु के द्वित्व या अभ्यासजनित रूप के साथ –स प्रत्यय (विकरण) जोड़कर बनाया जाता है। अभ्यासरूप अक्षर की स्वरध्वनि प्रायः इ होती है, किन्तु जहाँ धातु में उ स्वर ध्वनि पायी जाती है, वहाँ अभ्यासजनित अक्षर में उ का प्रयोग होता है : बिभित्सति, तितृप्सति, किन्तु युयुत्सति (भिद्– 'टुकड़े करना', तृप्– 'सन्तुष्ट करना', युध्– 'युद्ध करना',)। दीर्घ ई बहुत कम उदाहरणों में मिलता है मीमांसते 'मीमांसा करता है' (मन्– 'सोचना')। उदात्त स्वर सदा अभ्यास-जनित अक्षर पर रहता है।

धात्वंश प्रायः अपने दुर्बल रूप में मिलता है, किन्तु पदान्त इ तथा उ को दीर्घ बना दिया जाता है : जिगीषति 'जीतने की इच्छा करता है' (जि–) जुहूषति 'हवन करने की इच्छा करता है' (हु–)। धातु का पदांत ऋ सन्नन्त –स के पूर्व ईर् अथवा ऊर् हो जाता है : चिकीर्षति 'करने की इच्छा करता है', तितीर्षति 'पार करने की इच्छा करता है', मुमूर्षति 'मरनेवाला है'। यह ध्वन्यात्मक दृष्टि से केवल दीर्घ ॠकारांत धातुओं के साथ ही युक्तिसंगत है, अर्थात् उन धातुओं के साथ जो मूलतः पदांत ? (H) ध्वनि से युक्त थे (तॄ–, तर् (?)– : तितीर्षति) और इनसे यह अन्यत्र भी विस्तारित कर दिया गया है।

कुछ धातु सन्नन्त प्रक्रिया में एक समाहृत प्रकृत्यंश का निर्माण करते हैं जिसमें अभ्यास तथा धातु दोनों को एक ही अक्षर में संकुचित कर दिया जाता है। एक उदाहरण दभ्– से बना दिप्सति है। इससे मिलता-जुलता रूप अवेस्ता में दिव्ज़इद्यइ (diwžaidyai) (तुमन्त) है और इन दोनों रूपों की तुलना से भारत-ईरानी मूल दिब्ज़्ह– (dibžha) उदित होता है। यह रूप मूल

संयुक्त व्यंजनों के सरलीकरण का प्रतिनिधित्व करता है जो उस समय हुआ, जब कि धातु की स्वरध्वनि उसके अपने दुर्बल रूप में लुप्त कर दी गयी थी अर्थात् नियमित रूप से बना हुआ सन्नन्त रूप दि-द्भ्- स-,। इसी प्रकार शक् और सह् से शिक्षा और सीक्षा मिलते हैं, परवर्तीकाल में धीक्षा-, रिप्सा-, लिप्सा-, (दह-, रभ्-, लभ्-), आदि भी, और इनके साथ स्वरध्वनि से आरंभ होने वाले धातुओं (आप्- 'प्राप्त करना', ऋध्- 'फलना-फूलना') से बने ईप्स- और ईर्त्स को जोड़ा जा सकता है। दा और धा धातु क्रमशः दित्स- और धित्स- सन्नन्त रूप बनाते हैं जिनमें धातु की आ ध्वनि नियमित रूप से दुर्बल कोटि में लुप्त हो गयी है (दि- द्- स-, दि- ध्- स-)।

वन्- 'जीतना' तथा सन्- 'प्राप्त करना' धातु अन्य सन्नन्त रूपों की तरह -नृ ?- (-n̥ H-) से विकसित आ से युक्त सन्नन्त प्रकृत्यंश विवास- और सिपास- बनाते हैं।

उपर्युक्त धातुओं के अतिरिक्त अन्य आकारांत धातु सामान्यतः सन्नन्त प्रक्रिया में सबल रूप को बनाये रखते हैं: या- 'जाना', पा- 'पाना' से यियास-, पिपासा-। यह नीचे वर्णित सबल कोटि वाले अन्य रूपों की तरह संस्कृत का नवीनीकरण है, जैसा कि दित्स- जैसे प्राचीन रूपों की सुरक्षा से और पिपास के साथ-साथ वैदिक पि- प्- ई- ष- (पिपीष-) के अस्तित्व से स्पष्ट है। नासिक्य ध्वनि से युक्त तिङन्त प्रक्रिया वाले कतिपय धातुओं में विचित्र सबल रूप मिलते हैं: हन्-, गम्-, से जिघांस-, जिगांस- (जिगमिष- के साथ-साथ)। जब सन्नन्त प्रत्यय समायोजक स्वरध्वनि के साथ इष रूप में मिलता है, तो धातु के पदान्त इ, उ, ऋ अनिवार्यतः और पदमध्य इ, उ, ऋ विकल्प से गुणकोटि में मिलते हैं: शिशयिष, निनर्तिष, आदि, किन्तु साथ ही रुरुदिष-। ये और ऐसे ही रूप वैयाकरणों के द्वारा संकेतित किए गए हैं, किन्तु ये प्राचीन भाषा में नहीं मिलते।

अन्य तिङन्त रूपों की तरह सन्नन्त स के पूर्व योजक स्वरध्वनि इ का आगम पाया जा सकता है और यह -इष- के रूप में मिल सकता है। प्राचीन भाषा में केवल दिध्-इ- ष (दिधिष) (धा, धित्स- के अतिरिक्त) है; कतिपय स्थलों पर दीर्घ ई भी मिलता है जहाँ यह विस्तार धातु के वैकल्पिक व्यावहारिक रूप से उद्भूत हुआ है (पिपीष-, जिहीष-)। अनेकसंख्यक इष वाले शास्त्रीय संस्कृत रूप (जिनमें उपर्युक्त संकेत के अनुसार सामान्यतः धात्वंश की गुणकोटि पायी जाती है) पूर्णतः नवीनीकरण हैं। सन्नन्त प्रकृत्यंश से निम्न तिङन्त रूप बनाये जाते हैं, यद्यपि प्राचीन भाषा में नहीं: इष्य से युक्त भविष्यत्: तितिक्षिष्ये, इष्- लुङ्, अचिकीर्षिषम् और सहायक क्रिया से युक्त

परोक्षभूते लिट्, ईप्सां चकार/आस। सन्नन्त प्रकृत्यंश से बने नामिक रूप पहले भी मिलते हैं, अत्यधिक प्रचलित –उ प्रत्ययांत विशेषण (तितिक्षु) और आ प्रत्ययांत भाववाचक संज्ञा (मीमांसा) हैं।

अधिकांश सन्नन्त प्रकृत्यंशों में अर्थ ('किसी वस्तु या कार्य को करने की इच्छा') स्पष्ट तथा साक्षात् है, यद्यपि यह अर्थ कभी-कभी 'किसी वस्तु को करने को तैयार' (मुमूर्षति) हो सकता है। कतिपय धातुओं के संबंध में सन्नन्त प्रकृत्यंश से एक विशिष्ट अर्थ का विकास कर लिया है: चिकित्स– 'इलाज करना' जुगुप्स– 'घृणा करना', तितिक्ष– 'सहन करना', बीभत्स– (बाध्) 'घृणा करना' मीमांस– 'मनन करना', शुश्रूष– 'सेवा करना'।

भा० यू० में सन्नन्त की प्राचीनता उन समाहृत रूपों (दित्स–, दिप्स–) से प्रमाणित है जो प्राचीन अपश्रुति के द्वारा प्रभावित रहे हैं। इतना होने पर भी यह प्रक्रिया अधिक विस्तृत रूप में प्रतिष्ठापित नहीं मिलती और यह तथ्य वैयक्तिक भाषाओं में इसके लोप के कारण होना चाहिए। भारत-ईरानी से बाहर तुलनीय रूप भा० यू० की केवल एक शाखा केल्टिक में मिलते हैं। चूँकि इस प्रकार के इन दो सदस्यों के बीच कोई घनिष्ठ संबंध नहीं है, यह इस बात का सूचक है कि यह रूप प्राचीन है। तुलनीय केल्टिक रूप प्राचीन आयरिश के द्वित्वजनित स् भविष्यत् के रूप हैं: उ० पु० ए० व० –निनुस् < *निनिक्सो (–ninus < *niniksō) (निगिद् nigid 'धोता है', तुल० सं० निज्, सन्नन्त निनिक्षति), म० पु० ए० व० –रिरिस् (riris) (कोन्–रिग con-rig 'बाँधता है'), प्र० पु० ब० व० लिसित् (lisit), लिगिद् (ligid) से 'चाटता है' (सं० लिह्, सन्नन्त लिलिक्षति)।

१६. नामधातु

नामधातु वे हैं जो नामिक प्रातिपदिक के आधार पर बनाए जाते हैं। अन्ततः जैसा कि ऊपर देखा गया है धातुज प्रकृत्यंशों को समानान्तर नामिक प्रातिपदिकों से अलग नहीं किया जा सकता, किन्तु इन्होंने स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त कर ली है। वास्तविक नामधातु वह है जिसके द्वारा भाषा में विद्यमान नामिक शब्दों से धातुज प्रकृत्यंशों की रचना निरन्तर होती रहती है। नामधातुओं के बनाने में प्रयुक्त प्रत्यय (विकरण) उदात्त स्वर-संयुक्त '–य–' है जो ठीक वही है जिसके आधार पर मुख्य धातुगणों में से एक बनाया जाता है (दिव्यति)। इनमें केवल यह भेद पाया जाता है कि नामधातु प्रत्यय (विकरण) के मूल स्वराघात को सुरक्षित रखता है, जो मुख्य क्रियाओं में धात्वंश वाले स्वराघात के द्वारा हटा दिया गया है। नामधातु की प्रक्रिया

भा० यू० उद्गम की है और अन्य भाषाओं में यह खास तौर पर ग्रीक में प्रतिष्ठित है : तेक्मइरो (tekmaírō) 'निश्चय करना' (नपुंसक संज्ञाशब्द), तेक्मर् (tékmar से –अर्यो (–aryō) के लिये), ऐख्थइरो (ekhthaírō) 'घृणा करना', ओनोमइनो (onomaínō) 'नामदेना', 'सल्पिज़ो' (salpízō) 'तुरही बजाना', (सल्पिग्ज़्, sálpigz), केरुस्सो (kērússō) 'घोषणा करना' (केरुज़् kēruz), आदि आदि। अन्य भाषाओं में इसी तरह के रूप लैटिन कुस्तोदिओ (custōdio), फ़ीनिओ (fīnio) (कुस्तोस्, फ़ीनिस् custōs, fīnis), गॉथिक ग्लित्मुन्यन् (glitmunjan) 'चमचमाना', लउहत्यन् (lauhatjan) 'चमकना' आदि। ये धातुरूप हित्ती में भी प्रचलित हैं जो नामधातु-प्रक्रिया को अपेक्षाकृत प्राचीनता प्रदान करते हैं; इर्मलिय– (írmalya 'बीमार पड़ना' (इर्मलश् irmalaš बीमार), कुशनिय– (kûšaniya) 'किराये पर लेना' (कुशन kušan 'भुगतान'), लम्निय– (lamniya) 'नाम देना' (लामन lāman 'नाम', तुल० ग्रीक ओनोमइनो onomaínō) आदि।

–य– विकरण वाले नामधातु सभी प्रकार के नामधातुओं से बनाये जाते हैं और उन्हें सुविधा के लिये तदनुसार वर्गीकृत किया जा सकता है। र् अन्त वाले प्रातिपदिक : वधर्यति 'शस्त्र चलाता है', तुल० वधर् (वधः) 'शस्त्र'। इस प्रकार का नामिक प्रातिपदिक प्रयोग की दृष्टि से लुप्त है और फलतः ऐसे कई नामधातु हैं जिनके समानान्तर नामिक प्रातिपदिक लुप्त हो गये हैं : श्रथर्यति 'ढीला होना', सपर्यति 'सेवा करता है, पूजा करता है', रथर्यति 'रथ पर चढ़ता है', अध्वर्यति 'यज्ञ करता है', विथुर्यति 'लड़खड़ाता है',।

न् अन्तवाले प्रातिपदिक : न् अन्तवाले प्रातिपदिकों से बने हुए नामधातु— कृपण्यति 'गिड़गिड़ाता है', तुरण्यति 'तेज बनता है', दमन्यति 'वश में करता है', भुरण्यति 'सक्रिय है', सरण्यति 'तेजी करता है' धिषण्यति 'ध्यान देता है', रुवण्यति 'गरजता है', हुवण्यति 'पुकारता है', आदि हैं। यह कोटि प्रमुखतः लुप्त, प्राचीन न्– अंतवाले नपुंसक प्रातिपदिक पर आधृत है और समानान्तर नामिक प्रातिपदिक या तो अविद्यमान हैं या थिमैटिक रूप का ग्रहण करते हैं: कृपण–, तुरग– आदि।

स् अंतवाले प्रातिपदिक : ये रूप भलीभाँति सुरक्षित हैं और अधिक प्रचलित हैं : अपस्यति 'सक्रिय है', नमस्यति 'नमन करता है', चनस्यति 'खुश होता है', मनस्यति 'मन करता है' आदि। कतिपय स्थितियों में समानान्तर स्– प्रातिपदिक सुरक्षित नहीं है : इरस्यति 'ईर्ष्या करता है' दशस्यति 'सेवा करता है'। अन्य स्थानों पर –अस्य– एक स्वतंत्र प्रत्यय (विकरण) के रूप में इच्छाद्योतक

अर्थ के साथ विस्तृत कर दिया गया है; वृषस्यति 'पुरुष की इच्छा करती है', स्तनस्यति 'स्तन की इच्छा करती है'। इष् तथा उष् अंतवाले संयुक्त प्रातिपदिकों से : अविष्यति 'सहायता करने की इच्छा करता है' (इस रूप का –इष्य– वाले भविष्यत्कालिक रूप के साथ अभेद विचारणीय है), तरुष्यति 'जीतने का प्रयत्न करता है' आदि बनाये जाते हैं।

स्पर्श ध्वनियों से अंत होने वाले प्रातिपदिकों के आधार पर बनाये नाम धातुओं के अत्यधिक न्यून उदाहरण भिषज्यति 'वैद्य का कार्य करता है' तथा (अन्यथा असुरक्षित प्रातिपदिक से बना) इषुध्यति 'प्रार्थना करता है' (अवे० इशुद्येइति isudyeiti)।

ऊपर उद्धृत उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा कि य वाले नाम धातु सामान्यत: नपुंसक हलन्त शब्दों से बनाये जाते हैं। पुल्लिग (कर्त्रर्थ संज्ञा) शब्दों से बने नाम धातु अत्यधिक न्यून हैं : उदा० वृषण्यति 'पुरुष की तरह आचरण करता है'। इस प्रकार के कुछ रूप प्रथमा एकवचनांत रूप पर आधृत हैं : राजायते 'राजसी ठाट-बाट से युक्त है' वृपायते 'बैल जैसा आचरण करता है', स्वामीयति 'स्वामी की तरह व्यवहार करता है'।

इ और ई अंतवाले प्रातिपदिक : जनियति 'पत्नी (जनि) की खोज में है', तविषीयते 'मजबूत है' (तविषी)। दीर्घ ईकारान्त रूप प्राय: ह्रस्व इकारान्त प्रातिपदिकों तक विस्तारित कर दिये जाते हैं (कवीयति 'कवि के समान आचरण करता है', सखीयति 'मित्र की इच्छा करता है', अरातीयति 'शत्रुता करता है') किन्तु इस प्रकार के रूप पदपाठ में ह्रस्व बना दिये जाते हैं। –ईय– प्रत्यय (विकरण) किसी हद तक स्वतंत्र रूप में विकसित हो जाता है और इच्छाबोधक अर्थ के साथ इ– प्रातिपदिकों के अतिरिक्त अन्यत्र भी जोड़ा जाता है; पुत्रयति 'पुत्र की इच्छा करता है' मांसीयति 'मांस के लिये लालायित है।

उ और ऊ अन्त वाले प्रातिपदिक : यहाँ भी प्रत्यय (विकरण) के दीर्घ रूप को दोनों प्रकार के प्रातिपदिकों के साथ जोड़ा जाता है, यद्यपि पदपाठ में ह्रस्व उ को फिर से बना दिया जाता है ऋजूयति 'सीधा है', वसूयति 'धन की इच्छा करता है' आदि। कतिपय उदाहरणों में नामिक प्रातिपदिक कोई नहीं है और –ऊय– स्वतन्त्र धातुसंबंधी विकरण का कार्य करता है : असूयति 'एतराज करता है या आपत्ति करता है', अङ्कूयति 'टेढ़ा जाता है', स्तभूयति 'स्थिर खड़ा होता है'।

आ अन्त वाले प्रातिपदिक : प्रतनायति 'युद्ध करता है', दुच्छुनायते 'दुष्टता करने की इच्छा करता है', मनायते 'स्वस्थ मन वाला है'। आ– अन्त वाले

प्रातिपदिकों से बने नामधातु प्राचीन भारत-यूरोपीय शब्दों की कोटि है, यद्यपि अन्यत्र इनका प्रचलन य के जोड़े विना पाया जाता है: हित्ती नेवह्हुन् (newahhun) 'मैंने नया बनाया है', लैटिन नोवारे (novāre) ग्रीक नेअन् (neān) । संस्कृत में यह कोटि केवल तभी मिलती है जब आ, धातु के साथ घुलमिल जाता है (त्राति); अन्यथा –य– नामधातु प्रयुक्त होता है। नामधातु का –आय– प्रत्यय (विकरण) बहुत पहले ही स्वतन्त्र प्रत्यय (विकरण) हो चला था, और ऐसे धातु हैं जिनके समानान्तर आकारान्त नामिक शब्दों के बिना वे इस रूप में तिङन्त विभक्तिज प्रक्रिया का वहन करते हैं: मथायति 'मथता है', श्रथायति 'ढीला करता है', मुषायति 'चुराता है' आदि। ये धातु सामान्यतः नवम गण के साथ विकल्प से परवर्तित होते हैं: मथ्नाति, श्रथ्नाति, मुष्णाति आदि। इन दो कोटियों के घनिष्ठ सम्बन्ध के परिणामस्वरूप नामधातु वाला य विकरण कभी-कभी नवम गण के धातुओं के साथ भी जोड़ दिया जाता है; हृणाय–, हृणीय 'नाराज होना'।

वैदिक भाषा में –आय– नामधातु विकरण सामान्यतः अपने वास्तविक क्षेत्र से आगे विस्तारित कर दिया गया है और यह –अयति वाले नियमित रूपों के साथ-साथ थिमैटिक प्रातिपदिकों से नामधातु बनाने में प्रयुक्त किया जाता है: अघायति 'दुष्टता करने की योजना बनाता है', अश्वायति 'घोड़ों की खोज करता है', प्रियायते 'प्रिय है'।

थिमैटिक प्रातिपदिक: अमित्रायति 'शत्रु की तरह आचरण करता है' देवायति 'देवता की उपासना करता है या पवित्र है', वसूयति 'लाभ प्राप्त करता है', आदि। यह नामिक धातु प्रक्रिया की अन्तिम परवर्ती कोटि है। पदान्त थिमैटिक प्रत्यय के बाद फिर से प्रत्यय जोड़ना भारत-यूरोपीय प्रातिपदिक निर्माण प्रक्रिया के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। यहाँ नामधातुओं में यह शुद्ध सादृश्य (analogy) के आधार पर मिलता है, जो देव–य–ति (दुवयसि) आदि, ब्रह्मण्–य–ति (ब्रह्मण्यति) आदि के वजन पर बनाया गया है। इस प्रकार बना धातु केवल उदात्त स्वराघात की दृष्टि से भिन्न होते हुए प्रेरणार्थक धातु के बिलकुल समान है, किन्तु इसके उद्गम और विश्लेषण बिलकुल भिन्न हैं। एक ओर हमें इ– प्रत्यय वाले धातु का थिमैटिक विस्तार (विश्लेषण वर्धय्–अ) मिलता है; दूसरी ओर नामधातु विकरण –य के संघटनागत तथा मिथ्यासादृश्य-जनित योग के साथ थिमैटिक धातु (विश्लेषण देव–य–)। इन दोनों रूपों की समानता कुछ गड़बड़ी पैदा करती है और ऐसे धातु मिलते हैं जो आपाततः उद्गम में नामधातु होते हुए प्रेरणार्थक धातु के स्वराघात का प्रयोग करते हैं: अर्थयते 'इच्छा करता है, माँगता है', संत्रयते 'सलाह लेता है', मृगयते 'ढूँढ़ता है'

आदि; सामान्यतः इन्हें दशम गण की वर्तमानकालिक कोटि में वर्गीकृत किया गया है।

परवर्ती शास्त्रीय भाषा में हलन्त प्रातिपदिकों से बने अधिकांश प्राचीन नामधातु लुप्त हो जाते हैं। थिमैटिक कोटि जीवन्त बनी रहती है और दो रूपों का ग्रहण करती है : (१) कर्तृवाच्य (परस्मैपद) में सामान्य –अयति प्रयुक्त होता है, कलुषयति 'गन्दा करता है' तरुणयति 'जवान बनाता है', (२) आत्मनेपद में, अकर्मक अर्थ के साथ –आयते प्रयुक्त होता है, कलुषायते 'खुद गंदा बनता है', तरुणायते 'खुद तरुण बनता है'। इस बात का संकेत किया गया था कि –आय धातु जो वस्तुतः आकारान्त नामिक प्रातिपदिकों से बनाया गया है, वेद में थिमैटिक प्रादिपदिकों से नामधातु बनाने में सामान्यतः प्रयुक्त होता था जिसके फलस्वरूप दो प्रकार के वैकल्पिक रूप मिलते हैं। भाषा के परवर्ती विकास में ये दो रूप उपर्युक्त विभिन्न अर्थों में विशेषीकृत हो गए हैं।

वर्तमानकालिक प्रक्रिया के बाहर नामिक धातु के अन्य रूप अधिक न्यूनता में मिलते हैं। कतिपय छिट-फुट इष्– लुङ् (अवृषायिषत) और भविष्यत् रूप (कण्डूयिष्यति) मिलते हैं। –त प्रत्यय वाले निष्ठा रूप (कण्डूयित– आदि) कुछ अधिक प्रचलित हैं। वैदिक भाषा में इच्छार्थक धातु से बने समान रूपों की तरह आकारान्त भाववाचक संज्ञा शब्द (वसूया) और –उकारान्त विशेषण शब्द (वसूयु–) सामान्यतः प्रचलित है, किन्तु यह कोटि बाद में चलकर साधारणतः समाप्त हो गयी है।

१७. तुमन्त प्रत्यय

वैदिक तथा शास्त्रीय संस्कृत में तुमन्त रूपों में जितना अधिक स्पष्ट भेद पाया जाता है उतना अन्य रूपों में नहीं। शास्त्रीय संस्कृत में केवल एक ही प्रकार का तुमन्त प्रत्यय, –तुम् पाया जाता है जो धातु के गुणरूप के साथ जोड़ा जाता है (कर्तुम्), और जो अन्य धातुज रूपों की तरह सेट् रूपों में मिलता है (भवितुम्)। वैदिक भाषा में यह रूप बहुत कम मिलता है, किन्तु वहाँ तुमन्त के रूप में वर्गीकृत अन्य रूपों की एक पूरी तालिका मिलती है जो परवर्ती भाषा में सुरक्षित नहीं रहे हैं। ये वैदिक तुमन्त विभिन्न प्रकार के विभक्तिज रूपों में निष्पन्न धातुज संज्ञाओं के विविध प्रकार हैं, जैसे :

(१) द्वितीयान्त रूप, धातुरूप प्रकृत्यंश से और –तु प्रत्यय से युक्त प्रकृत्यंश से बने : प्रतिरम् 'आगे बढ़ाने के लिये', दातुम् 'देने के लिये'। पूर्ववर्ती रूप की तुलना –ओम्/उम् प्रत्यय से युक्त आँस्कन –उम्ब्रियन तुमन्त रूपों के साथ की जा सकती है : उम्ब्रि० एरोम् (erom), आँस्कन एज़ुम् (ezum)

'होने के लिये', ऑस्कन –एदुम् (edum) 'खाने के लिये' आदि। परवर्ती रूप के, जो आगे चलकर संस्कृत में तुमन्त रूपों का एकमात्र प्रत्यय बन गया है, समानान्तर रूप लैटिन धातुज संज्ञा (दतुम् datum) तथा बाल्टोस्लावी (लिथु० देतुँ détu, प्रा० स्लावी देतु dětú रखने के लिये) हैं।

(२) चतुर्थ्यन्त, सबसे अधिक प्रचलित। ये तुमन्त रूप शुद्ध धातुरूप प्रकृत्यंश (दृशे, 'देखने के लिये' भुजे, 'उपभोग करने के लिये'), अस् अन्त वाले प्रकृत्यंश से (अयसे 'जाने के लिये' –अर्हसे 'योग्य होने के लिये'), –इ अन्त वाले प्रकृत्यंश से (दृशये 'देखने के लिये', युधये 'लड़ने के लिये'), –ति अन्तवाले प्रकृत्यंश से (वीतये 'उपभोग करने के लिये', सातये 'जीतने के लिये'), –तु अन्तवाले प्रकृत्यंश से (एतवे 'जाने के लिये', यष्टवे 'यज्ञ करने के लिये'), –त्व अन्तवाले प्रकृत्यंश से (एतवै), –ध्य अन्तवाले प्रकृत्यंश से (दुहध्यै 'दुहने के लिये' सहध्यै 'जीतने के लिये') तथा –मन् (दामने 'देने के लिये') और वन् (दावने 'देने के लिये') अन्तवाले प्रकृत्यंशों से बनाये जाते हैं। इनमें से –तवै प्रत्यय वाला तुमन्त रूप इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसमें दो उदात्त स्वर पाये जाते हैं (और यह ऐसी विशेषता है जिसकी व्याख्या नहीं हो सकी है) और इसके बाद सदा उ निपात का प्रयोग पाया जाता है (एतवा उ)। यह तुमन्त तथा –ध्यै अन्तवाला तुमन्त अन्य प्रत्ययों से इस बात में भिन्न है कि यह जिन प्रकृत्यंशों के आधार पर बनाया जाता है वे स्वतन्त्र रूप में भाषा में प्रयुक्त नहीं होते और साथ ही ये दोनों चतुर्थी एकवचन के उन प्राचीन रूपों को सुरक्षित रखते हैं जो आगे चलकर सुबन्त रूपों में –आय के द्वारा हटा दिए गए हैं।

(३) पंचम्यंत–षष्ठ्यंत रूप, शुद्ध धातुरूप और –तु अन्तवाले प्रकृत्यंशों से : अवपदः 'गिरने में', सम्पृचः '(किसी के) संपर्क में आने में', एतोः 'जाने में', निधातोः 'रखने में'।

(४) सप्तम्यंत, शुद्ध धातुरूप प्रकृत्यंश (संचक्षि 'देखते हुए'), –सन् अन्तवाले प्रकृत्यंश से (नेषणि 'ले जाने के लिये) और –तर् अन्तवाले प्रकृत्यंशों से–(विधर्तरि 'धारण करने के लिये') सोतरि 'सोम रस निकालने में'।

वैदिक भाषा (पुरानी ईरानी के साथ) भा० यू० भाषा की वस्तुस्थिति का अधिक ठीक-ठीक रूपों में प्रतिनिधित्व करती है। तुमन्त एक स्वतन्त्र व्याकरणिक पद के रूप में अभी तक पूरी तरह विकसित नहीं हुए हैं। तुमन्त के रूप में वर्गीकृत पद धातुज कर्मबोधक संज्ञा शब्दों के विभिन्न सुबन्त रूप हैं जिनमें सामान्य नियम के अनुसार विभक्त्यंश अपने सामान्य भाव का वहन करता है।

द्वितीयांत. वष्टि, आरभम् 'वह आरम्भ करना चाहता है', या 'आरम्भ चाहता है'।

चतुर्थ्यन्त, आविस्तन्वं कृणुषे दृशे कम् 'तुम अपने शरीर को देखने के लिये प्रकट करते हो'।

पंचम्यन्त, स ईं महीं धुनिमेतोररम्णात् 'उसने महती नदी को बहते हुए रोक दिया'।

वैदिक भाषा की एक विचित्र विशेषता यह है कि तुमंत रूप के कर्मभूत संज्ञाशब्द को उसी विभक्त्यंत रूप में रखा जाता है, जिसमें तुमन्त रूप पाया जाता है, उदाहरण के लिये 'सूर्य को देखने के लिये' को दृशये सूर्याय 'देखने के लिये, सूर्य के लिये' के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। इसी प्रकार पंचम्यन्त रूप के साथ त्राध्वं कर्तादवपदः 'हमें गड्ढे में गिरने से बचाओ', शाब्दिक अर्थ हमें गड्ढे से, नीचे गिरने से बचाओ'।

वैदिक तुमन्त रूप के सामान्य प्रयोग में ऐसी बात अधिक नहीं पायी जाती जो इसे सामान्य धातुज संज्ञा के तिर्यक् रूपों से अलग कर सके। इन रूपों को एक विशिष्ट वर्ग में स्थापित करने के कारणों में से एक यह तथ्य है कि इस प्रकार के प्रयोग में उपलब्ध धातुज संज्ञारूप प्रकृत्यंशों में से अधिकांश इस प्रकार के या दूसरे विभक्ति रूपों में भी नहीं प्रयुक्त होते। उदाहरण के लिये –स् अन्तवाले नपुंसक शब्दों को लिया जा सकता है, इस तरह बने हुए कई नियमित संज्ञा शब्द मिलते हैं (यशस् 'कीर्ति' आदि), किन्तु इनके अतिरिक्त बहुसंख्यक रूप वे हैं जो केवल चतुर्थी विभक्ति में इसी तुमन्त प्रयोग में मिलते हैं। आकृति की दृष्टि से भी इस प्रकार के चतुर्थ्यन्त तुमन्त अलग किये जा सकते हैं, क्योंकि उनमें नपुंसक संज्ञाशब्दों से भिन्न उदात्त स्वर (जीवसे) का प्रयोग किया जाता है। सामान्य संज्ञाशब्दों से बिल्कुल हटे हुए वैदिक तुमन्त वे हैं जो उन प्रकृत्यंशों के आधार पर बनाये गये हैं जिनका प्रयोग सामान्य संज्ञाशब्दों की रचना में बिल्कुल नहीं पाया जाता। इस प्रकार के रूप –ध्यै प्रत्यय वाले चतुर्थ्यन्त तुमन्त, और –सनि तथा –हरि अन्त वाले अपेक्षाकृत कम उपलब्ध सप्तम्यन्त रूप हैं। धातुज संज्ञा से तुमन्त को अलग करने वाली दूसरी विशेषता जो वैदिक भाषा में अंशतः विकसित हुई है, यह है कि यह धातुज संज्ञा की तरह सम्बद्ध संज्ञा शब्द के षष्ठ्यन्त प्रयोग के स्थान पर क्रियापद की तरह कर्म या द्वितीयांत प्रयोग की अपेक्षा करता है। उदाहरण के लिये, गोत्रस्य दावने 'गायों के समूह को देने के लिये', के विरुद्ध महि दावने 'कुछ बड़ी चीज देने के लिये'।

शास्त्रीय संस्कृत में जहाँ –तुम् प्रत्यय वाले रूप ने अन्य सभी रूपों का स्थान ले लिया है, तुमन्त रूप नामिक सुबन्त प्रक्रिया से बिलकुल स्वतन्त्र हो गया है। इसके साथ ही यह चतुर्थ्यन्त तुमन्त का अर्थ ग्रहण कर लेता है (अवस्थातुं स्थानान्तरं चिन्तय 'तुम अपने रहने के लिये दूसरी जगह सोचो'), जिससे धातुज संज्ञा का द्वितीयान्त वाला मूल अर्थ गड़बड़ा गया है। एक दृष्टि से यह अपने नामिक उद्गम के एक चिह्न को सुरक्षित रखे हैं, क्योंकि नामिक प्रातिपदिक की तरह इसे समस्त पद में काम और मनस् इन पदों के साथ संयुक्त किया जा सकता है ; यष्टुकाम– 'यज्ञ करने का इच्छुक' और वक्तुमनस् 'बोलने की इच्छा वाला'।

संस्कृत तुमन्त रूप अपने अन्तिम रूप में लैटिन तथा ग्रीक तुमन्तों की अपेक्षा क्रिया-पदों की प्रक्रिया में बहुत कम विकसित और सम्मिलित हुआ है। परवर्ती दोनों भाषाओं ने विभिन्न कालों (एस्से esse, फुइस्से fuisse) तथा वाच्यों (अगेरे agere, अगी agi) के लिये इन दोनों भाषाओं में स्वतन्त्र रूप से हुई आदान-प्रक्रिया के द्वारा विशिष्ट रूपों को विकसित किया है। संस्कृत में इस तरह की कोई चीज नहीं मिलती। वेद में कतिपय ऐसे रूप हैं, जहाँ तुमन्त विशिष्ट काल-बोधक प्रकृत्यंश से सम्बद्ध मिलते हैं (पुष्यसे 'परिपुष्ट होने के लिये' गृणीषणि 'स्तुति करने के लिये', –पृच्छम् 'पूछने के लिये'; पूर्णभूत से वावृधध्यै 'दृढ़ करने के लिये'), किन्तु इन आकस्मिक रूपों का कोई विकास नहीं हुआ। केवल शुद्ध धातु के आधार पर बनाये गये तुमन्त रूपों की प्रक्रिया ही विशेष प्रचलित रही और तुमन्त का वाक्यगत प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है। इसे खास तौर पर सदा केवल परस्मैपदी (कर्तृवाच्य) और आत्मनेपदी भावबोधन का कार्य ही नहीं करना पड़ता, अपितु प्रकरणवश कर्मवाच्य के भाव का भी वहन करना पड़ता है : कर्तुम् आरब्धः 'किया जाना आरम्भ हुआ' आदि। यह प्रयोग विशेष रूप से शक् धातु के कर्मवाच्य रूप के साथ प्रचलित है : कर्तुम् न शक्यते 'किया नहीं जा पाता' आदि।

१८. परस्मैपदी और आत्मनेपदी कृदन्त

धातुज संज्ञाओं की तरह ये कृदन्तज रूप उद्भव की दृष्टि से शुद्ध नामिक रूप हैं और इसीलिये संज्ञा शब्दों की रचना और रूप-विधान से सम्बद्ध परिच्छेद में संकेतित किए गए हैं। ये रूप ठीक इतने ही धातु रूपों से इसलिये सम्बद्ध हैं कि ये धातुज प्रक्रिया में समाहित हो गये हैं। यह समाधान संस्कृत में धातुज संज्ञा शब्दों की अपेक्षा अधिक पीछे जाता है (यद्यपि ग्रीक जितना पीछे नहीं) और यह प्रक्रिया बहुत पहले ही आरम्भ हो गयी है। विभिन्न

कृदन्तज रूप विशिष्ट गणों से सम्बद्ध हैं और वे समापिका क्रिया की तरह परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी इन दो कोटियों में विभक्त किये जाते हैं।

—अन्त्— प्रत्यय युक्त परस्मैपदी कृदन्त रूप शास्त्रीय संस्कृत में पूर्णतः और वैदिक भाषा में मुख्यतः क्रिया के वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश से बनाये जाते हैं। वैदिक भाषा में ऐसे कृत् प्रत्ययों की छोटी संख्या है जो धातुरूप लुङ् प्रकृत्यंश के साथ (कृ, 'करना', गम्, 'जाना' से क्रन्त्, ग्मन्त्) और अ– लुङ् प्रकृत्यंश के साथ (तृप् 'सन्तुष्ट होना', वृध् 'वढ़ना' से तृपन्त् और वृधन्त्) जोड़े जाते हैं। यह सम्बन्ध मुख्यतः अनावश्यक है, क्योंकि इस प्रकार के रूप सीधे धातु के साथ जोड़े जाने वाले सोदात्त प्रत्यय से बने विशेषण रूपों से भिन्न नहीं हैं। धातुज प्रक्रिया में इनका ग्रहण करने के पूर्व ये —अन्त्— रूप सामान्य विशेषण थे (जिनमें से कुछ उदाहरण अभी भी वचे हुए हैं, वृहन्त् 'बड़ा'), और सीधे धातु से निर्मित तथा विशेषण वाली स्वर-प्रक्रिया का ग्रहण करनेवाली मूलकोटि, लुङ् के आधार पर बने इन कृदन्तज रूपों में सुरक्षित हैं।

अन्त्– प्रत्यय-जनित विशेषणों को कृदन्त के रूप में परिवर्तित करने की प्रक्रिया बहुत पहले चल पड़ी थी, क्योंकि हित्ती भाषा में भी अन्त्– प्रत्यय वाले कृदन्तज रूप हैं, किन्तु हित्ती के अलग होने के समय तक अन्त्– प्रत्यय अपने अन्तिम स्वरूप में स्थिर नहीं हुआ था, क्योंकि उस भाषा में अन्त्– प्रत्यय वाले रूप शेष भा० यू० में पाये जाने वाले कर्तृवाच्यात्मक अर्थ के विरुद्ध कर्मवाच्यात्मक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। —अन्त् प्रत्यय-जनित रूप का कर्तृवाच्यात्मक (परस्मैपदी) कृदन्त के रूप में विशेषीकरण इस रूप के वर्तमानकालिक प्रक्रिया में स्थानान्तरण के द्वारा अनुगत हुआ। मूल रूपों को विविध वर्तमानकालिक गण-रूपों के आधार पर बने रूपों के द्वारा हटा दिया गया (कृण्वन्त् आदि के द्वारा क्रन्त् आदि)। वेद में यह प्रक्रिया लगभग परिपूर्ण हो गयी है और लुङ् के आधार पर बने कृदन्त रूपों की संख्या बहुत कम है। शास्त्रीय-युग तक यह प्रक्रिया सर्वथा पूर्ण हो चुकी है। ठीक यही प्रक्रिया ग्रीक में भी शुरू हुई, किन्तु वहाँ भिन्न रूप में समाप्त हुई, क्योंकि वहाँ प्राचीन लुङ्-जनित (अर्थात् प्रत्ययांश पर उदात्त स्वर वाले) 'फुगोन्' (phugón) के अतिरिक्त वर्तमानकालिक कृदन्त (फ़ेउगोन्, pheúgōn) के अस्तित्व ने दुहरी प्रक्रिया को विकसित किया, जिसमें ये दो भिन्न प्रकार के कृदन्तज रूप दो कालों से सम्बद्ध विधि-प्रकारों की तरह भिन्न प्रकार के व्यापारों (निश्चयवाचक और नैरन्तर्यबोधक) का बोध कराते हैं। ग्रीक ने इस कृदन्तज रूप की रचना को स्– लुङ् वाले प्रकृत्यंश तक विस्तारित कर दिया है, जहाँ यह

सभी भावों और लक्ष्यों की दृष्टि से संस्कृत में ठीक उसी तरह अविद्यमान है, जैसे यह भा० यू० में थी।

परस्मैपदी कृदन्त के वर्तमानकालिक प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध-स्थापन ने यह परिणाम उत्पन्न किया कि इसका उदात्त स्वर (जो मूलतः विशेषण की तरह पदान्त पर था) उस धातुज प्रकृत्यंश से मेल खाने लगा जिसके साथ यह जोड़ा जाता था। यह उदात्त स्वर प्रकृत्यंश पर स्वराघात वाले थिमैटिक गण में (तुदन्त्–) और अथिमैटिक धातुओं (दुहन्त्, शृण्वन्त् आदि) में प्रत्ययांश पर मिलता है। दूसरी ओर प्रकृत्यंश पर उदात्तस्वर वाले थिमैटिक धातु इस स्वराघात को कृदन्तज रूप में भी सुरक्षित रखते हैं: भवन्त् आदि। अभ्यासजनित धातु कृदन्त प्रत्यय के दुर्बल रूप से सम्बद्ध अभ्यासजनित अक्षर पर सबल विभक्ति रूपों में भी उदात्तस्वर का वहन करते हैं, प्रथमा एकवचन विभ्रत्, द्वितीया एकवचन विभ्रतम्।

परस्मैपदी पूर्णबोधक कृदन्त प्रत्यय वस्–उस् की रचना और पद-संघटना का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। पूर्णभूत के लिये एक स्वतन्त्र कृदन्त का अस्तित्व उपर्युक्त दृष्टिकोण के सर्वथा अनुरूप है जिसके अनुसार वर्तमान, लुङ् तथा पूर्णभूत का विभाजन क्रियारूपों की काल-प्रक्रिया का अत्यधिक वास्तविक वर्गीकरण है। पूर्णतावोधक कृदन्त व्यापार की पूर्णता के अर्थ का वहन करता है (जो सामान्यभूत के अर्थ का वहन न करने वाले लुङन्त कृदन्त के विरुद्ध हैं और साथ ही पूर्णभूत के प्रकारों के भी विरुद्ध है), चकृवस् 'वह व्यक्ति जो कुछ कर चुका है' आदि। इस रूप में उदात्त स्वर कृदन्त प्रत्यय पर होता है और पूर्णतावोधक धात्वंश अपने दुर्बल रूप में मिलता है। समायोजक स्वर ध्वनि इ (तेनिवस् आदि) अधिकतर ठीक उन्हीं परिस्थितियों में मिलती है जिनमें शेष पूर्णभूतकालिक रूपों में।

आत्मनेपदी रूपों में थिमैटिक धातुओं के लिये—अमान (भवमान, विशमान और चितयमान–) और अथिमैटिक धातुओं के लिये—आन (दुहान, सुन्वान, युञ्जान, आदि; तृतीय गण तथा यङन्त रूपों के अतिरिक्त उदात्त स्वर पदान्त अक्षर पर होता है; जुह्वान–, चेकितान आदि) कृदन्त प्रत्यय प्रयुक्त होता है। इन रूपों का कृदन्त रूपों में ग्रहण सम्भवतः परस्मैपदी—अन्त वाले कृदन्तों से बाद का जान पड़ता है, क्योंकि तुलनात्मक रूप भा० यू० में अधिक फैले नहीं मिलते। –अमान से मिलता-जुलता रूप ईरानी –अम्न– और ग्रीक ओमेनोस् (-ómenos) है, जहाँ प्रत्येक स्थिति में वास्तविक रूप भिन्न है। अन्य भा० यू० भाषाओं में इस प्रकार के कृदन्तज रूप नहीं हैं, और जहाँ भी समान रूप मिलते हैं (लैटिन अलुम्नुस alumnus आदि) वे शुद्ध नामिक रूप हैं। –अन् वाले कृदन्त रूप

केवल भारत-ईरानी में मिलते हैं और अन्यत्र बहुत कम मिलने वाले नामिक रूपों की इनसे तुलना की जा सकती है (लैटिन कोलोनुस् colōnus, आदि) इस कृदन्त का आत्मनेपदी प्रयोग बाद का ग्रहण है और यह निश्चित रूप में समापिका क्रिया के आत्मनेपदी रूपों से बहुत बाद का है। यह ग्रहण कैसे हुआ यह बिलकुल स्पष्ट नहीं है, क्योंकि संज्ञा शब्दों के मॅन्– प्रत्यय वाले रूपों में ऐसी कोई चीज नहीं है जो आत्मनेपद से सम्बद्ध है, और खासतौर पर मॅन् , मॅनइ (men, menai) प्रत्यय वाले ग्रीक तुमन्त रूप जो तिङंत पद-रचना के भी रूप बन गये हैं कर्तृवाच्य (परस्मैपद) अर्थ का वहन करते हैं, स्ववाच्य (आत्मनेपद) अर्थ का नहीं।

परस्मैपदी कृदन्तों के वर्तमानकालिक प्रक्रिया में सम्मिलित कर लेने के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है, वह आत्मनेपदी कृदन्त के साथ भी लागू होता है। केवल न्– प्रत्यय और संयुक्त मॅन् प्रत्यय पर आधृत अन्य रूपों की तरह ये भी मूलतः मूल धातु-रूप से बनाये जाते थे, किन्तु आगे चलकर इनके कृदन्तों के रूप में ग्रहण कर लिये जाने पर मूल धातु-रूप के स्थान पर वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश का प्रयोग किया जाने लगा। शास्त्रीय संस्कृत में प्राचीन मूल-धातुजनित रूपों के बचे-खुचे अवशेष रूप लुङन्त पद (दृशान, वृधान, शुचमान) वर्तमानकालिक प्रकृत्यंश के पक्ष में हटा दिये गये हैं। परस्मैपदी रूपों के विरुद्ध आत्मनेपदी रूपों में पूर्णभूत के लिये कोई विशिष्ट कृदन्त प्रत्यय नहीं है और इसमें अथिमैटिक धातुओं के –आन वाले रूप का प्रयोग किया जाता है; चक्रान, जज्ञान आदि। यह इस उपरिसंकेतित तथ्य के अनुरूप है कि पूर्णभूत (लिट्) में आत्मनेपदी प्रयोग लट्-लुङ् प्रक्रिया के बाद का विकास है।

१९. कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत

यह कृदन्तजनित रूप अधिकतर धातु के दुर्बल रूप के साथ –त प्रत्यय जोड़कर बनाया जाता है (श्रुत 'सुना हुआ' आदि), और अन्य तिङंत रूपों की तरह यह प्रत्यय भी बहुधा सहायक स्वरध्वनि –इ– का प्रयोग करता है (पतित 'गिरा हुआ' आदि)। यह प्रत्यय भा० यू० में प्राचीन प्रत्यय है, जैसा कि इस तथ्य से स्पष्ट है कि यह अधिकांश भा० यू० भाषाओं में उपलब्ध है और यह प्राचीन भा० यू० अपश्रुति प्रक्रिया से प्रभावित है, इसके साथ ही यह उस समय तक जाता नहीं जान पड़ता जब कि हित्ती भाषा मूल परिवार से अलग हुई थी, क्योंकि उस भाषा में कर्मवाच्य कृदन्त भिन्न प्रकार से- अन्त प्रत्यय के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी कृदन्तज रूपों के विरुद्ध यह प्रत्यय किसी विशेष वर्तमानकालिक गण रूपों से सम्बद्ध नहीं है, अपितु

संस्कृत तथा दूसरी भा० यू० भाषाओं दोनों में सीधे धातु-रूप प्रकृत्यंश से बनाया जाता है।

कतिपय धातु अपने कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त रूपों को –त के स्थान पर –न रूप में निष्पन्न करते हैं। यह खासतौर पर –ऋ अन्त वाले (कीर्ण 'बिखराया गया', गीर्ण 'निगला हुआ'), –इ अन्त वाले (क्षीण 'नष्ट किया हुआ'), –द् अन्त वाले धातुओं में (भिन्न 'तोड़ा हुआ, छिन्न 'काटा गया') और –ज् अन्त वाले कतिपय धातुओं में (भुग्न 'झुका हुआ' भग्न 'टूटा हुआ') पाया जाता है। यह प्रत्यय भा० यू० में अन्यत्र भी समानांतर रूप में मिलता है। प्रायः इस प्रकार अन्य प्रत्यय भी प्रयुक्त होते हैं, संकेत के लिए पक्व 'पकाया हुआ', 'पका'। इन रूपों को विस्तार से सुसम्बद्ध रूप में संज्ञा शब्दों की रचना वाले प्रकरण में बताया गया है और यहाँ पुनरुक्ति अनावश्यक है।

कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त रूपों का महत्व कर्तृवाच्य वाक्य-विन्यास के स्थान पर प्रचलित कर्मवाच्य वाक्य-विन्यास के परिवर्तन के कारण परवर्ती भाषा में, और भी अधिक प्राकृत में बढ़ चला है। परवर्तीकाल में भूतकालिक व्यापारों को कर्तृवाच्य भूतकालिक तिङंत रूपों के द्वारा अभिव्यक्त न कर तृतीयांत कर्ता से सम्बद्ध कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त के द्वारा अभिव्यक्त किये जाने की परम्परा चल पड़ी है— स मया दृष्टः 'मैंने उसे देखा' के लिये 'वह मेरे द्वारा देखा गया'। इसके परिणाम स्वरूप मध्य भारतीय आर्य भाषा में प्राचीन भूतकालिक तिङंत रूप लुप्त हो गये और नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में भूतकाल का बोधन कराने वाले सभी क्रिया-रूप प्राचीन कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त पर ही आधृत हैं।

भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्त प्रत्यय को सम्बन्धबोधक प्रत्यय –वन्त् जोड़कर विस्तारित किया जा सकता था : कृतवन्त्– 'जो व्यक्ति कोई कार्य कर चुका है', और यह स्वभावतः कर्तृवाच्य भूतकालिक कृदन्त का कार्य करने लगता है। यह रूप भारतीय आर्य-शाखा की उत्पत्ति है और इस तरह का शुद्ध कृदन्त रूप पहले-पहल अथर्ववेद में मिलता है : अशितवत्यतिथौ 'अतिथि के भोजन कर लेने पर'। परवर्ती काल में –तवन्त् प्रत्यय वाले रूप (नवन्त् जहाँ धातु इस प्रत्यय में –न रूपों का ग्रहण करते हैं) कर्तृवाच्य तिङन्त रूपों के स्थान पर स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होने लगे हैं, जहाँ सहायक क्रिया आक्षिप्त होती है : न माम् कश्चिद् दृष्टवान्– 'मुझे किसी ने नहीं देखा'। शास्त्रीय संस्कृत में यह प्रयोग सामान्यतः प्रचलित है और यह ऊपर संकेतित कर्मवाच्य वाक्य-विन्यास के अतिरिक्त भूतकालिक रूपों के वैकल्पिक प्रयोग को निष्पन्न करता है।

२०. भविष्यत्कालिक कर्मवाच्य कृदन्त

शास्त्रीय संस्कृत में समान प्रयोग वाले तीन धातुज विशेषण हैं। जिनका अर्थ लैटिन 'जीरण्डिव' (Gerudive) वाला है —कार्य, कर्तव्य, करणीय 'करने योग्य या किया जाने योग्य' 'फकिएन्दुस् (faciendus)'। इनमें केवल पहला ही ऋग्वेद में मिलता है, जहाँ यह प्रचलित है। यह प्रत्यय सामान्यतः —इय उच्चरित होता है। इस प्रकार के रूप धातु की तीनों कोटियों के आधार पर बने मिलते हैं, गुह्य 'छिपाये जाने योग्य', द्वेष्य 'घृणा किये जाने योग्य', वाच्य 'कहे जाने योग्य'। आकारान्त धातु का पदान्त —आ, प्रत्यय के साथ मिलकर —एय रूप उत्पन्न करता है, —देय 'दिया जाने योग्य'। इ, उ तथा ऋ अन्तवाले धातु सामान्यतः प्रत्यय के पूर्व —त् आगम अपनाते हैं, श्रुत्य 'सुना जाने योग्य'। इन रूपों में उदात्त स्वर सामान्यतः धात्वंश पर होता है, किन्तु इसके कुछ अपवाद भी हैं, भाव्य, अद्य।

—तव्य प्रत्यय वाला रूप सबसे पहले अथर्ववेद में मिलता है (जनितव्य 'पैदा होने योग्य', हिंसितव्य 'मारे जाने योग्य या हिंसा किये जाने योग्य')। यह रूप ब्राह्मण-काल में अधिक प्रचलित हो चला है और शास्त्रीय संस्कृत में सभी प्रकार के धातुओं से स्वतन्त्रता से बनाया जाने लगा है। ऊपर के दो उदाहरणों की स्वरप्रक्रिया ही सामान्य प्रक्रिया है जो स्वर-चिह्न युक्त वैदिक ग्रन्थों में मिलती है। वैयाकरणों ने उपधावर्ती अक्षर के उदात्त-स्वर सम्पन्न होने का संकेत किया है। उद्भव की दृष्टि से यह रूप —तु अन्त वाले कर्मबोधक संज्ञा शब्दों से बना गौण विशेषण रूप है।

—अनीय (अन्— प्रत्यय वाले धातुज संज्ञा रूपों से बना गौण विशेषण रूप) प्रत्यय वाले भविष्यत्कालिक कृदन्त रूप भी सबसे पहले ठीक उसी तरह अथर्ववेद में मिलते हैं (उपजीवनीय)। ये रूप ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत कम मिलते हैं, किन्तु शास्त्रीय संस्कृत में अधिक प्रचलित हैं, यद्यपि— तव्य प्रत्यय वाले रूपों जितने नहीं।

भविष्यत्कालिक कृदन्तों की इन उपर्युक्त तीन कोटियों के अतिरिक्त जो शास्त्रीय संस्कृत में मिलती है, ठीक इसी तरह की प्रक्रिया के कुछ अन्य रूप भी हैं जो केवल वेद में मिलते हैं।

(१) —त्व प्रत्यय वाले रूप सामान्यतः द्व्यक्षर —तुव के रूप में उच्चरित, धातु के गुण रूप तथा उदात्त स्वर से युक्त, कर्त्व 'किया जाने योग्य', जेत्व, नन्त्व, वक्त्व आदि।

(२) —एन्य (—एनिय) प्रत्यय युक्त दृशेन्य, युधेन्य, वरेण्य आदि।

(३) –आय्य (त्र्यक्षर) प्रत्यय से युक्त पनाय्य 'स्तुति किये जाने योग्य', इसी तरह से दृशाय्य, श्रवाय्य आदि ।

२१. पूर्वकालिक क्रिया-रूप अथवा अव्यय-रूप

इस कृदन्त प्रत्यय के रूप का विश्लेषण ऊपर क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त कर्मबोधक संज्ञा शब्द के प्रकार विशेष के रूप में किया जा चुका है। कृदन्त प्रत्यय की यह कोटि भा० यू० में अन्यत्र अपरिचित है और यद्यपि यह रूप प्रातिपदिकों की रचना की सामान्य भा० यू० प्रक्रिया के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है, इसका ठीक इस तरह के वाक्यगत प्रयोग में ग्रहण मुख्यतः भारतीय आर्य-शाखा का ही विकास है।

शास्त्रीय संस्कृत में पूर्वकालिक क्रिया धातु के अनुपसर्ग होने पर –त्वा प्रत्यय जोड़कर, अन्यथा –य प्रत्यय जोड़कर बनायी जाती है। ऋग्वेद में परवर्ती प्रत्यय अधिकांश उदाहरणों में दीर्घ (या) है और यह निस्सन्देह अधिक वास्तविक रूप है, जहाँ क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त पूर्वकालिक क्रिया-रूपों को बनाने वाला –या प्रत्यय ठीक वैसा ही है जैसा –त्वा प्रत्यय। ऐसे अन्य उदाहरण देखे गये हैं, जहाँ पदान्त –आ (–अ ?, –aH) वाक्यगत सन्धि की विशेष परिस्थितियों में (अत्र आदि में) ह्रस्व अ के रूप में मिलता है।

–त्वा के अतिरिक्त ऋग्वेद में –त्वाय भी मिलता है जो अभी हाल संकेतित दो वैकल्पिक रूपों का मिश्रण जान पड़ता है। इसका एक अन्य रूप त्वी (हित्वी 'छोड़कर' आदि) भी मिलता है, जिसके अन्त में –ई प्रत्यय पाया जाता है, जो ठीक उन्हीं परिस्थितियों में मिलता है जिनमें त्वा रूप, और जो इसकी अपेक्षा अधिक प्रचलित है। यह त्वी रूप यद्यपि संस्कृत में अनुपलब्ध है, किन्तु उत्तर-पश्चिम और पश्चिम की कतिपय मध्य भारतीय आर्य विभाषाओं में उपलब्ध है और स्पष्टतः प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा की एक देशी वैभाषिक विशेषता था।

वैयाकरणों ने –त्वानम् और –त्वीनम् जैसे विस्तारित पूर्वकालिक रूपों का वैदिक रूप में संकेत किया है, किन्तु उपलब्ध साहित्य में इनके उदाहरण नहीं मिलते। मध्यभारतीय आर्य-भाषा में एक सामान्य पूर्वकालिक रूप तून (गन्तून) मिलता है जिसमें ठीक वही तत्व जान पड़ते हैं जो त्वानम् में, किन्तु अपश्रुतिगत विभेद के साथ।

–अ प्रत्यय वाले धातुज कर्मबोधक संज्ञा शब्दों के द्वितीयान्त रूपों का क्रियाविशेषण के रूप में इस तरह वाक्यगत प्रयोग किया जाता है कि यह

पूर्वकालिक रूपों से मेल खाता है : 'इमान्यङ्गानि व्यत्यासम् शेते' 'वह इन अंगों की स्थिति को बदलकर सोता है' आदि। यह प्रयोग प्राचीनतम साहित्य (ऋग्वेद, अथर्ववेद) में नहीं मिलता, किन्तु प्राक्पाणिनीय गद्य में प्रचलित है। परवर्ती शास्त्रीय गद्य में यह रूप अपेक्षाकृत बहुत कम मिलता है, और मुख्यत: वही प्रयुक्त होता है जहाँ यह रूप पुनरुक्त होता है—दर्शं-दर्शं 'वारबार देख कर', श्रावं-श्रावं 'बार बार सुन कर'।

परिच्छेद ८

संस्कृत पर आर्येतर प्रभाव

पिछले अध्यायों में दूरवर्ती भा० यू० भाषा के उदय से लेकर भारत में संस्कृत के अन्तिम तथा निश्चित रूप के विकास तक संस्कृत भाषा के इतिहास और विकास का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह विकास-प्रक्रिया निरन्तर प्रवहमान भाषावैज्ञानिक परिवर्तनों में से एक है और जब वैयाकरणों के द्वारा संस्कृत भाषा कृत्रिम रूप में परिनिष्ठित बना दी गई, तो यह विकास-प्रक्रिया जनभाषा में प्रवाहित होती रही और उसने पहले मध्य भारतीय आर्य भाषाओं, और अन्त में नव्य भारतीय आर्य भाषाओं को उत्पन्न किया। अब तक हमने केवल उन्हीं परिवर्तनों और विकास-दशाओं का जिक्र किया है जिन्होंने संस्कृत भाषा के मूल संस्थान से सम्बद्ध परम्परागत भाषावैज्ञानिक तत्त्वों को प्रभावित किया है। किन्तु केवल इतने भर की मीमांसा से काम न चलेगा, क्योंकि संस्कृत भाषा में इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक तत्त्व मिलते हैं जिनका उद्भव कहीं दूसरी जगह ढूँढ़ना पड़ेगा, जैसे विविध अनार्य भाषाओं के प्रभाव में, जिनके सम्पर्क में आकर भारतीय आर्य भाषा विकसित हुई थी।

उक्त प्रभाव मुख्यतः भाषा के शब्द-कोश पर पड़ा। अधिक सामान्य शब्दावली में यह प्रभाव नई स्पर्श ध्वनियों के, तथाकथित मूर्द्धन्य ध्वनियों के, ध्वन्यात्मक विकास में देखा जाता है। मूर्द्धन्य ध्वनियाँ ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप शुद्ध आर्य शब्दों में (निज़्द (nižda)- > निज़्ड (nizda-)-> नीड- (nida-)) विकसित हुई हैं और यद्यपि यह विकास भारतीय आर्यभाषा की अपनी ध्वन्यात्मक प्रक्रिया का अंग है, यह केवल आकस्मिक नहीं हो सकता कि यह भारत-यूरोपीय की केवल इसी एक शाखा में पाया जाता है जो इस प्रकार की ध्वनियों वाली भाषाओं के सम्पर्क में थी। संस्कृत की परवर्ती विकास-स्थितियों में भा० यू० व्याकरण का तेजी से लोप आर्य भाषा के उन लोगों के व्यवहार के कारण उत्पन्न हुआ जान पड़ता है जो मूलतः भिन्न प्रकार की भाषायें बोलते थे। दूसरी ओर विस्तार से संस्कृत पर बाहरी प्रभाव की स्थापना करना सदा कठिन कार्य है। संस्कृत की एक विशेषता जिसे सम्भवतः इस प्रकार के प्रभाव से सम्बद्ध किया जा सकता है, कृदन्तज रूपों का प्रयोग है।[1] रूपात्मक दृष्टि से मूल में ये क्रियाविशेषणीभूत कृदंत

वस्तुतः शुद्ध भा० यू० हैं और उनकी संघटना का विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है। दूसरी ओर इस प्रकार की रूप-निर्माण-प्रक्रिया भा० यू० में अन्यत्र कृदन्तों के विकास में काम में नहीं लायी जाती और अन्यत्र अपरिचित इस प्रकार के कृदन्तों के क्रियाविशेषणीभूत रूपों का प्रयोग भारतीय-आर्यभाषा की प्रमुख विशेषताओं में एक है। इस प्रकार के कृदन्तज रूप ठीक इसी तरह के वाक्यगत प्रयोग के साथ द्राविड़ भाषा की भी प्रमुख विशेषता है। यह अधिक सम्भाव्य है कि संस्कृत में इस प्रकार के रूपका प्रयोग अंशतः द्राविड़ प्रयोगों का प्रभाव है।

यद्यपि इस प्रकार के कतिपय विन्दुओं की बाहरी प्रभाव की दृष्टि से अच्छी परीक्षा की जा सकती है, किन्तु मुख्यतः शब्द-कोश के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रभाव की विस्तृत पुष्टि खोजी जानी चाहिए और प्रस्तुत परिच्छेद में समस्या के इसी अंश का परीक्षण किया जा रहा है। संस्कृत का मूल शब्द-कोश भा० यू० है और पिछले परिच्छेदों में इसी का विचार किया गया है, किन्तु इसके अतिरिक्त वहाँ प्रचुर संख्या में ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जो भा० यू० व्युत्पत्ति से रहित हैं। प्राचीनतम भाषा में इस प्रकार के शब्द बहुत कम पाये जाते हैं, किन्तु वे संख्या में उत्तरोत्तर बढ़ते गये हैं। मध्यकालीन आर्य-काल में नवीन शब्दकोश की और अधिक अभिवृद्धि पायी जाती है, और आगे चलकर नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में ऐसे शब्दों की प्रचुरता पायी जाती है जो भाषा की प्राचीन स्थितियों में सर्वथा अपरिचित हैं।

परम्परागत भा० यू० शब्दों के स्थान पर नये शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति भारतीय आर्य भाषा में सदा से गतिशील रही है। संस्कृत में सामान्य उदाहरणों के रूप में हम देखते हैं कि परवर्ती संस्कृत में 'अश्व' के साथ-साथ घोटक– (घोड़ा) शब्द भी मिलता है और भारतीय आर्य भाषा के परवर्ती इतिहास में उस पर हावी हो गया है। इसी प्रकार 'श्वन्–' (कुत्ता) शब्द 'कुक्कुर–' तथा उससे बने शब्द-रूप के द्वारा हटा दिया गया है। संस्कृत में ऐसे नाम शब्दों के युगल ढूँढ़ निकालना आसान है जो समान रूप से प्रयुक्त होते हैं और जिनमें से एक आर्येतर शब्द है, उदाहरण के लिये 'मार्जार'– (बिल्ला) (मृज्–) के साथ-साथ 'विडाल'–; 'व्याघ्र'—(शेर) के साथ-साथ 'शार्दूल'–; 'ऋक्ष'– (रीछ) के साथ-साथ 'भल्लूक'। कभी-कभी पर्यायवाची शब्दों की संख्या और अधिक है। हाथी के लिये प्रचलित सामान्य शब्द 'हस्तिन्'– (हाथ वाला) है, किन्तु इसके साथ सामान्य प्रयोग में हमें 'गज'–, 'कुञ्जर'–, 'इभ'–, 'नाग'– और 'मातङ्ग'–, ये सभी शब्द मिलते हैं। इसी प्रकार 'महिष'–, (भैंसा) के अलावा हमें 'कासर'–, 'लुलाय'–, 'सैरिभ'–, और 'हेरम्ब'–, ऐसे अन्य शब्द भी मिलते

हैं। इस दशा में मूलतः भिन्न भाषाओं से सम्बद्ध देशी शब्द संस्कृत भाषा में अपना लिये गये हैं; और संस्कृत शब्द-कोश की अभिवृद्धि भारत में मौलिक भाषा वैज्ञानिक जटिलता का संकेत करती है जो भारतीय आर्यभाषा की प्रगति के पूर्व परिलक्षित नहीं होती।

ये कुछ उदाहरण संस्कृत शब्द-कोश की मिश्रित प्रकृति को स्पष्ट करने में समर्थ हैं और इस प्रकार के बाहरी शब्दों की कुल संख्या अत्यधिक है। इनका मूल मुख्यतः भारत की प्राक्-आर्य भाषाओं में है। यह सम्भव है कि भारत में अनेक भाषावैज्ञानिक वर्ग थे जो भारतीय आर्य भाषा की प्रगति के कारण पूरी तरह लुप्त हो गये, और जहाँ तक संस्कृत ने इन स्रोतों से शब्दों का ग्रहण किया है, ऐसे शब्दों का मूल सदा के लिये अज्ञात रहना चाहिए। दूसरी ओर वे आर्येतर भाषायें, जिन्होंने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को सुरक्षित रखा है, संस्कृत भाषा में बाहरी तत्त्वों की खोज में महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। इसलिये इस गवेषणा से सम्बद्ध विविध भाषा-वर्गों का परिचय देना तथा प्रस्तुत समस्या की खोज में इनमें से प्रत्येक भाषा-वर्ग का कितना योगदान हो सकता है, इसका परीक्षण करना अधिक स्वाभाविक है।

भारतीय आर्य-भाषा अपने उत्तरी तथा पूर्वी सीमा-प्रदेशों में तिब्बती-बर्मी भाषाओं का स्पर्श करती है और भारत की राजनीतिक सीमाओं में इस तरह की बोलियों का व्यवहार पाया जाता है। इस सम्पर्क के बावजूद भारतीय-आर्य भाषा पर इस ओर के प्रभाव का कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया है। यह भाषा-परिवार सदा से मूल भारत से तत्त्वतः बाहर रहा है। साथ ही यह जान पड़ता है कि भारत के पूर्वी सीमान्त में इन लोगों ने पुराने आग्नेय (ऑस्ट्रो-एशियाटिक) परिवार के लोगों को बाहर खदेड़ दिया था और उनका यह सम्पर्क बहुत पुराना नहीं है। यह सम्भव है कि कुछ संस्कृत शब्द इस स्रोत में ढूँढ़े जा सकते हैं, किन्तु अभी तक इस प्रकार के प्रभाव का कोई सन्तोषजनक प्रमाण नहीं मिला है।

भारत की दूरवर्ती उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बुरुशास्की भाषा पाई जाती है, जो अब तक स्वतन्त्र रूप में स्थित है। बुरुशास्की तथा कतिपय काकेशस भाषाओं के सम्बन्ध का सुझाव दिया गया है, किन्तु यह सिद्ध नहीं हुआ है; यद्यपि यह सम्भव है कि इस दिशा में और अधिक कार्य लाभदायक सिद्ध हो जाय। इस भाषा का प्राचीन रूप इस प्रदेश में आर्यों के आक्रमण के पूर्व व्यवहार में रहा होगा और इसने कुछ अधिक विस्तृत क्षेत्र को छेंक रखा होगा। इस विषय के प्रमाण नहीं मिलते कि संस्कृत इस स्रोत से प्रभावित हुई है। यह

भाषा सीमा प्रदेश की भाषा है और इस प्रकार का प्रभाव केवल भारतीय आर्य भाषा के अत्यधिक प्राचीनतम युग में ही सम्भव हो सकता है, क्योंकि वैदिक युग से यह भाषा सुदूरवर्ती पार्वत्य प्रदेश में विच्छिन्न इकाई के रूप में उसी तरह पड़ी रही जान पड़ती है, जिस तरह यह आज है।

पूर्वी भारत में भाषाओं का एक ऐसा परिवार पाया जाता है जो इस दृष्टि से और अन्य दृष्टियों से काफी महत्त्व का है। मुण्डा या कोल भाषायें जैसा कि ये कहलाती हैं, यद्यपि साहित्यिक भाषाओं के रूप में विकसित नहीं हैं, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से इसलिये महत्त्वपूर्ण हैं कि प्रथम तो इस बात का निश्चित प्रमाण मिलता है कि भारतीय आर्य भाषा इस स्रोत से प्रभावित हुई है, और दूसरे इन भाषाओं का भारत से पूर्व के देशों की, मोन, ख्मेर और अन्य भाषाओं से पारिवारिक सम्बन्ध है। इस भाषा-परिवार का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र छोटा नागपुर की घाटी है जहाँ संताली, मुंडारी तथा अन्य अनेक सम्बद्ध बोलियाँ बोली जाती हैं। उक्त प्रदेश से थोड़ी ही दूर पर उड़ीसा में जुआङ् पाई जाती है और आगे दक्षिण में उड़ीसा और मद्रास की सीमा पर शबर, गदब और दो अन्य बोलियाँ पाई जाती हैं, जो मुण्डा परिवार में एक विशिष्ट वर्ग के रूप में हैं। इनमें से शबर खासतौर पर अधिक सुरक्षित है और इस परिवार के अन्य सदस्यों की अपेक्षा भारतीय-आर्य तत्वों से कम लदी हुई है। अत्यधिक पश्चिमी मुण्डा कबीला कुर्कू लोगों का है जो मध्यप्रदेश में सतपुड़ा तथा महादेव की पहाड़ियों में बसे हुए हैं।

भारतीय-आर्य भाषा से बाहर भारत का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भाषा-परिवार द्राविड़ परिवार है। इस परिवार की चार भाषाओं ने साहित्यिक भाषाओं के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की है—तमिल, मलयालम, तेलुगु, कन्नड़; और जहाँ तक तमिल का प्रश्न है इसकी साहित्यिक परम्परा कम से कम दो हजार वर्ष पहले तक जाती है। इन महत्त्वपूर्ण भाषाओं के अलावा और भी कई छोटी असाहित्यिक द्राविड़ भाषायें भारत के विविध प्रदेशों में बोली जाती हैं, जैसे—

१—दक्षिणी:, तुलु, कूर्ग, तोदा, कोटा,
२—केन्द्रीय : (अ) कोलामी नाइकी, (ब) पर्जी ओल्लारी, पोया, (स) गोंडी, कोण्डा, (द) कुई,–कूवि,
३—उत्तरी : (अ) कुरुख, माल्टो, (ब) ब्राहुई,

इस परिवार की अन्तिम भाषा का मूल द्राविड़ क्षेत्र से दूर बलूचिस्तान में अस्तित्व इस सिद्धान्त से मेल खाता है कि आर्यों के आक्रमण के पूर्व द्राविड़ भाषा उत्तरी भारत के अधिकांश भाग के सहित काफी विशाल प्रदेश में फैली

हुई थी। हम देखेंगे कि संस्कृत पर प्राचीन युग के आरम्भ में ही द्राविड़ का विस्तृत प्रभाव भी इसी निष्कर्ष का संकेत करता जान पड़ता है।

उक्त भाषा-परिवारों के अतिरिक्त अन्य भाषा-परिवारों के सम्भव अवशेष भी (भारत में) पाये जाते हैं। लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इन्डिया नहली भाषा (निमाड, मध्यप्रदेश) के उदाहरण देती है, जिसे वहाँ मुण्डा के साथ वर्गीकृत किया गया है, किन्तु कुर्कू ऋण-शब्दों के अतिरिक्त प्राप्त सामग्री यह संकेत करती है कि यह भाषा मुण्डा से भिन्न है, ठीक उसी तरह जैसे यह स्पष्टतः द्राविड़ भाषा भी नहीं है, यद्यपि इसमें कुछ द्राविड़ ऋण-शब्द भी हैं। इसी तरह कोरापुट डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पोरोज कवीले की शब्दावली प्रस्तुत करता है, जो स्पष्ट ऋण-शब्दों को निकाल देने पर अब तक ज्ञात किसी भी भाषा से सम्बन्ध रखती नहीं जान पड़ती। इस प्रकार की भाषाओं के विषय में निश्चित रूप से बहुत कुछ कहना असंभव है, क्योंकि इनकी समुचित गवेषणा नहीं हुई है, किन्तु जहाँ तक हम अनुमान कर सकते हैं, ये भाषायें उस समय के विच्छिन्न अवशेष जान पड़ती हैं जब कि भारत का भाषावैज्ञानिक मानचित्र आज की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल था।

ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी के सिन्धु घाटी के नगरों में भारत की एक प्राचीन भाषा के अवशेष खुदाई में मिले हैं। अब तक इसके अभिवाचन (decipherment) के विषय में कोई गम्भीर प्रगति नहीं हुई है, क्योंकि इसे हल करने की कोई तालिका नहीं मिलती। अब तक इस विषय के जानने का कोई साधन नहीं मिलता कि इन अभिलेखों में प्राप्त भाषा किस प्रकार की है जिसे भारत में ज्ञात भाषा-परिवारों में से किसी एक से जोड़ा जा सके या यह बिल्कुल अलग हो। साथ ही इस बात की जानकारी का भी कोई प्रमाण नहीं है कि संस्कृत इससे प्रभावित हुई होगी या नहीं। यह केवल सम्भावना है कि किसी दिन और नई सामग्री की खोज से भारत के भाषा-वैज्ञानिक इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया जाय।

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट है कि दो व्यावहारिक स्रोत ऐसे हैं जहाँ संस्कृत के आर्येतर तत्त्वों का मूल खोजा जा सकता है, मुण्डा भाषायें और द्राविड़ भाषायें, और इन दोनों दिशाओं में प्रगति हुई है। जहाँ तक मुण्डा भाषाओं का सम्बन्ध है, प्रमुख कठिनाई इस बात की है कि इनमें से अधिकांश अपर्याप्त रूप में अध्ययन का विषय बनाई गई हैं। संस्कृत पर इनके प्रभाव के अध्ययन के लिये आवश्यक आधार इन भाषाओं का अपना समुचित तुलनात्मक अध्ययन है, किन्तु यह तब तक नहीं हो सकता जब तक कि इस भाषा-परिवार के सभी स्वतन्त्र सदस्यों के परिपूर्ण व्याकरण और शब्द-कोश

न हों। इस समय केवल उत्तरी वर्ग (सन्ताली, मुण्डारी, आदि) के विषय में ही विस्तृत सूचना मिलती है, किन्तु यह वर्ग भारतीय आर्य-परिवार से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होता है। परिणामतः पूर्ण तुलनात्मक प्रमाण के अभाव में यह निर्णय देना प्रायः कठिन है कि आदान किस दिशा में हुआ है। साथ ही मुण्डा और मोन-ख्मेर भाषाओं के सम्बन्ध का प्रश्न भी उपस्थित होता है। इसके प्रमाण स्पष्टतः निर्णयात्मक हैं, किन्तु इस विषय में काफी विस्तार से कार्य नहीं हुआ है। यह कार्य मुण्डा भाषाओं के अपने तुलनात्मक अध्ययन के लिये और विचारणीय विषय के प्रमुख प्रश्न के लिये—भारतीय-आर्य भाषा पर उनके प्रभाव के लिये—आवश्यक होगा।

मुण्डा तथा मोन-ख्मेर आदि भाषाओं का विशाल आग्नेय (ऑस्ट्रो-एशियाटिक) परिवार के सदस्यों के रूप में परस्पर सम्बन्ध उन लोगों द्वारा सामान्यतः मान लिया गया है जिन्होंने संस्कृत शब्द-कोश के इस अंश की गवेषणा की है। कुछ प्रसंगों में इस प्रकार की व्युत्पत्तियाँ भारत से बाहर केवल आग्नेय भाषाओं में ही मिलती है। उदाहरण के लिये, हाथी के लिये संकेतित उपर्युक्त शब्दों में से एक 'मातङ्ग–' 'एक हाथ वाले पशु–' (तुलनीय हस्तिन्–) के लिये आग्नेय भाषा का शब्द बताया गया है, किन्तु इस शब्द से तुलनीय रूप (ताङ् (tang) 'हाथ', 'मइन्तोङ' (mainkong) 'हाथी') भारत से उद्धृत न कर मलय प्रायद्वीप से उद्धृत किए गए हैं। ठीक यही दशा संस्कृत 'अङ्गना–' (स्त्री–) की है, जिसे स्त्री के लिए प्रयुक्त 'अङ्–' (aṅ–) उपसर्ग वाले शब्द—तुलनीय, ख्मेर कन् (kan), मोन 'क्'ङा' (k'ṅā) आदि; अ– उपसर्ग वाले शब्द, बहूनर 'अकन्' (akan); एन्– उपसर्ग वाले शब्द, निकोबार 'एन्कान' (enkāṉa) जैसे समान आग्नेय शब्दों से सम्बद्ध स्पष्ट किया जाता है। संस्कृत में 'कुलिङ्ग–' (टेढ़ी पूँछवाला पक्षी) नाम से प्रसिद्ध पक्षी आपाततः आग्नेय नाम (खासी 'ख्लीङ्' (khliṅ) (चील, बाज), ख्मेर ख्लेङ् (khleṅ), स्टीङ् 'क्लिङ्' (kliṅ) (चील)) रखता जान पड़ता है, किन्तु मुण्डा से (समानान्तर) रूप उद्धृत नहीं किए गए हैं। मुण्डा में समान मूल आग्नेय शब्दों का प्रचलन लुप्त हो गया होगा या अपूर्ण प्रमाणों के आधार पर उनकी जानकारी नहीं मिलती, और फलतः भारत से बाहर की भाषाओं पर आधृत व्युत्पत्तियाँ संस्कृत के सम्बन्ध में समुचित हो सकती है जिसने भारत में इन शब्दों का आदान किया। कुछ दशाओं में किसी शब्द का मूल-स्रोत निश्चित रूप में भारत से बाहर ढूँढ़ना होगा, जैसे बाहर से आयात पौधों के विषय में। ऐसा ही दशा 'लवङ्ग–' (लौंग) की है जहाँ इस पौधे और

नाम (यव भाषा 'लवङ्' (lawan) आदि) का मूल-स्रोत हिन्देशिया में ढूँढना होगा।

नीचे उन शब्दों की संक्षिप्त सूची दी जा रही है, जो उपयुक्त कारणों से 'मुण्डा' अथवा और अधिक विस्तृत रूप में आग्नेय परिवार से सम्बद्ध हैं।

अलाबु (लौकी) : तुल० मलय लबु (labu), लबो (labo), ख्मेर ल्बोव् (lbow), वताक लबु (labu) इत्यादि।

उन्दुरु (चूहा) : 'उन्-' उपसर्ग से युक्त; तुलनीय ख्मेर कान्दोर (kandŏr) भिन्न उपसर्ग से युक्त, सवर गुन्तुर (guntur) (चूहा), साथ हीं सवर ओन्ड्रेङ् (ondren) (चूहा)।

कदली (केला) : तुल० सकइ तेलुइ (telui), केलुइ (kelüi), निकोबार तलूइ (talūi), ख्मेर तुत् तलोइ (tut taloi), पलाओङ् क्लोअइ (kloai) (केल); सवर किन्–तेन् (kin–tēn) (केले का फल)।

कर्पास (कपास) (>ग्रीक कार्पसोस् (kārpasos) : तुल० मलय कपास (kapas) इत्यादि। इसका अनुपसर्ग रूप न्राउ पश्, वश् (pas, bas), स्टीङ् पतिच् (patic), जो तमिल, पंचि, कन्नड, पंजि, (रूई, कपास) और सम्भवतः संस्कृत पिचु (रूई) में मिलता है।

जम्बाल (कीचड़, काई) : तुल० सन्ताल जोंबों (jobo) (दलदल), इत्यादि, खरिया जोभि (jobhi) (दलदली जमीन), जुबिला (jubilā) (पानी से भरा खेत), हो जोबे (jobe) (कीचड़), सवर जोब्बा (jobba) (कीचड़)।

जिम–, जेमति (भोजन करना–जीमना) (परवर्ती रूप; नव्य भारतीय आर्यभाषा में प्रचलित, हिन्दी –जेवना (भोजन करना), जिमाना (खिलाना) मराठी जेवणें (खाना, इत्यादि) : तुल० सन्ताल जाम, (jām) कुर्कू जोमे (jome), जोआङ् जिम (jim), सवर जुम (jum) इत्यादि।

ताम्बूल– (पान) : सोपसर्ग रूप; तुल० अलक बलु (balu), ख्मेर म्लुओ (mluo), वहनर बोलोउ (bölöu), आदि; अनेक उपसर्ग, मोन जब्लु (jablu), हलङ् लम्लु (lamlu), आदि। संस्कृत शब्द के ठीक समानान्तर कोई रूप उद्धृत नहीं किया गया है, किन्तु इन सब शब्दों के द्वारा एक ही समान मूल तत्त्व का आदान किया गया है।

मरिच– (मिर्च) : तुल० सवर मॅरिद्–सा (mərid–sā)। इस भाषा में एक दुर्बल रूप मिद्– (mid) भी मिलता है, जो यह सङ्केत करता है कि सबल या पूर्ण रूप में 'र्' एक अन्तःप्रत्यय है और सम्पूर्ण शब्द आपाततः एक समस्त पद है। इस मूल शब्द का दुर्बल रूप आपाततः द्रविड भाषाओं में चला गया है। (तमिल –मिळकु (मिर्च))।

लाङ्गल- (हल), पालि नाङ्गल : तुल० अनेक उपसर्गों से युक्त, ख्मेर अङ्कल्-अङ्काल् (aṅkăl), चम् लङल् (lanal), लङर् (lanar), खासी क-लिनूकोर् (ka-lynkar), मलय तेङ्गल (teṅgala), तङ्गाल (teṅgāla) वताक तिङ्गल (tiṅgala), मकस्सर नङ्कल (naṅkala)। मुण्डा भाषा में सन्ताल शब्द नहेल् है। यह शब्द मजेदार है, क्योंकि द्राविड़ वर्ग ने इसी स्रोत से इसे स्वतन्त्र रूप में ग्रहण किया है : तमिल ञाञ्चिल, कन्नड़ नेगल, आदि। इसी का एक अनुपसर्ग रूप क्>ह् परिवर्तन के साथ, जो मुण्डा भाषाओं के उत्तरी वर्ग की विशेषता है, संस्कृत हल- (हल) के रूप में मिलता है।

सर्षप- (सरसों), प्राकृत सासव-; तुल० मलय सेसवि आदि : प्राचीन तामिल ऐयवि (< * सासवि) आग्नेय परिवार से स्वतन्त्र रूप में गृहीत ऋण शब्द है।

शब्दों का यह संक्षिप्त चयन संस्कृत शब्दों के मूलस्रोत के रूप में आग्नेय परिवार की महत्ता को प्रदर्शित करने में अलम् है। जब प्रस्तुत भाषाओं का समुचित अध्ययन और समुचित तुलना हो जायगी, यह सम्भावना है कि और अधिक जानकारी प्राप्त होगी और सम्बद्ध रूपों के विस्तृत इतिहास के विषय में अधिक निश्चितता हो सकेगी। इस समय इस प्रकार का अध्ययन अपनी आरम्भिक अवस्था में है, इसलिये यह आँकना सम्भव नहीं है कि भारतीय आर्य शब्दकोश में से कितने शब्द अन्ततः इस स्रोत से गृहीत सिद्ध होंगे।

संस्कृत शब्दकोश में बाहरी तत्त्वों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत द्राविड़ भाषाओं में ढूँढ़ना होगा। यद्यपि द्रविड भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है, तथापि इसकी स्थिति मुण्डा भाषाओं की अपेक्षा अधिक अच्छी है। प्रमुख साहित्यिक भाषाओं के शब्दकोश की परिपूर्ण सामग्री हमें उपलब्ध है और यद्यपि छोटी भाषाओं के साक्षात् अध्ययन का कार्य करना अभी बहुत बाकी है, फिर भी उनके बारे में मुण्डा भाषाओं में से अधिकांश की अपेक्षा हमें कहीं अधिक जानकारी प्राप्त है। संस्कृत भाषा पर द्राविड़ प्रभाव पर काफी काम किया जा चुका है और काफी परिपूर्ण परिणाम प्राप्त हुए हैं। यह स्पष्ट हो गया है कि संस्कृत शब्दकोश का काफी हिस्सा द्राविड़ मूल से सम्बद्ध है और यह प्रभाव भाषा के इतिहास में एक लम्बे युग तक सक्रिय रहा है।

संस्कृत भाषा पर द्राविड़ प्रभाव को द्राविड़ ऋणशब्दों में से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कतिपय शब्दों की सूची के द्वारा उदाहृत किया जा सकता है।

अगुरु- (सुगन्धित द्रव्य, अगर) : तमिल, मलयालम अकिल, तुळु अगिळु (agiḷu) (वही)।

अङ्कोल– (ढेरा) : तमिल आड़िझिल्, मलयालम् आड़िञ्जिल् (वही)।

अनल– (आग) : तमिल अणल् (आग, क्रिया जलना), मलयालम अनल् (अग्नि, आँच), कन्नड़ अनलु (आँच)।

अर्क– (आक का पेड़) : –तमिल एरुक्कु, मलयालम एरिक्कु, कन्नड़ एर्के, एक्के, यक्क, तुलु एक्कमाले, एक्कमे (वही)।

अलस– (आलसी, श्रान्त, क्लान्त) : तमिल अलचु (थका होना, श्रान्त होना), अलचल् (आलस्य, सुस्ती), अलैचु (आलसी होना), अलैयल् (सुस्त), मलयालम अलशुक (थक जाना), अलसल् (थकावट), कन्नड़ अलसु (थका होना, श्रान्त, विश्रान्त), आदि।

आरभट– (उद्दण्ड, तेज, शब्दवाला) : कन्नड़ आरबट– (जोर से शब्द करता हुआ, गरजता हुआ), तुलु आरबट (भीषण शब्द, गर्जना), तमिल आरभटमु (चिल्लाहट, गर्जना)।

उञ्छ्– (साफ करना) (प्रोञ्छ्–, रगड़ना, हटाना, साफ करना) : तमिल उरिञ्चु (रगड़ना, हटा देना), कन्नड़ उज्जु (रगड़ना) आदि।

उलप– (झाडी, गुल्म, एक प्रकार की मुलायम घास, एक लता) : तमिल उलवइ (पत्तियोंयुक्त हरी टहनी, एक पेड़ की शाखा, लताकुञ्ज, विविध झाड़ियों के नाम)।

उलुपिन्– (उदबिलाव) : कन्नड़ उगचि, तमिल उलुच, उलस।

उलूखल– (ऊखल) : तमिल उलक्कइ (मूसल), मलयालम उलक्क, कन्नड ओलके (वही), तेलुगु रोंकलि (एक बड़ा काष्ठ-मूसल)।

एड– (भेड़, मेंढा; जंगली बकरा) : तमिल चाडु, आडु (बकरी, भेड़), मलयालम आदु (वही), कन्नड़ आडु (बकरा), तुलु एडु (वही), तेलगु एट (मेढा), गोंडी येटि (बकरी), ब्राहुइ हेट् (वही)।

कङ्क– (पक्षिविशेष, सारस) : तुल० तमिल, मलयालम कन्नड कोक्कु (सारस, एक विशेष प्रकार का जलपक्षी), तुलु कोरङ्गु (सारस), तेलुगु कोङ्ग, कुवि कोङ्गि (वही) आदि।

कज्जल– (काजल) : तमिल करिचल (कालापन)।

कटु– (तीखा, तेज, कडवा) : तमिल कटु (तेज, कडवा, तीखा), मलयालम कटु (तीव्र, उद्दण्ड, भयानक), कटुक्क (कठोर होना, तेज), कन्नड, तेलुगु, तुलु कडु (तेज, तीव्र) आदि।

कठिन– (कठोर, मजबूत, ठोस) : तमिल कट्टि (ठोस चीज, जमाई हुई चीज), कन्नड कड्डुगु (कठोर होना), गट्टि (दृढ़ता, कठोरता), तुलु गट्टि (दृढ, कठोर), तेलुगु कट्टीडि (कठोर–हृदय), गट्टि (कठोर, दृढ़)।

करीर– (बाँस का अङ्कुर) : तुल० कन्नड कड़िले (बाँस का अङ्कुर), तुलु कणिले, पर्जी करिं, कुरुख ख़र्रा (वही), ब्राहुई ख़र्रिङ्ग (अङ्कुरित होना) ।

कलुप– (गँदला) : तमिल कलुड़ (गँदला होना), कलुड़ि (गँदला पानी), तुल० तमिल कलङ्कु (उन्मथित होना), कुरुख ख़लख़ना (गँदला करना, पानी को पङ्किल बनाना) आदि ।

काक– (कौवा) : तमिल काक्कइ, मलयालम काक्क, कन्नड़ काके, पर्जी काकल, कुरूख ख़ाख़ा, माल्टो क़ाक़े, ब्राहुइ ख़ाख़ो (वही) ।

काच–, काज– (बैलों के जुए से बँधी डोरी, जुए के साथ ले जाना) : तमिल का (वही), कावु (जुए के साथ (बैलों को) ले जाना), पर्जी काचल् (जुए को ले जाना) काञ् (जुए के साथ ले जाना), कुइ कास, कुवि कान्जु (जुए को ले जाना) ।

काञ्चिक–, काञ्जिक– (चावल की बनी पीने की काँजी) : तमिल काञ्चि, मलयालम काञ्जि, कन्नड, तुलु, तेलगु गञ्जि (वही) ।

कानन– (जंगल) : तमिल का (जंगल), कान् (वही), कानम् (जंगली भूमि, लताकुञ्ज), कानल् (सूखा वन), कन्नड़ का (जंगल) ।

काड़– (काला) : तमिल काड़, कन्नड़ काड़ (कालापन), कड़गु (काला होना)।

कुट– (बर्तन) : तमिल, मलयालम कुटम्, कन्नड कोड, कोटा कोर्म (वही) ।

कुटि– (कुटिया, मकान) : तमिल, मलयालम कुटि, कन्नड़, तुलु, तेलुगु गुडि (कुटिया, मकान, मन्दिर), कुइ कूड़ि (कुटिया) ।

कुटिल– (टेढ़ा) : तमिल कोटु (वक्र), कुट (वक्र रेखायुक्त, झुका हुआ), कुटवु (झुकना, वक्र होना), मलयालम कोटु, कन्नड़ कुडु (टेढ़ा) ।

कुट्ट– (खोदना) : तमिल, कन्नड़ कुट्ट (खोदना, पीटना) माल्टो क़ोटे (खटखटाना, मारना, पीटना), कूरूख़ ख़ोट्टना (तोड़ना) आदि ।

कुण्ड– (भूमिस्थ बिल, गड्ढा) : तमिल कुण्टु (खोखला, ताल, गड्ढा), मलयालम कुण्टु (छिद्र, गड्ढा), कन्नड कुण्टे, कुण्ड, गुण्डि (बिल, गड्ढा) आदि ।

कुण्ड– (पात्र) : तुल० कुट– आदि ।

कुण्ड– (ढेला) : कन्नड कोण्डे (ढेला), गोण्डे (इकट्ठी चीज, ढेला), तुलु गोण्डे (वही) आदि ।

कुण्डल– (गोल चीज, कर्णाभरण, रस्सी की कुण्डली) : तुल० कन्नड गुण्ड, गुण्डु (वलय, गोल), तुलु गुण्डु (कोई गोल चीज), गुण्डल (एक विशेष प्रकार का कर्णभूषण), तेलुगु गुण्ड्रन (गोलाई), गुण्ड्रनि (गोल) ।

कुद्दाल– (कुदाल) : कन्नड गुद्दलि (एक प्रकार की कुदाली), तुलु गुद्दोलि, तेलुगु गुद्दलि (वही), गुद्दलिञ्चेउ (खोदना), कोटा कुदाइ (कुदाली) माल्टी क़ेदलि (वही); कन्नड गुद्दु (मारना, ताला़व) आदि ।

कुन्तल– (सिर के बाल) : तमिल, मलयालम कून्तल्, कन्नड कूदल् (वही) ।

कुरल– (घुँघराले बाल) : तमिल कुरुल् (घुँघराला बनाना, घुँघराला), मलयालम कुरुऴ (घुँघराले) कन्नड कुरुल्, तेलुगु कुरुलु (वही) ।

कुलत्थ– (कुलथी) : तमिल कोळ्, मलयालम कोळ्ळु, तुलु कुंडु, पर्जी कोल् (वही) ।

कुवलय– (कमल) : तमिल कुवळइ, कन्नड कोमले, कोवल, कोले (वही) ।

कूर्द्– (उछलना, कूदना, खेलना) : तुल० तमिल कुटि (कूदना, उछलना), मलयालम कुटि (कूदना, उछाल मारना), कन्नड कुडुकु (छलाँग), गुडि (उछाल); तुल० तमिल तथा मलयालम भी कूट्टु (नाचना), कन्नड कूटु (नाच, खेल) ।

कूप– (मस्तूल) : तमिल, मलयालम कूम्पु, तुलु कूबे, कुवे (वही) ।

केतक– (केवडा) : तमिल कैतइ, कैतल्, मलयालम कैता, कन्नड केदगे, तेलुगु गेदगे (वही) ।

केमुक– (केवुक–, कंचुक–, कचु–, कच्वी) (केमुआ) : तमिल, मलयालम चेम्पु, तुलु चेवु, तेवु, कन्नड केसु, केस, केसवु, केसु, केसवे, तेलुगु चेमा (वही) ।

कोटर– (खोखला) : कन्नड गोटरु, गोट्टु, तुल० गोडगु (खोखला, बिल), कोट्ट, गोट्ट (बाँस की नली) आदि ।

कोण (कोना) : तमिल कोण् (वक्रता, कोना, कोण), कोणु (झुका होना, टेढ़ा), मलयालम कोण् (कोना, कोण), कोणुक (झुकना), कन्नड कोण्, कोणे, तुलु कोणे, तेलुगु कोन (कोना) ।

कोरक– (कली): तमिल कुड़इ (अंकुर, कोंपल), कुइ क्रोडु (नवीन अंकुर या कली), गोंडा कोड़साना (अंकुरित होना), कूरूख ख़ोर्ना (नये पत्ते आना), ख़ोर् (पत्तियों के अंकुर, किसलय), माल्टो क्रोरोचे (अंकुरित होना) ।

खल– (खलिहान) : तमिल, मलयालम कळम् (खलिहान, खुली जगह), कन्नड कळ, कण (खलिहान), तेलुगु कलनु, पर्जी कलि, गोंडा कड़ा; कुइ कलइ (वही) ।

खल– (दुष्ट) : तमिल कळ् (चुराना), कळ्ळण् (चोर), कळ्वु (चोरी, धोखेबाजी), कन्नड कळ्ळ (चोर), तेलुगु कल्ल, (ठगी), कल्लरि (दुष्ट) आदि ।

गण्ड-(मिट्टी का ढेला, गाँठ, फोड़ा) : कन्नड गड्डे (गोल जड़, मिट्टी का ढेला) गण्टे, गड्डे, गेण्डे (वही)। तुल० संस्कृत गड्डु (गाँठ, मिट्टी का ढेला) भी, उसी स्रोत से।

गुड-(गोला, गेंद) : तेलुगु गुड्डसु (वृत्त, गोला), गुड्डु (आँख की पुतली), गोड्डु (गोल पत्थर), कन्नड गुडसु (कोई गोल चीज) गुड्डु (कनीनिका) आदि।

घुण-(लकड़ी का कीड़ा) : कन्नड गोण्णे (-पुड्डु) (वही)।

घूक-(उल्लू) : तमिल कूकई, कन्नड गूगि, गूगे, गूबि, तेलुगु गूबि, गूबा (वही)।

चिक्कण-(लिबलिबा, चिकना) : तुल० तमिल, मलयालम चिक्कु (चिपकना) कन्नड सिक्कु (वही), चिगिल्, जिगिल् (चिपचिपा होना, चिकना होना), जिगट्टु (चिपचिपाहट), आदि।

चतुर-(दक्ष, कुशल) : तमिल चतुर् (योग्यता, दक्षता) तुलु० चदुपु (कुशलता), कन्नड चदुरु, चेदुरु (कुशलता), तेलुगु चदुवु (सीखना), चदुरु (दक्षता)।

चन्दन-(चन्दन की लकड़ी) : तुल० तमिल चान्तु (पिष्ट, चन्दन-पिष्ट) कन्नड सादु (सुगन्धित द्रव्य), तेलुगु चाँदु (चन्दन घिसना)।

चपेटा-(थप्पड) : कन्नड कप्परिसु (थप्पड मारना), चप्पळि (ताली बजाना), तेलुगु चप्पटा (ताली), आदि।

चुम्ब्-(चूमना) : तमिल कूप्पु (चूसना), चूम्बु (चूसना, होठों से चुचियाना), तुलु चुम्बुनि (चूसना) आदि।

चूड-(चुटिया, चोटी) : तमिल चूडु (मस्तक पर पहनना, चोटी), मलयालम कूटुक (माथे पर धारण करना), कूट्टु (मुर्गे के माथे पर की कलगी), कन्नड सूडु।

तलिन-(पतला, दुबला, तुच्छ, स्पष्ट) : कन्नड तेळ् (पतलापन, सुन्दरता), तेळ्ळोज (पतला, कोमल), तेळ्ळने (वही) आदि।

ताडक-, ताल-, तालक-, (ताला, सिटखिनी) : तमिल ताड़ (सिटखिनी, अर्गला, आगल), ताड़-क्कोल (वही), मलयालम, कन्नड ताड़, तुलु तारकोलु (वही)।

तामरस-(कमल) : तमिल तामरइ, मलयालम तामर, कन्नड तामरे, तावरे, तेलुगु तामर, पर्जी तामर (वही)।

तुवरी–(फिटकरी) : तमिल तुवरइ, माल्टो तुवर, कन्नड तोगरि, तोवरि, तुळु तोगरि, तोगरे (वही)।

तुवर–(ग्राही) : तमिल तुवर् (वही), तुवरप्पु (चिपकने वाला) कन्नड तुवर–, तोवर–, तोगरि, तोगरु (ग्राही), कुइ तोर्प (ग्राही)।

तूल–(रूई, चिडियों के मुलायम पर) : तमिल, मलयालम तूवल् (पंख, चिडियों के मुलायम पर) आदि।

दण्ड–(लाठी, लकडी, यष्टि) : तमिल तण्टु (तना, लकडी), कन्नड दण्टु (तना), दण्ड (लकडी), तुळु दण्टु (तना), दण्टे (चलते समय हाथ में लेने की छड़ी), दण्डु (तना), तेलुगु दण्डु (तना) आदि।

नक्र–(घड़ियाल) : कन्नड नेगड़, तुळु नेगरु, तेलुगु नेगड्डु (वही)।

निविड–(खूब दबा हुआ, ढँका हुआ, ठस) तुल० तमिल नेमिट्टु, निमिण्टु (कुचलना, दबाना, निचोडना) मलयालम ञनुण्टु, नेविण्टु, (वही)। तुळु नौण्टुनि (निचोडना)।

निर्गुण्डी–(मेवडी) : तुल० तमिल, मलयालम नोच्चि, तुळु नेक्कि, कन्नड नेक्कि लेक्कि, लक्कि (वही)।

नीर–(जल) : तमिल, मलयालम, कन्नड नीर्, तुळु नीरु, तेलुगु नीरु, पर्जी नीर् (जल), कुई नीर् (रस, सत्व) ब्राहुइ– दीर् (जल)

पटोल–(परवल) तमिल पुटल्, पुटालइ, मलयालम पुट्टल्, पिट्टल्, कन्नड पोट्ल (वही)।

पण्–(व्यापार करना, दाँव पर लगाना), पण–(दाँव, ठोस, शर्त) : तमिल पुणइ (बाँधना; बन्धन, गाँठ, गिरवी, जमानत) कन्नड़ पोणे (गाँठ, जमानत), तुळु पुणे (वही)।

पण्ड–(हिजड़ा, स्त्री की आकृतिवाला पुरुष) : तुल० तमिल पेण् पेण्टु (स्त्री) पेट्टइयन, पेटि (हिजड़ा) कन्नड पेण्, पेण्ड (स्त्री), तेलुगु(पेण्टि) (स्त्री), पेडि (हिजड़ा), आदि।

पण्डित (बुद्धिमान्, विद्वान्) : सामान्यतः (परिपक्व बुद्धि), तुल० तेलुगु पण्डु (परिपक्व होना, परिपक्व बुद्धि;), पण्ड (बुद्धि, चातुर्य), पर्जी पण्ड् (प्रौढ बनना), गोंडी, कोलामी पण्ड्– (परिपक्व बनाना)।

पल्ली–(छिपकली) : तमिल, मलयालम, कन्नड, तुळु पल्लि, तेलुगु बल्लि (वही)।

पल्ली (कस्बा) : तमिल, मलयालम, कन्नड पळ्ळि (गँवई, बस्ती, कस्बा), तेलुगु पल्लि, पल्लिय (कस्बा) ।

पालि– (पंक्ति, पाँति, सीमा, खाई) : कन्नड पाड़ि (पंक्ति, पाँति, नियमितता, तरीका, नियम) मलयालम पाळि (पंक्ति, पाँति), तेलुगु पाडि (औचित्य) ।

पिटक– (फोड़ा) : तुल० तुलु पोट्ल, पोट्ल (फोड़ा, फुड़िया, फुन्सी) पुडि (घाव, फोड़ा), गोंडी बोट्ट (फोड़ा), कुइ पोडोसी (फोडा), पट्कोरि (फोडा), आडिपुटि (चेचक) ।

पिण्ड– (ढेला, गोला) : कन्नड पेट्टे, पेट्टे. पेण्टे, हेण्टे, हेण्डे (गोला, मिट्टी का ढेला), तेलुगु पेड्ड, पेल्ल (वही), पिण्डलि (ढेला या गोला), कन्नड पिळुकु, पिळकु (शरपुङ्ख) ।

पुट– (पर्त, जेब, पत्तों की टोकरी) : तुल० तमिल पुट्टिल् (टोकरी, खोल), कन्नड पुट्टि (पत्तों की टोकरी) आदि । तेलगु पुटि (फूल की टोकरी), कुइ पुटि (टोकरी), तुल० संस्कृत पिटक (टोकरी) ।

पुत्तिका– (दीमक, घुन) : तुल० तमिल पुड्डु, कन्नड पुत्तु, तेलुगु पुट्ट, माल्टो पुते (वल्मीक) । संस्कृत में यह शब्द पुट के रूप में दिखाई पड़ता है । जैसे—पिपीलकपुट (वल्मीक) ।

पुन्नाग– (नागकेसर) : तमिल पुण्णङ्, मलयालम पुन्न, कन्नड पोन्ने, पुन्निके, तुलु पोन्ने, तेलुगु पोन्न (वही) ।

बक– (बगुला) : तमिल वक्का, वङ्का (बगुला), तेलुगु वक्कु (बगुला) ।

बल– (शक्ति, बल) : तमिल वल् (बलवान्) वलम् (बल, शक्ति), मलयालम वल् (मजबूज, बली), कन्नड वल् (शक्तिशाली), वलुमे, बलुहु (शक्ति, सामर्थ्यं), तुलु वलु (बड़ा, शक्तिशाली), तेलुगु वलि, वलुद (वही), आदि ।

विडाल–, विराल– (बिलाव) : तमिल, मलयालम वेरुकु, कन्नड बेर्कु, गोंडी वरकार, कूरुख वेर्खा– जो मूलतः सम्बद्ध हैं, यद्यपि ये भिन्न प्रत्यय से निर्मित हैं ।

बिल– (बिल, गुफा) : तमिल बिलवु (दरार) विल्, विएलु (दरार पड़ना), मलयालम विएलु (दरार पड़ना, फट पड़ना), विल्लल् (खोखला, चीर), विल्लु (दरार) ।

बिल्व– (बेल का पेड़ या फल) तमिल विळा, विळावु; बेळ्ळिल्, मलयालम विळा, कन्नड बेळावल्, तेलुगु वेलगं (वही) ।

मङ्कु– (भ्रान्त, मूर्ख) (बौद्ध संस्कृत मद्गु–) : तुल० तमिल मक्कु (मूर्ख हो जाना, मूर्खता), मङ्कु (धीमा होना, चमक खोना) मलयालम मङ्कु

(वही), कन्नड मङ्कु (मन्दता, अस्पष्टता), मग्गु (धीमा हो जाना या मुरझा जाना)।

मटची– (घास का कीड़ा, टिड्डी) : कन्नड मिडिचे, मिडिते (घास का कीड़ा, टिड्डी), तेलुगु मिड्डुत, पर्जी मिटक, कोलमि मिट्टे (वही)।

मयूर– (मोर) : तमिल मञ्ञइ, मयिल्, मलयालम मयिल्, तुलु मैरु, पर्जी मञ्जिल् (वही)।

मल्लिका– (जूही) : तमिल मुल्लइ, मलयालम मुल्ल, कन्नड मोल्ले, तेलुगु मोल्ला (वही)।

मषि– (स्याही, दीये का काजल) : तमिल मइ (कालापन, स्याही,) कन्नड मसि (मैल, कलंक, धुआँ, स्याही), तुलु मजि (कोयला, कालाचूर्ण, स्याही), कुइ मासि (मैल)।

महिला– (स्त्री, नारी) : तमिल मकळ् (कन्या, स्त्री, भार्या), मकटु (वही), मलयालम मकळ् (पुत्री), तुलु मगळु, पर्जी माल् (वही)।

माला– (माला, हार) : तमिल मालइ, मलइ, तेलुगु माल, कन्नड माले (वही); तुल० तमिल मलइ (हार या माला की तरह पहनना), तथा तमिल मलर् (फूल), आदि।

मीन– (मछली) : तमिल मीन्, कन्नड मीन्, तेलुगु मीनु, गोंडी, पर्जी मीन्, कुइ, माल्टो मीनु (वही)।

मुकुट– (ताज, मुकुट) : तुल० तमिल, मलयालम मुकट्ट (सिरा, सर्वोच्च भाग, सिर), तमिल मुच्चि (सिर का मुकुट), मलयालम मुकळ् (सर्वोच्च, शीर्षस्थ, छत), कन्नड– तेलुगु मोगड्डु (छत का सिरा), तुलु मुगिलि (कँगूरा), गोंडी मुकुर (मुर्गे के सिर पर का तुर्रा)।

मुकुल– (कली) : तमिल, मलयालम मुकिड़ (एक प्रकार की कली), तमिल मोक्कुल् (कली), कन्नड मुगुल् (कली, कली खिलना), मोग्गु, मोग्गे (कली), कुइ मोगो (कली)।

मुक्ता– (मोती) : तमिल मुट्टु, मुट्टम्, मलयालम, कन्नड, तुलु मुट्टु (वही)।

मुरज– (ढोल) : तमिल मुरचु (एक प्रकार का ढोलक), मुरवम् (एक प्रकार का ढोल, आवाज, झंकार), मुरल् (शब्द करना), कन्नड मोरे (गुनगुनाना, गूँजना), तेलुगु मोरयु (आवाज करना)।

मुरुङ्गी– : तमिल मुरुङ्कइ, मलयालम मुरिङ्ङ, कन्नड नुग्गे, नुग्गि, तुलु नुरिगे, नुर्गे, तेलुगु मुनग, पर्जी मुलङ्ग (वही)।

लाला– (लार, थूँक) मलयालम ञोळ, नोळा, तेलुगु ञोलि, नोणे, कन्नड लोळे (वही)।

वलय– (चूड़ी) : तमिल वळइ (गोला, चूड़ी), आदि; (क्रिया—झुकना, गोल होना, घेरना), कन्नड वळे (चूड़ी), वळसु (गोल घूमना, गोल बनाना)।

वल्ली– (लता, बेल) तमिल, मलयालम वळ्ळि, कन्नड वळ्ळि, तेलुगु वल्लि (वही)।

शकल– (मछली के काँटे, पेड़ की छाल) (शल्क–, शल्कल–) (वही) : तमिल चेकिळ् (फल का छिलका : पेड़ की छाल) तुल चगुळि (फल का छिलका), माल्टो छेग्लो (वही)।

शठ– (दुष्ट, बेईमान) : तुल० कन्नड चोट्ट, सोट्ट (कुटिलता), सटि, सेटे, सेडे– (टेढ़ा होना या झुकना), तेलुगु चोट्ट (वक्रता, कुटिलता, पङ्गुता)।

शव (मुर्दा) : तुल० तमिल चा (मरना), चावु (मृत्यु), कन्नड सा (मरना), सावु (मृत्यु; शव), तेलुगु चच्चु (मरण), चावु (मृत्यु), आदि।

शूर्प– (अनाज पछोरने का सूप) : कन्नड तूडु (पछोरना), तूडुविके (अनाज फटकना), तुलु तूपु (फटकना), तूपुनि (पछोरना), तेलुगु तूर्पिडि (पछोरना), तूर्पेट्टु (फटकना)।

सीसिका– (चींटी) : तेलुगु चीम, कोलमि सि-म, कुवि सीम (चींटी)।

हिन्ताल– (खजूर या छोहारे का पेड़) : तमिल ईन्तु (खजूर या छोहारे का पेड़), ईन्चु, ईञ्चम्– पगइ (छोहारे का पेड़), मलयालम ईत्त, ईत्तल्, कन्नड ईचल्, ईचिल्, तुलु ईञ्चिलु, ईचिलु, तेलुगु ईंदु, ईंदाडु (वही)।

हुडुक्क– (छोटा ढोलक) : तमिल उडुक्कु, उडुक्कइ (छोटा ढोलक)। मलयालम उडुक्क, तुलु उडुकु, तेलुगु उडुक– (वही)।

हेरम्ब– (भैंसा) : तमिल एरुमइ (भैंसा), मलयालम एरुम, एरुम, कन्नड एम्मे, तुलु एर्मे, गोंडी एर्मी, अर्सी (वही)।

संस्कृत में ये शब्द कब लिए गए, इस तिथि के बारे में इतना संकेत किया जा सकता है कि इनमें से अधिकांश वैदिक युग के बाद के हैं। दूसरी ओर यह महत्त्वपूर्ण है कि इनमें से कुछ शब्द ऋग्वेद में ही उपलब्ध हैं। ऐसे शब्द हैं : उलूखल–, कटुक–, कुण्ड–, खल–, दण्ड–, पिण्ड–, वल–, बिल–, मयूर–। परवर्ती संहिताओं में (उदाहरण के लिये, अथर्ववेद, तूल–, बिल्व–, वाजसनेय संहिता, कङ्क–, सूर्प–,) तथा ब्राह्मणों में (उदाहरण के लिये, शतपथ ब्राह्मण, अर्क–, अलस–, पण्डित–, मङ्कु–, शव–) जोड़े गये शब्दों की संख्या तुलनीय दृष्टि से काफी कम है। इनमें से अधिकांश शब्द सर्वप्रथम शास्त्रीय (संस्कृत) भाषा में उपलब्ध होते हैं। किन्तु इनकी प्रथम स्थिति में ये पाणिनि, पतञ्जलि, महाभारत, श्रौतसूत्र आदि में पहले पहल प्रयुक्त हुए हैं। अनेक शब्द

पालि में भी मिलते हैं, जो इनके तिथि-निर्धारण के लिये महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह बौद्ध सिद्धान्त-साहित्य हमें ईसापूर्व ५००–३०० वर्ष के समय तक ले जाता है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में पहले पहल मिलनेवाले शब्दों की संख्या तुलनीय दृष्टि से पुनः कम है। यह स्पष्ट है कि जहाँ तक संस्कृत का प्रश्न है, द्राविड़ भाषाओं से शब्दों के आदान का सक्रिय युग ईसवी सदी के बहुत पहले ही समाप्त हो चुका था। प्राकृत में द्राविड़ भाषाओं से कुछ नये शब्द लिये गये हैं, किन्तु आरम्भिक संस्कृत युग में उपलब्ध उपर्युक्त शब्दों की अपेक्षा उनकी संख्या कम ही है। ये शब्द प्राकृत के नवीन शब्दकोश में आनुपातिक दृष्टि से बहुत कम हैं। नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का समान शब्दकोश प्राकृत की अपेक्षा और अधिक नवीन तत्त्वों से समन्वित है, किन्तु यह मुश्किल है कि इनमें से किसी का भी द्राविड़ उद्गम बताया जा सके।

इस सर्वेक्षण से यह स्पष्ट है कि द्राविड भाषाओं का भारतीय आर्यभाषा पर प्रमुख प्रभाव एक निश्चित ऐतिहासिक युग तक ही सीमित था, उत्तर वैदिक काल तथा शास्त्रीय संस्कृत के परिनिष्ठितीकरण के बीच के समय में ही। यह तथ्य उस देश अथवा स्थानविशेष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, जहाँ यह प्रभाव पड़ा था। यह सम्भव नहीं है कि इस युग में दक्षिण की द्राविड़ भाषाओं के द्वारा इतना अधिक प्रभाव डाला जा सका हो। मौर्यकाल के पूर्व दक्षिणी भारत के साथ घनिष्ठ सम्पर्क नहीं था और उस समय तक इनमें से अधिकांश शब्द भारतीय आर्यभाषा में कभी के खप चुके थे। यदि यह प्रभाव उत्तर में केन्द्रीय गाङ्गेय प्रदेश में और पारम्परिक मध्यदेश में पड़ा था, तो यह अनुमान कि इस प्रदेश के प्राक्-आर्य निवासियों में द्राविड़ भाषा-भाषी तत्त्व पर्याप्त था, संस्कृत में द्राविड़ शब्दों के प्रयोग को अच्छी तरह स्पष्ट कर सकता है। अभी भी उत्तरी भारत में कूरूख और माल्टो, ये द्राविड़ भाषाएँ सुरक्षित हैं और इन्हें किसी समय विस्तृत द्राविड़ प्रदेश के अवशिष्ट द्वीप माना जा सकता है। ऋग्वेद में द्राविड़ शब्दों का पाया जाना उस युग में उत्तर-पश्चिमी भारत में द्राविड़ जाति के होने की पुष्टि करता है। बलूचिस्तान में ब्राहुई भाषा उत्तरी-पश्चिमी द्राविड़ भाषा के वर्तमान प्रतिनिधि के रूप में विद्यमान है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत में द्राविड़ ऋण शब्दों की समस्या उनसे कुछ भिन्न है, जो प्रायः हमें ऋणशब्दों के अध्ययन में मिलती है, क्योंकि वे विशिष्ट बोलियाँ या भाषायें, जिनसे इन शब्दों का आदान हुआ, हमारे पास कोई प्रमाण छोड़े बिना लुप्त हो गई हैं, और दक्षिण की अधिकांश द्राविड़ भाषायें जिनके साथ खास तौर पर तुलना की जा सकती है,

भौगोलिक दृष्टि से काफी दूरी से विभक्त हैं, और काल की दृष्टि से एक सहस्राब्दी या और अधिक समय से अलग की हुई हैं। सौभाग्यतः विभिन्न द्राविड़ भाषाओं में परस्पर इतना अधिक भेद नहीं है कि हमें भाषा के आदिम रूप के पुर्निर्माण में कठिनाई का सामना करना पड़े, और संस्कृत में उपलब्ध ऋणशब्दों के रूप तत्त्वतः वर्तमान द्राविड़ भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से उपलब्ध रूपों से भिन्न नहीं है। द्राविड़ भाषाओं की यह विशेषता है कि वे ठीक उसी द्रुत गति से विकसित नहीं हुई हैं जो भारतीय आर्यभाषाओं में पायी जाती है, और परिणामतः साहित्यिक द्राविड़ भाषायें और यहाँ तक कि छोटी-मोटी वे कथ्य बोलियाँ जो आधुनिक काल में ही अभिलिखित हुई हैं, उन संस्कृत शब्दों के द्राविड़ स्रोत को ढूँढने में मजे से काम में ली जा सकती हैं, जो उससे भी पूर्व अपना लिये गये थे, जबकि इनमें से कोई भी भाषा अभिलिखित की गई थी और कुछ अन्य प्राचीन द्राविड़ भाषाओं से भी जो अब स्वयं लुप्त हो गई हैं।

SELECT BIBLIOGRAPHY

ALLEN, W. S. *Phonetics in ancient India*, Oxford 1953.

ARNTZ, H. *Sprachliche Beziehungen zwischen arisch und Balto-slavisch*, Heidelberg 1933.

BENVENISTE, E. *Origines de la formation des noms en indo-européen*, I, Paris, 1935.

BLOCH, J. *L'indo-aryen du Veda aux temps modernes*, Paris 1934.

BRUGMANN, H. *Grundriss der vergleichende Grammatik der indo-germanischen Sprachen*, 2nd ed., Strassburg 1897–1916.

——*Kurze vergleichende Grammatik der indo-germanischen Sprachen*, Strassburg 1902–4 (reissue, Berlin 1922).

BÜHLER, J. G. *Indische Paläographie*, Strassburg 1896.

CHATTERJI, S. K. *Indo–Aryan and Hindi*, Ahmedabad 1942.

DELBRÜCK, B. *Altindische Syntax*, Halle 1888.

EDGERTON, F. *Buddhist Hybrid Sanskrit*, I Grammar, II Dictionary, Newhaven 1953.

FRIEDRICH, J. *Hethitisches Elementarbuch*, I, Heidelberg 1940.

GEIGER, W. *Pali Literatur und Sprache*, Strassburg 1916.

GHOSH, B. *Linguistic Introduction to Sanskrit*, Calcutta 1937.

HENDRIKSEN, H. *Untersuchungen über die Bedeutung des Hethitischen für die Laryngaltheorie*, Copenhagen 1941.

JACOBSOHN, H. *Arier und Ugrofinnen*, Göttingen 1922.

KENT, R. G. *Old Persian Grammar, Texts, Lexicon*, Newhaven 1950,

KURYLOWICZ, J. *L'accentuation des langues indo-européennes*, Cracow 1952.

——*E'tudes indoeuropéennnes*, Cracow 1935.

MACDONNELL, A. A. *Vedic Grammar*, Strassburg 1910.

MANSION, J. *Esquisse d'une histoire de la langue sanskrite*, Paris 1931.

MAYRHOFER, M. *Kurzgefasstes etymologisches Wörterbuch* des *Altindischen* (in progress), Heidelberg 1953 ff.

MEILLET, A. *Les dialectes indo-européennes*, Paris 1908 (1922).

——*Introduction a l'étude comparative des langues indo-européennes*, 8th ed., Paris 1937 (1949).

PEDERSEN, H. *Hettitisch und die anderen indoeuropäischen Sprachen*, Copenhagen 1938.

——*Tocharisch von Gesichtspunkt der indoeuropäinschen Sprachvergleichung*, Copenhagen 1941.

PISANI, V. *Grammatica del Antico Indiano* (incomplete), Rome 1930–33.

PISCHEL, R. *Grammatik der Prakrit-Sprachen*, Strassburg 1900.

POKORNY, J. *Indogermanisches etymologisches Wörterbuch* (in progress), Bern 1948 ff.

REICHELT, H. *Avestishes Elementarbuch*, Heidelberg 1909.

RENOU, L. *Grammaire sanskrite*, Paris 1930.

——*Grammaire de la langue védique*, Paris 1952.

SPECHT, F. *Der Ursprung der indogermanischen Deklination*, Göttingen 1944 (1948).

SPEYER J. *Sanskrit Syntax*, Leiden 1886.

——*Vedische und Sanskrit-Syntax*, Strassburg 1896.

STURTEVANT, E. H. *The Indo-Hittite Laryngeals*, Baltimore 1942.

——*A Comparative Grammar of the Hittite Language* (Revised Edition), I, New Haven 1951.

THUMB, A. *Handbuch des Sanskrit*, Heidelberg 1905.

UHLENBECK, C. C. *Kurzgefasstes etymologisches Wörterbuch der altindischen Sprache*, Amsterdam 1898–99;

WACKEKNAGEL, J. and DEBRUNNER, A. *Altindische Grammatik*, vols. I–III, Göttingen 1896–1954.

WALDE, A. *Vergleichendes Wörterbuch der indogermanischen Sprachen, herausgegeben und bearbeitet von J. Pokorny*, 3 vols., Berlin and Leipzig 1927–32.

WHITNEY, W. D. *A Sanskrit Grammar*, 5th ed., Leipzig 1924.

अनुक्रमणिका

